श्री
पञ्चदशी
पीताम्बरी-भाष्य
गोयल एण्ड कं., दरीबा, देहली ६

पुस्तक-परिचय

सभी प्राणियों को 'अहमस्मि-मैं हूं' ऐसी प्रतीति निर्बाध रीति से होती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वतःसिद्ध आत्मा नाम की कोई वस्तु अवश्य है जिसकी सत्ता और स्फूर्ति का भान स्वतः होता है।

परन्तु आत्मा क्या है ? आत्मा में जब सत्य, ज्ञान और आनन्त्य स्वतः सिद्ध है तब फिर इसमें दुःख की प्राप्ति कहां से हुई ? इस दुःख की वास्तविक निवृत्ति कैसे होती है ? ज्ञान, कर्म और उपासना का मानव जीवन में क्या स्थान है ? ब्रह्मज्ञान का अधिकारी कौन है ? अधिकारी को गुरु की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि प्रश्न बने ही रहते हैं, और इन प्रश्नों का सही उत्तर वेदान्तशास्त्र से ही मिल पाता है।

पञ्चदशी इसी वेदान्त शास्त्र का अन्यतम ग्रन्थ है। इसके निर्माता स्वामी विद्यारण्य मुनिवर्य हैं। श्री विद्यारण्य मुनि वेदान्त व्याकरण आदि के पण्डित, त्यागी, व्यवहार-दशा और महाविभूति युक्त पुरुष थे। इस महान् ग्रन्थ की अनेक टीकाओं में पीताम्बरी टीका का बहुत आदर हुआ है। उसी टीका का प्रचलित भाषा में संशोधन प्रस्तुत संस्करण के रूप में प्रकाशित किया गया है। जिससे पीताम्बरी व्याख्या अति सुगम और स्पष्ट हो गई है।
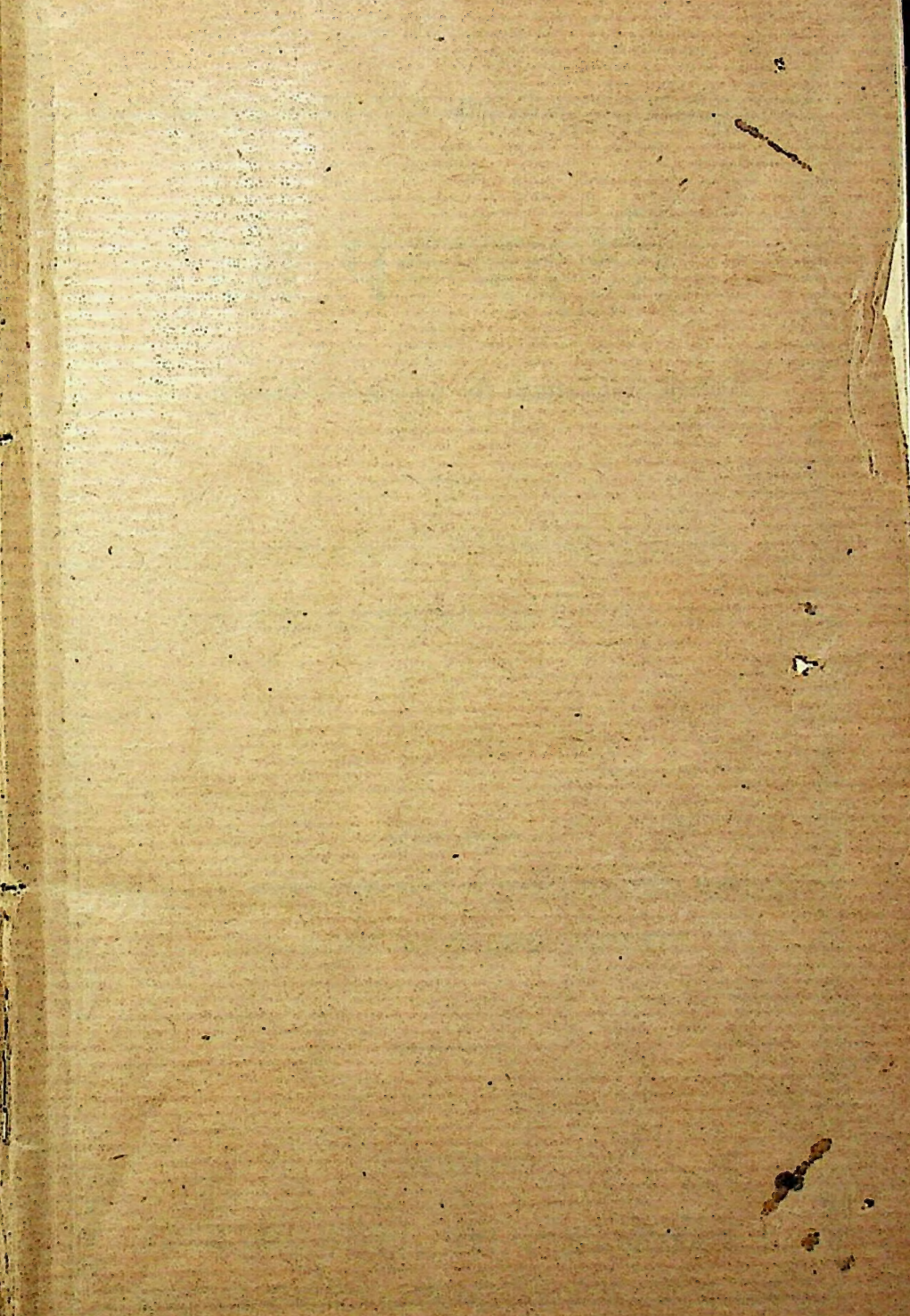
॥ ॐ ॥

श्री पञ्चदशी

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री विद्यारण्यमुनिविरचिता

ब्रह्मनिष्ठ–पण्डित–श्री पीताम्बरजी कृत तत्त्व-
प्रकाशिका-भाषाव्याख्या एवं टिप्पण सहित

भूमिका-लेखक
श्री १००८ जगद्गुरुशंकराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज
भाषा–संस्कर्ता–श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक—

गोयल एण्ड कम्पनी, बड़ा दरीबा, देहली–६ ।

प्रकाशक—
गोयल एण्ड कम्पनी
बड़ा दरीबा, देहली–६

द्वितीय संशोधित संस्करण जनवरी १९६०
मूल्य आठ रुपये

मुद्रक—
हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार
मानस प्रिंटिंग प्रेस,
२९१०, मातावाली गली, दिल्ली।

❀ षट्दर्शन-सार-पत्रिका ❀

(श्री पंडित पीताम्बर)

षट्दर्शन	पूर्वमीमांसा	उत्तरमीमांसा (वेदान्त)	न्याय
१ जगत्	स्वरूपसे अनादि अनन्त प्रवाहरूप संयोगवियोगवान्	नामरूपक्रियात्मक मायाका परिणाम चेतनका विवर्त्त	परमाणुआरंभित संयोगवियोगजन्य आकृतिविशेष
२ जगत्कारण	जीव,अदृष्टऔर परमाणु	अभिन्ननिमित्तो-पादान ईश्वर	परमाणु ईश्वरादि नव
३ ईश्वर	०	मायाविशिष्ट चेतन	नित्यइच्छाज्ञाना-दि गुणवान्
४ जीव	जड़चेतनात्मक विभु-नाना-कर्ता-भोक्ता	अविद्याविशिष्ट चेतन	ज्ञानादिचतुर्दशगुण-वान्, कर्त्ता, भोक्ता, जड़, विभु, नाना
५ बंधहेतु	निषिद्धकर्म	अविद्या	अज्ञान
६ बन्ध	नरकादिदुःखसंबंध	अविद्यातत्कार्य	एकविंशतिदुःख
७ मोक्ष	स्वर्गप्राप्ति	अविद्यातत्कार्य—निवृत्तिपूर्वक परमानंद ब्रह्मप्राप्ति	एकविंशतिदुःख-ध्वंस

षट्दर्शन	पूर्वमीमांसा	उत्तरमीमांसा (वेदान्त)	न्याय
८ मोक्षसाधन	वेदविहितकर्म	ब्रह्मात्मैक्यज्ञान	इतरभिन्नात्मज्ञान
९ अधिकारी	कर्मफलासक्त	मलविक्षेपदोषरहित चतुष्टयसाधनसम्पन्न	दुःखजिहासु कुतर्की
१० प्रकटकर्त्ता आचार्य	जैमिनी	वेदव्यास	गौतम
११ प्रधान कांड	कर्मकाण्ड	ज्ञानकाण्ड	ज्ञानकाण्ड
१२ वाद	आरम्भवाद	विवर्तवाद	आरम्भवाद
१३ आत्म-परिमाण संख्या	विभु नाना	विभु नाना	विभु नाना
१४ प्रमाण	षट् (६)	षट् (६)	प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द (४)
१५ ख्याति	अख्याति	अनिर्वचनीय	अन्यथा
१६ सत्ता	जीवजगत् परमार्थ सत्ता	परमार्थरूपात्मसत्ता व्यावहारिक और प्रातिभासिकजगत्सत्ता	जीवजगत् परमार्थ-सत्ता
१७ उपयोग	चित्तशुद्धि	तत्त्वाज्ञानपूर्वक मोक्ष	मनन

षटदर्शन	वैशेषिक	सांख्य	योग
१ जगत्	न्याय अनुसार	प्रकृतिपरिणामत्रयोविंशतितत्त्वात्मक	प्रकृतिपरिणामत्रयोविंशतितत्त्वात्मक
२ जगत्कारण	न्याय अनुसार	त्रिगुणात्मक प्रकृति	कर्मानुसार प्रकृति और तन्नियामक ईश्वर
३ ईश्वर	न्याय अनुसार	०	क्लेशकर्मविपाकाशयअसंबद्ध पुरुषविशेष
४ जीव	न्याय अनुसार	असङ्ग चेतन विभु नाना भोक्ता	असङ्ग चेतन विभु नाना कर्त्ता भोक्ता
५ बंधहेतु	अज्ञान	अविवेक	अविवेक
६ बन्ध	एकविंशतिदुःख	अध्यात्मादि-त्रिविध दुःख	प्रकृतिपुरुषसंयोग-जन्य अविद्यादि-पंचक्लेश
७ मोक्ष	एकविंशतिदुःख ध्वंस	त्रिविधदुःखध्वंस	प्रकृतिपुरुषसंयोगाभावपूर्वकअविद्यादिपञ्चक्लेशनिवृत्ति
८ मोक्षसाधन	इतरभिन्नात्मज्ञान	प्रकृतिपुरुषविवेक	निर्विकल्पसमाधि पूर्वक विवेक
९ अधिकारी	दुःखजिहासु	कुतर्की संदिग्ध विरक्त	विक्षिप्तचित्तवान्

षट्दर्शन	वैशेषिक	सांख्य	योग
१० प्रकटकर्त्ता आचार्य	कणाद	कपिल	पतञ्जलि
११ प्रधानकांड	ज्ञानकाण्ड	ज्ञानकाण्ड	उपासनाकाण्ड
१२ वाद	आरंभवाद	परिणामवाद	परिणामवाद
१३ आत्मपरिमाण	विभु	विभु	विभु
संख्या	नाना	नाना	नाना
१४ प्रमाण	प्रत्यक्ष अनुमान (२)	प्रत्यक्ष अनुमान शब्द (३)	प्रत्यक्ष अनुमान शब्द (३)
१५ ख्याति	अन्यथा	अख्याति	अख्याति
१६ सत्ता	जीवजगत्परमार्थ-सत्ता	जीवजगत्परमार्थ-सत्ता	जीवजगत्परमार्थसत्ता
१७ उपयोग	मनन	'त्वं' पदार्थशोधन	चित्तैकाग्र्य

ओ३म्

प्रसंगप्रदर्शिका सूची

पञ्चदशी

ब्रह्मनिष्ठ पंडित श्री पीताम्बर पुरुषोत्तम जी
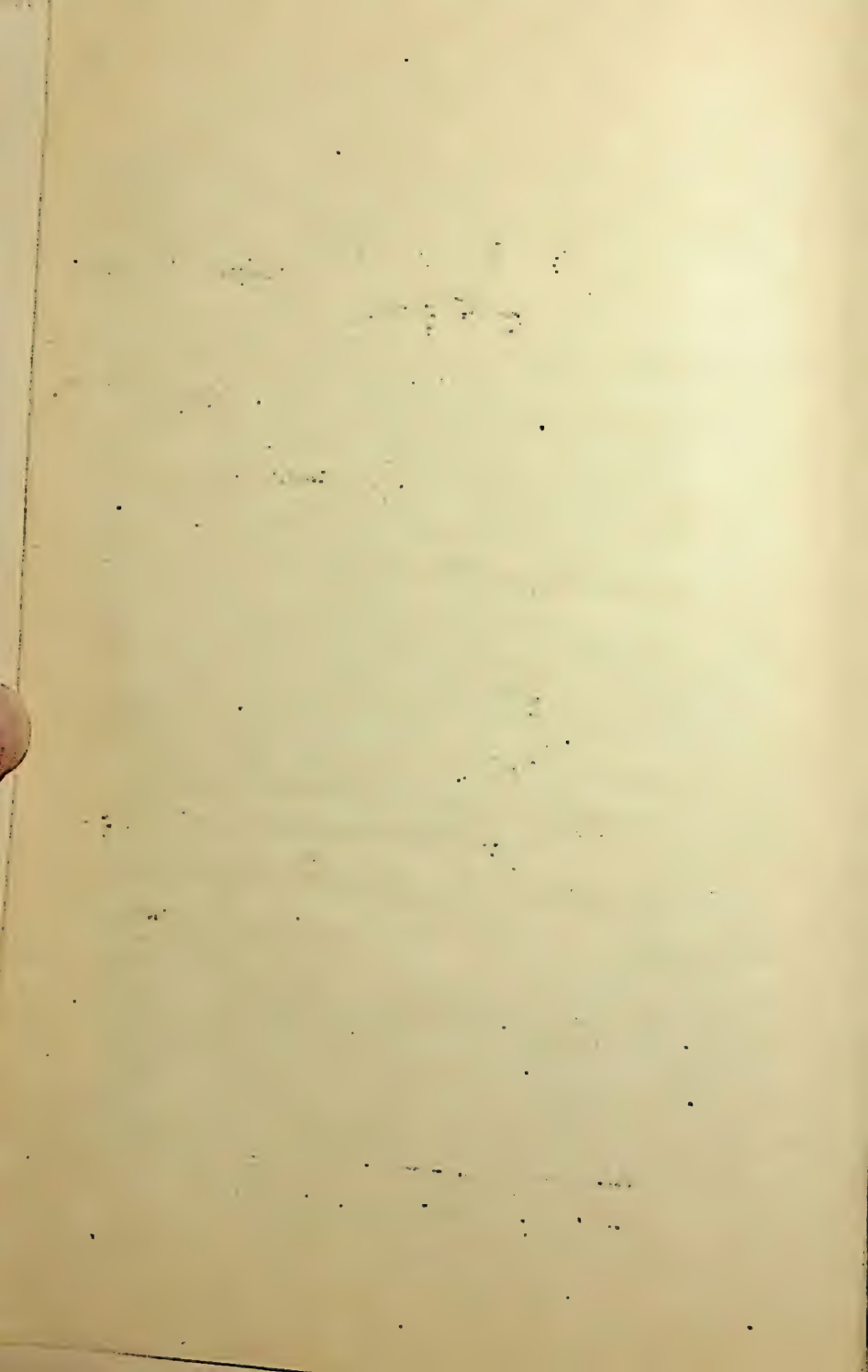
प्रकाशकीय

हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी कि वेदान्त का अनुपम ग्रन्थ 'पञ्चदशी' अपने पाठकों को भेंट किया जाय। शास्त्रोंमें 'वेदान्त-शास्त्र', उनमें 'पञ्चदशी' और उनमें भी पीताम्बरी टीका का क्या महत्व है ? इसका उत्तर वेदान्त का मनन करने वाले भलीभांति जानते हैं। वेदान्त शिरोमणि श्री १००८ जगदगुरु शंकराचार्य, ज्योतिषपीठाधीश्वर श्रीकृष्ण-बोधाश्रम जी महाराज ने, इस प्रकाशन में भूमिका रूपसे अन्यत्र प्रकाशित (पृष्ठ १७-३२) 'वेदान्त-शास्त्र और 'पञ्चदशी' शीर्षक अपने लेख में इसका जो विवेचन किया है, वह हमारी धारणा की पुष्टि में एक अकाटच प्रमाण है।

'पञ्चदशी' के पीताम्बरी भाष्य की हमारे ग्राहकों में बहुत मांग थी।। पर्याप्त समय पूर्व जो आवृत्ति प्रकाशित हुई थी—वह अब प्रायः अनुपलब्ध है। उसकी भाषा भी पुरानी पद्धति की है। साथ ही उसी ढंग का प्रकाशन आज के सर्व-साधारण पाठक के लिए सुलभ नहीं है।

सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमने यही उचित समझा कि 'पञ्चदशी' पर ब्रह्मनिष्ठ श्री पीताम्बर जी कृत तत्व-प्रकाशिका व्याख्या का, नये रूपमें भाषा-संस्कार कर, सुव्यवस्थित, आकर्षक, परन्तु सुलभ, संस्करण प्रकाशित किया जाय। वर्तमान प्रकाशन का यही उद्देश्य है। अनेक महानुभावों और विद्वानों के

सहयोग के आधार पर हमने इस प्रकाशन को हाथ में लिया। परम-प्रभु की कृपा से, वह प्रयत्न आज सम्पूर्ण हुआ। इसमें हमें कितनी सफलता मिली है यह तो पाठक ही बतायेंगे।

इस प्रकाशन को हाथ में लेते ही, सबसे पहली समस्या तो पीताम्बरी भाष्य के उपलब्ध करने की थी। पर्याप्त समय पूर्व पहले जो सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ था वह अब प्रकाशन-बाह्य होने से, बाजारमें तो उपलब्ध था ही नहीं। किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंके पास था भी तो वे देखने के लिये देने में भी सकुचाते थे। सरदार हरिसिंह जी (पटेल नगर) ने हमें इस सम्बन्ध में सहायता देने का वचन दे कर उत्साहित किया, परन्तु उस समय हम इससे लाभ न उठा सके। श्रीस्वामी शास्त्रानन्द जी के हम अत्यन्त अनुग्रहीत हैं कि उन्होंने अपनी अमूल्य प्रति सहर्ष प्रदान की। उनके सामयिक त्याग की नींव पर ही हम अपनी कल्पना को कुछ रूप दे पाये हैं।

प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री जगद्गुरु जी ने न केवल परामर्श ही दिया अपितु इस सुन्दर एवं उपयोगी सम्पादन एवं प्रकाशन की सफलता के लिए हमें आशीर्वाद भी दिया है। इससे हमारा उत्साह दुगुना चौगुना हो गया। आशीर्वाद के साथ-साथ उन्होंने भूमिका के रूप में जो शब्द 'वेदान्त-शास्त्र और पञ्चदशी' शीर्षक से दिये हैं—वह तो गागर में सागर भरने का ही काम है। पाठकों के लिए यह एक अनुपम भेंट है। समग्र वेदान्त-शास्त्र का निचोड़ बहुत ही सरल एवं संक्षिप्त भाषा में आ गया है। इस महती कृपा

के लिए हम अपने सब पाठकों की ओर से, श्री जगद्गुरु महाराज के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

लोक-सभा के उपाध्यक्ष, संस्कृत-शास्त्रों के मर्मज्ञ पंडित एवं संस्कृत के पुनरुद्धार के लिए अहर्निश प्रयतमान श्री अनन्तशयनम् अयंगार महोदय ने अपना अमूल्य समय देकर, इस प्रकाशन को देखा और अपनी सम्मति, आशीर्वाद एवं शुभाकांक्षा के रूप में 'परिचय' लिखते हुए अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे यथास्थान प्रकाशित हैं। इस कृपा-दृष्टि के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

भाषा-संस्कार एवं संपादन का भार गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातक, अनुभवी संपादक, 'सामवेद भाष्य' आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता श्री हरिश्चन्द्र जी विद्यालङ्कार को सौंप कर हम निश्चिन्त हो गये। मुद्रण भी उन्हीं की देख-रेख में उनके ही प्रेस में हुआ। हमारे सौभाग्य से श्री १००८ जगद्गुरु जी इन दिनों देहली में ही विराजमान थे। अनुवाद एवं संपादन के समय कभी-कभी उन से भी परामर्श लेने का सुअवसर मिलता रहा। उन्होंने इस पर जो भी सम्मत्ति प्रकट की है वह भूमिका के रूप में प्रकाशित है

श्री विपिनचन्द्र जी मिश्र (एडवोकेट सुप्रीमकोर्ट, दिल्ली) श्री नन्दकुमार अवस्थी, श्री गोपेश कुमार ओझा M. A. LL.B., श्री रामलाल जी आदि महानुभावों के सहयोग से हम यह अवसर प्राप्त कर सके। एतदर्थ उनके आभारी हैं। श्री रामेश्वराचार्य शास्त्री ने भी हमें अनेक प्रकार से सहायता दी है।

इनके अतिरिक्त अन्य सभी सहयोगियों के प्रति आभार

प्रदर्शित करते हुए हम आशा प्रकट करते हैं कि पाठकों के हाथ इस का समुचित आदर होगा। फिर भी यह हमारा प्रथम प्रयास है। अनेक त्रुटियां रह जाना संभव है। यदि पाठकों ने भी हमारा उत्साह बढ़ाया तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आगामी संस्करण में त्रुटियों का संशोधन भी अवश्य होगा।

विनीत

प्रकाशक

द्वितीय संस्करण के विषय में

'पञ्चदशी' का प्रथम संस्करण पाठकों के सहयोगसे बहुत शीघ्र ही समाप्त होगया था। द्वितीय संस्करण की देर से प्रतीक्षा थी। अनेक कठनाइयों के कारण कारण हम इसे शीघ्र प्रकाशिति न कर सके जिसका हमें खेद है।

इस संस्करण में हमने पाठकों की मांगके अनुसार अन्वय प्रायः, प्रत्येक श्लोक का दिया है और भाषासम्बधी संस्कार को अधिक परिमार्जित किया है। टाईप भी कुछ बड़ा किया है। इसके अतिरिक्तभी कुछ विशेष वृद्धिकी हमारी इच्छा यद्यपि पूर्ण नहीं होसकी तथापि यत्न यह किया गया है कि यह पाठकों को अधिक लाभ पहुँचा सके। आशा है कि पाठक में पूर्ववत् सहयोग देंगे : जिस से शीघ्र ही नया संस्करण प्रकाशित करने का हमारा साहस बढ़ें।

स्वतन्त्रता दिवस

२६ जनवरी १९६०

विनीत

प्रकाशक

परिचय

मैंने 'पञ्चदशी' की श्री पीताम्बर पण्डित की पुरानी हिन्दी में की गई टीका का, यह आधुनिक भाषान्तर, पढ़ा है। 'पञ्चदशी' वेदान्त दर्शन का अनूठा ग्रन्थ है। इसमें पन्द्रह प्रकरण हैं। यदि इनमेंसे किसी एक प्रकरण का भी गुरु-द्वारा श्रवण कर मनन और निदिध्यासन कर लिया जाय तो मुक्त होने में आशङ्का न रहेगी।

'पञ्चदशी' के रचयिता विजयनगराराज्यके संस्थापक श्री विद्यारण्य मुनि हैं। आदि जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य के पश्चात्, वेदान्त-विज्ञान के आप ही आचार्य माने जाते हैं। प्रसिद्ध वेद-भाष्यकार श्रीसायणाचार्य आपके ही भाई थे।

वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चदशी' पर अनेक टीकाएं हुई हैं। इनमें श्री पीताम्बर की तत्वप्रकाशिका व्याख्या का पाठकों ने बहुत आदर किया है। वह व्याख्या अब तक बहुत पुरानी हिन्दी में थी, पीताम्बरी व्याख्याका यह अभिनव संस्करण एवं प्रकाशन पाठकों के लिए अति सुगम एवं स्पष्ट हो गया है। इसमें यथास्थान टिप्पणियां भी दी गई हैं। सर्वसाधारण के लिए उपयोगी इस संस्करण के लिए भाषा-संस्कारक एवं प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

इसके प्रकाशन में जो प्रयत्न किया गया है वह प्रशंसनीय है।

मुझे विश्वास है कि सर्वसाधारण को इससे बहुत लाभ पहुंचेगा। अतएव मेरा सर्वसाधारण से अनुरोध है कि वे इस प्रकाशन से लाभ उठावें।

९ अशोक मार्ग,
नई दिल्ली
१-१०-१९५५

एम० अनन्तशयनम् आयंगर
उपाध्यक्ष, (अध्यक्ष) लोकसभा

श्री १००८ जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज
ज्योतिष्पीठाधीश्वर, बदरिकाश्रम
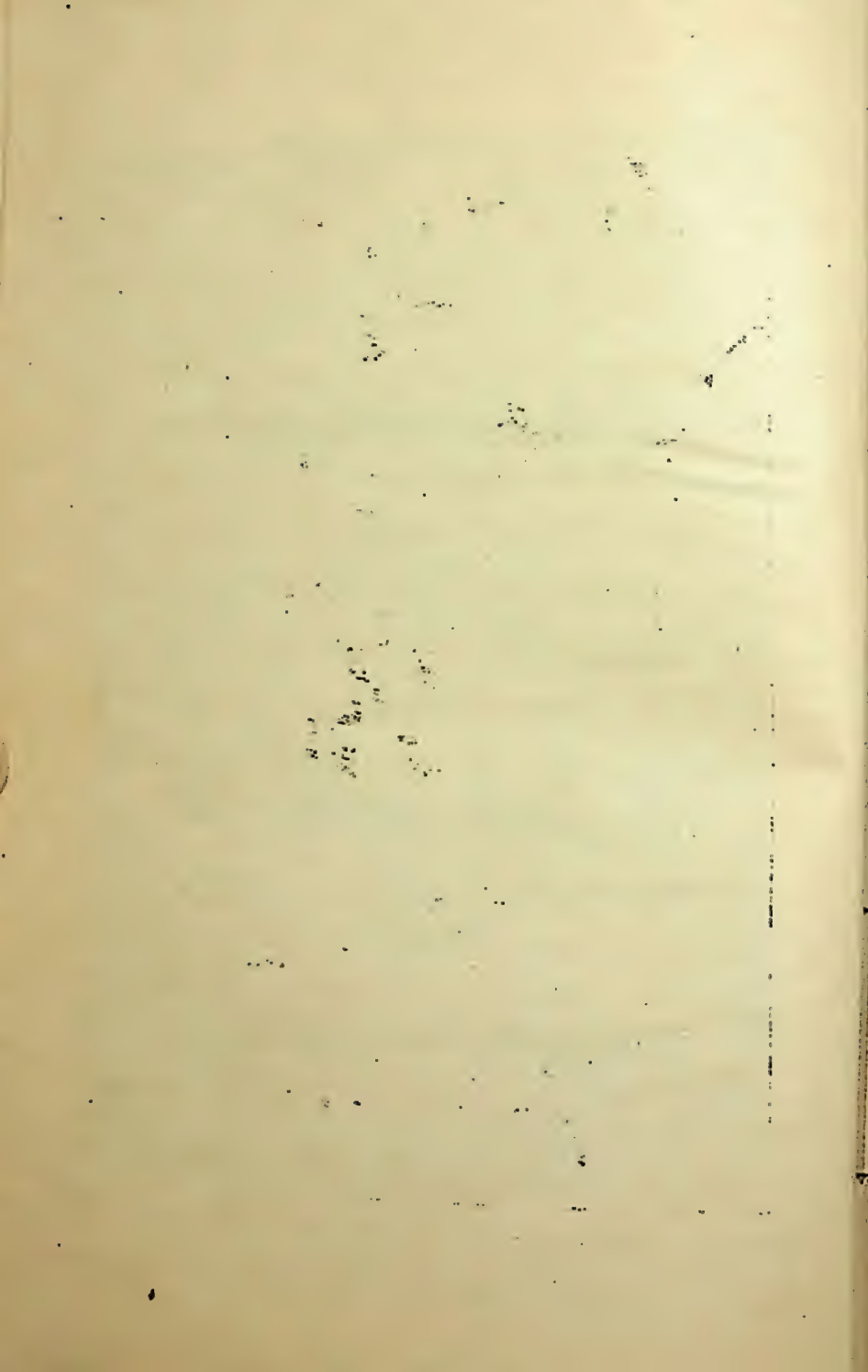
॥ ॐ ॥

वेदान्त-शास्त्र और पञ्चदशी

लेखक :—श्री १००८ जगद्गुरु शंकराचार्य, श्रीकृष्ण बोधाश्रमजी
महाराज ज्योतिष्पीठाधीश्वर, बदरिकाश्रम

मानव शरीर, यावत् शरीरोंकी अपेक्षा, उत्कृष्ट माना है। क्योंकि नर, इसी देह द्वारा, नारायणरूप धारण कर सकता है। इसी देह में प्राणी, अनेक जन्मों के कर्म-विपाक से नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ, जन्म-जरा-व्याधि और मरण की असह्य वेदनाओं को सहन करता हुआ, भव-सिन्धु की तीव्रतर लहरों से मूर्छित हो जाता है और प्रभु के अतिरिक्त अन्य आश्रयों से विश्राम-स्थान को न प्राप्त कर, यथाकथञ्चित्, प्रभु की कृपा का पात्र बन पाता है।

जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्त्यर्थ नाना उपाय

शरीर से कर्म होना स्वाभाविक है। कर्म दो प्रकार के होते हैं; शास्त्र-विहित और शास्त्र-निषिद्ध। शास्त्रविहित कर्मोंसे पुण्योत्पत्ति और शास्त्र-निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से पापोत्पत्ति होती है। पुण्य से सुख-प्राप्ति और पापसे दुःखप्राप्ति भी अनिवार्य है। प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति, शुभ की ओर, स्वभावतः होती है; अर्थात् जीव सदैव आत्यन्तिक-दुःख-निवृत्ति-पूर्वक ऐकान्तिक सुख का अन्वेषण करता रहता है। जब तक, आत्यन्तिक-दुःख-निवृत्ति-पूर्वक ऐकान्तिक सुख

का लाभ नहीं होता, तब तक, वह शान्त नहीं बैठ सकता। इसी दुःख-निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये कारुणिक महापुरुषों ने विविधशास्त्रों द्वारा अनेक उपायों का प्रदर्शन किया है।

आत्मा की स्वतः-सिद्धि

सभी प्राणियों को, "अहमस्मि-मैं हूँ" ऐसी प्रतीति निर्बाध रीति से होती है "अहमस्मि न वा-मैं हूँ या नहीं हूं, ।" "नाहमस्मि-मैं नहीं हूं।" ऐसी असम्भावना और विपरीत भावना कभी किसी को अपने स्वरूप में नहीं हुई। अतः स्वतःसिद्ध आत्मा नाम की कोई वस्तु अवश्य है जिस की सत्ता और स्फूर्ति का भान स्वतः होता है।

अन्नमयकोशादि वाच्य शरीरादि 'आत्मा' नहीं हैं!

किन्हीं दर्शनकारों ने शरीर को ही आत्मा मान लिया। शरीर की सत्ता में "अहमस्मि, अहङ्करोमि-मैं हूं, मैं करता हूँ" आदि व्यवहार सर्वानुभवसिद्ध है। इसी शरीरात्मवाद को दूसरे शब्दों में अन्नमय कोश कहा गया है। उपनिषद् में भी 'भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मै एतत् प्रोवाच अन्नमिति' भृगु जी ने अपने पिता वरुण से कहाः, "भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये।" वरुण ने उत्तर दिया-"अन्न ब्रह्म है।" पुनः भृगुजी ने जिज्ञासा की "कैसे?" वरुण ने उत्तर दिया–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' अर्थात् जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हो, जिसमें उत्पन्न हुए जीवित रहें, जिसमें चेष्टा करें, अन्तमें जिसमें लय हों वही ब्रह्म है। "अन्नाद्ध्येव हि खल्विमानि भूतानि जायन्ते"

इत्यादि। अर्थात् अन्नसे प्राणीमात्रके उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं; अतएव अन्न ही ब्रह्म है। इस प्रकार वरुणके उपदेशामृत को पान कर अभ्यास करने पर भी वारुणि को सन्तोष नहीं हुआ। सन्तोष होता भी कैसे ? अन्नमय शरीर घट की भांति जन्य है, जन्य होनेसे विनाशी; ("यत् यज्जन्यं तत् तत्नित्यम्" यह सिद्धान्त है।) विनाशी होने से आत्मशब्द के अन्वर्थ, सततप्राप्तिरूप अर्थ, का अभाव हो जायगा।

अपि च अन्नमयकोश को आत्मा मानने पर, अकृताभ्यागम और कृत-विप्रणाश, दो दोषों की प्राप्ति भी हो जायगी। क्योंकि अन्नमयकोष (शरीर) उत्पत्ति के पूर्व भी असत् था और मृत्यु के पश्चात् भी। ऐसी परिस्थिति में शरीर-धारण का हेतु क्या बनेगा? निर्हेतुकत्वात्, अकृताभ्यागम प्रसङ्ग हुआ। पुनश्च, शरीर द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता कौन होगा ? क्योंकि देहात्मवादी के सिद्धान्त में मृत्यु के पश्चात् आत्मा रहता ही नहीं। अतएव शरीर आत्मा किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

इसी प्रकार प्राण के चैतन्य-रहित होने से, मन के विकारी काम-क्रोधादि वृत्तियों द्वारा अनियत स्वभाव होने के कारण और विज्ञानशब्दवाच्य, चिच्छायोपेत बुद्धि के सुषुप्ति में लय हो जाने से, वे, भी आत्मापदवाच्य नहीं हो सकते। अतः अन्नमय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय, कोश आत्मा नहीं हो सकते।

आनन्दमय कोश भी आत्मा नहीं

पुनः वारुणि ने कहा 'भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये' तब

वरुण ने "आनन्दं ब्रह्म विजिज्ञासस्व" आनन्द को ब्रह्म बताया, क्यों कि आनन्द से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। परन्तु आनन्दमयकोश, बुद्धिवृत्ति होने से स्थायी नहीं है। पुण्योदय होने पर बुद्धि की वृत्तियों में सुखाभास होता है और पुण्य क्षीण होने पर वही बुद्धि की वृत्ति दुःखरूप में परिवर्तित हो जाती है। अतएव कदाचित्क होने से आनन्दमयकोश भी आत्मा नहीं हो सकता।

आत्मा का स्वरूप

तब आत्मा क्या है? "ब्रह्मविद् आप्नोति परं" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" 'ब्रह्मवेत्ता परपद को प्राप्त होता है' 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में पर पद और ब्रह्मपद से कौन वाच्य है ? यह प्रश्न पुनरपि तद्वत् ही आकांक्षित रहा।

इसपर बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है–"एष ते आत्मा सर्वान्तरः, सर्वान्तर्यामी, अमृत अदृष्टो द्रष्टा, श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, नान्यो अन्योऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता" इत्यादि अर्थात् आत्मा सर्वान्तर्यामी है, जो स्वयं अदृष्ट होता हुआ भी सब का द्रष्टा, अश्रुत होता हुआ भी सब कुछ सुनने वाला, स्वयं अमत होता हुआ भी सबका मन्ता है। वह घट की भांति विज्ञात न होता हुआ भी सबका ज्ञाता है। यह आत्मा 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' है। वह दुःख, शोक, मोह, जन्म और मरण से रहित है। एषोऽकलोऽमृतो भवति, सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगत् और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति–इन तीनों अवस्थाओं में एकरूप से अनुगत रहने के कारण आत्मतत्व में सत्यता सिद्ध होती है। घटपटादि

ज्ञेय वस्तुओं के नाना होने पर भी ज्ञान में अखण्डता सर्वानुभव-सिद्ध है। आत्मतत्व में, व्यापक होने से देशकृत, नित्य होने से कालकृत और सर्वात्म होने से वस्तुकृतभेद भी नहीं है। अतएव आत्मा में सत्य, ज्ञान और आनन्त्य स्वतःसिद्ध हैं।

दुःख की प्राप्ति कहां से हुई ?

अब प्रश्न यह है कि जब ब्रह्म का स्वरूप लक्षण "सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म" है और संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं, तब संसार में असत् जड़ और दुःख की प्राप्ति कहां से हुई ? क्योंकि "इदमहं न जानामि, अहं दुःखी" मैं यह नहीं जानता, मैं दुःखी हूँ इत्यादि व्यवहार प्रत्येक प्राणी में सत्यवत् प्रतीत होता है। इस पर भगवान् भाष्यकार लिखते हैं :—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥

अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की अव्यक्त नाम वाली, अनादि, रज-तम और सत्वगुणात्मिका अविद्या शक्ति है; यही सच्चिदानन्दघन अखण्ड, एकरस परब्रह्ममें जीवभाव की कल्पना करती है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का यह सृजन अविद्या द्वारा ही होता है।

अविद्या, अज्ञान, आवरण और विक्षेप का स्वरूप

अविद्या स्वरूपसे न अनादि है और न आदि। यदि अविद्या को अनादि माना जाय तो ब्रह्म की भांति नित्य होनेसे निवृत्त नहीं हो सकती। यदि आदि कहें तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या का आरम्भ कब से हुआ ? अतएव अविद्या को अनादि-आदि दोनों रूपों से भिन्न, अनिर्वचनीयस्वरूप तथा प्रवाह से अनादि मानना पड़ेगा।

इसी अविद्या का अपर पर्याय, अज्ञान, भी न भावरूप है, न अभाव रूप। अज्ञान के ज्ञान से निवृत्य होने के कारण उसकी भावरूपता और व्यवहार में उसकी प्रतीति होने के कारण अभाव-रूपता सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् भावाभाव उभयात्मक न होने से अज्ञान भी अनिर्वचनीय है।

इसी अज्ञान की, आवरण और विक्षेप रूपा दो शक्तियां हैं। आवरण वस्तु के स्वरूप को छिपा देता है और विक्षेप उस वस्तु के विपरीत ज्ञान करा देता है। गीता में भगवान् ने कहा है :— अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः अर्थात् अज्ञान से ज्ञान आवृत हो रहा है; इसी कारण जीव मोह (अविवेक) में पड़े हुये हैं। भगवान् व्यासभी कहते हैं कि एकः शत्रुर्न द्वितीयशत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्! येनाऽऽवृतः कुरुते सम्प्रमत्तो घोराणि कर्माणि सुदुस्त-राणि। अर्थात् मनुष्य का केवल एक ही शत्रु है जिसका नाम अज्ञान है, जिसके चक्कर में पड़कर मनुष्य प्रमत्त हुआ घोर और सुदुस्तर कर्म करने में प्रवृत्त होता है। इसी अज्ञान की महिमा से रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत, अत्यन्त विविक्त आत्मामें अनात्म भान उत्पन्न होता है। इसी भान का नाम अध्यास है। अत्यन्त विविक्त पदार्थों तथा उनके अत्वन्त विरुद्ध धर्मों का एक दूसरे में आरोप करना ही अध्यास है। जैसे तम और तेज विरुद्धस्वभाव होने से परस्पर मिल नहीं सकते। इसी प्रकार विज्ञानघन चिदात्मा, अन्तःकरण आदि अनात्म पदार्थों से मिश्रित नहीं हो सकता। अध्यास का स्वराज्य तब तक बना रहता है जब तक अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता।

अध्यास और माया का प्रभाव

साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने समनन्तरनिश्चिति ।
अध्यस्यमानो नास्तीति बाध इत्युच्यते बुधैः ।।

अर्थात्, अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर अध्यस्यमान वस्तु का नाश हो जाता है ।

माया का अधिष्ठान भी परब्रह्म है। वह अन्ततोगत्वा ब्रह्म को विषय करती है। अतएव दर्शनकारों ने माया को स्वतंत्र और परतन्त्र दोनों ही रूप दिये हैं। असङ्ग, चित्, विभु' आत्मामें अन्यथात्व का सम्पादन करती है इसलिए स्वतंत्र और स्वसिद्धि में स्वयं असमर्थ होती हुई स्वप्रकाश परब्रह्म की अपेक्षा रखती है अतएव अस्वतंत्र है। कुछ भी हो, मायाकी प्रबलता किसीसे भी छिपी नहीं।

जितना भी प्रपञ्चजात है, वह, सब मायविजृम्भित है। अतएव मायिक और कल्पित है।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।(पञ्चदशी)

माया पर ब्रह्म का आभास लेकर जीव और ईश्वर की कल्पना करती है। जीव और ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं और उन्हींसे सम्पूर्ण जगत् की कल्पना हुई। "दुर्घटैकविधायिन्यां मायायाम्, (पञ्चदशी) माया अघटित-घटना-पटीयसी है। जो अनादि, निधन, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, सच्चिदानंदघन में जीवेश्वर की कल्पना कर अनेक अनर्थों का आपादन कर सकती है उस माया-शक्ति की क्या कल्पना की जा सकती है !

जीवेश्वर का स्वरूप

शास्त्रकारों ने जीवेश्वरके विषयमें अभास-वाद, प्रतिबिम्ब-वाद

अवच्छेदकत्व-वाद आदि कितने ही पक्षों का समाश्रयण किया है। बुद्धिवृत्ति चैतन्य को प्रायः सभी ने किसी न किसी युक्ति से कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी आदि आभ्यंतर एवं बाह्य विषयों का अनुभविता माना है। इसी को "द्वासुपर्णा सहजा सखाया समानं वृक्ष परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति। इस मंत्र में स्पष्ट किया गया है। संसाररूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर नामक दो पक्षियों ने आश्रय लिया है। इनमें अन्यतर(जीव) अपने किये कर्मों का फल भोगता है और दूसरा (ईश्वर) तटस्थ रह कर केवल देखता है।

वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन : ज्ञान के विना मुक्ति नहीं

इसी दुःख की वास्तविक निवृत्ति के लिये तथा अद्वयानंद स्व-स्वरूप के निर्णय के लिये वेदान्त शास्त्र को आरम्भ किया गया है। यों तो कर्मठ और उपासक दुःख की निवृत्ति के लिये नाना भांति के अनुष्ठानों, काम्य कर्मों तथा उपासनाओं का विधान करते हैं। परन्तु वे सभी उपाय अद्वयानंद आत्मा के स्वरूप के परिचायक नहीं हो सकते। क्योंकि :—

बोधोऽन्यसाधनेभ्यः साक्षान्मुक्त्यैकसाधनम्।
पाकस्थवह्निवत् ज्ञानं विना मोक्षं न सिद्धयति ॥

जिस प्रकार पाकके लिये काष्ठ और स्थाली आदि, साधनोंकी अपेक्षा होते हुये भी, मुख्य साधन वह्नि है : ठीक उसीप्रकार आत्म-स्वरूप (मोक्ष) के लिये कर्म-उपासना की अंतःकरण-शुद्धि और चित्तैकाग्रता के लिये आवश्यकता होते हुये भी, एक ही कारण बोधमात्र मानना होगा। अतएव 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, ऋते ज्ञानान्न-मुक्तिः, इत्यादि, ज्ञान से ही कैवल्यपद की प्राप्ति होती है, विना ज्ञान के मुक्ति नहीं।' आदि उक्तियाँ हैं।

कर्म और उपासनासे लाभ : पर अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानसे ही सम्भव :

यद्यपि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय :, कुरु कर्मैव पूर्वैः पूर्वतरम् कृतम्, आदि गीता के वचनों के अनुसार, जनकादि ने सब सिद्धियां कर्म द्वारा ही प्राप्त कीं थी, अतः तुम भी पूर्वजों की भांति कर्म में लगे रहो, इत्यादि वाक्यों से कर्मानुष्ठान का ही उपदेश मिलता है। जनक जीवन्मुक्त थे। बिना कर्म के स्थिति भी नहीं हो सकती। यदि किसी विशेष परिस्थितिवश कर्म का परित्याग भी कर दिया जाय तब भी शारीरिक कर्म तो अवश्य ही करने होंगे। अतएव कर्म और उपासना ही मुक्ति के साधन हैं।

परन्तु कर्म और उपासना अविद्या के अविरुद्ध होने से अविद्या की निवृत्ति नहीं कर सकते अपितु अविद्या की वृद्धि ही करते हैं। कर्म और उपासना से सातिशय फल की प्राप्ति होती है। 'अमुक कर्ता ने अमुक साधन द्वारा अमुक फल प्राप्त किया। अतः मैं भी उसी साधन द्वारा वैसा ही फल प्राप्त करूं।' अथवा समान कर्म से विभिन्न कर्ताओं को असमान फल की प्राप्ति होने से कर्म मात्र को अविद्याविजृम्भित कहा गया है। इसलिए उपनिषद् ग्रंथोंमें कर्म और उपासना को अविद्या कहा गया है। किम्, केन, कथम् आदि विधि-प्रयोजक होने से कर्म और उपासना अविद्या ही ठहराये गये हैं। अप्रकाश का प्रकाश विरोधी होने से प्रकाश ही अप्रकाश का निवर्तक होगा। इसी प्रकार अज्ञानका विरोधी ज्ञान होने से, अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है।

ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने पर

ज्ञान की शान्ति और अद्वयानन्द धारा का प्रवाह

इस पर आशङ्का हो सकती है कि ज्ञान, बुद्धि की एक वृत्ति का

नाम है। यदि उस बुद्धिवृत्ति ने अज्ञान की निवृत्ति कर भी दी तो क्या इससे 'मुक्तिकी सिद्धि हो गई ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान, अज्ञान की निवृत्ति कर देता है तब बुद्धि में किसी भी बाह्य विषय-जन्य संस्कार की आक्रांति नहीं होती। केवल ज्ञानमात्र ही शेष रह जाता है। वह भी, जिस प्रकार आविल जल में निर्मली का सम्बन्ध कर दिया जाता है और जल-गत रेणु तुरन्त बैठ जाती है ठीक उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति कर बुद्धिवृत्ति-ज्ञान भी शान्त हो जाता है और अद्वयानन्द की धारा निरन्तर चलती रहती है। परन्तु कर्मोपासना से रहित शुद्ध ज्ञान व्यर्थ है :

वेदान्त का वास्तविक स्वरूप

आज कल ज्ञान की बाढ़ आई हुई है। प्रत्येक नर-नारी कर्मो-पासना का परित्याग कर शुष्क ज्ञान में प्रवृत्त हो रहा है। परन्तु शास्त्र के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध होने से, कर्म और उपासना से रहित ज्ञान परिपक्व अवस्था पर नहीं पहुंच सकता। वेदान्त-शास्त्र का अधिकारी कौन है ? यह भी वेदान्तशास्त्र स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। उपनिषद्में लिखा है कि "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समा-हितो भूत्वा आत्मन्यात्मानं पश्यति, शान्तो मलिनवासनारहितः, दान्तो जितबहिरिन्द्रियः उपरतः संन्यासी, तितिक्षु ग्रींष्मोष्णाऋतुधर्मादिसहन-शीलः गुरुमभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् अर्थात् शान्त, दान्त, उप-रत और तितिक्षु, आत्मज्ञान के लिये ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु की सेवा में पहुंचे। मलिन वासनाका परित्यागकर, कामक्रोधादि अन्तःकरण की मलिन वासनाओं तथा स्रक्, चन्दन, वनिता आदि बहिरिन्द्रिय-संतर्पण करने वाले पदार्थों का परित्याग करता हुआ संन्यासी आत्म-शास्त्र का अधिकारी माना गया है।

ब्रह्मज्ञान का अधिकारी कौन ?

अतएव जप, तप, दान, यज्ञादि कर्मों से शुद्धान्तःकरण, इष्ट देव की उपासना से चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी है। साधन चतुष्टय नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमदमादिषट्कसंपत्ति तथा मुमुक्षत्व हैं। अर्थात् जगत्, जीव और इनके कर्तव्योंका नित्य विचार कर निश्चय करना चाहिये कि यह वस्तु नित्य है और यह विनाशी; नित्य में प्रवृत्ति और अनित्य से निवृत्ति करनी चाहिये। स्वामी विद्यारण्यजी ने लिखा है कि 'तस्माद्विचारयेन्नित्यं जगज्जीव-परात्मनः, जीवभाव-जगद्भाव-बाधे स्वात्मैव शिष्यते, अर्थात् जीव-जगद्भाव का बाध होने पर स्वात्मा ही शेष रह जाता है। इस लोक के फल पुत्र, कलत्र और धन तथा परलोक स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त फलों (सुखों) को क्षयी और सातिशय समझ कर उन से वैराग्य करना। शम, दम, आदि षट्सम्पत्तिशाली और मुक्त होने की इच्छा वाला ही वेदान्त शास्त्र का अधिकारी है।

अधिकारी शिष्य का गुरु से उपदेश लेना आवश्यक :

इन गुणों से युक्त अधिकारी गुरु के पास आत्मज्ञान की जिज्ञासा से जाय। उपनिषद् में लिखा है कि "दृष्ट्वा कर्मचितांल्लो-कान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्। नास्त्ि-अकृतः कृतेन'' अर्थात् कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले फलों को क्षयातिशययुक्त समझ कर ब्राह्मण दुःखी हो गुरु के पास जाय। क्योंकि सिद्ध वस्तु की उपलब्धि कभी भी कृत कर्मों से नहीं होती।

गुरूपदेश से आत्मभाव का बोध, स्वरूपावस्थिति और मोक्ष

इस प्रकार निर्वेदप्राप्त जिज्ञासु को गुरु उपदेश देता है 'आत्मा

वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत् किञ्चिन्मिषत् । स ईक्षत । लोकान्नु सृजा इति । अर्थात् सर्व प्रथम एक ही आत्म-तत्व था । उसने देखा–"मैं लोकों का सृजन करूं । यहां से आरम्भ कर प्रकृति, महत्तत्व अहम्तत्व, पञ्च मात्रा, पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि का सृजन कर 'तत् सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्,, के अनुसार सृष्टि का सृजन कर स्वयं ही प्रविष्ट हो गया । इस प्रकार सृष्टिका उपक्रम कर 'स एतमेव पुरुषं ततमपश्यत् 'अर्थात् यह जितना भी विस्तार है उसी परब्रह्म परमात्मा का है । यह उपदेश कर 'प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि, आदि महावाक्यों का उपदेश करता है ।

जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्नावस्था में पड़ा हुआ विविध प्रलाप कर अनर्थ में पड़ जाता है और उस समय किसी समीपस्थ कारुणिक पुरुष के द्वारा प्रबुद्ध कराने पर स्वप्न एवं तज्जन्य अनर्थों की तत्क्षण निवृति हो जाती है । ठीक इसी प्रकार गुरूपदिष्ट महावाक्य के श्रवण मात्र से अनात्म पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है । संसारवासना का क्षय, स्वप्नद्रष्टा के भय कम्पादि की भांति, शनैः शनैः होता है । ठीक उसी प्रकार महावाक्य के श्रवणमात्रसे ही परोक्षानुभूति होकर, अनात्म पदार्थों में आत्मभाव का बाध हो, स्वरूपावस्थिति हो जाती है । परन्तु अज्ञान-जन्य संसार की निवृत्ति तो शनैः शनैः प्रारब्ध कर्म के क्षय के अनन्तर ही होती है । बस,

'नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गम्, नाहङ्कारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिहीनः साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ।।

अर्थात्, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, प्राणवर्ग, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र और वित्त से रहित साक्षी, नित्य, प्रत्यक्तत्व, शिव

मेरा स्वरूप है। इस प्रकार असम्भावना और विपरीत भावना को दूर कर ऐकात्म्य भाव का ही नाम मोक्ष है।

मोक्ष का स्वरूप

मुक्ति स्वर्गादि लोककी भांति यज्ञादिजन्य नहीं है। ऐसा होने से मुक्ति में अनित्य दोष आ जायगा। अनात्म पदार्थों से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा व्यावृत्ति करते करते जो शेष रह जाय वही अपना स्वरूप है और स्वरूपावस्थिति ही मुक्ति है। अतएव न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता यह दर्शनकारों का तत्व-कथन है।

"जितना भी विकारजात है, वह बुद्धि का ही परिणाम है।" 'आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तविक नहीं है।' ऐसा निश्चय होने पर भी जो, शास्त्र-वासना-वासित हो पर-ब्रह्म में अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व मानते हुए भी, प्रत्यक्तत्त्व में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानते हैं, वे अनर्थ से कभी भी निवृत्त नहीं हो सकते।

जीवन्मुक्ति

मुक्ति दो प्रकार की है (१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्त प्राणी की बुद्धि, तत्व में निष्ठा प्राप्त कर लेती है। संसार के कर्तृत्वादि अखिल प्रतिबन्धों की निवृत्ति हो जाती है। गीता में ऐसी स्थिति वाले को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। भगवान् भाष्यकार भी बतलाते हैं कि :—

यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि स्थिर हो, जो निरन्तर आनन्दका अनुभव करे तथा प्रपञ्च विस्मृतप्राय हो जाय वह जीवन्मुक्त कहा गया है। जीवन्मुक्त आनन्द की पराकाष्ठा का अनुभव करता है। वह शरीर

रहते हुये ही मुक्त है। जरा, मरण शरीरके धर्म, क्षुत्-पिपासा प्राण के धर्म और शोक, मोह अन्तःकरण के धर्म हैं आत्मा में कोई विकार नहीं। अतएव राग, भय, शोक, मोह सभी से उसे छुटकारा मिल जाता है।

विदेहमुक्ति

विदेह मुक्ति शरीर के समाप्त होने पर प्राप्त होती है। क्योंकि ज्ञानी के सञ्चित और क्रियमाण कर्म ज्ञानाप्ति से दग्ध हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्मके भोगके निमित्त शरीर बना रहता है। प्रारब्ध-कर्मक्षय होने पर मुक्त हो जाता है। अतएव श्रुति में कहा गया है कि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।" ज्ञानी को मुक्ति में तभी तक विलम्ब है जब तक शरीर समाप्त नहीं होता। ज्ञान होने पर प्राणी कृत कृत्यता का अनुभव करता है। लौकिक व्यवहारपरायण पुरुषों को देख विस्मय करता है। लोक और शास्त्र-व्यवहार का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। बुद्धि आदि सम्पूर्ण इन्द्रियां अपना-अपना कार्य भले ही करती रहें, ज्ञानी की कोई क्षति नहीं। अन्तर्मुख हो सब व्यवहारों से शून्य हो जाय तब उसका कोई लाभ भी नहीं।

ज्ञानी और व्यवहार

फिर भी वास्तविक ज्ञानी शास्त्रीय सिद्धान्त से ही व्यवहार करता है। यथेष्टाचारण ज्ञानी के लिये सर्वथा निषिद्ध है।

> बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि,
> शुनां तत्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।

अर्थात् तत्वज्ञान करने के पश्चात् भी यदि बाह्य-इन्द्रिय-जन्य आनन्द से अपने को तृप्ति करने की प्रवृत्ति करे तो ऐसे ज्ञानी और अशुचिभक्षक कुत्ते में कोई भेद नहीं होता। अतएव आत्मतत्ववेत्ता

की सम्पूर्ण क्रियायें शास्त्रीय मार्ग से ही प्रवृत्त होती हैं। इसीलिए कहा है :–

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकाऽनुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ?

अर्थात् लोक-कल्याणार्थ शास्त्रीय मार्ग से व्यवहार करने पर भी ज्ञानी की क्षति नहीं होती। इससे एक लाभ यह है कि अन्य व्यक्तियों को कर्म और उपासना में प्रवृत्त होने की आदत पड़ जाती है। इस प्रकार वेदांत-शास्त्र अद्वितीय तत्व में अपना प्रामाण्यबोध कराते हैं।

वर्तमान प्रकाशन पर हमारा आशीर्वाद

पञ्चदशी का महत्व

इसी वेदान्त-शास्त्र का अन्यतम ग्रंथ पञ्चदशी है। इसके निर्माता स्वामी विद्यारण्य मुनिवर्य हैं। आपका जैसा नाम है वैसा वैदुष्य गुण भी आप में है। आपनें वेदान्त, व्याकरण आदि के कई अनुभव ग्रन्थों का निर्माण किया है। श्री विद्यारण्य मुनि अत्यन्त त्यागी, बुद्धिमान्, व्यवहारदक्ष और महाविभूतियुक्त थे।

विद्यारण्य मुनिवर्यद्वारा रचित वेदान्त के ग्रन्थों में अन्यतम ग्रन्थ पञ्चदशी है। इस ग्रन्थ में एक ही तत्व को १५ प्रकरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया गया है। यदि एक प्रकरण का भी, गुरु द्वारा श्रवण कर मनन, निदिध्यासन कर लिया जाय तो मुक्त होने में कोई आशंका न रहेगी। जिन लोगों ने अपने जीवन में पञ्चदशी ग्रन्थ का आस्वादन किया है वे इसके गौरव से भली-भांति परिचित हैं। इस ग्रन्थ की प्रशंसा जितनी भी की जाय वह स्वल्पातिस्वल्प है।

पीताम्बरी टीका की विशेषता

पञ्चदशी ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। इनमें आत्मतत्ववेत्ता तुरीयाश्रम सेवी भी हैं। सभी विद्वानों ने अनुभव द्वारा ग्रन्थ के मार्मिक तत्वों का उल्लेख किया है। संस्कृत तथा हिन्दी में कई टीकायें प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी की प्रस्तुत टीका के मूललेखक स्वनाम धन्य श्री पीताम्बर जी हैं। उन्हीं की टीका का स्थानीय विद्वान् श्री हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार ने आधुनिक प्रचलित भाषा में संशोधन किया है। यह प्रस्तुत संशोधन एवं संपादन अत्यन्त सरल और उपादेय है। ग्रन्थ के देखने से आशा की जाती है कि संस्कृत सहित्य के अनभ्यासी भी इसके द्वारा लाभ उठा सकेंगे। ग्रन्थ के संशोधक एवं प्रकाशक के अत्यन्त श्रम का परिचय ग्रन्थ द्वारा मिलता है। प्रकाशन में पूर्ण श्रम किया गया है। वेदान्त-शास्त्र में निष्ठा रखने वाले प्रत्येक प्राणी का इस ग्रन्थ के द्वारा अत्यन्त उपकार होगा, ऐसी आशा है। संशोधक और प्रकाशक महानुभावों के साथ हमारी सद्‌भावना तथा शुभाशीर्वाद है। किमधिकम् ?

॥ शुभम् ॥

(ह०) श्रीकृष्ण बोधाश्रमः

२६-६-५५

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिता

॥ श्री पञ्चदशी ॥

पंडित रामकृष्णकृत संस्कृतटीका की

पीताम्बरी भाषा-व्याख्या व टिप्पण-सार-सहिता

*प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक प्रकरण-१

भाषाकारकृत मंगलाचरण

गौरी-घस्त्रेश-हेरम्ब-हरि-शंकरसंज्ञकान् ।
पंचदेवानहं वन्दे चित्तैकाग्र्योपकारकान् ॥१॥
वेदान्तार्थप्रकाशेन जगदांध्यनिवारकान् ।
सर्वाचार्याग्रगण्यांस्तान् वंदे शंकरदैशिकान् ॥२॥
येनास्तमितमज्ञानामज्ञानं ज्ञानभानुना ।
तस्मै मे रामसंज्ञाय पर-सद्गुरवे नमः ॥३॥

---

*ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा के उपाधि से विवेचन (भेद-ज्ञान) को 'प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक' कहते हैं। परन्तु ऐसा विवेचन तो अन्तःकरण की एक वृत्ति ही है अतएव इस प्रकरण का नाम 'प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक' होना सम्भव नहीं। तथापि, विवेक जन्य और ग्रन्थ जनक है; अतएव जन्य-जनक का अभेद दिखाने के अभिप्राय से इस प्रकरण का भी नाम प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक है। शेष चार विवेक-प्रकरणों के विषय में भी यही बात है। तथा पांचों आनन्द-प्रकरणों का नाम इसी प्रकार वाच्य-वाचक के अभेद से है।

"अहमेव परं ब्रह्म मयि सर्वं प्रकल्पितम् ।"
ज्ञातं यत्कृपया तस्मै बापवे गुरवे नमः ॥४॥
परवाक्यरसाभिज्ञान् सज्जनान् ब्रह्म-वित्तमान् ।
निन्दासूयादिरहितान् प्रणमामि महत्तमान् ॥५॥
श्रीमत्सर्वंगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां यथामति ॥६॥

अपनी उपासना के द्वारा वेदान्त श्रवण में उपयोगी चित्त की एकाग्रता में सहायक––मायाविशिष्ट ब्रह्मरूप सबकी उपादानकारण देवी, सूर्य, गणपति, विष्णु और शिव––इन पांच देवों की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

जिन्होंने वेदान्त के अर्थ का प्रकाश करके सब जीवों के अविद्यान्धकार को दूर किया है और इसीलिए जो सबके अग्रगण्य हैं उन, परम्परागुरु श्रीशंकराचार्य, की मैं वन्दना करता हूँ।

वेदों के अन्तभागरूप उपनिषद् और उनके अनुसारी ब्रह्मसूत्र और गीता आदि को वेदान्तग्रन्थ कहते हैं। ईश आदि १० उपनिषद्, केन उपनिषद् का दूसरा (वाक्य) भाष्य, ब्रह्मसूत्र, गीता, सनत्सुजात-संवाद, विष्णुसहस्रनाम, नृसिंहतापिनी उपनिषद्–ब्रह्मात्मा की एकता-प्रधान अर्थवाले ये १६ भाष्य और उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थों द्वारा श्रीशंकराचार्य ने अविद्यान्धकार को दूर किया है ॥२॥

जिन्होंने स्वयं तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा ज्ञान रूप सूर्य से अज्ञानीजनों का मूलाज्ञान नष्ट किया है, अपने उन राम संज्ञक पर-गुरु (गुरु के गुरु) को मेरा वार-वार प्रणाम हो ॥३॥

"मैं ही अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म हूँ और ब्रह्मभूत मुझमें ही यह कार्यकारणरूप प्रपंच नित्य निवृत्त है" यह ज्ञान जिनकी कृपा से हुआ उन सद्‌गुरु बापु महाराज को मेरा नमस्कार है ।।४।।

दूसरे कवियों के वाक्यों के रस को जाननेवाले, संशयादि-रहित, ब्रह्मनिष्ठ, निन्दा एवं असूया आदि दुर्गुणों से रहित, महा-महिमावान् (भागवत के पंचम स्कन्ध के अनुसार समचित्त, प्रशांत, क्रोधरहित, प्रत्युपकार के बिना उपकारक—सुहृद् और साधु) ब्रह्मनिष्ठ सब सन्तजनों को मैं बहुत-बहुत (सामान्यतः परमात्मा दृष्टि से सबको अपना आप जान कर) प्रणाम करता हूँ ।।५।।

श्रीयुक्त [पर (ब्रह्म) अथवा अपर (शास्त्र वा सगुण ब्रह्म) विद्या वाले] सभी (ग्रन्थकर्ता, माता-पिता आदि उक्तानुक्त सब) गुरुओं को नमस्कार करके पञ्चदशी के प्रत्यक्‌तत्त्वविवेक प्रकरण की भाषाटीका मैं (पंडित पीताम्बर) अपनी बुद्धि के अनुसार करता हूँ ।।६।।

×श्रीविद्यारण्य मुनीश्वर (संन्यासियोंके आचार्य) अपने महान् ग्रन्थ पञ्चदशी को प्रारम्भ करने से पूर्व, उसकी निर्विघ्न समाप्ति तथा "मंगलाचरण करने से जिज्ञासु लोग हमें नास्तिक न समझ कर इस ग्रन्थ को पढ़ने में प्रीति से प्रवृत्त हों"—इन दोनों प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर, व्यास आदि शिष्ट पुरुषों की भान्ति इष्ट-

---

×पहले छः प्रकरण विद्यारण्य पंडित की रचना हैं–शेष प्रकरण श्रीभारती-तीर्थ की कृति; इसलिए केवल विद्यारण्यपद है । ये दोनों ही इस ग्रन्थ के कर्ता हैं; इसलिए टीकाकार श्रीरामकृष्ण ने सर्वत्र दोनों का मंगल किया है और श्रीभारतीतीर्थ किसी रीति से श्री विद्यारण्य के गुरु हैं, अतएव मंगल में सर्वत्र पहले उनका नाम रखा है ।

देवता और गुरु को नमस्कार कर, स्वयं अपने चित्त में करके भी, शिष्यों (उपदेश के योग्य साधन-सम्पन्न मुमुक्षुओं) की शिक्षा के लिए, निम्न श्लोक द्वारा मंगल (विघ्नध्वंस के अनुकूल व्यापार) करते हैं:—

मंगलाचरण

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥१॥

अन्वय—सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे श्री शंकरानन्द-गुरुपादाम्बुजन्मने नमः।

अर्थ—विलाससहित मूलज्ञान रूप ग्राह को ग्रस लेना ही जिसका मुख्य कार्य है, (१) श्रीशंकरानन्द गुरु के उस दो-पादरूप अम्बुजन्म (कमल) को मेरा नमस्कार है ॥१॥

---

(१) श्री=ब्रह्मविद्या, सर्वज्ञतादिशक्ति, आसन–रूप पार्वती, माया या अणिमादि अष्टसिद्धि, इनसे युक्त।

शंकरानन्द=शंकरानन्द स्वामी, शंकराचार्य रूप आनन्दपरमात्मा, दक्षिणामूर्ति शिवरूप परमात्मा, ईश्वर अथवा प्रत्यक्-अभिन्न शुद्ध ब्रह्म।

गुरु=साक्षात् व परम्परा से शिक्षक।

पाद=प्रसिद्ध चरण, पाताल अथवा स्वरूपभूत प्रकाश।

अम्बुजन्म=अम्बु अर्थात् जल में जिसका जन्म है ऐसा, मकरादिकों का भी भक्षक महातिमिङ्गलमहामकर वा कमल। यहां गुरु के पाद को जो कमल कहा है उसमें मकर का ग्रसनरूप जो कर्म मूल श्लोक के उत्तरार्ध में कहा है वह सम्भव नहीं है, इसलिए प्रथम अर्थ महामकर है। और जैसे गजेन्द्र को जब ग्राह ने पकड़ा था तब कमल-पुष्प द्वारा विष्णु की आराधना से विष्णु के प्रकट होने पर चक्र से ग्राह का नाश हुआ वैसे ही गुरुपाद रूप कमल द्वारा गुरु की आराधना से प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश होता है। इसलिए गजेन्द्र द्वारा

व्याख्या—'शं' अर्थात् सुख, उसको करने वाला 'शंकर'; सब जगत् को आनन्दित करने वाला परमात्मा। एषह्येवानन्दयति—यह परमात्मा ही आनंदित करता है—श्रुति के इस प्रमाण से तथा सर्वाधिक प्रीति का विषय होने के कारण परमानन्द रूप प्रत्यगात्मा ही 'आनन्द' पद का अर्थ है। जो शंकर (ब्रह्म) है वही आनन्द (प्रत्यगात्मा) है। इस प्रकार 'शंकरानन्द' पद का अर्थ 'प्रत्यक्—अभिन्न—परमात्मा' हुआ। वही ब्रह्माभिन्न—प्रत्यक् गुरु है। [शास्त्र में लिखा है—'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन। योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः' अर्थात् जिन अधिकारी व्यक्तियों के रागादिद्वेष दग्ध हो चुके हैं उनको आचार्य (गुरु) की मूर्ति में स्थित वह प्रत्यक्—अभिन्न परमात्मा उपदेश द्वारा अज्ञान आदि प्रतिबन्धों को नष्ट करने की शक्ति प्रदान कर प्रत्यक्-अभिन्न-परमात्मा में जोड़ता है।] वे श्रीगुरु 'श्री' अर्थात् श्रीमान् = (गंधवान् द्विपः—गंधद्विपः की न्याईं मध्यम-पदलोपी समास) अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ सिद्धियों से युक्त हैं। अथवा—'रातेर्दातुः परायणम्' 'धन के दाता की परमगति है' श्रुति के इस वाक्यके अनुसार धन सुख का कारण होता है। 'श्री' अर्थात् 'लक्ष्मी'से(शं)सुख देने वाला 'श्रीशंकर' हुआ अर्थात् श्री गुरु भक्तों का इष्टसम्पादन करने में समर्थ हैं। उन श्री शंकरानन्द गुरु के दोनों चरण-रूप कमल के प्रति मेरा नम्र भाव

पकड़े हुए कमल की गुरु के पद से समानता सम्भव होने से यहां दूसरा अर्थ "कमल" है।

हो। वह पादरूप-कमल कैसा है ? सविलास अर्थात् समष्टि (वन, जाति, जलाशय आदि), व्यष्टि (वृक्ष, व्यक्ति, जल आदि), स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचरूप कार्य के समूह के सहित जो महामोह अथवा मूलाज्ञान (ब्रह्मात्मस्वरूप का आच्छादक अज्ञान) है; उस महामोहरूप महा-दुःखदायी (मूलाज्ञान अपने वशीभूत जीव को अतिशय दुःख देता है) ग्राह को ग्रस लेना, उसकी निवृत्ति करना ही उस चरण-कमल का मुख्य व्यापार है।

इस श्लोक में 'शंकर' और 'आनन्द' ये दोनों पद समानाधिकरण अर्थात् एक ही विषय के वाचक हैं। इससे "जीव-ब्रह्म की एकता ग्रंथ का विषय है" यह सूचित होता है। और जीव के भूमा ब्रह्मरूप (देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित सुख रूप) होने के कारण परिपूर्ण सुख का आविर्भाव (विद्यमान का प्रकट होना) होता है यह प्रयोजन भी सूचित होता है। सम्पूर्ण अनर्थों (कार्यसहित अज्ञान) की निवृत्ति रूप प्रयोजन तो ग्रंथकार ने 'सविलास' इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध में स्वयं कह ही दिया है ॥१॥

अब अवान्तर प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थारम्भ करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

अन्वय—तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्व-सेवा-निर्मल-चेतसाम् सुखबोधाय अयं तत्वस्य विवेकः विधीयते।

व्याख्या—श्रद्धेय गुरु के दो पादरूपकमल की स्तुति, नमस्कार आदि द्वारा सेवा* करने से जिनके अन्तःकरण राग

*पुण्योत्पत्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होना ही ईश्वर की सेवा का अदृष्ट फल

आदि दोषों से रहित (निर्मल)* हो गये हैं उन अधिकारी व्यक्तियों को सुख से अर्थात् परिश्रमके बिना ही तत्त्वज्ञान कराने के हेतु यह आगे बताया गया, 'अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते' इस रूप में जिसकी चर्चा की जायगी उस अकल्पित रूप तत्त्व, प्रत्यग-भिन्न ब्रह्म, का विवेक, अर्थात् कल्पित पंचकोश रूप जगत् से विवेचन (पृथक्-दर्शन) यहां करते हैं।

है। और ब्रह्मवित् गुरु की सेवा का अदृष्टरूप फल तो है ही, गुरु की प्रसन्नतासे यथायोग्य उपदेश होनेसे ज्ञान की उत्पत्ति रूप दृष्ट फल भी है। यह सेवा वाणी शरीर, मन और धन के अर्पण करने से होती है। वाणी से गुरु की स्तुति करना, निन्दा न करना, गुरु को नमस्कार जय जय आदि कहना वाणी के अर्पण से सेवा है। पुरुष शिष्य द्वारा पांव दबाना आदि कार्यों की आज्ञाओं का भंग न करना, दीर्घ नमस्कार करना, शरीर के अर्पणसे सेवा है। जैसे पतिव्रता स्त्री की अपने पति में ईश्वर-भावना है वैसे मुमुक्षु की गुरु के प्रति परमेश्वर भावना होना; गुरु जब राजसव्यवहार करें तो उन्हें ब्रह्मरूप, शिष्य की पालना करें तो विष्णुरूप, क्रोध करें तो शिवरूप, शांतिमें स्थित हों तो गंगादेवी रूप, शास्त्र में तत्पर हों तो गणेशरूप, वचन का प्रकाश कर भ्रम-संदेह सहित अज्ञानान्धकार को दूर करें तो उन्हें सूर्य-रूप जानकर उनमें ईश्वर की भावना धारण करना; कभी भी उनमें दोष न देखना; हृदय में गुरु के विषय में सर्वोत्कृष्ट भाव रखते हुए मन ही मन नमस्कार करना और गुरुमूर्ति को ध्यान करना आदि मन के अर्पणसे सेवा है। धन-धान्य, गृहपत्नी, पुत्र, पशु, दास, दासी, पृथ्वी आदि वस्तुयें धन कहलाती हैं। गुरु गृहस्थ हों तो उन्हें ये सब समर्पित करना और यदि गुरु विरक्त हों तो इन धनों को छोड़कर गुरु की शरण में जाना धनार्पण सेवा है। यही सेवा यहां अभिप्रेत है। पाद-कमल से गुरु की मूर्ति का भी ग्रहण है।

*निर्मल चित्त रूप कारण के कथनसे उसके कार्य, विवेक-वैराग्य-षट्-सम्पत्ति मुमुक्षुता इन चार साधनों की सूचना दी है। अर्थात् मल-विक्षेपदोष से रहित और उपरोक्त चार साधनों के सहित अधिकारी।

जाग्रत्-अवस्था में विषय-भेद होने पर भी ज्ञान का अभेद

जीव-ब्रह्म की एकता (इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय) को बतानें के लिए जीव की सत्यज्ञानादि रूपता को प्रदर्शन करने के उद्देश्य से आचार्य विद्यारण्य स्वामी पहले जाग्रत् आदि अवस्थाओं में होने वाले ज्ञान का अभेद प्रतिपादन कर उस ज्ञान की नित्यता सिद्ध करते हैं। यहां पहले स्पष्ट व्यवहारवाली जाग्रत् अवस्था में ज्ञान का अभेद दर्शाया गया है:—

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

अन्वय—जागरे वेद्याः शब्दस्पर्शादयः वैचित्र्यात् पृथक्। ततः विभक्ता तत्संवित् ऐक्यरूपात् न भिद्यते।

अर्थ—जागरण में वेद्य जो शब्द, स्पर्श आदि हैं वे विचित्र होने से परस्पर भिन्न हैं परन्तु उनसे विवेचित जो उनकी संवित् (ज्ञान) है, वह एकरूप होने के कारण नाना नहीं होती।

देवता के अनुग्रह से युक्त इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान जिस में होता है उसे अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य ज्ञान के संस्कार के आधार-काल को जाग्रत् कहते हैं; यही जाग्रत्-अवस्था है। पंचीकरणवार्तिक अथवा वृत्ति-प्रभाकर में वर्णित इस लक्षणवाली जाग्रत् अवस्था में वेद्य अर्थात् संवित् के विषयभूत तथा आकाश आदि के गुणरूप में प्रसिद्ध शब्दादि और उनके आश्रयभूत आकाशादि द्रव्य हैं वे गाय-अश्व आदि की भान्ति विलक्षण धर्म (जो स्वतन्त्र न होकर दूसरे का आश्रित हो उसे धर्म कहते हैं) वाले होने से परस्पर भिन्न हैं परन्तु उन विषयों से बुद्धि द्वारा बिचार कर पृथक् की हुई जो उन शब्द आदि की संवित् (ज्ञान)

है, वह, 'ज्ञान-ज्ञान' इस एक ही आकारमें भासित होनेके कारण, आकाश की भांति परस्पर भिन्न नहीं है। जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि में उपाधि भिन्न होते हुए भी 'आकाश-आकाश' इस एक आकार में भासमान आकाश एक ही है, ऐसे ही संवित् भी एक ही है। यहां अनुमान इस प्रकार होगाः—विवाद का विषय संवित् (चिदात्मा के स्वरूपभूत ज्ञान), उपाधि-ग्रहण के बिना भेद के प्रतीत न होने के कारण, स्वरूप से भेदरहित है, जैसे आकाश। इस अनुमान में संवित् पक्ष; स्वरूप से भेद रहितता साध्य, उपाधि-ग्रहण के बिना भेद का प्रतीत न होना हेतु, और आकाश दृष्टान्त है। यह साधारण अनुमान है। भेद अन्योन्याभाव को कहते हैं। यह भेद एक प्रकार से तो तीन प्रकार का है—सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद। और जीव-ईश, जीवों का परस्पर, जड़-ईश, जड़-जीव और जड़-जड़ भेद से पांच प्रकार का है। संवित् इन सब प्रकार के भेदों से रहित है। कोई वस्तु आप जिस काल में जितने देश में रहती है, उतने काल में उतने देश में स्थित वस्तु को जो दूसरी वस्तु से भिन्न बताती है और स्वयं पृथक् रहती है अर्थात् भीतर नहीं गिनी जाती उसे उपाधि कहते हैं। यहां शब्द आदि और आकाश आदि सब अनात्मवस्तु, संवित् की उपाधि हैं जैसे घट, मठ आदि उपाधियों के कारण ही मठाकाश आदि भिन्न प्रतीत होते हैं अर्थात् आकाश, उपाधि से कल्पित भेद वाला है, स्वाभाविक (सच्चे) भेद वाला नहीं है ऐसे ही संवित् भी स्वाभाविक भेद से रहित है। ऐसे ही शब्द का ज्ञान, ज्ञानरूप होने

के कारण स्पर्श के ज्ञान से भिन्न (भेदवाला) नहीं है, जैसे स्पर्श-ज्ञान, ज्ञान होने से स्पर्श के ज्ञान से भिन्न नहीं है। (इस अनुमान में शब्द-ज्ञान पक्ष, स्पर्शज्ञान से अभेदता साध्य, ज्ञानरूपता हेतु और स्पर्शज्ञान दृष्टान्त है। संवित् की एकता सिद्ध करने के लिए ऐसे ही अनेक अनुमान हैं।) आकाश की भान्ति उपाधिकृत भेद से भी एक ही ज्ञान के व्यवहार में स्पर्शज्ञान, शब्दज्ञान आदि रूप से नाना भेदों को वस्तुतः भिन्न मानने में गौरव दोष है। जहां थोड़े से निर्वाह होता हो वहां अधिक अर्थ मानकर निर्वाह करने में गौरव-रूप दोष शास्त्रकार मानते हैं। एक पैसे की वस्तु को अधिक धन खर्च करके लेना दोष ही है ॥३॥

जाग्रत् और स्वप्न की विलक्षणता और उनकी संवित् की एकता

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम्।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते॥ ४ ॥

अन्वय—तथा स्वप्ने; अत्र वेद्यं न स्थिरम्, जागरे तु स्थिरम्; अतः तद्भेदः। तयोः संवित् एकरूपा; न भिद्यते।

जाग्रत् अवस्था में जो न्याय बताया उसी को स्वप्न में भी बताते हैं। पंचीकरणवार्तिक और वृत्तिप्रभाकर के अनुसार, इन्द्रियों के अपने अपने विषयों को छोड़ देने पर जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न विषयसहित ज्ञान अथवा इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उनके विषय के आधार काल को स्वप्न कहते हैं। जैसे जाग्रत् अवस्था में विचित्र होने से शब्द, स्पर्श आदि विषय तो परस्पर भिन्न हैं परन्तु एक रूप होने से उनके ज्ञान (संवित्) में परस्पर कोई भेद नहीं है, (तथा स्वप्ने) स्वप्न में भी ऐसा ही होता है;

होता है; वहां भी शब्दादि विषय ही परस्पर भिन्न हैं, उनका ज्ञान (संवित्) परस्पर भिन्न नहीं है।

(शंका) स्वप्न अवस्था में जाग्रत् अवस्था की भांति जब विषयों का भेद और उनके ज्ञान का अभेद है तो स्वप्न और जाग्रत् में परस्पर क्या भेद है ? (समाधान) अत्र वेद्यं न स्थिरं अतः तद्भेद.। स्वप्नमें वेद्य अर्थात् परिदृश्यमान (चारों ओर से दीखती हुई) जो वस्तुएं हैं वे प्रतीतिमात्र शरीरवाली होने से चिरस्थायी नहीं हैं; प्रातिभासिक हैं। परन्तु जाग्रत् अवस्था में परिदृश्यमान वस्तु-समूह, दूसरे समय में भी (वर्ष-दो वर्ष पीछे अथवा दूसरी जाग्रत् अवस्था में भी) दीख पड़ता है अतएव स्थायी (व्यावहारिक) है। इसलिए विषयों की स्थिरता और अस्थिरता रूप विलक्षणता के कारण ये दोनों अवस्थाएं परस्पर भिन्न हैं।

(शंका) जब स्वप्न और जाग्रत् दोनों परस्पर भिन्न हैं तो उन के ज्ञान भी भिन्न होंगे ? (समाधान—तयोः संवित् एकरूपा, न भिद्यते। "उनकी संवित् एकरूप है, भिन्न नहीं है। क्योंकि दोनों का ज्ञान एक रूप होने से एकरूप है।" (यहां 'एकरूप' हेतुगर्भित विशेषण है—अर्थात् इस विशेषण में ही 'एकरूप होने से' यह हेतु भी विद्यमान है) ॥४॥

सुषुप्ति में भी ज्ञान का अस्तित्व

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

अन्वय—सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधः स्मृतिः भवेत्। सा च अवबुद्धविषया; तत्तमः तदा अवबुद्धम्।

जाग्रत् और स्वप्न दो अवस्थाओं में ज्ञान की एकता सिद्ध करके सुषुप्ति-काल के ज्ञान की जाग्रत्-स्वप्न के ज्ञान के साथ

एकता सिद्ध करने के लिए पहले सुषुप्ति में ज्ञान के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं:—सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोधः स्मृतिः भवेत् अर्थात् सुप्तोत्थित पुरुष को सुषुप्तिकाल के अज्ञान का जो बोध होता है वह उसकी स्मृति होती है।

सोकर उठा या सुषुप्ति से उठा पुरुष 'सुप्तोत्थित' है। उसको सुषुप्तिकाल के अज्ञान का 'मैंने सोते समय कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह स्मृतिरूप ही है, अनुभव-रूप नहीं; क्योंकि यहां अनुभव के कारणों का अभाव है।

अनुभव के कारण इस प्रकार हैं:—इन्द्रियसन्निकर्ष (इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध), व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध; जिसके बिना जो नहीं हो उसका उसमें अविनाभावसम्बन्ध होता है जैसे—अग्नि के बिना धूम नहीं होता, अतएव अग्नि का धूम में अविनाभाव सम्बन्ध या अग्नि की धूममें व्याप्ति है।), लिंग (जिसके ज्ञान से साध्य का अनुमान—ज्ञान—होता है उसे लिंग कहते हैं। अनुमिति-ज्ञान के विषय को साध्य कहते हैं। जैसे अनुमिति का विषय अग्नि हो तो वह साध्य है और धूम के ज्ञानसे साध्य—अग्नि—का ज्ञान होता है। अतएव धूम लिंग है) आदि [उपमितिरूप अनुभवज्ञाम की सामग्री-उपमान प्रमाण (सादृश्य का ज्ञान), शाब्दी प्रमाकी सामग्री —श्रोतृसम्बन्धी शब्द, अर्थापत्ति की सामग्री—अर्थापत्तिप्रमाण, (उपपाद्य का ज्ञान), अभाव प्रमा की सामग्री—अनुपलब्धि प्रमाण]

सुषुप्ति से उठे पुरुष को सुषुप्तिकाल में अनुभव किये अज्ञान से इन्द्रिय का सम्बन्ध (प्रत्यक्ष की सामग्री) नहीं है क्योंकि अज्ञान इन्द्रिय का अविषय है और

(प्रश्न) उस ज्ञानके स्मृतिरूप होनेसे क्या सिद्ध हुआ ? (उत्तर) सा च अवबुद्धविषया । स्मृति, पूर्वसुषुप्तिकाल में अनुभव किये हुए विषय को ही प्रकट करती है; क्योंकि 'जो भी स्मृति है वह अनुभव-पूर्वक है' यह व्याप्ति लोकमें देखी जाती है। इसलिए सुषुप्ति-सम्बन्धी जिस अज्ञान की स्मृति होती है उसका पूर्वसुषुप्तिकाल में अनुभव अवश्य किया हुआ होना चाहिए; यह सिद्ध हुआ।

(प्रश्न) स्मृति के अनुभवपूर्वक होने से भी क्या सिद्ध हुआ ? (उत्तर) 'तत् तमः तदा अवबुद्धम्'—क्योंकि स्मृति अनुभूत विषय की ही होती है इसलिए सुषुप्तिसम्बन्धी तम अर्थात् अज्ञान को सुषुप्ति में अनुभव अवश्य किया था। यहां अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जायगाः—'सोते समय मैंने कुछ भी नहीं जाना' विवाद का यह विषय, जो जाग्रत् अवस्था में ज्ञान(१) है, वह अनुभव पूर्वक ही हो सकता है; (२) स्मृति होने से; (३) जो-जो स्मृति है वह अनुभवपूर्वक ही है; (४) परदेश में स्थित पुत्र को 'वह मेरी मता है' इस स्मृति की भांति। (५)

इस अनुमान में (१) पक्ष है। तेज से भिन्न प्रकाशस्वभाव को ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान चेतनारूप और वृत्तिरूप भेदसे दो प्रकार का है। इनमें भी वृत्तिरूप ज्ञान ८ प्रमा और ५ अप्रमा भेद से १३ प्रकार का है। इस प्रकार ज्ञान के सब मिलकर १४ भेद हैं। (२) यह

व्याप्ति लिंग रूप अनुमिति की सामग्री भी नहीं है; इसी प्रकार शेष चार प्रमाओं की सामग्री का अभाव भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सुषुप्ति से उठे पुरुष को जो अज्ञान का ज्ञान है वह षट्प्रमारूप अनुभव ज्ञान में से कोई सा भी नहीं है; अपितु अनुभव से स्मृतिरूप ज्ञान है।

साध्य है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा है। यह अनुभव यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का है। यथार्थ अनुभव के षट् प्रमा, ईश्वर का ज्ञान और सुख-दुःख का ज्ञान; ये आठ भेद हैं। अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—भ्रम, संशय और तर्क। (३) यह हेतु है। उद्बुद्धसंस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। भ्रम और यथार्थ भेद से उसके दो भेद हैं। भ्रमरूप अनुभवके संस्कार से जन्य स्मृति, भ्रमरूप और यथार्थ अनुभव के संस्कार से जन्य स्मृति, यथार्थ है। (४) यह व्याप्ति है। (५) यह उदाहरण है ॥५॥

सुषुप्ति के ज्ञान का विषय से भेद तथा अन्य ज्ञान से अभेद।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे ॥६॥
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

अन्वय—सः बोधः विषयात् भिन्नः; बोधात् न। स्वप्नबोधवत्। एवं स्थानत्रये अपि संवित् एका। तद्वत् दिनान्तरे। अनेकधा गतागम्येषु मासाब्दयुगकल्पेषु। संवित् एका न उदेति न अस्तम् एति। एषा स्वयं प्रभा।

अर्थ—वह सुषुप्तिकाल का बोध अपने विषय से भिन्न है; बोध से भिन्न नहीं है, जैसे स्वप्नबोध। सुषुप्तिकाल का अनुभवज्ञान, अज्ञानरूप विषय से तो भिन्न हो सकता है; क्योंकि वह बोध है जैसे घटबोध अपने विषय–घट–से भिन्न है। परन्तु जैसे स्वप्न-समय का ज्ञान जाग्रत्-ज्ञान से भिन्न नहीं है वैसे यह बोध भी जाग्रत् स्वप्न के बोध से भिन्न नहीं है।

अब फलित को कहते हुए इसी न्याय को अन्यत्र भी दिखाते हैं:—इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों में संवित् एक ही है। एक दिन में होने वाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक 'ही' है। [यहां मूल श्लोक में यद्यपि अवधारणार्थक 'एव' शब्द नहीं है तो भी टीकाकार ने 'सर्ववाक्य सावधारण होता है' इस न्याय से यहां 'एव' अर्थात् 'ही' का प्रयोग किया है।]

'तद्वत् दिनान्तरे'—जैसे एक दिन की जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में हुए ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं हैं, एक हैं; वैसे अन्य दिनों में हुआ ज्ञान भी एक ही है। और "अनेकधा गतागम्येषु मासाब्दयुगकल्पेषु"—अनेक प्रकार से अतीत और आगामी मास, वर्ष युग एवं कल्पों में भी संवित् (ज्ञान) एक ही है।

अनेक प्रकार से बीते और भविष्य में आने वाले चैत्र आदि महीने, प्रभव आदि वर्ष, सत्ययुग आदि युग और ब्राह्म, वाराह आदि कल्पसम्बन्धी ज्ञान अभिन्न ही हैं, क्योंकि इसमें भेदक प्रमाण कोई नहीं है।

संवित् की एकता के समर्थन का फल क्या है? यह बताते हुए कहते हैं—क्योंकि संवित् एक है इसलिये यह संवित् न उदित होती है और न अस्त होती है। संवित् न उत्पन्न होतीहै, न नष्ट होती है, क्यों कि बिना साक्षी उत्पत्ति और विनाश दोनों ही नहीं होते। अपने अर्थात् संवित् के उत्पत्ति एवं विनाश को वही संवित् आप नहीं जान सकती और दूसरी कोई संवित् है नहीं। [प्रागभाव के अन्तिम क्षण का नाम उत्पत्ति (जन्म) और प्रध्वंसाभावके प्रथम क्षण का नाम नाश है। इसलिए कोई भी पुरुष अपने जन्म तथा नाश को नहीं देख सकता। आत्मारूप संवित्

दीपक की भांति अपने समानकालीन पदार्थों की प्रकाशिका है। इस प्रकार अपनी स्थिति के काल में अविद्यमान प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के ज्ञान के न होने पर प्रागभाव के अन्तिम क्षणरूप जन्म को और प्रध्वंसाभाव के प्रथम क्षणरूप नाशको संवित् आप ही जानने में समर्थ नहीं है।

(शंका) परन्तु दूसरी कोई संवित् तो है नहीं; ग्राहक (साक्षी; ज्ञाता) के अभाव में इस संवित् का भी भान नहीं होगा तो सब जगत् ही अन्धा हो जायगा तो? (समाधान) 'एषा संवित् स्वयंप्रभा' "यह संवित् स्वयंप्रभा है', स्वयं प्रकाशरूप है। अपने प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती अथवा स्व अर्थात् अपनी सत्ता से ही प्रकाश अर्थात् संशयरहित होती है— यही स्वयं-प्रकाश कहलाती है।

यहां अनुमान इस प्रकार होगा—संवित् स्वयं प्रकाशरूप है, किसी अन्य से जानने के अयोग्य होकर अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होने से; जैसे घट, ज्ञान का अविषय होते हुए अपरोक्ष नहीं है, किन्तु ज्ञान का विषय होकर अपरोक्ष है और इसीलिए स्वयं-प्रकाश भी नहीं है। यह संवित् तो ज्ञान की अविषय होती हुई अपरोक्ष न हो ऐसा नहीं अपितु अपरोक्ष है; अतएव स्वप्रकाश है। यह व्यतिरेकी दृष्टांत का आकार है। [हेतु दृष्टांत और अनुमान; अन्वयी व्यतिरेकी; दो प्रकार के होते हैं। जो हेतु साध्य और दृष्टान्त दोनों में व्याप्तिवाला हो उसे अन्वयी कहते हैं और जो हेतु, दृष्टान्तमें व्याप्ति रहित, केवल साध्य में बर्तने वाला है वह हेतु व्यतिरेकी है। दार्ष्टान्त के अनुकूल या हेतु की व्याप्तिरहित दृष्टान्त को अन्वयी दृष्टान्त और दार्ष्टान्तसे विरुद्ध या हेतुकी व्याप्तिसहित दृष्टांत को व्यतिरेकी दृष्टांत कहते हैं। अन्वयी हेतु तथा दृष्टान्त से युक्त अनुमान अन्वयी है; इससे विपरीत अनुमान व्यतिरेकी है।]

कदाचित् कोई शंका करे कि उक्त अनुमान में स्थित 'अवेद्यत्वे-सति अपरोक्षत्वात्' हेतु में जो 'अवेद्यत्वेसति' 'जानने के अयोग्य होकर विशेषण है उसकी असिद्धि है (अर्थात् संवित् तो वेद्य हैं); यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि संवित् ही संवित् को जानेगी तो उसी को कर्म और उसी को कर्त्ता माननेमें विरोध होगा। कर्त्ता और कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, एक नहीं। यदि संवित् को जानने वाली दूसरी संवित् मानोगे तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि दूसरी संवित् के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरी के ज्ञानार्थ चौथी माननी पड़ेगी।

संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है और आत्मा परमानन्द है

इसलिए स्वप्रकाशरूप से भासमान संवित् सर्व अनात्मवस्तु की प्रकाशिका है; अतएव जगत् की अन्धता (अप्रीतीति=यदि ज्ञान न होता तो यह जगत् अन्धा होता) का प्रसंग नहीं है ॥७॥

इयमात्मा परमानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

अन्वय—इयम् (संवित्) आत्मा, (आत्मा) परानन्दः, यतः परप्रेमास्पदम्। हि आत्मनि 'मा भूवं न', 'भूयासम्' इति प्रेम दृश्यते।

अर्थ—यह 'ज्ञान' ही आत्मा है और आत्मा निरतिशय सुख-स्वरूप है क्योंकि इसमें परमप्रीति रहती है। कभी कोई यह नहीं चाहता कि मैं न रहूं। प्रत्येक यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूं।

संवित् की नित्यता और स्वप्रकाशता इसलिये सिद्ध की कि यह संवित् ही आत्मा है। यहां यह अनुमान है:—यह संवित् आत्मा होने योग्य है; नित्य (उत्पत्ति-विनाशरहित या भावरूप होती हुई भी अजन्मा) होते हुए स्वप्रकाश होने के कारण; जो यह (आत्मा) नहीं है वह ऐसा नित्य होते हुए स्वप्रकाश भी नहीं है; जैसे घट आत्मा नहीं है; अतएव नित्य स्वप्रकाश भी नहीं है; परन्तु यह संवित्

वैसी नहीं है; [यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है] इस अनुमान से आत्मा के नित्य और संवित्‌रूपकी सिद्धि होकर सत्य की भी सिद्धि हो गई। क्योंकि नित्यता से पृथक् सत्यता नहीं होती। आचार्य वाचस्पति-मिश्र ने भी कहा है:—"नित्यत्वं तद्‌यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यम्" अर्थात् "नित्यत्वरूप सत्यत्व जिस वस्तु में हो वह वस्तु नित्य और सत्य है।"

(आत्मा) परानन्दः—वह आत्मा (सबके भीतर प्रकाशित होने वाला साक्षी) परानन्द है अर्थात् निरतिशय सुखरूप है; सबसे अधिक सुखरूप है। आत्मानन्द के लेश से ही चींटी से लेकर ब्रह्म तक के सब भूत आनन्दवान् हैं। इसलिए आत्मारूप आनन्दबिम्ब सर्वविषयानन्द से अधिक है। क्यों? यतः परप्रेमास्पदम्। क्योंकि उपाधि-रहित आत्मा निरतिशय स्नेह का विषय है। धन, पुत्र, देह, इन्द्रिय आदि उपाधिसहित आत्मा में कम-अधिक प्रीति होती है और इन उपाधियों से रहित आत्मा में सर्वाधिक प्रीति होती है; इसलिए यह आत्मा परानन्द है। यहां अनुमान इस प्रकार है:—आत्मा परानन्दरूप है, परमप्रेम का विषय होने से; जो परमानन्द रूप नहीं है वह परमप्रेम का विषय भी नहीं है; घट की न्याईं यह आत्मा परमप्रेम पात्र न हो ऐसा नहीं है, अपितु परमानन्दरूप ही है।

(शंका) आत्मा (अपने आप) के प्रति 'मुझ को धिक्कार है' इस प्रकारके द्वेष की प्रतीति होती है। इसलिए परमप्रेम की विषयता तो दूर रही, प्रेम की विषयता (पात्रता) ही असिद्ध है। (समाधान) यह द्वेष* तो दुःख के सम्बन्ध-रूप निमित्त से जन्य है, अतएव

---

*यद्यपि आत्मा स्वभाव से दुःख-सम्बन्ध-रहित है तथापि दुःख-सम्बन्ध-

अन्यथासिद्ध है; फिर, आत्मा के प्रति प्रेम अनुभवसिद्ध है। अर्थात् "मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो" "मैं सदा बना रहूँ" आत्मा के प्रति ऐसा प्रेम तो सब अनुभव करते हैं; इस कारण आत्मा में (अपने आपे के प्रति) प्रेम की विषयता (पात्रता) की असिद्धि नहीं है। 'मुझ को धिक्कार है' आदि द्वेष की प्रतीति आत्मा की प्रेमपात्रता को हटाने में असमर्थ है ॥८॥

(शंका) आत्मा में प्रेम की असिद्धि यदि नहीं होती तो न सही परन्तु आत्मा के प्रति विद्यमान प्रेम सर्वाधिक प्रेम है इसमें कोई प्रमाण नहीं है; इसलिए "सर्वाधिकता' की तो असिद्धि है ही। इसका समाधान नीचे लिखे श्लोक से करते हैं :—

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९॥

अन्वय—अन्यत्र प्रेम तत् आत्मार्थम्; एवम् आत्मनि अन्यार्थम् न। अतः तत् परमम्। तेन आत्मनः परमानन्दता।

युक्त देहादि उपाधियों के योग से आत्मा में दुःख का सम्बन्ध प्रतीत होता है। क्योंकि दुःख-निमित्त से उपाधि द्वेष की विषय बनती है इसलिए उसके अध्यास से आत्मा भी दुःखी प्रतीत होने लगता है, वह स्वभाव से वैसा नहीं है। लवणनिमित्त से जैसे स्वाभाविक खटाई प्रतीत नहीं होती अथवा मणि, मन्त्र या औषधि के निमित्त से अग्नि का स्वाभाविक दाहक गुण छिप जाता है वैसे ही दुःख-सम्बन्ध-जन्य द्वेषरूप निमित्त से आत्मा की स्वभावसिद्ध प्रेम की विषयता (प्रियतमता) छिप जाती है।

अपने से भिन्न पुत्र आदि के प्रति जो प्रीति है वह आत्मा के (अपने) लिए ही है; अर्थात् आत्मा की प्रीति के लिए ही पुत्र आदि के प्रति प्रेम है, स्वाभाविक नहीं है। परन्तु आत्मा के प्रीति जो प्रेम है वह किसी दूसरे, पुत्रादि की प्रीति के लिए नहीं है अर्थात् आत्मा के प्रति किया गया प्रेम पुत्र आदि के निमित्त से आत्मा के निमित्त नहीं आत्मा के निमित्त से ही है। इसलिए आत्मगत प्रेम ही निरुपाधिक (अकारण, निर्व्याज) होने के कारण परम अर्थात् सर्वाधिक है। इसीलिये, निरतिशय प्रेम का पात्र होने के कारण, निरतिशयसुखरूप सिद्ध हो जाता है ॥९॥

ब्रह्म और आत्मा की एकता

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम्।
परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते ॥१०॥

अन्वय–इत्थम् युक्त्या आत्मा सत्, चित्, परानन्दः, तथाविधम् परं ब्रह्म। तयोः ऐक्यम् च श्रुति+अन्तेषु उपदिश्यते।

'शब्द स्पर्शादिक" इस तीसरे श्लोक से सातवें श्लोक तक संवित् की नित्यता सिद्ध करके आठवें श्लोक से वह संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है, यह सिद्ध कर देने से आत्मा सत्+चित् है यह सिद्ध किया। और उसी श्लोक के 'परानन्द' इत्यादि पद से आत्मा की परमानन्दता सिद्ध की। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में 'त्वम्' पद का अर्थ सच्चिदानन्द आत्मा है यह सिद्ध हो गया।

(शंका) यदि सच्चिदानन्दरूप आत्मा का भी युक्ति से ही ज्ञान हो जाता है तो क्या उपनिषदें व्यर्थ (निर्विषय) होने से

अप्रमाण नहीं हो जायेगी? (समाधान) पर ब्रह्म वैसा ही अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है और महावाक्यों में तत् पद का अर्थ यही ब्रह्म है। "तत्-त्वम्" पदों की एकता, इन दोनों पदों का अर्थ करते हुए ब्रह्मात्मा की अखण्ड एकरसतारूप एकता, का उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है; (उपनिषदों का विषय इस एकता का प्रतिपादन है) इसलिए उपनिषदें निर्विषय नहीं हैं ॥१०॥

आत्मा की परमानन्दता पर शङ्का-समाधान

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दतात्मनः ॥११॥

अन्वय—अभाने परम् प्रेम न; भाने विषये स्पृहा न। अतः आत्मनः असौ परमानन्दता भाने अपि अभाता

(शङ्का)—प्रश्न यह है कि परमानन्दरूपता का भान होता है या नहीं? यदि कहो इसका भान नहीं होता तो, आत्मा में सर्वाधिक-स्नेह—परमप्रेम—नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्नेह विषय की सुन्दरता के ज्ञान से जन्य होता है। यदि कहो कि आत्मा की परमानन्दरूपता का भान होता है, तो, सुख के साधन (विषयानन्द)—माला, चन्दन, स्त्री आदि में अथवा उन विषयों से जन्य सुख में मनुष्य की इच्छा नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जब परमसुखरूप फल ही मिल गया तो विषयरूप साधन की इच्छा असम्भव होगी। और नित्य तथा सर्वाधिक आनन्द के मिल जाने पर क्षणिक तथा पराधीनता आदि दोषों से युक्त विषयजन्य सुख के प्रति इच्छा असम्भव है। इसलिए "आत्मा परमानन्दरूप है, यह सिद्ध नहीं होता।"

(समाधान) क्योंकि भान और अभान दोनों पक्षों में दोष है, इसलिए आत्मा की परमानन्दरूपता प्रतीत होती हुई भी प्रतीत नहीं होती।

(शंका) यह कैसे ? एक में ही प्रतीति और अप्रतीति दोनों का योग कैसे सम्भव है ? (समाधान) यह तो बताओ कि यह, "एक ही में प्रतीति और अप्रतीति का होना", 'कहीं देखा नहीं है' यह कहते हो या 'सम्भव नहीं है' यह कहते हो ? इन दोनों ही विकल्पों का परिहार करते हुए कहते हैं :—

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते।

अन्वय—अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् भाने अपि अभानम्। भानस्य प्रतिबन्धेन (भाने अपि अभानम्) युज्यते।

पहले विकल्प का परिहार करते हुए कहते हैं कि एक ही में 'प्रतीति और 'अप्रतीति' देखी गई हैं। जैसे—वेदपाठियों में बैठे किसी के पुत्र द्वारा किये गये पठन का शब्द बाहर बैठे उसके पिता को सामान्यरूप से प्रतीत होता भी है—और 'यह मेरे पुत्र के पढ़ने का शब्द है', इस रूप में विशेषतया प्रतीत नहीं भी होता। वैसे ही आनन्द भी प्रतीत होता भी अप्रतीत रहता है।

फिर प्रतीति और अप्रतीति एकमें सम्भव भी हैं क्योंकि स्फुरणरूप प्रतीति आगे व्याख्यात प्रतिबन्ध* के कारण सामान्यतया प्रतीत होती हुई भी विशेष आकार में अप्रतीत रहे, यह युक्ति-युक्त ही है।

*कार्य के विरोधी को प्रतिबन्ध और प्रतिबन्धक कहते हैं। यहां परमानन्दता की विशेष प्रतीतिरूप कार्य का विरोधी आवरण प्रतिबन्ध है। बात यह है कि अज्ञानी जनों को अविद्याकृत आवरणरूप प्रतिबन्ध

प्रतिबन्ध का लक्षण

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

अन्वय—अस्ति भाति इति व्यवहारार्हवस्तुनि तं निरस्य विरुद्धस्य तस्य उत्पादनम् प्रतिबन्धः उच्यते ।

"है" "भासता है" इस रीति के व्यवहार अथवा प्रतीति और कथनके योग्य वस्तु में उस व्यवहार को हटा कर उस से विपरीत "नहीं है" "नहीं भासता है" इस (मिथ्या) व्यवहारको उत्पन्न कर देने को 'प्रतिबन्ध' कहते हैं ॥१३॥

अब इस प्रतिबन्ध को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में घटाते हैं:—

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

अन्वय—पुत्रध्वनिश्रुतौ तस्य हेतुः समानाभिहारः, इह व्यामोहैकनिबन्धनः अनादिः अविद्या एव ।

पुत्र के शब्द के श्रवणरूप दृष्टान्त में बहुतों के साथ मिल

से परमानन्दता की समान्य प्रतीति होते हुए भी विशेष प्रतीति नहीं होती । इसलिए अत्मा में परमप्रेम भी है और इष्ट-पदार्थों की इच्छा का होना भी ठीक है । और ज्ञानी, शायद व्यवहार में विज्ञात आत्मा का विचार नहीं करता, इस लिए उस विचार से उत्पन्न बहिर्मुख वृत्तिरूप प्रतिबन्ध से परमानन्दता की सामान्य से प्रतीति के होते हुए भी विशेष-रूप से प्रतीति कुछ समय तक नहीं होती । इसलिए आत्मा में परमप्रेम भी है और विषय (इष्टपदार्थ) की इच्छा भी होती है । फिर विचार से उक्त प्रतिबन्ध के तिरस्कार से विशेष से परमानन्दता की प्रतीति होती है ।

कर पढ़ना प्रतिबन्ध का कारण है। और यहां, विशेष से परमानन्दता के भानरूप दार्ष्टान्त में तो (समस्त) विपरीत ज्ञानों की मुख्य कारण अनादि-उत्पत्ति-रहित अविद्या ही है, वही प्रतिबन्ध का कारण है; इसका वर्णन आगे किया गया है।

अब प्रतिबन्ध की हेतुरूपा अविद्या का प्रतिपादन करने के लिए उसकी मूलभूत प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं :—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

अन्वय—चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता तमोरजःसत्वगुणा प्रकृतिः। सा च द्विविधा।

चिदानन्द ब्रह्म के प्रतिबिम्ब अर्थात् आभास से युक्त और सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति दो प्रकार की है। श्लोक में स्थित "च" (और) शब्द से प्रकृति के तीसरे प्रकार (१८ वें श्लोक में व्याख्यात तमः प्रधानरूप) की सूचना मिलती है ॥१५॥

माया और अविद्या का भेद और ईश्वर का स्वरूप।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

अन्वय—सत्वशुद्ध्यशुद्धिभ्यां ते च मायाविद्ये मते। मायाबिम्बः ताम् वशीकृत्य सर्वज्ञः ईश्वरः स्यात्।

प्रकाशरूप सत्त्वगुण की शुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन न होना और सत्व की अशुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन होना; इन दोनों करणों से प्रकृति के क्रमशः माया और अविद्या दो भेद हैं।

उनमें से विशुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया और मलिनसत्त्वगुण प्रधान अविद्या है।

मायामें प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म उस माया को अपने अधीन रखता हुआ, सर्वज्ञतादिगुणवान् ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं।

जीव का स्वरूप

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥१७॥

अन्वय—अविद्यावशगः तु अन्यः, तद्वैचित्र्यात् अनेकधा। सा कारणशरीरम्; तत्र अभिमानवान् प्राज्ञः स्यात्।

अविद्या में प्रतिबिम्बित और उसके अधीनस्थ हुए चिदात्मा को 'जीव' कहते हैं। वह जीव उपाधिरूप अविद्या की अशुद्धि के न्यूनाधिकरूप विचित्रता के कारण, देव-पशु-पक्षी आदि भेद से नाना प्रकार का होता है।

आगे ४२ वें श्लोक में तीन शरीरों से विवेचित(प्रथक् किये हुए) जीव का ब्रह्मभाव कहेंगे; "वहां तीन शरीर कौन से हैं और उस उस शरीरोपाधि जीव का क्या रूप होता है" इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अविद्या स्थूल-सूक्ष्म-शरीरादि की कारणरूप है; और प्रकृति की अवस्था विशेष होने से इस अविद्या को भी उपचार से 'कारण' कहते हैं तथा तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाती है इस लिए इसे 'शरीर' कहते हैं। इस अविद्यारूप कारण-शरीर में, अभेदाध्यास से, "मैं अज्ञ हूँ" ऐसा अभिमान करने वाला जीव

प्राज्ञ है। जिसकी ज्ञानदृष्टि अविनाशीस्वरूप है वह 'प्रज्ञ' और प्रज्ञ को ही "प्राज्ञ" कहते हैं ॥१७॥

अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति

क्रम से प्राप्त सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीरूप उपाधि वाले जीव का प्रतिपादन करने के लिए, सूक्ष्मशरीर के कारणभूत आकाश आदि की उत्पत्ति बतलाते हैं:—

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

अन्वय—तद्भोगाय तमःप्रधानप्रकृतेः ईश्वराज्ञया वियत्पवनतेजोम्बुभुवः भूतानि जज्ञिरे।

उन प्राज्ञ-जीवों को सुख-दुःख का साक्षात्कार कराने के लिये जगत् की उपादानकारणभूत पूर्वोक्त तमोगुण-प्रधान प्रकृति में से, प्रेरणादि-शक्तिसे युक्त ईश्वर की ईक्षणापूर्वक सर्जनेच्छारूपा निमित्तकारण बनी आज्ञा द्वारा, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथवी-ये पांच भूत प्रकट हुए ॥१८॥

भूतों का प्रादुर्भाव बताकर भौतिक सृष्टि [भूतों के कार्यों की सृष्टि] को बताते हुएं पहले ज्ञानेन्द्रिय-सृष्टि को कहते हैं।

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥

अन्वय—तेषाम् पञ्चभिः सत्त्वांशैः श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यम्, धीन्द्रियपञ्चकम् क्रमात् उपजायते।

उन अकाश आदियों के उपादान-भूत पांच सत्वगुण भागों

से क्रमशः कान, त्वचा, आंख रसना और घ्राण, ये ५ ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ॥१९॥

अन्तःकरण की उत्पत्ति और उसके भेद

प्रत्येक भूत के सत्वगुणांशों के असाधारण कार्य (एक ही के विशेष कार्य) को कहकर अब सब भूतों के सत्वगुणांश के साधारण (सबका कार्य) कार्य को बताते हैं :—

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा।

मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥

अन्वय—तैः सर्वैः अन्तःकरणम्। तत् वृत्तिभेदेन द्विधा; विमर्श-रूपम् मनः स्यात्; निश्चयात्मिका बुद्धिः स्यात्।

सब सम्मिलित भूतों में जो सत्त्वगुण भाग हैं उनसे मन और बुद्धि का उपादनभूत अन्तःकरण, वृत्ति (परिणाम) के भेद से, दो प्रकार का है।

इनमें से विमर्श संशयात्मिका वृत्ति को कहते हैं; अन्तःकरण का विमर्श (संशयात्मक) रूप 'मन' है। तथा जिस वृत्ति का स्वरूप निश्चित है, वह वृत्ति बुद्धि कहलाती है।

कर्मेंद्रियों की उत्पत्ति

क्रम-प्राप्त रजोगुण के प्रत्येक अंश के आसाधारण (विशेष) कार्यों को बतलाते हैं:—

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।

वाक्पादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

अन्वय—तेषां पंचभिः रजोंऽशैः तु वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थाभि-

धानानि कर्मेन्द्रियाणि जज्ञिरे ।

आकाश आदि पांचभूतों के ही पांच उपादानभूत रजोगुण-भागों से क्रमशः वाणी, हाथ, पाद, गुदा, और शिश्न नाम की, क्रियाजनक पांच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं । एक-एक भूत के एक-एक रजोभाग से एक-एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुई ।।२१।।

प्राण की उत्पत्ति और उसके भेद

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ।।२२।।

अन्वय–सहितैः तैः सर्वैः प्राणः । सः वृत्तिभेदात् पंचधा । ते पुनः प्राणः, आपानः, समानः, उदानव्यानौ च ।।

उन पांच भूतों के पांच रजो अंश जब मिलकर कारण बनते हैं तो उन से एक प्राण उत्पन्न होता है । प्राणन, अपानन, समानन, उदानन और व्यानन क्रियाओं के भेद से वह प्राण, प्राण-आपान–समान–उदान और व्यान नामों से पांच प्रकार का है ।

[ऊर्ध्व (ऊँचा) गमनस्वभाव, नासिका के अग्रभागमें स्थित रहने वाला वायु प्राण है । नीचे जाने के स्वभाववाला गुदा आदि में स्थित रहने वाला वायु अपान है । शरीर के मध्य में स्थित अन्न के रस आदि को सारे शरीर में नाडी द्वारा पहुँचने वाला वायु समान; ऊर्ध्व चलने वाला कण्ठ में स्थायी उदान और सब नाडियों में विचरणशील सारे शरीर में स्थायी वायु को व्यान कहते हैं ।]।।२२।।

सूक्ष्म शरीर का स्वरूप; लिंगदेह का कथन

आकाश से प्राण-पर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति बताने का प्रयोजन अब वर्णन करते है :—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।।२३।।

अन्वय—बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैः, मनसा, धिया—सप्तदशभिः—सूक्ष्मम् शरीरम्; तत् लिङ्गम् उच्यते।

बुद्धि अर्थात् ज्ञान की जनक ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाओं की जनक कर्मेन्द्रिय और प्राण, इन तीनों के पंचक अर्थात् ये पन्द्रह तथा मन और बुद्धि इन सब सत्रह तत्वों का नाम सूक्ष्म शरीर है : उस सूक्ष्म शरीर को ही उपनिषदों में लिङ्ग कहा है ।।२३।।

तैजस और हिरण्यगर्भ का रूप

जिस सुषुप्ति-अभिमानी को प्रकृष्ट स्वयंप्रकाश रूप आनन्दात्मा में अज्ञान की वृत्तिरूप बोध है, उसे प्राज्ञ कहते हैं। संस्काररूप अस्पष्ट उपाधियुक्त होने से, उस उपाधि से आवृत होने के कारण; अति प्रकाशता के अभाव से इस सुषुप्ति-अभिमानी जीव का प्राज्ञपन है। और सब जीवों का कर्मानुसार ईशिता अर्थात् फलदाता होने के कारण परमात्मा ईश्वर है। यहां इन दोनों की दूसरी अवस्था दिखलाते हैं :—

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ।।२४।।

अन्वय—प्राज्ञः तत्र (लिंग शरीरे) अभिमानेन तैजसत्वम् प्रपद्यते; ईशः हिरण्यगर्भताम्। तयोः व्यष्टिसमष्टिता।

वह मलिनसत्वगुणप्रधान-अविद्या-उपाधिवाला कारण शरीर का अभिमानी जीव (प्राज्ञ) तेजः शब्द से वाच्य अन्तःकरण से उपलक्षित लिंग शरीर में अभेद का अभिमान करने से तैजस कहलाता है। और विशुद्धसत्वगुणप्रधान-माया-उपाधिवाला परमेश्वर उस लिंग शरीर में "मैं हूँ" ऐसा अभिमान कर हिरण्यगर्भ कहलाता है। उन दोनों तैजस और हिरण्यगर्भ—का लिंग शरीर में अभिमान एक समान है; भेद क्या है ? भेद है :— 'तयोः व्यष्टि-समष्टिता"

इन दोनों में से एक (तैजस या जीव) व्यष्टि है; दूसरा (हिरण्यगर्भ) समष्टि है।

तैजस और हिरण्यगर्भ के व्यष्टित्व और समष्टित्व का कारण क्या ?

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

अन्वय—ईशः सर्वेषाम् स्वात्म्यतादात्म्यवेदनात् समष्टिः। ततः अन्ये तु तत्+अभावात् व्यष्टिसंज्ञया कथ्यन्ते।

हिरण्यगर्भ ईश्वर, लिंग शरीर उपाधिवाले सब तैजस जीवों का जो स्वरूप है उसके साथ अपनी एकता को जानता है—ये सब मिल कर 'मैं हूँ' ऐसा समझता है—इस कारण समष्टि हो जाता है। उस ईश्वर से इतर जीव, उस सर्वस्वात्मा की एकता के ज्ञान के अभाव के कारण (सब के साथ एकत्वज्ञान के न होने से) व्यष्टि कहलाते हैं ॥२५॥

पञ्चीकरण का निरूपण और उसका प्रयोजन

लिंग शरीर और उस उपाधिवाले तैजस तथा हिरण्यगर्भ दोनों का निरूपण कर अब स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) आदि की उत्पत्ति बताने के लिये पंचीकरण का निरूपण करते हैं :-

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान्प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

अन्वय–भगवान् पुनः तद्भोगाय भोग्यभोगायतनजन्मने वियदादिकम् प्रत्येकम् पञ्चीकरोति।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य-धर्म-यश-लक्ष्मी-ज्ञान और वैराग्य इन छः गुणों को भग कहते हैं। वह ऐश्वर्यादिषड्गुणों वाला परमेश्वर, फिर भी

उन जीवोंको (भोग) सुखदुःख का साक्षात्कार करानेके लिए अन्नपान आदि भोग्य और जरायुज अंडज आदि चार प्रकार के शरीर रूप भोग्यस्थान—की उत्पत्तिके लिए आकाश आदि पांचभूतों में से प्रत्येक को पांच-पांच प्रकार का बना देता है। एक-एक भूत को पांच-पांच प्रकार का करना ही पञ्चीकरण कहलाता है ॥२६॥

पञ्चीकरण का स्वरूप दर्शाते हैं:—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

अन्वय—एकैकं द्विधा विधाय पुनः च प्रथमम् चतुर्धा; स्वस्वेतर द्वितीयांशैः योजनात् ते पंच-पंच ॥

आकाश आदि प्रत्येक भूतके पहले दो-दो भाग किये जांय। फिर उनमें के पहले एक-एक भाग के चार-चार भाग किये जांय। [तथा दूसरे आधे भागों को वैसा ही रखा जाय] अब अपने तथा अपने से भिन्न दूसरे चार भूतों के दूसरे स्थूल भागों के साथ योग करनेसे ये पांचों भूत प्रत्येक पांच-पांच प्रकार के हो जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना है तथा आधे में शेष ४ भूत हैं।

इस रीति से पंचीकरण बताकर उन भूतों से उत्पन्न करने योग्य कार्यों को दिखलाते हैं:—

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८॥

अन्वयः—तैः अण्डः; तत्र भुवनम् भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।

उपादानकारणभूत उन पंचीकृत भूतों से ब्रह्मांड उत्पन्न होता

है। उस ब्रह्माण्ड के भीतर ऊपर के भाग में भुवन अर्थात् पृथिवी आदि सातलोक और भूमि के नीचे सात अतल आदि पाताल लोक; उन भुवनों में नाना प्राणियों के भोगयोग्य अन्न आदि और नाना भुवनों के योग्य शरीर—ये सब उन पंचीकृत भूतों से ईश्वर की आज्ञा (इच्छा) से उत्पन्न होते हैं।

हिरण्यगर्भ का वैश्वानर बन जाना

अन्वय—अस्मिन् स्थूले देहे वर्तमानः हिरण्यगर्भः वैश्वानरः भवेत्।

इस ब्रह्माण्डरूपस्थूलदेह में वर्तमान–इनमें अहंभाव करने वाला समष्टिरूप हिरण्यगर्भ, वैश्वानर हो जाता है। [समग्र प्राणियों में 'मैं' अभिमान रखता है इसलिये 'ईश्वर' वैश्वानर कहलाता है। वह वैश्वानर ही विविध प्रकार से प्रकाशमान होने से विराट् भी कहलाता है] ॥२८॥

तैजस का विश्व बनना

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः।
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ॥२९॥

अन्वय—तैजसा विश्वताम् याताः देवतिर्यङ्नरादयः। ते पराग्दर्शिनः; प्रत्यक्तत्वबोधविवर्जिताः ॥२९॥

उस एक-एक स्थूलदेह में अभिमान करने वाले तैजस जीव विश्व कहलाने लगते हैं, वे ही देव, पशुपक्षी तथा मनुष्य आदि कहलाते हैं। और वे देव आदि जीव बाह्य शब्दादि विषयों को ही देखते हैं, वे प्रत्यगात्मा को नहीं देखते। श्रुति में कहा भी है—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बना दिया; इसलिए पुरुष बाह्य वस्तुओं को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। नैयायिक

आदि तार्किक जीव, देहभिन्न आत्मा को जानते हैं तो भी उन्हें श्रुति-प्रतिपादित असंग आत्मरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; वे जीव (प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः) साक्षीरूप आत्मा के ज्ञान के न होने के कारण बाह्यदर्शी हैं ॥२६॥

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुञ्च भुञ्जते।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥

अन्वय—भोगाय कर्म कुर्वते च कर्म कर्त्तुम् भुञ्जते; ते नद्याम् आवर्तात् आवर्तान्तरम् आशु कीटा इव जन्मनः जन्म व्रजन्तः निर्वृतिम् नैव लभन्ते ॥

वे जीव, प्रत्यक्तत्त्वबोध के न होने के कारण सुखादि के अनु-भवरूप भोग के लिए मनुष्यादि शरीरों में रहकर, उस-उस शरीर के योग्य कर्मों को करते हैं, और कर्म करने के लिए देवादियों के शरीरों से उस-उस फल को भोगते हैं। [यदि फलानुभव न माना जाय तो फल के सजातीय सुख की इच्छा के उत्पन्न न होने के कारण उस-उस इच्छानुकूल साधन का अनुष्ठान नहीं बनता।] जैसे नदी की धार में पड़े कीड़े एक भंवर से दूसरी भंवरमें जाते-आते सुखी नहीं रहते, इसी प्रकार इस स्थिति में विद्यमान जीव भी शीघ्र-शीघ्र एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते-आते सुखी नहीं रह पाते ॥३०॥

दुःखनिवृत्ति के लिए कीट का दृष्टान्त

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥
उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।

पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

अन्वय—ते सत्कर्मपरिपाकात् करुणानिधिना उद्धृताः तीर-तरुच्छायां प्राप्य यथासुखम् विश्राम्यन्ति ॥ एवम् तत्वदर्शिनः आचार्यात् उपदेशम् अवाप्य पञ्चकोशविवेकेन परां निर्वृतिम् लभन्ते ॥३२॥

वे कीड़े आदि पूर्वजन्म में किये अपने कर्मों के फल के कारण किसी दयालु द्वारा नदी-प्रवाह के बाहर निकाले जाते हैं और तट पर लगे किसी वृक्ष की छाया में पहुंच कर विश्राम पाते हैं ॥३१॥

ऐसे ही अपने पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के परिपाक के करण ही, प्रत्यक् -अभिन्न ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्दर्शी गुरु से 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थों का आगे बताया गया ज्ञान कराने वाले उपदेश को प्राप्त करके और अन्नमय आदि पंचकोशों का वक्ष्यमाण विवेचन करके, वे जीव भी मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेते हैं ॥३२॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥

अन्वय—अन्नम्, प्राणः, मनः, बुद्धिः, च आनन्दः इति ते पञ्च कोशाः; तैः आवृतः स्वात्मा संसृतिम् व्रजेत् ।

उन पांच कोशों के नाम क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, बुद्धिमय और आनन्दमय हैं । [ये कोश क्रमशः भोगायतनरूप, क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप, इच्छाशक्तिमान् कारणरूप, ज्ञानशक्तिमान् कर्तारूप और भोक्तारूप हैं ।]

इन अन्नमयादि कोशों से ढका हुआ स्वरूपभूत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जन्मादिप्राप्तिरूप संसारमें आता है । जैसे कोश, कोश बनाने वाले कीड़े को ढांप कर उसके दुःख का कारण बनता

हैं; इसी प्रकार अन्नमय आदि भी आत्मा की अद्वयता-आनन्दरूपता आदि को ढक कर उसके लिए क्लेश हेतु होते हैं; इसीलिये इनको कोश कहते हैं [सत्ता, चेतनता आनन्दरूपता और अद्वयता ये चार आत्मा के विशेषण हैं; इसी प्रकार असत्ता, जड़ता, दुःखरूपता और सद्वयता (द्वैत सहितता) ये चार देहादिकों के विशेषण हैं। आत्मा की सत्ता-चेतनताने देहादिक की असत्ता (मिथ्यातत्व) और जड़ता ढकी हुई है, इसीलिए देहादिक सत् और चेतन की तरह प्रतीत होते हैं। और देहादिक की दुःखरूपता और सद्वयता ने आत्मा की आनन्दरूपता और अद्वयता को ढका हुआ है; इसलिए आत्मा दुःखी और द्वैत-सहित प्रतीत होता है। इन दो विशेषणों के ढके जाने की तरह ही पूर्णता, नित्यमुक्तता आदि विशेषण भी ढके रहते हैं। आत्मा और पंचकोशों का यही अध्यास है।] ॥२३॥

अन्नमय और प्राणमय कोश का स्वरूप

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥

अन्वय—पञ्चीकृतभूतोत्थः स्थूलः देहः अन्नसंज्ञकः। प्राणः तु लिंगे राजसैः प्राणैः कर्मेन्द्रियैः सह स्यात्।

पंचीकृतभूतों से उत्पन्न स्थूलदेह का नाम 'अन्न' है और कोश अन्नमय कोश कहलाता है। लिंगशरीर में विद्यमान, रजोगुण के कार्यभूत प्राण-अपान आदि पांचवायु और वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रियं—इन दस तत्त्वों का नाम प्राणमय कोष है ॥३४॥

मनोमय और विज्ञानमय कोश का स्वरूप

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

अन्वय–विमर्शात्मा सात्विकैः धीन्द्रियैः साकं मनोमयः । निश्चयात्मिका धीः तैः एव साकं विज्ञानमयः ।

विमर्शात्मा अर्थात् संशयरूप तथा पांच भूतों के सत्वांशों का कार्यभूत मन और एक-एक भूत के सत्त्वगुण अंश की कार्यभूत कर्ण-आदि पांच ज्ञान-इन्द्रियां, इन सब का नाम मनोमय कोश है । निश्चयरूपा तथा उन्हीं भूतों के सत्त्वगुण अंशों की कार्यरूपा बुद्धि और पूर्वोक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियां मिलकर विज्ञानमयकोश है ।

आनन्दमय कोश का स्वरूप

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥

अन्वय–कारणे सत्वं मोदादिवृत्तिभिः आनन्दमयः । आत्मा तु तत्तत्कोशैः तादात्म्यात् तत्तत्+मयः भवेत् ।

कारणशरीररूपा अविद्या में विद्यमान मलिनसत्वगुण और प्रियवस्तु के दर्शन-लाभ-भोग से जन्य, प्रिय, मोद-प्रमोद नाम वाले सुखों का नाम आनन्दमय कोश है ।

(शङ्का) जब कि अन्नमय आदि शब्द तो स्थूलशरीर आदि के वाचक हैं, तब आत्मा को अन्नमय आदि से कैसे वर्णित किया जा सकता है ? जैसे कि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' से लेकर 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योंतर आत्मा प्राणमयोऽन्योंतर आत्मा मनोमयः'

तक की श्रुतियों में कहा गया है। (समाधान) देहादि तो अन्नादि के विकार होने से अन्नमय शब्द से वाच्य हैं और आत्मा इसलिये अन्नमय आदि शब्द से वाच्य है कि आत्मा का उस-उस कोश के साथ अध्यास है। 'आत्मा तु तत्तत्कोशैः तादात्म्यात् तत्तन्मयः भवेत्। व्यवहार में अन्नमय आदि कोशों की प्रधानता होती है, अतएव प्रत्यगात्मा के उन-उन कोशों के साथ तादात्म्य का अभिमान होने से अन्नमय आदि शब्दों से वाच्य होता है। (श्लोक में पड़ा 'तु' शब्द कोशों से आत्मा के भेद को जतलाता है) ॥३६॥

अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा के ब्रह्मरूप का ज्ञान

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते॥३७॥

अन्वय–अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् पञ्चकोशविवेकतः, ततः स्वात्मानम् उद्धृत्य परम् ब्रह्म प्रपद्यते।

आगामी श्लोकों में वर्णित अन्वय और व्यतिरेक से पंचकोशों का, प्रत्यगात्मा से भेदज्ञान प्राप्त करके (अथवा अन्नमय आदि पांचकोशों से आत्मा को पृथक् करके) और प्रत्यक् आत्मा अर्थात् अपने आपको उन कोशों से बुद्धि द्वारा निकाल कर अर्थात् अपने चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर अधिकारी पूर्वोक्त (१०-१५ श्लोकों में वर्णित) ब्रह्म को प्राप्त करता अथवा ब्रह्म ही हो जाता है॥३७॥

अन्वयव्यतिरेक का स्वरूप

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम्॥

अन्वय–स्वप्ने स्थूलदेहस्य अभाने आत्मनः यत् भानम् सः अन्वयः

तद्भाने अन्यानवभासनम् व्यतिरेकः ।

स्वप्नावस्था में अन्नमयकोशरूप स्थूलदेह की अप्रतीति के होने पर, साक्षी आत्मा का, स्वप्न का साक्षी होने के कारण, जो स्फुरण है, वह, आत्मा का अन्वय है । और उसी स्वप्नावस्था में उस आत्मा का स्फुरण होने पर स्थूलदेह की जो अप्रतीति है वह स्थूलदेह का व्यतिरेक है । [इस प्रकरण में अन्वय और व्यतिरेक शब्दों से क्रमशः अनुवृत्ति (अनुस्यूतता) और व्यावृत्ति (भिन्नता) का ग्रहण होता है ।

सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय और लिंगदेह का व्यतिरेक

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ॥३९॥

अन्वय–सुषुप्तौ लिंगाभाने आत्मनः भानम् अन्वयः स्यात् । तद्भाने लिंगस्य अभानं तु व्यतिरेकः उच्यते ।

सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्मदेहरूप लिंग की अप्रतीति होते हुए आत्मा का अवस्था के साक्षिरूप में स्फुरण होना आत्मा का अन्वय है और उस आत्मा का भान होते हुए लिंग शरीर का अभान होना लिंगदेह का व्यतिरेक है ॥३९॥

(प्रश्न) पंचकोश का विवेचन करते-करते लिंगदेह का विवेचन करना तो प्रकरण से असंगत है ? इसका उत्तर देने के लिए 'प्राण-मय आदि तीनों कोश लिंग शरीर में ही आ जाते हैं अतएव पंच-कोशों के विवेचन में लिंगदेह का विवेचन अप्रासंगिक नहीं है' यह बात इस प्रकार कहते हैं :—

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥४०॥

अन्वय—तद्विवेकात् प्राणमनोधियः कोशाः विभिक्ताः स्युः। हि ते तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक् कृताः।

लिंग शरीर के विवेचन से ही प्राणमय, मनोमय और ज्ञानमय कोश आत्मा से भिन्न विवेचित हो जाते हैं। क्यों कि ये तीनों कोश उस लिंग शरीर में ही सत्त्वरजगुण की अवस्था भेद से ही, अर्थात् उनके गुणप्रधानभाव के कारण प्राप्त हुई विशेष अवस्था के कारण ही, पृथक् दिखाये हैं ॥४०॥

प्राणमय, केवल रजोगुण की अवस्था है। और मनोमय कर्मेंद्रियों से व्यवहार करने से और इच्छादि रजोगुण की वृत्ति से युक्त होने से सत्वरज दोनों की अवस्था है। विज्ञानमय केवल सत्व की अवस्था है। इस प्रकार अवस्था भेद से एक ही लिंग देह में तीन विभिन्न कोश हो जाते हैं।

समाधि अवस्था में आत्मा का अन्वय और कारण-देह का व्यतिरेक

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥

अन्वय—समाधौ सुषुप्त्यभाने आत्मनः तु भानं अन्वयः। आत्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् तु व्यतिरेकः।

आगे वर्णन की गई समाधि अवस्था में सुषुप्ति शब्द से उपलक्षित कारणदेहरूप अज्ञान की अप्रतीति होने पर आत्मा का ही स्फुरण होता रहता है। वह आत्मा का अन्वय है। आत्मा की स्फूर्ति के होते रहने पर भी सुषुप्ति से उपलक्षित अज्ञान की अप्रतीति ही, उस अज्ञान (सुषुप्ति) का व्यतिरेक है। यहां अनुमान इस प्रकार है:—प्रत्यक् आत्मा अन्नमयादि से भिन्न है; क्योंकि उन कोशों

के आपस में भिन्न प्रतीत होते हुए भी वह आप अभिन्न है; जो उन कोशों के परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी, भिन्न प्रतीत नहीं होता, वह उन कोशों से भिन्न है; जैसे, फूलों से धागा या टूटे सींग की गौसे उसकी गोत्वजाति। [जैसे फूलों के आपसमें भिन्न प्रतीत होते हूए भी उनमें पिरोया धागा आप स्वरूप से अभिन्न प्रतीत होता हैं, इसलिए पुष्पों से भिन्न है। अथवा जैसे खंडित या बिना सींग की गौओं की व्यक्ति (आकार) भिन्न प्रतीत होती हुई भी उनमें अनुस्यूत गोत्व जाति आप भिन्न प्रतीत नहीं होती इसलिए उन व्यक्तियों से पृथक् मानी जाती है] ॥४१॥

पंचकोशों द्वारा विवेचित आत्मा को ब्रह्म की प्राप्ति

अभी यह दर्शाचुके हैं कि अन्वय-व्यतिरेक से पंचकोशों द्वारा विवेचित आत्मा ब्रह्म हो जाता है। इसकी प्रतिपादक 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा' (अंगुष्ठमात्र पुरुष अन्तरात्मा है) से "तं विद्यात् शुक्रममृतम्" (अन्तरात्माको शुद्ध और अमर जाने) तक जो कठवल्ली में कहा गया है उसका भावार्थ यहां देते हैं :—

यथा मुञ्जादिषीकेवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥४२॥

अन्वय–यथा मुञ्जात् इषीका, एवं आत्मा युक्त्या शरीरत्रितयात् धीरैः समुद्धृतः परं ब्रह्म एव जायते।

जिस प्रकार मूंज में से उसके बाहर ढक्कन की तरह विद्यमान पत्तों को तोड़कर सींक को बाहर निकालते हैं; इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आदि साधन-सम्पन्न अधिकारी जन भी जब अन्वय-व्यतिरेक लक्षण

उपाय द्वारा पूर्वोक्त तीनों शरीरों से आत्मा को अलग कर लेते हैं, उसे विविक्तरूप में पहचान लेते हैं, तो वह आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है; क्योंकि आत्मा और ब्रह्म दोनों में ही चिदानन्दरूपता लक्षण समानरूप से दीखने लगता है। फिर आत्मा के ब्रह्म होने में संशय नहीं रहता ॥४२॥

आगामी ग्रन्थ का प्रयोजन

अन्वय–एवम् परापरात्मनोः एकता युक्त्या संभाविता, सा तत्वमस्यादिवाक्यैः भागत्यागेन लक्ष्यते।

अर्थ—अब तक परात्मा और अपरात्मा की एकता को युक्ति से सिद्ध किया; वही एकता 'तत्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा भागत्याग लक्षणा से सिद्ध होती है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के क्रमशः 'तत्' और 'त्वं' पद के अर्थभूत परमात्मा और जीवात्मा की एकता को, चिदानन्दरूपतामय लक्षण की समता दिखलाने आदि युक्तियों द्वारा जिज्ञासु अथवा वादी की बुद्धि में बिठा दिया गया है। उसी एकता का बोध 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा, विरुद्धांश को छोड़कर, लक्षणावृत्ति (भाग त्यागलक्षणा) से यहां कराया जाता है ॥४३॥

'तत्' पद का वाच्यार्थ

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥

अन्वय–यत् तामसीं मायां आदाय जगतः उपादानं, शुद्धसत्त्वां तां

निमित्तं ब्रह्म 'तत्' गिरा उच्यते ।

अर्थ–जो ब्रह्म तामसी माया अर्थात् प्रकृति को लेकर जगत् का उपादान है और शुद्धसत्वयुक्तमाया को लेकर जो ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है वह ब्रह्म 'तत्' पद का वाच्य है ।

सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म, तमोगुण प्रधान माया को उपाधिरूप से स्वीकार कर, चर-अचर कार्यसमूह रूप जगत् का उपादान, अर्थात् जगत् के अध्यास का अधिष्ठान होता है और विशुद्धसत्वप्रधान माया को उपाधि रूप में स्वीकार कर तमः प्रधान-प्रकृति रूप उपादान आदि* का जानने वाला कर्त्ता (निमित्त) हो जाता है, 'तत्वमसि' वाक्य में स्थित 'तत्' पद का वाच्य वही निमित्तोपादान दोनों रूप (जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण-अन्तर्यामी) ब्रह्म अथवा ईश्वर है ।।४४।।

'त्वं' पद का वाच्यार्थ

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ।।४५।।

अन्वय–तत् परं ब्रह्म यदा मलिनसत्वां कामकर्मादिदूषितां तां आदत्ते तदा 'त्वं' पदेन उच्यते ।

वही परब्रह्म जिस अवस्था में, कुछ रज और तमोगुण के मिल

---

*यहां आदि शब्द जीवों के—अदृष्ट, अपनी इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, काल, दिशा, प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभाव—इन आठों और निमित्तकारणों का ग्रहण है । जैसे कुम्हार, घट की उपादान मिट्टी तथा दण्ड, चक्र आदि दूसरे निमित्तों को जानने वाला घट का कर्त्ता है; वैसे ही सत्वप्रधानमाया से उपहित ब्रह्म भी जगत् की उत्पत्ति आदि की हेतु-भूत सब वस्तुओं का ज्ञाता है । अतएव वह जगत् का कर्त्ता है ।

जाने के कारण मलिन सत्त्वगुण-प्रधान और काम-कर्मादि से दूषित हुई, अविद्या शब्द की वाच्य, 'माया को उपाधि-रूप में स्वीकार कर लेता है; तब वह 'त्वं' पद से वाच्य हो जाता है ॥४५॥

लक्षणा से वाक्य के अर्थ का ज्ञान

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

अन्वय—त्रितयीम् अपि परस्पर-विरोधिनीं तां मुक्त्वा अखण्डं सच्चिदानंदं महावाक्येन लक्ष्यते ।

तमः प्रधान, विशुद्ध सत्त्वप्रधान और मलिन सत्वप्रधान रूप से तीन प्रकार की बताई गई और इसीलिए परस्पर विरोधिनी माया को छोड़कर (श्रुति और युक्ति दोनों से ही मिथ्या जानकर अखंड अर्थात् भेद-रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म का ज्ञान महावाक्य द्वारा लक्षणा से होता है। [जब तीनों प्रकार की परस्पर-विरोधिनी माया का परित्याग कर दिया जाता है तब 'तत्वमसि' आदि महावाक्य आते हैं और अधिकारी के सम्मुख सच्चिदानंद ब्रह्म को लक्षित करने लगते हैं।] ॥४६॥

लक्षणावृत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान का दृष्टान्त

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥४७॥

अन्वय—सः अयं इत्यादिवाक्येषु तदिदं तयोः विरोधात् भागयोः त्यागेन एकः आश्रयः यथा लक्ष्यते ।

'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्यों में, 'तत्ता' अर्थात् परोक्ष, दूरदेश तथा भूतकाल की विशिष्टतारूप धर्म—और 'इदन्ता' अर्थात्

यह अपरोक्ष-समीप देश तथा वर्तमानकाल की विशिष्टतारूप धर्म–इन दोनों के विरोध के कारण अथवा एकता की सम्भावना न होने के कारण विरुद्ध अंशों को छोड़ने पर ही समानाश्रय देवदत्त पुरुष के शरीर को लक्षणा से जानते हैं।*

---

*किसी देवदत्त को यज्ञदत्त ने पहले कभी दूसरे देश में देखा था वह देवदत्त अपने देश को छोड़कर बहुत पीछे यज्ञदत्त के देश में गया। वहां यज्ञदत्त ने अपने समीप बैठे किसी तीसरे पुरुष से कहा—"वही, अन्य देश में पूर्वकाल में देखा इस देश में इस समय प्राप्त, यह देवदत्त है।" यह सुन कर श्रोता ने यज्ञदत्त से पूछा—'अन्य देशकाल और इस देशकाल की एकताओं का विरोध है, अतएव उस देश कालवाले पुरुष का इस देशकालवाला होना कैसे सम्भव है? यज्ञदत्त ने उत्तर दिया—उस-देश-कालयुक्तता रूप धर्म पर ध्यान न देकर उन दोनों धर्मों में अनुस्यूत धर्मी देवदत्त एक ही है—यह मेरे कहने का अभिप्राय है। यह सुन कर श्रोताने वही यह देवदत्त है ऐसा निश्चय किया।

इसी प्रकार "सृष्टि से पहले एक ही अद्वितीयरूप ब्रह्म था।" श्रुति से यह बात सुनी। उस ब्रह्म को तत्वज्ञानी महात्मा ने अपना आपा करके जाना। वही ब्रह्म पीछे सृष्टि समय में अविद्योपाधिद्वारा जीवरूप हो, संसार में भ्रमण करता-करता, किसी सत्कर्म के फलस्वरूप विवेकादि से सम्पन्न शिष्य बनकर, विधिपूर्वक महात्मा गुरु की शरण में आया तो गुरु ने कहा—'वह' सृष्टि से पूर्व द्य मान एक ही अद्वितीय सत्रूपब्रह्म, "तू" सृष्टिरचना के पीछे संसार में भटकने वाला जीव है।" यह सुन कर उस शिष्यरूप जीव ने मनरूप श्रोता द्वारा कहा—"गुरो! मैं अल्पज्ञ अल्प-शक्तिवान्, पराधीन आदि रूप से निकृष्ट हूं, फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र आदि श्रेष्ठ परमेश्वर कैसे हो सकता हूं?" तब गुरु ने कहा—"ईश्वर

दार्ष्टान्तिक

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥४८॥

अन्वय—एवम् परजीवयोः उपाधी मायाविद्ये विहाय अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म लक्ष्यते।

ठीक ऐसे ही, (जैसे कि 'सो देवदत्त है, इत्यादि वाक्य में बताया) परमात्मा और जीव की उपाधियों—पूर्वो माया और अविद्या—को छोड़ देने पर, अखण्डसच्चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म ही महावाक्य द्वारा लक्षित होने लगता है ॥४८॥

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥

अन्वय—सविकलपयस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य अवस्तुता स्यात्। निर्विकलपस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टम्, च न सम्भवि।

(शंका) महावाक्य के द्वारा लक्षण से ज्ञातव्य ब्रह्म विकल्प

की समष्टिस्थूलसूक्ष्मप्रपंचसहित माया उपाधि तथा उस माया उपाधि से रचे गये सर्वज्ञता आदि धर्मों को और जीवकी व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीररूप कार्य सहित अविद्या उपाधि और इन से रचे गये अल्पज्ञता आदि धर्मों को, और उत्पत्तिस्थितिप्रलय तथा जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिरूप काल को सपना-सा तथा मनोराज्य की भान्ति कल्पित होने से मिथ्या जानकर, 'ये हैं ही नहीं' इस प्रकार इनका विचार तक छोड़कर, "शेष अखंड सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म मैं ही हूं यह जान।" इस प्रकार जीव ने मनरूपी श्रोता द्वारा सुनकर, मनन निदिध्यासन करके अपने आपको ब्रह्मरूप में प्रत्यक्ष किया।

सहित है या विकल्परहित ? रस्सी से विपरीत रूप में कल्पित जैसे सांप है वैसे अखण्डसच्चिदानन्द ब्रह्म से विपरीत; खण्डित, असत् आदि रूप में कल्पित नाम-जाति आदि धर्म हैं। विपरीतरूप में कल्पित नाम जाति आदि को ही वेदान्त में विकल्प कहते हैं। इन नाम जाति आदि के सहित विद्यमान को सविकल्प कहते हैं। यदि महावाक्य से जानने योग्य को सविकल्प मानें तो इसका लक्ष्य ब्रह्म मिथ्या सिद्ध हो जायगा; क्योंकि नामजाति आदि धर्म-वाली घट पट आदि वस्तुएं मिथ्या दीख पड़ती हैं।

यदि निर्विकल्प लक्ष्य है ऐसा कहो तो, बात यह है कि नाम जाति आदि से रहित कोई लक्ष्य बना हो ऐसा लोक में न कभी देखा है, न सुना है। और ऐसा होना सम्भव भी नहीं है क्योंकि लक्ष्यता-रूप धर्म से युक्त को निर्विकल्प कैसे कह सकते हैं। 'लक्ष्य' में रहने वाला' लक्ष्यत्व' भी तो एक 'विकल्प' ही है। किसी को 'लक्ष्य' मानना और उसी को निर्विकल्प कहना 'व्याघातदोष' से युक्त है; जैसे किसी का यह कहना कि मेरी माता वन्ध्या थी—अपने ही कथन का खण्डन करना है। घट में घटत्व और गौ में गोत्व की न्याईं, लक्ष्य अर्थात् शब्द की लक्षणावृत्ति से ज्ञातव्य वस्तु में लक्ष्यता एक धर्म है; वही विकल्प हुआ ॥४९॥

सिद्धान्ती द्वारा इस शंका में दोष-दर्शन

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

अन्वय–विकल्पः निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्। आद्ये व्याहतिः। अन्यत्र अनवस्थात्माश्रयादयः दोषाः।

सिद्धांती---हे वादी ! यह बता कि तूने जो यह प्रश्न किया कि 'महावाक्य से लक्षित ब्रह्म निर्विकल्प है या सविकल्प ?' इसमें तूने जो विकल्प किया है वह क्या निर्विकल्प ब्रह्म का होगा या सविकल्प ब्रह्म का ? यदि तुम निर्विकल्प ब्रह्म का विकल्प मानो तो उसमें तो व्याघातदोष ही है । क्योंकि उसी ब्रह्म को निर्विकल्प भी कहता है और उसमें विकल्प भी करता है ।

यदि 'सविकल्प का विकल्प किया है' यह दूसरा पक्ष मानो तो इसमें आत्माश्रय, अनवस्था आदि चार दोष आते हैं । इनका क्रमशः वर्णन करते हैं:---

(१) "सविकल्प ब्रह्म का विकल्प" है इस वाक्य में सविकल्प शब्द का क्या अर्थ है ? विकल्प के साथ जो विद्यमान हो वह सवि-कल्प हुआ । यहां विकल्प शब्द दो रूपों में आया एक तृतीया विभक्ति वाला (विकल्पके साथ) और दूसरा प्रथमा विभक्ति वाला (सविकल्प ब्रह्ममें विकल्प) । इन दोनोंमें क्या विकल्प एक ही है या दो हैं ? यदि दोनों में एक विकल्पमानो तो एक ही विकल्प, विकल्पके आश्रयभूत सविकल्प ब्रह्म का विशेषण हुआ और इस प्रकार आप ही अपना आश्रय हुआ ।* अर्थात् प्रथमान्तरूप जो तेरा विकल्प है उसका

---

*एक ही विकल्प तृतीयान्त-रूप से प्रथमान्तरूप अपने आप का आश्रय कैसे हुआ ? क्यों कि विशेषणसहित वस्तु में जो धर्म रहता है वह विशेषण में भी रहता है यह नियम है । 'दण्डी (दण्डवाला)'आया है' इस वाक्यमें दण्ड,विशेषण (आधेय) और पुरुष, विशेष्य (आधार) है दण्डरूप विशेषणसे युक्त दंडी पुरुष में 'आना' रूप जो धर्म है वही धर्म दण्ड-रूप विशेषणमें भी रहता है---दण्डी पुरुष आया है तो दण्ड भी तो आया है। सिद्धान्त में दण्डी के स्थान पर सविकल्प ब्रह्मात्मा विशेष्य है और दण्ड के स्थान पर तृतीयान्त विकल्प विशेषण है और

आश्रय, सविकल्पब्रह्म का विशेषणरूप तृतीयान्त विकल्प भी तेरे प्रथमान्त विकल्प का आश्रय है। क्यों? विशिष्ट में रहने वाला धर्म विशेषण में नियम से रहता ही है और फिर उस आश्रय बने तृतीयांत विकल्परूप आपमें प्रथमांन्त विकल्प रहा तो आप ही (प्रथमान्तरूप विकल्प) आप (तृतीयान्तरूप आश्रय) के आश्रित हो गया; अर्थात् एक ही विकल्प जो तृतीयान्तरूप से आश्रय है वही विकल्प प्रथमान्तरूप से आश्रित हुआ। यही आत्माश्रय दोष है अर्थात् अपनी सिद्धि में अपनी ही अपेक्षा करनी पड़ती है।

(२) यदि प्रथमान्त विकल्प और तृतीयान्त विकल्पों को परस्पर भिन्न दो मानें तो तृतीयान्त विकल्प भी विकल्प है, और उसका आश्रय ब्रह्म भी सविकल्प है इसलिए उस तृतीयान्त विकल्प के आश्रय ब्रह्म का विशेषण कोई विकल्प मानना होगा। इस वाक्य से यह सूचित किया है—प्रत्येक विकल्प, सविकल्प अर्थात् विकल्प सहित आश्रय में रहता है, निर्विकल्प में नहीं; जैसे प्रथमान्त रूप तेरा विकल्प सविकल्प आश्रय में रहता है; ऐसे ही सब विकल्प-सविकल्प आश्रय में रहने वाले हुए। इसलिए जैसे प्रथमान्तरूप तेरे विकल्प की स्थिति के लिए तृतीयान्तविकल्प के आश्रय

दण्ड- विशिष्ट दण्डी के स्थान पर तृतीयान्त-विकल्प -विशिष्ट सविकल्प ब्रह्मात्मा है और विशेषणसहित वस्तु में रहने वाले 'आना' क्रिया रूप धर्म के स्थान पर प्रथमान्तरूप वादी का विकल्प है। जैसे आना क्रिया का आश्रय, दण्डी पुरुष की भांति, दण्ड भी है; ऐसे ही, जैसे वादी के प्रथमान्तरूप का आश्रय, सविकल्प ब्रह्म है वैसे ही सविकल्प-ब्रह्म का विशेषण-रूप तृतीयान्त विकल्प भी वादी के विकल्प प्रथमान्त का आश्रय है।

ब्रह्मरूप धर्मी को सविकल्प किया है वैसे तृतीयान्त विकल्प की स्थिति के लिए कोई भी विशेषणरूप विकल्प का आश्रय सविकल्प करने के योग्य ही है। और जो तृतीयान्त विकल्पके आश्रय(ब्रह्म) का विशेषणरूप विकल्प है उस विकल्प को विशेषणीभूत विकल्प कहते हैं। वह विशेषणीभूत विकल्प क्या प्रथमान्तरूप ही है अथवा उन प्रथमान्त और तृतीयान्त दोनों विकल्पों से भिन्न तीसरा विकल्प है ? प्रथमपक्ष मानने में अन्योन्याश्रयदोष है। यह इस प्रकार है:—दो वस्तुओं में से एक दूसरे की सिद्धि के लिए एक दूसरे की अपेक्षा होना अन्योन्याश्रय दोष है। यहां प्रथमान्तरूप बिकल्प की सिद्धि के लिए तृतीयान्त की अपेक्षा है और तृतीयान्त की स्थिति के लिए विशेषणीभूत विकल्प की अपेक्षा है। वह विशेषणीभूत विकल्प प्रथमान्तरूप में ही तूने स्वीकार किया है। इस प्रकार तृतीयान्त को प्रथमान्त की अपेक्षा हुई। इस रीति से यह अन्योन्याश्रय दोष है।

(३) यदि विशेषणीभूत विकल्प को प्रथमान्त और तृतीयान्त से भिन्न तीसरा विकल्प मानो तो इस विशेषणीभूत तीसरे विकल्प को भी आश्रय का अन्य विशेषणरूप धर्मि-विशेषणीभूत विकल्प मानना चाहिए क्यों कि प्रथमान्त और तृतीयान्त विकल्प की भांति यह भी विकल्प रूप है और विशेषणीभूत विकल्प के आश्रय ब्रह्म को, सविकल्प रूप होने के कारण, आश्रय का अन्य विशेषणरूप धर्मि-विशेषणीभूत विकल्प मानना चाहिए। वह अन्य विशेषणरूप विकल्प क्या प्रथमान्त विकल्परूप है अथवा प्रथमान्त, तृतीयान्त और विशेषणीभूत तीसरे विकल्प से भी भिन्न चौथा विकल्प है ? प्रथम पक्ष में चक्रिक दोष आता है। क्योंकि चक्र की भांति घूमने

का नाम चक्रक और चक्रिका है। यहां दोनों प्रथमान्त की स्थिति के लिए तृतीयांत की अपेक्षा है और तृतीयांत की स्थिति के लिए विशेषणीभूत तीसरे विकल्प की अपेक्षा है और उस विशेषणीभूत की स्थिति के लिए अन्य विशेषणरूप धर्मिविशेषणीभूत विकल्प की अपेक्षा है। वह अन्यविशेषणरूप विकल्प प्रथमान्तरूप ही माना है। फिर प्रथमान्त की स्थिति के लिए तृतीयांत की, तृतीयांत के लिए तीसरे विकल्प की और उसके लिए प्रथमांत की अपेक्षा है। इस प्रकार चक्कर में घूमने के कारण चक्रिका दोष होता है।

(४) जब धर्मिविशेषणीभूत विकल्प, प्रथमान्त, तृतीयान्त और विशेषणीभूत विकल्पों से भिन्न चौथा ही विकल्प है तो क्यों कि यह अन्यविशेषणरूप चौथा विकल्प पूर्व की भान्ति विकल्परूप है, इसलिए, इसके आश्रय-ब्रह्म को भी सविकल्प करने के लिए कोई विशेषण-रूप पाँचवां विकल्प मानना पड़ेगा और यह पांचवां विकल्प भी, क्यों कि विकल्परूप ही है; अतएव इसके आश्रयभूत ब्रह्म को सविकल्प करने के लिए कोई विशेषण-रूप छठा विकल्प मानना चाहिए। ऐसे ही आगे भी सातवां, आठवां आदि विकल्प मानने पड़ेंगे; यह अनवस्था—प्रमाणरहित धारा रूप दोष है। लक्ष्य की भान्ति विकल्प पक्ष में भी इसी प्रकार दोष है; उसे पृथिवी* के संयोगी घट के दृष्टान्त से जानो ॥५०॥

---

*प्रश्न यह है कि शुक्ल घट जो पृथिवी में संयोग-सम्बन्ध से रहता है वह घट-संयोग-रहित पृथिवी में रहता है या घट-संयोग-सहित पृथिवी में ? प्रथम पक्ष में तो अपने ही वचन से अपने वचन का बाधरूप व्याघात दोष है; पृथिवी

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु ।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥५१॥

अन्वय—इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु समम्; तेन एतत् सर्वम् स्वरूपस्य इति इष्यताम् ।

विकल्प पक्षमें जो व्याघात-आत्माश्रय आदि बहुतसे दोष बताये ये सब; गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य, सम्बन्ध इन पांचों वस्तुओं में समान हैं । जैसे कि गुण क्या निर्गुण में रहता है, या सगुण में क्रिया, क्रिया-रहित में है या क्रियावान्में ? आदि । यहां प्रथमपक्षों में व्याघात, दूसरे पक्षों में आत्माश्रयादि दोष उपस्थित हो जाते हैं ।

सिद्धान्ती का सही उत्तर

इस प्रकार प्रतिवादी की शङ्का में दोष दिखा कर सिद्धान्ती सही उत्तर देता है :—क्योंकि ऊपर दिखाई रीति से विकल्प की सङ्गति नही बैठती इसलिए ये गुणादिक सब धर्म, स्वरूप के हैं । अभिप्राय यह है कि वस्तु के स्वरूप में कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं ॥५१॥

अन्य अनात्म वस्तुओं में ऐसा हो परन्तु प्रसङ्गागत आत्मा में क्या स्थिति होगी ? इसका उत्तर देते हैं :—

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२॥

अन्वय—विकल्प तत्+अभावाभ्याम् असंस्पृष्टात्मवस्तुनि विकल्पि-तत्व-लक्ष्यत्व—सम्बंध+आद्याः तु कल्पिताः ।

विकल्प और विकल्प के अभाव से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं

घट-संयोग-रहित भी कहते हो और घट-संयोग भी बताते हो । यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे 'मेरे मुख में जिह्वा नहीं है; मेरे पिता बाल-ब्रह्मचारी हैं ।' दूसरे पक्ष में आत्माश्रयादि चार दोष हैं ।

है उस प्रत्यक् अभिन्नपरमात्मा में (१)विकल्पितपना, (२) लक्ष्यपना, और (३)सम्बन्ध आदि रस्सीमें सांप की प्रतीति की भान्ति कल्पित ही हैं।

---

(१) "विकल्प निर्विकल्प में रहता है या सविकल्प में ?" "गुण निर्गुण में रहता है या सगुण में ?" इत्यादि विकल्प (सन्देह) का विषय होना विकल्पित-पना है (२) शब्द की लक्षणावृत्ति से जानने योग्यत्व को लक्ष्यत्व या लक्ष्यपना कहते हैं। (३) सम्बन्ध से संयोग, समवायी और तादात्म्य आदि अनेक सम्बन्धों का ग्रहण है। दो द्रव्यों के सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहते हैं। यह संयोग तीन तरह का है—१ कर्मज; २ संयोगज; ३ सहज। कर्मज फिर दो प्रकार हैं। १ अन्यतर (दो में से एक) कर्मज और २ उभय कर्मज। पक्षी की क्रिया से वृक्ष और पक्षी का संयोग अन्यतर कर्मज है। और दो मेढ़ों की क्रिया से उनका संयोग उभय कर्मज है। संयोगरूप असमवायिकारण से जो संयोग होता है उसे संयोगज कहते हैं; जैसे—हाथ और वृक्ष के संयोग से उत्पन्न, शरीर और और वृक्ष का संयोग। संयोगी के जन्म के साथ जो संयोग उत्पन्न होता है वह सहज कहलाता है। जैसे सोने में पार्थिव (पीला रंग और भार) और तैजस (द्रवत्व) भागों का संयोग सहज है। न्याय के अनुसार गुण-गुणी का, जाति-व्यक्ति का, क्रिया-क्रियावान् का, और उपादान कारण-व कार्य का आपस में जो संबन्ध है उसे समवाय संबंध कहते हैं। और स्वरूप संबन्ध का नाम तादात्म्य हैं। पूर्वमीमांसा के वार्तिकार भट्ट के मत में कुछ भेद से युक्त अभेद (भेदाभेद)का नाम तादात्म्य है। सर्वशिरोमणि वेदान्त के अनुसार भेद और अभेद दोनों से भिन्न सम्बन्ध का नाम तादात्म्य है। इसी को अनिर्वचनीय (कल्पित) तादात्म्य भी कहते हैं। भेद से भिन्न का अर्थ वास्तविक अभेद और अभेद से भिन्न का मतलब कल्पित भेद लिया है। इस प्रकार वेदान्त में कल्पित भेद से युक्त वास्तविक अभेद का नाम तादात्म्य सम्बन्ध है। न्याय में जहां गुण-गुणी आदि का संबन्ध समवाय माना, है वहां वेदान्त और भट्ट ने उसे तादात्म्य माना है।

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥

अन्वय–इत्थं वाक्यैः तदर्थानुसधानं श्रवणं भवेत्। युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं तु मननम्।

४४ वें श्लोक से ५२ तक बताई गई रीति से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा उनका, जीव-ब्रह्म की एकता बताने वाला, जो अर्थ का अनुसन्धान है उसे श्रवण कहते हैं। [यह श्रवण गुरुमुख

---

(४) आदि शब्द से द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया का ग्रहण होता है। उन के लक्षण निम्न प्रकार हैं :—

गुणों के आश्रय को अथवा समवायिकरण को नैयायिकों ने द्रव्य बताया है। ये पृथिवी आदि नौ माने गये हैं। कर्म के सिवा, केवल जाति का आश्रय गुण बताया गया है। रूप, रस आदि भेद से ये २४ हैं। नित्य–एक समवाय सम्बन्ध से अनेक धर्मियों में अनुगत को सामान्यधर्म कहते हैं; इसी का नाम जाति है। यह जाति दो प्रकार की मानी गई है; १ पर (अधिकवर्ति) २ अपर (न्यूनवर्ती); घट, पट आदि सब पदार्थों में वर्तमान सत्तारूप जाति को पर और द्रव्यों में द्रव्यत्व, अनेक कर्मों में कर्मत्व; चौबीस गुणों में गुणत्व आदि जो जाति है उसे अपर कहते हैं। संयोग और विभाग के असमवायिकारण के सजातीय का नाम कर्म अथवा क्रिया है। दो कपालों के संयोग-विभाग के समवायिकारण दोनों कपाल हैं। उनमें उनकी चेष्टा समवायिकारण से रहती है जो उनके कार्य–संयोगविभाग–की जनक है। इसलिए दो कपालों की चेष्टा उनके संयोग-विभाग की असमवायि कारण है। इस चेष्टा की सजातीय अर्थात् समान जाती वाली दूसरी चेष्टा का नाम कर्म और क्रिया है। ऊपर फेंकना नीचे फेंकना, सुकड़ना, फैलना और गमन भेद से नैयायिकों ने इसे पांच प्रकार का माना है। वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से यह तीन प्रकार का माना गया है।

गुरुमुख द्वारा महावाक्य का उपदेश है; यह ज्ञान का हेतु है और श्रवण कहलाता है। प्रमाणगत संदेह का निवर्तक श्रवण 'अङ्ग' है। इस दूसरे श्रवण का वर्णन आगे किया जायगा।]

३ रे श्लोक से ४३ वें श्लोक तक जिस प्रकार युक्ति द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता बताई है उस प्रकार युक्ति से सुने अर्थ की सम्भावना अथवा शक्यता के ज्ञान को मनन कहते हैं।५३।

निदिध्यासन का लक्षण

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥५४॥

अन्वय–ताभ्यां निर्विचिकित्से अर्थे स्थापितस्य चेतसः यत् एकतानत्वं एतत् निदिध्यासनं उच्यते हि।

उन श्रवण और मनन से जीव-ब्रह्म की एकता रूप जो अर्थ संशयरहित हो चुका है उसी अर्थ (विषय) में धारणा से रोके हुए चित्त का जो एकतान हो जाना है उसको योगशास्त्र के अनुसार 'निदिध्यासन' कहते हैं। [चित्त में एक ही विषय की वृत्ति—एकाकार वृत्ति—का प्रवाह बहने लग पड़ना चित्त का एकतान होना कहलाता है।]

समाधि का लक्षण

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥५५॥

अन्वय–ध्यातृध्याने क्रमात् परित्यज्य ध्येयैकगोचरं निवातदीपवत् चित्तं समाधिः अभिधीयते।

'निदिध्यासन' में 'ध्याता', (ध्यान करने वाला), 'ध्यान', (ध्येयाकारचित्तवृत्ति का प्रवाह) और 'ध्येय' (ध्यान करने योग्य, यहां ब्रह्म) तीनों प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु जब चित्त अभ्यास के कारण क्रमशः 'ध्याता' और 'ध्यान' को छोड़ कर केवल 'ध्येय' (यहां 'ब्रह्म') की प्रतीति करने लगता है, तब चित्त की वह समाधि अवस्था कहलाती है। [यह केवल समाधि का स्वरूप है, लक्षण नहीं। लक्षण आगे चित्रदीप प्रकरण में बताया गया है।] वायुरहित प्रदेश में जैसे दीपक की लौ स्थिर रहती है वैसे चित्त भी इस अवस्था में एक ही ध्येय के आकार का हो जाता है ॥५५॥

(शङ्का) जब समाधि में वृत्तियों का ज्ञान ही नहीं होता तब 'वे वृत्तियां केवलमात्र ध्येय को प्रत्यक्ष कर रही हैं,' यह ज्ञान होना भी असम्भव है ? इसका समाधान करते हैं :—

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥५६॥

अन्वय—आत्मगोचराः वृत्तयः तु तदानीं अज्ञाताः अपि व्युत्थितस्य समुत्थितात् अनुमीयन्ते।

समाधिकाल में यद्यपि आत्मा को विषय करने वाली वृत्तियां अज्ञात हैं तो भी समाधि से उठे पुरुष के, 'इतने समय तक मैं समाधि में रहा' इस सम्यक् उत्पन्न स्मरण से उन वृत्तियों का अनुमान होता है। क्योंकि "जो-जो स्मरण किया जाता है वह पूर्वानुभूत है" यह व्याप्ति है। [यहां यह अनुमान है :—समाधिकाल में वृत्तियां हैं; क्योंकि उत्थानकाल में उस समाधि का स्मरण होता

हैं; जैसे निद्रा में जिसका स्मरण होता है उसका पूर्व अनुभव होता है; 'यह मेरा पिता है' की भ्रान्ति ॥५६॥]

(शंका) परन्तु समाधिकाल में वृत्तियों के उत्पादन का तो कोई प्रयत्न नहीं होता, तो फिर उनकी अनुवृत्ति (एक के पीछे एक का लगातार आते रहना) कैसे बनेगा ? समाधान करते हैं :—

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥५७॥

अन्वय—वृत्तीनां अनुवृत्तिः तु प्रथमात् अपि प्रयत्नात् अदृष्टा-सकृदभ्याससंस्कारसचिवात् भवेत्।

योगसूत्र के अनुसार 'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' योगी का कर्म 'अशुक्लकृष्ण' है और शेष लोगों के कर्म, शुक्ल कृष्ण और उभयरूप (शुक्लकृष्ण) होते हैं। योगी का अशुक्लकृष्ण पुण्यकर्म वह है जो सकामरूप शुभ और अशुभ से भिन्न योगानन्द के निमित्त किया गया है। स्वर्गादि विषय-सुख के हेतु किये गये सकाम शुभकर्मों को शुक्ल और नरकादि दुःखके हेतु अशुभकर्मों को कृष्ण कहते हैं।

योगी के अशुक्ल कृष्ण नामक पुण्यकर्म और समाधि के बार-बार अभ्यास से उत्पन्न भावना (स्मृतिजन्य और स्मृति का हेतु संस्कार), इन दोनों सहकारी कारणों के साथ वर्तमान, समाधि से पूर्वकाल के प्रयत्न (कृति) से अकेले ब्रह्मरूपध्येय को विषय करने-वाली वृत्तियों की प्रवाह रूप से अनुगति (अनुवृत्ति) होती है ॥५७॥

(शंका) यदि कहो कि इस समाधि का निरूपण किसी आचार्य

ने नहीं किया ? समाधान करते हैं:—

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥५८॥

अन्वय— 'यथा निवातस्थः दीपः' इत्यादिभिः भगवान् अनेकधा इमम् एव अर्थम् अर्जुनाय न्यरूपयत् ।

अर्थ—ज्ञानैश्वर्य आदि षड्सम्पत्तियुक्त भगवान् श्रीकृष्ण ने "यथा दीपो निवातस्थ" इत्यादि श्लोकों से इसी समाधि का अर्जुन शिष्य के लिए निरूपण किया था ॥५८॥

समाधि का अवान्तर फल

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥५९॥

अन्वय—अनादौ इह संसारे संचिताः कर्मकोटयः अनेन विलयं यान्ति, शुद्धः धर्मः विवर्धते ।

इस अनादि संसार में पुण्य-अपुण्य रूप जो करोड़ों कर्म किये जाते हैं उनका इस निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान से नाश हो जाता है। श्रुति भी कहती है कि कि—क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" अर्थात् उस परावर (पर अर्थात् ब्रह्मलोकादिक पुनरावृत्तिवाला पद जिससे अवर अर्थात् निकृष्ट है वह प्रत्यक्-अभिन्न परब्रह्म) के अपरोक्ष हो जाने पर इस पुरुष के कर्म नष्ट हो जाते हैं।" (ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म का नाश तो भोग से ही होता है परन्तु ज्ञान के पश्चात् क्रियमाण कर्म का, 'मैं अकर्त्ता हूं, अभोक्ता और असंग हूं।" इस निश्चय के बल से ज्ञानी के स्वरूप से स्पर्श ही नहीं होता; जैसे कमलपत्र को जल का स्पर्श नहीं होता। अतएव अनन्त जन्मोंमें सम्पादित संचित कर्म का ही तत्वज्ञान से नाश होता

है।) स्मृति कहती है—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" (गीता) अर्थात् 'हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म बना देती है" आदि।

और चित्त के मल तथा विक्षेप आदि दोषों को हटा कर स्थूल-सूक्ष्मकार्यों और अविद्या के निवर्तक साक्षात्कार का साधन बना शुद्ध धर्म, बढ़ता है ॥५९॥

समाधि से धर्म की वृद्धि में क्या प्रमाण है, यह बताते हैं—

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥६०॥

अन्वय—योगवित्तमाः इमम् समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। यतः एषः धर्मामृतधाराः सहस्रशः वर्षति।

अतिशय योग के जानने वाले ब्रह्मसाक्षात्कारवान् पुरुष इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ* कहते हैं। क्योंकि यह समाधि धर्मरूप अमृत की हजारों धाराओं को बरसाने लगती है ॥६०॥

समाधिका परम-प्रयोजन : अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

अन्वय—अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये समूलोन्मूलिते वाक्यं अप्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षाअवभासिते करामलकवत् अपरोक्षं बोधं प्रसूयते।

---

*योगशास्त्र के अनुसार चित्त की एकाग्रता होने पर भी जब मुमुक्षु विरक्त है अर्थात् तब भी सिद्धि आदि की इच्छा नहीं करता तब उसको विवेकख्याति (स्वरूप साक्षात्कार) होता है। इसी को धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।

अर्थ—इस समाधि के प्रताप से, ज्ञान-विरोधी, अहंकार-ममकार-कर्तृत्व आदि अभिमान के कारणभूत-संस्कारों के सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने पर तथा पुण्य-पाप नाम के कर्म-संचय के जड़ समेत उखाड़ दिये जाने पर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य, बेरोक-टोक होकर, कर्म और वासना रूप प्रतिबन्ध से रहित होकर, जो तत्त्व, प्रत्यक्-रूप ब्रह्म, अब तक परोक्ष रूप से ज्ञात हो रहा था, उसी तत्व को प्रकाशित करने योग्य, हाथ में रखे आमले को अथवा निर्मल जल* को प्रकाशित करने वाले अपरोक्ष ज्ञान सरीखे ज्ञान को उत्पन्न कर देते हैं ॥६२॥

परोक्ष-ज्ञान का फल

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

अन्वय— देशिकपूर्वकं शाब्दं परोक्षं ब्रह्मविज्ञानम् बुद्धिपूर्वकृतं कृत्स्नं पापं वन्हिवत् दहति ।

ब्रह्मनिष्ठगुरु के मुख से प्राप्त और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से जन्य, परोक्ष ब्रह्मविज्ञान, ज्ञानपूर्वक किये हुए सब पापों को अग्नि के समान भस्म कर देता है ॥६३॥

अपरोक्ष-ज्ञान का फल

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४॥

---

*हाथ में रखा आमला केवल बाहर से ही जाना जाता है भीतर से नहीं; इस लिए दूसरा अर्थ 'निर्मल जल' किया ।

अन्वय—शाब्दं देशिकपूर्वं अपरोक्षात्मविज्ञानं संसारकारणा-ज्ञानतमसः चण्डभास्करः ।

ब्रह्मनिष्ठगुरु के मुख से प्राप्त और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से जन्य अपरोक्ष ब्रह्माभिन्न आत्मा का, संशय-विपर्यय-रहित अपरोक्ष-ज्ञान, जन्मादि संसार के कारणभूत अज्ञान के अन्धेरे को मध्यान्ह काल के सूर्य की भान्ति दूर कर देता है ।।६४।।

ग्रन्थ के अभ्यास का फल

इत्थं तत्त्वविवेकं
विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः
प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ।।६५।।

अन्वय—नरः इत्थं तत्वविवेकं विधाय, विधिवत् मनः समाधाय, विगलितसृतिबन्धः, न चिरात् परं पदं प्राप्नोति ।

मनुष्य इस प्रकरण में बताई रीति से ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप तत्व को पंचकोश से विवेचन करके (पृथक् जानकर), उस तत्व में शास्त्रोक्त प्रकार से मन को स्थिर कर, अपरोक्षज्ञान के द्वारा संसारबन्ध को हटा कर, शीघ्र ही निरतिशय आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सत्य ज्ञानानन्द लक्षण ब्रह्म ही हो जाता है ।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण-प्रत्यक्तत्वविवेक की श्री पीताम्बर शर्मा कृत तत्त्व प्रकाशिका व्याख्या

समाप्त

अथ पंचमहाभूतविवेकः—२

मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
पंचभूतविवेकस्य विवृतिः क्रियते मया ।।

श्रीयुक्त सब गुरुओं को नमस्कार करके पंचदशी के महाभूत-विवेक प्रकरण की व्याख्या भाषा में करता हूँ ।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् 'हे सौम्य ! सृष्टि से पहले षट्प्रामाणादि से दीख रहा यह जगत् एक (स्वगत-भेद रहित), ही (सजातीयभेद रहित), अद्वितीय (विजातीयभेद रहित) और सत् (त्रिकालाबाधित) ब्रह्म (निरपेक्ष व्यापक) था,*इस श्रुति से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जिस कारण, सत्रूप, अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश सुना है वह ब्रह्म वाणी और मन का विषय नहीं है; अतएव स्वयं ही जाना नहीं जा सकता । उस ब्रह्म के कार्यभूत उसके उपाधिरूप पांचभूतों के विवेक द्वारा उस ब्रह्म का बोध होता है । इस बात को मन में रखकर पंचभूतों का विवेचन करने की भूमिका (उपोद्घात) बांधते हैं:—

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पञ्चभूतविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

---

*'था'—यह भूतकाल, काल की वासना से युक्त शिष्य को समझाने के लिए ही है ।

अन्वय—यत् सत् अद्वैतं श्रुतं तत् पंचभूतविवेकतः बोद्धुम् शक्यम् । ततः भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ।

सद्‌रूप अद्वैत ब्रह्म को पांच भूतों के विवेक से ही जाना जा सकता है; इसलिए पंचभूतों का ब्रह्म से अतिशय विवेचन करते हैं; अर्थात् उन्हें ब्रह्म से पृथक् करके दिखाते हैं ॥१॥

भूतों के गुण

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥२॥

अन्वय—शब्दस्पर्शौ, रूपरसौ, गन्धः इमे भूतगुणाः । व्योमादिषु क्रमात् एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणाः ।

आकाश आदि पांचभूतों का आपसी भेद गुण द्वारा जतलाने के लिए उनके गुणों का कथन करते हैं:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच-पांच भूतों के गुण हैं ।

क्या ये पांचों गुण सब भूतों के हैं या एक-एक भूत का एक-एक गुण ? इसका उत्तर देते हैं :—आकाश आदि पांचभूतों में क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पांच गुण हैं । आकाश में एक, वायु में दो, तेज में तीन, जल में चार और पृथ्वी में पांच गुण होते हैं ॥२॥

अगले श्लोकों में इसी बात विस्तार से कहा गया है :—

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम् ।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः ॥३॥
उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलबुलुध्वनिः ।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ।४।

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥
सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।

अन्वय–वियत्+शब्दः प्रतिध्वनिः; वायौः 'सीसी' इति शब्दनम्, अनुष्ण+अशीतसंस्पर्शः; वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः, उष्ण स्पर्शः प्रभारूपं; जले बुलुबुलुध्वनिः, शीतः स्पर्शः, शुक्लरूपं, माधुर्यं रसः ईरीतिम्; भूमौ कड़कड़ाशब्दः, काठिन्यं स्पर्शः इष्यते, नीलादिकं चित्ररूपं, मधुराम्लादिकः रसः, द्वौ सुरभीतरगन्धौ । गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।

आकाश में प्रतिध्वनि नाम का शब्द, ही एक गुण है। वायु में 'सीसी' ऐसा शब्द और अनुष्णाशीत (न गरम न ठण्डा) स्पर्शः, ये दो गुण हैं। अग्नि में 'भुगु भुगु' शब्द, गरम स्पर्श और भास्वर-रूप, ये तीन गुण हैं। जलमें 'बुलबुल' शब्द, शीत स्पर्श, शुक्लरूप और मधुर रस ये चारगुण हैं। पृथिवी में 'कड़ कड़' शब्द, कठिन स्पर्श, नीला-पीला आदि रूप, मीठा-खट्टा आदि रस और सुगन्ध-दुर्गन्ध दो गन्ध; ये पांच गुण हैं। इस प्रकार यह गुणों का विवेचन समाप्त हुआ ॥५॥

ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपञ्चकम् ॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं ॥६॥

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद् बहिर्मुखम् ॥

अन्वय–तत् क्रमात् कर्णादिगोलकस्थं शब्दादिग्राहकम् । सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयम् । तत् प्रायः बहिर्मुखं धावेत् ।

ये पांच ज्ञानेन्द्रियां कान आदि छिद्रों में रहती हैं और शब्द आदि गुणों को ग्रहण किया करती हैं।

इन्द्रियों के होने में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे इन्द्रियां अपंचीकृतभूतों से बनी होने से इतनी सूक्ष्म हैं कि दिखाई नहीं देती; केवल मात्र उनके कार्य से ही उनका अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान इस प्रकार होगाः—रूप का ज्ञान करण से जन्य है, क्योंकि क्रिया है; जो जो क्रिया है वह करण-जन्य होती है, जैसे छेदन-क्रिया। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय का अनुमान होता है। इसी प्रकार शब्द के ज्ञान आदि से कर्ण आदि अनुमान करना।

तत् प्रायः बहिर्मुखं धावेत्। अर्थात् वे पांचों इन्द्रियां बहुत करके बाह्य घट-पट आदि विषयों में दौड़ लगाया करती हैं। श्रुति ने बतलाया है—"परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः" ❀ परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है; इसलिए पुरुष बाहर की ओर देखता है, भीतर की ओर नहीं।"

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कभी-कभी आन्तर विषय का भी ग्रहण

'इन्द्रियां प्रायः बहिर्मुख होती हैं'—इससे यह सूचित होता है कि वे कभी-कभी आन्तर विषयों को भी ग्रहण करती हैं। इसका वर्णन करते हैं :—

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥८॥
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः ॥

❀ स्वयंभू नाम ब्रह्मा का भी है, परन्तु इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्मदेव से पूर्व ही सिद्ध है; अतएव यहां परमात्मा ही अर्थ है।

उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ॥९॥

अन्वय—कदाचित् कर्णौ पिहिते प्राणवायौ जाठराग्नौ आन्तरः शब्दः श्रूयते। जलपाने अन्नभक्षणे हि आन्तराः स्पर्शाः व्यज्यन्ते। मीलने च आन्तरं तमः, उद्गारे च रसगन्धौ इति अक्षाणाम् आन्तरग्रहः।

कभी-कभी कानों को हाथ आदि से ढांपने पर प्राणवायु और पेट की अग्नि का आन्तर (भीतरी) शब्द भी सुनाई देता है। जल पीते और अन्न खाते समय शीत-उष्ण आदि भीतर के स्पर्श प्रकट हो जाते हैं। आंख बन्द करने पर शरीर के भीतर का अन्धेरा दीख पड़ता है। डकार आने पर भीतर के रस तथा गन्ध दोनों का ग्रहण होता है। इस प्रकार ये इन्द्रियां भीतर के विषयों का ग्रहण भी किया करती हैं।

कर्मेन्द्रियों का व्यापार

ज्ञानेन्द्रियों के कार्य बता कर अब कर्मेन्द्रियों की सत्ता न मानने वाले नैयायिक आदि के सम्मुख कर्मेंद्रियों की सत्ता सिद्ध करनेके लिए, उनके व्यापारों का वर्णन करते हैं:—

पञ्चोक्त्याऽऽदानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति हि ॥१०॥

अन्वय—उक्ति+आदान-गमन-विसर्ग-आनंदकाः पञ्च क्रियाः हि कृषि वाणिज्य-सेवा-आद्याः पञ्चसु अंतर्भवंति।

वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द ये पांच क्रियाऐं प्रसिद्ध हैं। क्यों कि कृषि, वाणिज्य, सेवा (कूदना, दौड़ना) आदि सब क्रियाऐं इन्हीं पांच में आजाती हैं ॥१०॥

कर्मेन्द्रियां और उनके गोलक

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्तत्क्रियाजनिः।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ॥११॥

अन्वय—वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थैः अक्षैः तत्क्रियाजनिः । तत्कर्मेंद्रियपञ्चकम् मुखादि गोलकेषु आस्ते ।

वाक् आदि इन्द्रियों से वचन आदि क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । यहां भी, "वचन-क्रिया करणपूर्वक है, क्रिया होने से, जैसे छेदन क्रिया" इस प्रकार अनुमान समझना चाहिए ।

वे पांच कर्मेन्द्रियाँ मुख, हाथ, पैर, गुदाछिद्र और शिश्नछिद्र इन पांच गोलकों में स्थित हैं ।

दस इन्द्रियों के प्रेरक मन का वर्णन : उसका आन्तर इन्द्रियत्व ।

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ।१२।

अन्वय—मनः दश-इन्द्रिय-अध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्; तत् च इन्द्रियैः विना बाह्ये अस्वातंत्र्यात् अंतःकरणम् ।

मन, दस इन्द्रियों का प्रेरक होने से, उनका अधिपति है । और हृदयकमल रूप गोलक में स्थित है ।* वह मन इन्द्रियों के बिना बाह्य शब्द आदि विषयों में स्वतन्त्रता से प्रवृत्त नहीं होता, अतएव अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रिय कहलाता है ।

मन दस इन्द्रियों का अधिपति है, इसी को स्पष्ट करते हैं :—

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्‌गुणदोषविचारकम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्यगुणा, विक्रियते हि तैः ॥

अन्वय—अक्षेषु अर्थार्पितेषु एतत् (मनः) गुणदोषविचारकम् ।

---

*यद्यपि पादपीडा और शिरके सुख का, एकसाथ, ज्ञान होता है, और क्योंकि यह बोध मनसे सम्बन्ध हुए बिना सम्भव नहीं है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि मन का निवास सारे शरीर में है; केवल हृदय में नहीं है । तथापि विशेषतया हृदय में मन का मुख्य निवास है अतएव हृदय को मन का निवास-स्थान कहा है । जैसे दीपक का प्रकाश घरभर में है तथापि विशेषकर बत्तीवाले पात्र (दोये) में ही होने से वह उसका मुख्य स्थान है ।

सत्वं, रजः, तमः, च अस्य गुणाः, हि तैः विक्रियते ।

जब ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषय में लगी होती हैं तो, यह मन 'यह अच्छा है या बुरा' इस प्रकार गुण-दोष की विवेचना करता है । अभिप्राय यह हैः—(चिदाभाससहित) अन्तःकरणोपहित चेतन) आत्मा तो प्रमाज्ञान का आश्रय, अतएव, प्रमाता है; और चक्षु आदि इन्द्रियां रूपादि विषयों का ज्ञानमात्र उत्पन्न करती हैं; इसलिए गुण-दोष का विचार वे—आत्मा और इन्द्रियां—तो कर नहीं सकते; फिर प्रतीयमान यह गुण-दोष विचार कौन करता है ? यह बात दूसरी रीति से उपपन्न (सिद्ध) नहीं होती; अतएव इस गुणदोष विचार का कारण मन को स्वीकार करना पड़ता है ।

सत्त्व, रज और तम मन के ये तीन गुण हैं; क्योंकि इन से ही यह विकृत होता है ।

गुणों के भेद से विविध वृत्ति-रूप मन के विकार

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ॥
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।

अन्वय—वैराग्यं, क्षांतिः, औदार्यं, इत्याद्याः सत्वसम्भवाः; कामक्रोधौ, लोभयत्नौ, इत्याद्याः रजसा उत्थिताः; आलस्य-भ्रांति-तंद्राद्याः तमसा उत्थिताः ।

वैराग्य, क्षमा, औदार्य आदि शान्तवृत्तियां सत्वगुण से उत्पन्न होती हैं और काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर वृत्तियां रजोगुण से उत्पन्न होती हैं । आलस्य भ्रान्ति, तन्द्रा आदि मूढ वृत्तियां तमोगुण से उत्पन्न होती हैं ।।*

*शान्तवृत्तियां निम्न प्रकार हैं:—वैराग्य (त्याग की इच्छा अथवा इच्छा रहित होना); क्षमा, औदार्य (धनादिदान देने में निःसंकोचता);

गुण विकार का फल

सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत् ।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१६॥

अन्वय—सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः; च राजसैः पापोत्पत्तिः; तामसैः न उभयम्; किंतु वृथा आयुःक्षपणं भवेत् ।

सत्वगुणों से उत्पन्न वृत्तियों से पुण्य और रजोगुण से उत्पन्न

विवेक (नित्यानित्यवस्तु विचार), शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह), उपरतिः (त्यक्तविषय की अनिच्छा), तितिक्षा (शीतोष्ण आदि के सहन का स्वभाव); श्रद्धा (गुरुशास्त्रवचनमें दृढ़विश्वास), समाधान (सद्ब्रह्मरूप लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता), मुमुक्षुता (मोक्षकी इच्छा होना), तपः (अपने धर्म पर स्थिर रहना), सत्य (समदर्शन), दया, स्मृति, तुष्टि, (यथालाभ संतोष), त्याग (दानस्वभाव, अनुचित कर्ममें लज्जा), स्वनिर्वृतिः (आत्मामें प्रीति), अमानिता (आत्मश्लाघारहित होना), अदंभः, अहिंसा, क्षांति और आर्जव (सीधापन) यह दैवी सम्पत् है ।

घोर वृत्तियों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

काम (इच्छा), क्रोध वा द्वेष (संतप्तवृत्ति), लोभ, प्रयत्न (उत्साह विशेष), यज्ञादिव्यापार, मद (दर्प), तृष्णा, (लाभ में भी असन्तोष), स्तम्भ (गर्व), आशीः (धनादि की इच्छा से देव आदि से प्रार्थना), भेद, सुख (विषयानुभव), मन्दोत्साह, यश में प्रीति, हास्य, वीर्य, बल से उद्यम और राग (सुख में तृष्णा) यह आसुरी सम्पद हैं।

मूढ़ वृत्तियां निम्न प्रकार हैं:—

आलस्य (चाहते हुए भी काम के प्रति उत्साह का अभाव), भ्रान्ति (मोह), तंद्रा (निद्रा सहित आलस्य), प्रमाद, निद्रा (वृत्ति का लय), अप्रकाशः (अविवेक), अप्रवृत्ति, कृपणता, अनृत, हिंसा (पर पीड़ा), श्रम, कलह, शोक, (चिन्ता), विषाद (खेद), दीनता, आशा, भय और जड़ता ।

वृत्तियों से पाप उत्पन्न होता है। तामस वृत्तियों से कुछ भी (न पाप, न पुण्य) उत्पन्न नहीं होता, आयु व्यर्थ ही खप जाती है।

अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में "मैं" वृत्ति वाला ही कर्त्ता अर्थात् प्रभु है। इसीलिये लोक में कार्य के कर्ता को स्वामी कहते हैं।

जगत् की भौतिकता का निश्चय

इस प्रकार जगत् की स्थिति बतलाकर जगत् की भौतिकता के ज्ञान का उपाय बताते हैं—

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम्।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥१७॥

अन्वय—स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वं अतिस्फुटम्। अक्षादौ अपि शास्त्रयुक्तिभ्यां तत् अवधार्यताम्।

स्पष्ट, शब्द, स्पर्श आदि गुणों वाले घट-पट आदि वस्तुएं भूतों की कार्य हैं यह तो स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है, परन्तु इन्द्रिय आदि (आदि अर्थात् मन, मनोवृत्ति, प्राण और देह) भी भूतों के कार्य हैं, इसका निश्चय आगम और अनुमान प्रमाण से होता है। अर्थात् इन्द्रिय आदि भी भूतों से बने हुए हैं यह बात शास्त्र और युक्ति से निश्चित होती है। शास्त्र प्रमाण जैसे—अन्नमयं हि सौम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" आदि। अर्थात् "हे सौम्य ! निश्चय ही, मन, अन्नमय है; प्राण आपोमय है और वाणी तेजोमय है।" यहां अन्न शब्द से अन्न की उपादान पृथ्वी का भी ग्रहण है। अन्न के पापपुण्य-रूप सूक्ष्म भागसे मन बनता है। अन्न के अभाव में बालक का मन नहीं के बराबर होता है; अन्न सेवनसे ही वह बढ़ता है। फिर पृथ्वी के कार्यरूप चावल आदि

खाने से मन बढ़ता है और १६ दिन अन्न न खाने से मन नष्ट होता है; इसलिए मन पृथ्वी भूत का कार्य है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक में यह बात स्पष्ट की गई है।

इन्द्रियां भौतिक हैं; इसकी सिद्धि के लिए अनुमान इस प्रकार है :—श्रोत्र आदि इन्द्रियां भौतिक हैं; क्योंकि वे भूतों के अन्वय तथा व्यतिरेक की अनुसारी हैं; जो वस्तु जिस वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक की अनुसारी होती है, वह उस वस्तु का कार्य होती देखी गई है। जैसे मृत्तिका के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसारी घट, मृत्तिका का कार्य है। ऐसे ही श्रोत्र आदि इन्द्रियां भी भूतों के अन्वय तथा व्यतिरेक की अनुसारी हैं, इसलिए भूतों की कार्य हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी मन को भूतों का अन्वय-व्यतिरेकी बताया है–जैसे–"षोडषकलः सौम्य ! पुरुषः" अर्थात् पिंड तथा ब्रह्मांड में समाया, ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा पुरुष, अविद्या से अपने में आरोपित १६ कलाओं (अवयवों) वाला है। (वस्तुतः तो वह निष्कल है) [प्रश्न उपनिषद् के छठे प्रश्न में जो १६ कलाएं गिनाई गई हैं उनमें मन भी एक कला है; वह मन समष्टि प्राण (मिले हुए सूक्ष्म-भूतों का कार्य) है।] इसलिए मन भूतों के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसारी है। कर्मेन्द्रिय और प्राण आदि के विषय में भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार भूतों और उनके कार्य भौतिकों को पृथक्-पृथक् दिखलाकर, अब, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' की व्याख्या करते हुए, पहले 'इदम्' पद का अर्थ बतलाते हैं :—

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥

अन्वय—एकादशेन्द्रियैः युक्त्या शास्त्रेण अपि यावत् किंचित् जगत् अवगम्यते, एतत् इदं शब्दोदितं भवेत्।

ग्यारह (५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय और ११ वां मन) इन्द्रियों से शब्दादिविषयों, वचन आदि सब क्रियाओं और सुख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। युक्ति अनुमान प्रमाण का नाम है। शास्त्र शब्द प्रमाण को कहते हैं, इससे शब्दप्रमा के विषय परोक्ष स्वर्ग, धर्म आदि का ज्ञान होता है। 'अपि' शब्द से शेष उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों का ग्रहण होता है। इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है :—

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों के ज्ञान से जितना कुछ जगत् जाना जाता है (इन प्रमाणों का विषय प्रपंच है) वह 'सदेव'—इत्यादि श्रुति में आये 'इदं'* पद का अर्थ है।

---

* 'इदं' पद का अर्थ—"वर्तमान काल का सम्मुख देश से सम्बन्ध" होता है। इसलिए सब प्रमाणोंसे जन्यज्ञान का विषय, परोक्ष-अपरोक्ष, भूत-भविष्यत् और वर्तमान काल में होने वाले पदार्थ के रूप में विद्यमान समग्र प्रपंच 'इदं' शब्द का अर्थ नहीं हो सकता। परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर अथवा सर्वज्ञ उद्दालक की दृष्टि में सब पदार्थ प्रत्यक्ष सम्मुख देश में स्थित-से और सब कालों में एकरस दीखते हैं इस कारण वे सब वर्तमान ही हैं। इसलिए ईश्वर अथवा उद्दालक मुनि द्वारा उच्चारित इस श्रुतिमें आये 'इदं' पद का अर्थ सर्वकाल सम्बन्धी सर्वपदार्थ हैं

उक्त श्रुति का स्वरूप

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥१६॥

अन्वय—'इदं सर्वं सृष्टेः पुरा एकं एव अद्वितीयकम् सत् एव आसीत्; नामरूपे न आस्ताम्' इति आरुणेः वचः ।

अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र से कहा—यह प्रतीयमान जगत् सृष्टि से पूर्व (जैसा अब दीख रहा है वैसा नहीं था, किन्तु) एक ही—अद्वितीयरूप सत् कारण—था, उस समय नाम और रूप (आकार) कुछ नहीं थे ॥१६॥

इस श्रुति में 'एकम् एव अद्वितीयम्' ये तीन पद आये हैं वे सत् वस्तु में स्वगत आदि तीनों प्रकार के भेदों का निवारण करते हैं—कैसे ? यह बताने से पूर्व तीनों प्रकार के भेदों का वर्णन करते हैं—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥२०॥

अन्वय—वृक्षस्य पत्रपुष्पफलादिभिः स्वगतः भेदः, वृक्षान्तरात् सजातीयः शिलादितः विजातीयः ॥२०॥

'स्वगत' अर्थात् अवयवों से किये गये भेद का नाम स्वगत भेद है । वृक्ष का उसके पत्ते, फूल आदि से जो भेद है वह स्वगत भेद है । दूसरे वृक्ष से इसका भेद सजातीय है और पत्थर आदि विरुद्ध जाति वालों से जो भेद वह विजातीय भेद है ।

सदवस्तु में तीनों भेदों का अभाव

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥२१॥

अन्वय—तथा सद्वस्तुनः प्राप्तं भेदत्रयं ऐक्यावधारणाद्वैतप्रतिषेधैः त्रिभिः क्रमात् निवार्यते ।

अनात्म वस्तु की भांति सद्वस्तु भी वस्तु है, इसलिए सद्वस्तु में ये तीनों भेद होने चाहिएं; परन्तु श्रुति में आये 'एकता अवधारण और द्वैत का निषेध' इन तीन अर्थों के वाचक 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' ये तीन क्रमशः 'स्वगत' 'सजातीय' और 'विजातीय' भेदों को नहीं रहने देते ॥२१॥ इसी की व्याख्या आगामी श्लोकों में करते हैं :–

सद्वस्तु में स्वगतभेद का अभाव

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ॥२२॥

अन्वय—सतः अवयवाः न शंक्याः, तदंशस्य अनिरूपणात् । नामरूपे तस्य अंशौ न, तयोः अद्य अपि अनुद्भवात् ।

सत् वस्तु के भी अवयव होंगे ऐसी शंका मत करना क्योंकि उसके अंश का निरूपण (१) नहीं हो सकता । [स्वगतभेद होने के लिए अवयवों का होना आवश्यक है; परन्तु सद्वस्तु के अवयवों के स्वरूप का निरूपण–वे कैसे हैं ऐसा निर्णय–आज तक नहीं हो सका ।]

---

(१) सद्वस्तु जड़ हो तो सावयव बने; जड़ विनाशी होता है अतएव अविनाशी सद्वस्तु जड़ नहीं हो सकती; वह चेतन है । और चेतन वस्तु सावयव नहीं हो सकती । सद्वस्तु को सावयव मानने वाले उसके अवयवों को यदि चेतन तथा भिन्न मानें तो अद्वितीय की प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा; यदि चेतन और अभिन्न मानें तो उनका अवयव-अवयवी भाव नहीं बन सकता । यदि अवयवों को जड़ मानें तो उनसे बनी सद्वस्तु भी जड़ ही होगी । अतएव सत् के अवयव सिद्ध नहीं होते ।

नाम और रूप को सत् का अंश मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि अब तक अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व तक उन नाम और रूप की, उत्पत्ति ही नहीं होती ॥२२॥

सृष्टि से पूर्व नाम रूप का अभाव

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद् यथा वियत् ॥२३॥

अन्वय–नामरूपोद्भवस्य एव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा तयोः उद्भवः न । तस्मात् यथा वियत् सत् निरंशम् ।

नाम तथा रूप का उद्भव हो जाना ही 'सृष्टि' कहाती है । बस इसीसे यह समझ लो कि सृष्टिसे पहले नाम और रूप की उत्पत्ति नहीं हुई थी । इसीसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सद्वस्तु आकाश के समान निरवयव पदार्थ है :—सत् वस्तु स्वगतभेद से रहित होने के अयोग्य है, क्योंकि यह निरवयव है; जैसे आकाश ॥२३॥

सत् में सजातीय भेद का लक्षण

सदनन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४॥

अन्वय–सजातीयं सदन्तरं न, वैलक्षण्यवर्जनात् । नामरूपोपाधिभेदं विना सदः भिदा न एव ।

सत् में सजातीयभेद तभी सम्भव है जबकि दूसरा सजातीय सत् हो; वह दूसरा सत् होना सम्भव नहीं है; कारण यह है कि विलक्षणता नहीं है । दूसरे सत् पदार्थ में इस पदार्थ से कुछ विलक्षणता नहीं होती ।

यदि यह कहो कि 'घटसत्ता' 'पटसत्ता' इस प्रकार सब सत्ताओं मेंभेद प्रतीत होता है तो इसका उत्तर यह है कि नामरूपोपाधिभेद

विना सतः भिदा न एव'। इन में जो भी कुछ विलक्षणता दीख पड़ती है वह नामरूप की उपाधियों के भिन्न-भिन्न होने से ही है; सद्वस्तु में स्वभाव से कोई भेद नहीं है। अनुमान इस प्रकार का है:—सद्वस्तु सजातीयभेद से रहित है; क्योंकि उपाधिभेद के बिना उस में कोई भेद प्रतीत नहीं होता; जैसे आकाश में स्वतः कोई भेद नहीं होता, तो भी घट-मठ आदि उपाधियों के भेद से उसमें भेद की भ्रान्ति होने लगती है ॥२४॥

सत् में विजातीय भेद का अभाव

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

अन्वय–विजातीयं असत् तत् तु 'अस्ति' इति खलु न गम्यते। अतः अस्य प्रतियोगित्वं न, विजातीयात् भिदा कुतः ?।

यदि सत् का विजातीय से भेद हो तो सत् का विजातीय तो असत् होगा। भेद अन्योन्याभाव को कहते हैं। इस अभाव में एक अनुयोगी और दूसरा प्रतियोगी होता है। इन दोनों के ज्ञान के होने से ही अभाव का ज्ञान होता है; इसलिए ये अनुयोगी और प्रतियोगी सत्रूप ही होने चाहिएं। यहां सत् का प्रतियोगी तो 'असत्' है। अतएव 'वह है' ऐसा निश्चयपूर्वक इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए वह असत् प्रतियोगी भी नहीं बन सकता। तब भला सद्वस्तु में विजातीय वस्तु से भी भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

परिणाम

एकमेवाद्धितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन।

विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥२६॥

अन्वय—एकम् एव अद्वितीयम् सत् सिद्धम् । अत्र तु विह्वलाः केचन 'असत्' एव इदं पुरा आसीत्' इति अवर्णयन् ।

इस प्रकार एक ही अद्वितीय सत् ब्रह्म है, यह सिद्ध हो गया। परन्तु कुछ उन्मार्गगामियों ने इस सत् को यह 'नहीं था' यह कहा है । [यह शून्यवादियों का पूर्व पक्ष केवल इसलिये उद्धृत किया है कि सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार की अदृढ़ता न रह जावे । जैसे खूंटे को हिला डुलाकर देखते हैं कि मजबूत गड़ा है या नहीं वैसे ही अद्वितीयसत्रूप खूंटे को पूर्वपक्ष द्वारा हिलाकर फि‍र उसके समाधान से दृढ़ करते हैं ।]

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ॥२७॥

अन्वय—अब्धौ मग्नस्य अक्षाणि यथा विह्वलानि, तथा अस्य धीः अखण्डैकरसं श्रुत्वा अप्रचारा, अतः बिभेति ।

जैसे समुद्र में डूबते मनुष्य की इन्द्रियां व्याकुल हो घबरा जाती हैं वैसे इस असद्वादी का मन, अखण्डैकरसवस्तु को सुन, गति रहित होकर डरा करता है । साकारवस्तु में तो बुद्धि चलती है समुद्र के समान अखण्ड-एक-रस वस्तु में बुद्धि वैसी स्वतन्त्रता से प्रवृत्त नहीं होती । यही कारण है कि असद्वादी अपनी दुर्वासनाव‍श इस सद्वस्तु का नाम सुनकर ही चौंक उठते हैं ॥२७॥

व्यर्थविभीषिका के सम्बन्ध में गौड़पादाचार्य की सम्मति

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।

साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८॥

अन्वय—गौडाऽऽचार्याः साकारब्रह्मनिष्ठानां अन्ययोगिनां निर्विकल्पे समाधौ अत्यन्तं भयं ऊचिरे।

गौड़ाचार्य ने भी यह बात कही है कि, द्विभुज चतुर्भुज आदि साकारब्रह्म के उपासक योगियों को इस निर्विकल्प समाधि से बहुत भय लगा करता है ॥२८॥

उन गौड़पादाचार्य (१) के शब्द ये हैं :—

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दशः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

अन्वय—अस्पर्शयोगः नाम एषः (समाधिः) सर्वयोगिभिः दुर्दर्शः। हि योगिनः अभये भयदर्शिनः अस्मात् बिभ्यति।

यह जो (२) अस्पर्शयोग नाम की निर्विकल्प समाधि है उसका दर्शन, साकारब्रह्म का ध्यान करने वाले किसी भी योगी को नहीं हो सकता। क्योंकि ये द्वैतदर्शी योगी भयशून्य में भी, निर्जन स्थान में बालकों की भान्ति, डरते हैं और भयके कारण की कल्पना कर इस अस्पर्शयोगरूप निर्विकल्प समाधि से डरते हैं। इसलिए यह निर्विकल्प समाधि उन्हें दुर्लभ है ॥२९॥

श्री शङ्कराचार्य की सम्मति

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून्।
आहुर्माध्यमिकान्भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥३०॥

---

(१) श्री शंकराचार्य के गुरु श्री गोविन्दपादाचार्य के गुरु और श्री व्यासजी के पुत्र श्री शुकदेव जी के शिष्य।

(२) जिसका स्पर्श (सम्बन्ध) वर्णाश्रमादि धर्म, पापरूप मल अथवा किसी भी अनात्म वस्तु से नहीं होता और जो जीवको ब्रह्मभाव से जोड़ता है वह अद्वैत (ब्रह्म) का साक्षात्कार 'अस्पर्शयोग' नाम से प्रसिद्ध है।

अन्वय–भगवत्पूज्यपादाः च शुष्कतर्कपटून् अमून् माध्यमिकान् अचिन्त्ये अस्मिन् सदात्मनि भ्रान्तान् आहुः ।

और भगवान् पूज्यपाद (१) श्री शंकराचार्य जी ने भी सूखे तर्ककुशल (२) इन माध्यमिकों (माध्यमिकमत के अनुयायी शून्यवादी बौद्धों) को अचिन्त्य सदात्मा के विषय में सदा भ्रम में रहने वाला बताया है ॥३०॥

श्री शङ्कराचार्य नें इस सम्बन्ध में कहा है :—

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥६१॥

अन्वय–तमस्विनः अनुमानैकचक्षुषः इमे बौद्धाः मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य निरात्मत्वम् आपेदिरे ।

ये तमोगुणी (अज्ञानी) बौद्ध अपनी मूर्खता से अर्थात् अल्पज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ मानते हुए, श्रुति की बात को न मानकर निःस्वरूप शून्यभाव–निरात्मवाद–को मान बैठे हैं; क्योंकि वे शास्त्र को छोड़ कर मुख्यतया अनुमान की ही आंख से देखते हैं ॥३१॥

असद्वाद मानने का दोष

शून्यमासीदितिब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।

---

(१) ऐश्वर्य सम्पन्न राजा आदि, अथवा, पादपद्मादिविष्णु आदि के अवतार जिनके चरणों को पूजते हैं; अथवा भगवत् गोविन्दपाद के चरण जिनके पूज्य हैं—वे शङ्कराचार्य ।

(२) श्रुति के अविरुद्ध को सुतर्क और श्रुतिविरुद्ध को कुतर्क कहते हैं । कुतर्क रसहीन और निष्फल होने के कारण शुष्कतर्क कहलाता है ।

शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥३२॥

अन्वय—"शून्यम् आसीत्" इति सद्योगं ब्रूषे वा सदात्मताम् ? तत् उभयं शून्यस्य व्याहतत्वतः न तु युक्तम् ।

हे शून्यवादी ! यह तो बता कि 'शून्य था' इस तेरे अपने वाक्य में तू शून्य के साथ 'सत्ता जाति' (होना) का योग मानता है या शून्य को सदात्मा' (सत्स्वरूप) ही मान लेता है ? शून्य के ये दोनों ही पक्ष सिद्ध नहीं होते, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में व्याघात दोष आता है । [उस शून्य को असत् भी कहता है और फिर उसको अन्धकार युक्त अथवा अन्धकाररूप सूर्य की भान्ति सत् सम्बन्धी वा सत्रूप भी कहता है । इसलिए व्याघातदोष है ।] इसलिए न तो शून्य के साथ सत्ता का सम्बन्ध सम्भव है और न शून्य कभी सद्-रूप ही हो सकता है ॥३२॥

उदाहरण द्वारा व्याघात का समर्थन

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥३३॥

अन्वय—सूर्यः तमसायुक्तः न, च असौ तमोमयः अपि न । सत्-शून्ययोः विरोधित्वात् 'शून्यं आसीत्' कथं वद ?"

जैसे सूर्य न तो अन्धकार से युक्त हो सकता है और न वह कभी तमोमय ही हो सकता है; ऐसे ही सत् और शून्य का पर-स्पर विरोध है इसलिए, हे शून्यवादी ! यह बता कि 'शून्य था' यह तेरा वचन कैसे बनता है ? व्याघातदोष के कारण तेरा यह कथन सर्वथा असंगत है ।

(शंका) यदि यह कहो कि वेदान्त के सिद्धान्त में भी निर्विकल्प ब्रह्म

में आकाश आदियों की सत्ता संगत नहीं होतीं; इसका उत्तर देते हैं:—

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

अन्वय–वियत् आदेः नामरूपे मायया सुविकल्पिते शून्यस्य नामरूपे च तथा चेत्, चिरं जीव्यताम् ।

आकाश आदि के नाम तथा रूप तो सत् में माया द्वारा कल्पित हैं और यदि बौद्ध कहे कि इसी प्रकार शून्य के नामरूप भी कल्पित हैं; तब तो भाई ऐसा कहने वाला बौद्ध जुग-जुग जीवे; अर्थात् इस प्रकार तो वह ठीक सिद्धान्त पर ही आ गया । (अपने सिद्धान्त को छोड़कर वेदान्त के सिद्धान्त को मानने वाले बौद्ध का यह उपहास ही है) ॥३४॥

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सब जगत् मिथ्या है;–"आकाश है" इत्यादि रूप में जो सत्ता दीख रही है वह इसलिए कि अधिष्ठान (यहां सद्ब्रह्म) का धर्म अध्यस्त पदार्थ (यहां आकाश) में प्रतीत हुआ करता है । इसी प्रकार यदि बौद्ध भी शून्य की सत्ता को माने तो फिर सिद्धान्त का कोई अन्तर नहीं है ।

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

अन्वय—सतः अपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत् ? तदा कुत्र ? इति वद । निरधिष्ठानः भ्रमः क्वचित् न ईक्ष्यते ।

यदि शून्यवादी यह कहे कि यों तो सत् के नाम-रूप भी कल्पित हैं; क्योंकि वेदान्तमत में वास्तविक नामरूप तो होते ही नहीं । ऐसा कहने वाले शून्यवादी से सिद्धान्ती पूछता है–हे शून्यवादी ! यह तो बता कि सत् के नामरूप किस-किस में कल्पित हैं ?

यहां तीन पक्ष सम्भव हैं। (१) या तो वे सत् अधिष्ठान में कल्पित हों। अथवा (२) असत् में अथवा (३) जगत् में। प्रथमपक्ष तो बनता ही नहीं है क्योंकि रजत आदि नामरूप की कल्पना उससे भिन्न शुक्ति आदि में दीख पड़ती है। इसलिए सत् के नामरूप की कल्पना सत् में ही नहीं हो सकती। असत् की तो सत्ता ही नहीं है इसलिए भ्रम का अधिष्ठान ही जब नहीं है तो भ्रम (असत् में नामरूप की कल्पना) किसमें हो ? तीसरा पक्ष भी नहीं सिद्ध होता क्योंकि सत् से पैदा हुआ जगत्, 'सत्' के नाम रूप का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

यदि यह कहो कि बिना अधिष्ठान के ही नामरूप की कल्पना क्यों नहीं कर लेते ? उत्तर देते हैं कि अधिष्ठान रहित भ्रान्ति कभी कहीं नहीं दीख पड़ी।

वादी की एक शंका और उसका उत्तर

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत्।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ।३६।

अन्वय—'सत् आसीत्' इति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत्; अभेदे पुनरुक्तिः स्यात् ? एवम् मा। लोके तथा ईक्षणात्।

(शंका) 'असदेवेमग्र आसीत्' शून्यवादी के इस पक्ष में जैसे व्याघात दोष दिखाया है वैसे ही "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य में भी एक बड़ा दोष है। यह बताओ कि 'सत् आसीत्—अर्थात् :"सत् था" इस वाक्य में 'सत् और था' इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं या नहीं ? यदि कहो शब्दार्थ भिन्न है तब तो सिद्धान्त-भंगरूप विगुणता अर्थात् विरुद्धता आ जाती है—अद्वैत-वाद ही तब नहीं ठहरता। यदि अर्थ को अभिन्न मानो तो पुनरुक्ति-

दोष है। (उत्तर) यहां अर्थ अभिन्न है; और पुनरुक्ति दोष इसलिए नहीं है कि लोक में समनार्थक शब्दों का प्रयोग देखा जाता है।

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम्।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥३७॥

अन्वय–कर्तव्यं कुरुते, वाक्यं ब्रूते, धार्यस्य धारणम्; इत्यादि-वासनाविष्टं प्रति 'सत् आसीत्' इति ईरणम्।

इसी का उदाहरण देते हैं—कर्तव्य करता है; वाक्य बोलता है; धार्य धारण करता है, आदि (इसी प्रकार खेंच-खेंच-अहो-अहो, मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो आदि प्रयोग) समानार्थक दो-दो शब्दों का प्रयोग करने की वासना जिन श्रोताओंके कान में बैठी हुई है उनके प्रति श्रुति ने उनके मुहावरे में यह कह दिया कि उस समय 'सत् ही था' ॥३७॥

(शंका) अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें जब, काल का ही अभाव है तो, सृष्टि से 'पूर्व सत् था' ऐसा कथन अयुक्त है ? उत्तर देते है :–

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम्।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते ।३८।

अन्वय–कालाभावे 'पुरा' इति उक्तिः कालवासनया युतम् शिष्यं प्रति एव। तेन अत्र द्वितीयं न हि शंक्यते।

काल के अभाव में भी 'पहले हुआ' श्रुति का यह कथन भूत, भविष्य आदि रूप कालवासनासे युक्त शिष्य या श्रोताके लिए कहा गया है, वास्तविकता के अभिप्राय से नहीं है।

जगत् की उत्पत्ति से पहले जगत् का प्रागभाव था; अतएव ब्रह्म सद्वितीय था अर्थात् दूसरा ब्रह्म है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि श्रुति का यह कथन तो द्वैत के संस्कार रूप वासनाओं वाले श्रोता को समझाने के लिए है; इसमें दूसरे ब्रह्म के होने की

शंका नहीं करनी चाहिए ॥३२॥

सिद्धान्त-रहस्य

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३९॥

अन्वय—चोद्यं वा परिहारः वा द्वैतभाषया क्रियतां, अद्वैतभाषया चोद्यं न अस्ति । तदुत्तरं अपि न ।

आक्षेप और परिहार अर्थात् शंका और समाधान तो द्वैतभाषा (अज्ञान की दृष्टि से आरोपित द्वैत को प्रत्यक्ष करने की भाषा) में, अर्थात् व्यवहार-दशा में—ही सम्भव हैं; अद्वैत-भाषा में अर्थात् परमार्थ से तो अद्वैत ही यथार्थ वस्तु है ॥३९॥

स्मृति का प्रमाण

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

अन्वय—तदा स्तिमतगम्भीरं, न तेजः, न तमः, ततं, अनाख्यम् अनभिव्यक्तम् सत् किंचित् अवशिष्यते ।

स्मृति में कहा है कि क्रिया-रहित, गम्भीर (दुरवगाह्य: मन का अविषय), तेज से भिन्न (तेजस्त्व जाति का आश्रय) और तेज के विरोधी तम से भिन्न (अनावरण स्वभाव), व्यापक, अकथनीय, अप्रकट (इन्द्रियों का अविषय) और सत् अर्थात् शून्य से भिन्न, किंचित् अर्थात् 'यह' शब्दसे अभिधेय कुछ पदार्थ शेष रह जाता है । सम्पूर्ण द्वैत का निषेध करते-करते, निषेध की अवधि के रूप में जो तत्व शेष रह जाता है—जिसका निषेध नहीं हो सकता; वह शेष रहा तत्व "सत्" है ॥४०॥

एक शंका

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ।

कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ।

अन्वय—ननु परमाण्वन्तनाशतः भूम्यादिकं मा भूत्, वियतः असत्वं ते बुद्धि कथं आरोहति इति चेत् ?

परमाणुपर्यन्त पदार्थों का नाश हो जाने के कारण भूमि, जल, वायु और अग्नि न रहें, यह तो हम मान सकते हैं परन्तु नित्य आकाश का न रहना तुम कैसे मान लेते हो ?

उक्त शंका का समाधान

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

अन्वय—अत्यन्तम् निर्जगद् व्योम यथा ते बुद्धि आश्रितम् तथा एव निराकाशं सत् मति कुतः न आश्रयते ?

हे वादिन् ! जैसे तेरी बुद्धिमें यह आया हुआ है कि यह आकाश सम्पूर्ण जगत् से रहित भी हो सकता है वैसे ही कुछ और अधिक आगे बढ़कर तू यह भी क्यों नहीं समझ लेता कि सद्वस्तु भी बिना आकाश को हो सकती है ।

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥

अन्वय—निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्, प्रकाशतमसी विना क्व दृष्टम् ? किं च, ते पक्षे वियत् प्रत्यक्षं न ।

यदि यह सोच कर कि देखे हुए पदार्थ को असम्भव कैसे मान-लूं, यह कहे कि आकाश को जगत् से रहित देखा है; यह कहना भी तेरा असिद्ध है क्योंकि सूर्य आदि के प्रकाश और अन्धकार के सिवा अकेले आकाश को तुमने देखा ही कहां है ? इन दोनोंके बिना आकाश कभी रहता ही नहीं है ।

[सूर्यादि के प्रकाश और अन्धकार दोनों के सम्बन्ध से रूपरहित आकाश में भ्रान्ति से नीलापन प्रतीत होता है। यह नीलता ही दिखाई देती है, आकाश नहीं। आकाश में इस नीलता का आरोप करके वादी 'मैंने आकाश देखा है' ऐसा कहता है। वस्तुतः प्रकाश और अन्धकार के बिना आकाश की प्रतीति नहीं होती।]

फिर तेरे सिद्धान्त में तो आकाश इन्द्रियगोचर भी नहीं है।*

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥

अन्वय—शुद्धम् सद्वस्तु तु निश्चितैः अस्माभिः तूष्णीं स्थितौ अनुभूयते। च शून्यबुद्धेः वर्जनात् शून्यत्वं न।

सद्वस्तु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह दीखती नहीं है; क्योंकि उस (सद्वस्तु) को निश्चयवान् हम लोग, विकल्परहित उदासीन दशा में, चुप बैठकर अनुभव किया करते हैं।

(प्रश्न) चुपचाप मौन की स्थिति में तो शून्य ही है; क्योंकि दूसरी कोई और वस्तु भी उस अवस्था में प्रतीत नहीं होती।

(उत्तर) मौन हो जाने पर, दूसरी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिए शून्य ही रह गया, ऐसा समझना ठीक नहीं है;

---

*शून्यवादीके मतमें आकाश आवरण के अभाव का अधिकरण सिद्ध होता है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है। न्यायके मतमें उद्भूत रूपवाली पृथिवी, जल और तेज द्रव्य का नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। उद्भूत रूप और स्पर्श वाले पृथिवी, जल और तेज का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्र, रसना और घ्राण इन इन्द्रियों से द्रव्य का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता; केवल एक-एक गुण का ग्रहण होता है। आकाश रूप-स्पर्श गुणवाला है नहीं इसलिए आकाश प्रत्यक्ष नहीं होता।

क्योंकि शून्य को शून्य की प्रतीति नहीं हो सकती। [यहां यह रहस्य है कि यद शून्य का ज्ञान सम्भव है तो शून्य का जानने वाला भी होगा इसलिए शून्य अर्थात सब का अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि यह मानें कि शून्य का ज्ञान नहीं होता तो भी साक्षिरहित शून्य सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि निस्फुरणरूप मौन दशा में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिए शून्य के भी ज्ञान के अभाव से तब शून्य नहीं है] ॥४४॥

स्वगोचर बुद्धि न होने पर भी सद्वस्तु का ज्ञान

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति माऽस्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥

अन्वय—सद्बुद्धिः अपि न अस्ति चेत् ? अस्य स्वप्रभत्वतः मा अस्तु। निर्मनकस्त्वात् सन्मात्रं नृणाम् सुगमम्।

यदि कहो कि समाधि अवस्था में सद्बुद्धि भी नहीं रह जाती है–उस समय यह ध्यान भी नहीं रहता कि सत् नाम की भी कोई वस्तु इस संसार में है–तो, इसका उत्तर यह है कि उस समय सद्-बुद्धि चाहे न रहे, पर यह सत् तत्त्व तो स्वयंप्रकाश पदार्थ है; यह चाहे बुद्धि का विषय न भी रहे तो भी इसका ज्ञान तो होता ही है।

वह सद्वस्तु उस समाधि अवस्था की, निर्मनस्कस्थिति की, साक्षी होती है; इस कारण निर्मनस्कस्थिति को जानने वाले (साक्षी) के रूप में सन्मात्रवस्तु का परिज्ञान होना मनुष्यों को सुगम है ॥४५॥

इस प्रकार समाधि-अवस्था में प्रपंचरहित साक्षी प्रत्यगात्मा का ज्ञान होना दिखाकर, सृष्टि से पहले भी सद्वस्तु का ज्ञान ऐसे ही

सम्भव है, यह दर्शाते हैं:—

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥४६॥

अन्वय—मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः तथा एव मायाजृम्भणतः पूर्वं सत् निराकुलम्।

मनोव्यापार न होने की अवस्था में जैसे साक्षी (आत्मा) निराकुल (मन के संकल्पविकल्परूप विक्षेप से रहित) होता है, वैसे ही, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रलय अवस्था में भी जब कि माया का परिणामस्वरूप कार्य (जृम्भण) नहीं हो पाया था, तब सद्ब्रह्म अव्याकुल (माया के कार्य स्थूल-सूक्ष्म-प्रपंचरूपविक्षेप से रहित) था ॥४६॥

माया का लक्षण

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा॥

अन्वय—निस्तत्वा कार्यगम्या अस्य शक्तिः माया, अग्निशक्तिवत्। कैश्चित् क्वचित् कार्यतः पुरा शक्तिः न हि बुध्यते।

जगत् के कारणभूत वस्तु-ब्रह्म से पृथक् (तत्त्व) वास्तविकता जिसकी नहीं है, आकाश आदि कार्यभूत लिङ्गों से जिसकी पहचान* होती है और जो सद्वस्तु की शक्ति है—आकाश आदि कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्यरूप है, उसको 'माया' कहते हैं।

जैसे अग्नि आदि शक्तिमान् के अपने स्वरूप से भिन्न, शक्ति उसमें रहती है जिसका अनुमान स्फोट आदि से होता है; ऐसे ही माया सद्वस्तु की शक्ति है।

'कैश्चित् क्वचित् कार्यतः पुरा शक्तिः न हि बुद्धयते' क्योंकि कोई

---

*माया अनुमान प्रमाण से जानी जाती है। यहां अनुमान इस प्रकार

भी कभी कार्य की उत्पत्ति से पहले शक्ति को नहीं जान सकता। इसलिए शक्ति कार्यरूप लिंग से ही पहचानी जाती है ॥४७॥

माया की निस्तत्त्वरूपता

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वन्हेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ॥

अन्वय—सद्वस्तु सतः शक्तिः न। हि वन्हेः स्वशक्तिता न। सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्वं उच्यताम्।

यह सत् की शक्ति सत्-रूप हो सकती है अथवा असत्-रूप। इनमें प्रथम पक्ष नहीं है अर्थात् वह सत् की शक्ति, सद्वस्तु ही हो यह नहीं हो सकता, क्यों कि यदि सत् से अभिन्न होगी तो सत् की शक्ति क्यों कर होगी ? देखते हैं कि अग्नि स्वयं अपनी शक्ति नहीं होती। यदि अग्नि ही अग्नि की शक्ति हो तो, मणिमन्त्र आदि प्रतिबन्धों के कारण जो दाह नहीं होता अथवा प्रतिबन्ध के निरोधक मणिमंत्र ओषधि आदि उत्तेजक की विद्यमानता में, प्रतिबन्ध के रहते भी जो दाह होता है वे दोनों ही नहीं होने चाहिएं। इन दोनों अवस्थाओं को देखते हुए यह मानना पड़ता है अग्नि की दाहादि की शक्ति अग्निरूप नहीं, अग्नि से भिन्न है।

यदि सत् ही शक्ति को सत् से भिन्न असत् मानें तो उसका स्वरूप बताना चाहिए कि वह कैसा है ? असत् के दो अर्थ हैं:—(१) एक निस्वरूप–शून्य–और (२) दूसरा बाधयोग्य स्वरूपवान्–

होगाः— आकाश आदि प्रपंचरूप कार्य, अपने कारण विवर्तोपदानब्रह्म में स्थित शक्तिसे जन्य है; कार्य होने से; प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण में स्थित शक्ति से जन्य है। अग्नि में स्थित शक्तिसे जन्य विस्फोट आदि कार्य की भान्ति और मृत्तिका में स्थित शक्ति से जन्य घट आदि कार्य की भान्ति।

मिथ्या। यदि सत् की शक्ति असत् है तो इन में से उनका स्वरूप कौन सा है ?

माया की सदसदनिर्वचनीयता

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥

अन्वय—शून्यत्वं इति चेत् शून्यं मायाकार्यम् इति ईरितम्। शून्यं न। सत् अपि न। यादृक् तत्वम् तादृक् इह इष्यताम्।

यदि उस शक्ति का स्वरूप शून्य (निःस्वरूप) बताया जाय तो शून्य तो माया का कार्य है (देखो इसी प्रकरण का ३४ वां श्लोक)। इस कारण यही कहना पड़ता है कि वह माया न तो नरशृङ्ग की भान्ति निःस्वरूप ही है और न अबाध्य (सत्य) ही है। यदि तुम ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्त्व समझ सकते हो तो वैसा तत्त्व माया को समझ लो। उस माया का निर्वचन सत् अथवा असत् इन दोनों शब्दों से नहीं हो सकता; इसलिए उसको सदसदनिर्वचनीय कहा है ॥४९॥

श्रुति का प्रमाण

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः।
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ।५०।

अन्वय—तदानीं न असत् आसीत, नो सत् आसीत्, किन्तु, तमः अभूत्। सत्+योगात् तमसः सत्वम्; न स्वतः, तन्निषेधनात् ॥

'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इस श्रुति ने भी इस बात का अनुमोदन किया है। इस का अभिप्राय यह है कि 'उस समय न तो सत् था और न असत् था; सब तम ही तम (अज्ञान) था। अज्ञान-पद की वाच्य मायाकी सदसदनिर्वचनीयता में ये श्रुतियां प्रमाण हैं।

सत् अधिष्ठानरूप, ब्रह्मके कल्पित तादात्म्य सम्बन्धसे ही अज्ञान

में सत्ता आ जाती है; स्वभाव से सत्ता अज्ञान में नहीं है। क्योंकि श्रुति ने अपने मुख से उसके सत् होने का स्पष्ट निषेध कर डाला है ॥५०॥

माया की द्वितीयता अमान्य

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते।
न लोके चैत्रतच्छक्त्यो र्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥

अन्वय—अतः एव शून्यवत् द्वितीयत्वं न हि गण्यते। लोके चैत्रतच्छक्त्योः जीवितं पृथक् न लिख्यते।

इस सब का निष्कर्ष यह है कि क्योंकि माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, इसलिए जैसे शून्य को दूसरा पदार्थ नहीं गिना जाता इस प्रकार माया को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं गिना जाता। लोक में भी शक्तिमान् पुरुष और उसकी कार्य करने की आजीविका रूप सामर्थ्य का पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता ॥५१॥

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत्।
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२॥

अन्वय—शक्ति+आधिक्ये जीवितं वर्धते चेत् ? तत्रवृद्धिकृत् तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकम्, न शक्तिः।

(शंका) परन्तु शक्ति के अधिक होने पर आजीविका बढ़ जाती है; यह देखकर प्रतीत होता है कि शक्ति पुरुष से पृथक् है। (उत्तर) आजीविका की वृद्धि का कारण शक्ति नहीं अपितु खेती, व्यापार, सेवा आदि हैं। इस प्रकार माया शक्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित्।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥

अन्वय—शक्तिमात्रस्य सर्वथा पृथक्गणना क्वचित् न। शक्तिकार्यं तु नैव अस्ति; द्वितीय कथं शङ्क्यते ?

केवल शक्ति की अलग गिनती कहीं नहीं होती। यदि यह कहो कि मायाशक्ति से द्वितीय ब्रह्म को न मानो परन्तु मायाशक्ति से कार्यों (स्थूल सूक्ष्म प्रपंच) के कारण तो ब्रह्म द्वितीय (पृथक्) मानना पड़ेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उस प्रलयकाल में शक्ति का कार्य नामरूप भी कुछ नहीं हैं। फिर दूसरे के होने की आशङ्का क्यों करते हो ? प्रलयकाल में ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों होते हैं परन्तु शक्ति की गिनती ब्रह्मसे पृथक् नहीं की जाती। सृष्टि रचना के पश्चात् शक्ति के नाना कार्य हो जाते हैं; परन्तु सृष्टि रचना के पीछे के कार्यों से, सृष्टिरचना के पूर्वकाल में द्वितीयपन कैसे आयेगा ?

सच्छक्ति की एकदेशता

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किं त्वेकदेशभाक्।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४॥

अन्वय—सा शक्तिः कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः न, किन्तु एकदेशभाक्; यथा भूमौ घटशक्तिः स्निग्धमृदि एव वर्तते।

माया शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में है या उसके एक देश में। यदि सम्पूर्ण ब्रह्म में मानेंगे तो मुक्तों की प्राप्तिके योग्य शुद्ध ब्रह्म (१)ही नहीं रहेगा। यदि एक देशमें शक्ति मानें तो ब्रह्म को निरवयव कैसे मानोगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्ममें नहीं रहती, शक्ति एकदेशीहै। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति सारी पृथ्वी में नहीं अपितु उसके एकदेश—एक अवयव, चिकनी मिट्टी रूप—में ही रहती है ॥५४॥

---

(१) वेदान्त—सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानी को माया-अविद्या-आदि प्रपञ्च-रहित शुद्धब्रह्म की प्राप्ति होती है। यदि माया सम्पूर्ण ब्रह्म में मानो तो मायाविशिष्ट हो जाने के कारण ब्रह्म शुद्ध कैसे रह सकेगा ?

शक्ति की एकदेशता में प्रमाण

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

अन्वय–अस्य पादः सर्वाभूतानि त्रिपाद् स्वयंप्रभः अस्ति इति श्रुतिः मायाया एकदेशवृत्तित्वम् वदति।

"सम्पूर्णभूत इसके एक-चतुर्थांश में ही हैं–इसका तीन चौथाई अंश अब भी स्वयंप्रकाश है" इस श्रुति (यजुर्वेद अ० ३१) के आधार पर ब्रह्म की माया उसके एकदेश में ही रहती है ॥५५॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥

अन्वय–"अहं इदं कृत्स्नं जगत् एक+अंशेन विष्टभ्य स्थितः" इति कृष्णः अर्जुनाय जगतः एकदेशताम् आह।

"हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर इस सम्पूर्ण, परिदृश्यमान जगत् को अपने एक अंश से धारण किये हुए हूँ" यह कह कर गीता में भगवन् कृष्ण ने भी जगत् की एकदेशता अर्थात् ब्रह्म के एकदेश में रहने की बात कही है ॥५६॥

ब्रह्म के निर्माय स्वरूप में प्रमाण

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥५७॥

अन्वय–सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलं अति+अतिष्ठत्। 'विकरावर्ति' च अत्र श्रुतिसूत्रकृतोः वचः अस्ति।

"उस परमात्मा ने भूमि, अर्थात् प्रपञ्च को सब ओर से लपेट लिया है, फिर भी उससे दस अंगुल बाहर निकला हुआ है।" यह श्रुतिका और विकरावर्ति अर्थात् 'विकाररूप कार्यप्रपञ्च से पृथक् है' यह सूत्रकार व्यास भगवान् का वचन है। ये दोनों वचन

इस बात में प्रमाण हैं कि ब्रह्म का मायारहित स्वरूप भी है ॥५७॥

श्रुति का अभिप्राय

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८॥

अन्वय—श्रोतृहितैषिणी श्रुतिः कृत्स्ने अंशे वा इति पृच्छतः तद्+भाषया निरंशे अपि अशं आरोप्य उत्तरं ब्रूते।

ब्रह्म है तो वास्तव में निरंश, परन्तु श्रोताओं का हित चाहने वाली श्रुति ने शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में रहती है या अंश में ? इस प्रकार का प्रश्न करने वाले श्रोता को उसकी भाषा में उत्तर देने के लिए निरंश में अंश का आरोप करके उसकी भाषा में ही उत्तर दिया है; वस्तुतः तो ब्रह्म निरवयव है ॥५८॥

सद्ब्रह्म और पंचमहाभूतों का विवेक; शक्तिवर्णन का प्रयोजन

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥

अन्वय—यथा भित्तिगताः वर्णाः भित्तौ नानाविधम् चित्रम्, (तथा) सत्तत्वं समाश्रिताः शक्तिः सति विक्रियाः कल्पयेत्।

जैसे भीतपर पोते हुए पीले, लाल, नीले आदि रंग भीत पर अनेक प्रकार के चित्रों को अङ्कित कर देते हैं वैसे ही सत्-तत्त्व में रहने वाली माया, उस सत्तत्त्व में विक्रिया अर्थात् विविध कार्य-विशेषों को उत्पन्न किया करती है ॥५९॥

माया का प्रथम कार्य

आद्यो विकारः आकाशः सोऽवकाशः स्वरूपवान्
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति

अन्वय—आद्यः विकारः आकाशः; स अवकाशः स्वरूपवान्। आकाशः 'अस्ति' इति सत्+तत्वं आकाशे अपि अनुगच्छति।

शक्ति का पहला विकार–कार्य–आकाश है, वह अवकाश-स्वरूप है। "आकाश" यह कहना ही बता रहा है कि सत्त्व आकाश में भी अनुगत हो रहा है : आकाश ब्रह्म का विवर्त्तक कार्य है। [यदि आकाश सत् से बना न होता तो 'आकाश है' में आकाश के साथ होना [सत्ता] का योग कैसे होता ?] ॥६०॥

एकस्वभावं सत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥

अन्वय–सत्वं एकस्वभावम्, आकाशः द्विस्वभावकः; सति अवकाशः न, व्योम्नि च एषः अपि, द्वयं, स्थितम्।

सत् वस्तु एक (सत्तारूप)—स्वभाववाली है और आकाश दो स्वभावला है। सद्वस्तु में 'अवकाश' नहीं है—केवल अकेला सत्-स्वभाव ही है; आकाश में वह–सत्स्वभाव–और यह–अवकाश स्वभाव दोनों हैं ॥६१॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥

अन्वय–यद्वा प्रतिध्वनिः व्योम्नः गुणः, असौ सति न ईक्ष्यते। व्योम्नि सद्ध्वनी–द्वौ; तेन सत् एकं, वियत् द्विगुणम्।

अथवा इसी विषयको यों समझो कि प्रतिध्वनिरूपशब्द आकाश का गुण है : यह प्रतिध्वनिगुण सद्वस्तु में नहीं पाया जाता। आकाश में सत् और ध्वनि दोनों हैं; इस प्रकार सत् एक स्वभाव वाला और आकाश दो स्वभाव का है ॥६२॥

सत् और आकाश का मायाकृत विपरीत धर्मधर्मिभाव

यदि आकाश सत्ब्रह्म का कार्य है तो 'आकाश की सत्ता' यह सत् आकाश का धर्म कैसे प्रतीत होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं :–

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम्।
आपद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥६३॥

अन्वय—या शक्तिः व्योम कल्पयेत् सा सद्व्योम्नोः अभिन्नतां आपद्य व्यत्ययेन धर्मधर्मित्वं कल्पयेत्।

जिस माया शक्ति ने सत्वस्तु में आकाश की कल्पना की है वही शक्ति पहले सत्वस्तु और आकाश के अभेद की कल्पना करती है और पश्चात् विपरीत रूप से धर्म और धर्मीभाव की कल्पना करती है अर्थात् आकाश को धर्मी और सत् को धर्म बना देती है। सत्रूप जो धर्मी (आधार) है उसको धर्म (आश्रित) और आकाशरूप धर्म (कल्पित आश्रित) को धर्मी (आश्रय) कल्पित कर लेती है। इस प्रकार आकाश की सत्ता का भान होता है ॥६३॥

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥

अन्वय—लौकिकाः सतः व्योम्नत्वं आपन्नं, च तार्किकाः व्योम्नः सत्तां अवगच्छन्ति; तत् हि मायायाः उचितम्।

वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है जैसे मिट्टी घटाकार हो जाती है इसी प्रकार सत् ही आकाशभाव को प्राप्त हो गया है। लौकिक जन ऐसा ही जानते हैं। परन्तु नैयायिक इससे विपरीतरूप में आकाशरूप धर्मी की सत्ता को और सत्रूपधर्ममय सत्ता को मानते हैं। यह विपरीतरूप में दिखाने का कारण माया में विद्यमान है ही ॥६४॥

माया की विपरीत प्रतीति की कारणता का समर्थन

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

अन्वय—यत् यथा वर्तते तस्य तथात्वं मानतः भाति, अन्यथा त्वं भ्रमेण; इति अयं न्यायः सार्वलौकिकः।

जो वस्तु (सीप आदि) जिस रूप में रहती है उसका यथार्थरूप तो प्रमाण से ज्ञात होता है और उसी का दूसरा अयथार्थरूप भ्रान्ति से ज्ञात होता है। यह न्याय सर्वलोक प्रसिद्ध है ॥६५॥

भ्रान्ति जन्य विपरीत ज्ञान की निवृत्ति का उपाय

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६॥

अन्वय—एवं श्रुतिविचारात् प्राक् यत् वस्तु यथा भासते, विचारेण (तत्) विपर्येति। ततः तत् वियत् चिन्त्यताम्।

इस प्रकार यह निश्चय हो गया कि श्रुति के रहस्य का विचार करने से पूर्व, जो वस्तु सद्ब्रह्म, भ्रान्ति से जैसा—गगनादिरूप में—दीख पड़ता है, श्रुति के अर्थ के विचार से उस वस्तु का यथार्थरूप ज्ञात होता है, इसलिए आकाश पर विचार करो कि वह वास्तव में क्या है ? ॥६६॥

विचार का स्वरूप

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ॥६७॥

अन्वय—भिन्ने वियत्सती, शब्दभेदात्, च बुद्धेः भेदतः। वायु आदिषु सत् अनुवृत्तं, न व्योम इति भेदधीः।

आकाश और सत् परस्पर भिन्न हैं; क्योंकि उन दोनों के वाचक शब्द (नाम) भिन्न-भिन्न हैं; आकाश और सत्–ये दोनों शब्द आपस में पर्याय नहीं हैं; इसलिए भिन्न-भिन्न हैं। तथा इन दोनों से उत्पन्न होने वाली बुद्धियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिये भी ये भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि वायु, तेज, जल और पृथिवी के साथ तो 'सत् वायुः' 'सत् तेजः' आदि वाक्यों से, सत् अनुस्यूत प्रतीत होता है परन्तु आकाश सत् के साथ इस प्रकार अनुस्यूत प्रतीत नहीं

होता : यही भेदबुद्धि है।*

सत् का धर्मित्व और आकाश का धर्मत्व

सत् और आकाश में भेद सिद्ध करनेके पश्चात् 'आकाश की सत्ता है' इस प्रकार जो आकाश का धर्मिभाव (आश्रयभाव) और सत् का धर्मभाव (आश्रित भाव) भ्रान्ति (अविचार)से प्रतीत होता है, विचार द्वारा उसकी विपरीतता दिखलाते हैं :—

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥६८॥

अन्वय—अधिकवृत्तित्वात् सद्वस्तु धर्मि, व्योम्नः तु धर्मता। धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किम् आत्मकम् ?

जैसे रूप रस आदि गुणों में रहने वाला द्रव्य पदार्थ धर्मी होता है इसी प्रकार आकाश आदि सब में अनुवृत्त हुआ 'सत्' धर्मी अर्थात् आश्रय है। अधिक में वृत्ति होने से सद्वस्तु धर्मी है। अधिक वृत्तिको व्यापक कहते हैं। वही आधाररूप धर्मी होता है। जैसे रूप रस आदि गुणों का आश्रय द्रव्य, रूप आदि एक-एक गुण से अधिकवृत्ति (व्यापक) होने से, धर्मी है।

जो वस्तु न्यूनवर्ती (अल्प) होती है उसे व्याप्य कहते हैं। उसी को आधेयरूप धर्म कहा है। जैसे रूप आदि गुण न्यूनवर्ती (परस्पर और अपने आश्रय द्रव्य से व्यावृत्त रहने वाले) होने के कारण व्याप्य—आधेय— धर्म हैं। इसी प्रकार यहाँ आकाश, वायु आदि से

*प्रत्यक्तत्त्वविवेक के ३ से ७ वें श्लोक तक ज्ञान का अभेद सिद्ध किया है और यहां ज्ञान का भेद बताते हैं तथापि यह पूर्वोत्तर विरोध नहीं है क्योंकि वहां प्रथम प्रकरण में चेतनरूप ज्ञान का अभेद बताया है और यहां बुद्धि की वृत्तिरूप ज्ञान का भेद अभीष्ट है।

भिन्न है अतएव वह धर्म अथवा आधेय है।

(शंका) यदि ऐसी बात है तो जैसे घटद्रव्यसे भिन्न रूप, वास्तविक है; ऐसे ही सत् से भिन्न आकाश भी वास्तविक होगा। इसका उत्तर देते हैं:–कि वास्तव में तो सत् किसी भी वस्तु से पृथक् नहीं हो सकता; परन्तु,

यदि बुद्धि की सहायता से तुम सत् को पृथक् कर भी लो तो यह तो बताओ कि फिर आकाश किस स्वरूप वाला रह गया ? ।६८।

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम् ।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ॥

अन्वय–तत् अवकाशात्मकं चेत् ? असत् इति चिन्त्यताम्। सतः भिन्नं च असत् न; इति वक्षि चेत् ? तव अव्याहतिः।

यदि आकाश को सत्स्वभाव न बताकर अवकाशरूप बताओ तो, सत् से विलक्षण असत् मानना पड़ेगा ? सत् से विलक्षण असत् ही तो होता है।

यदि यह कहो कि वह सत् से भिन्न भी है और असत् भी नहीं है' तो तुम्हारा यह कथन व्याघात, विपरीत अथवा अमान्य है।

मिथ्या का लक्षण

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥७०॥

अन्वय–भाति इति चेत् ? भातु नाम, तत् मायिकस्य भूषणम्; यत् असत्—भासभानम्—तत् स्वप्नगज+आदिवत् मिथ्या।

असत् होते हुए भी आकाश प्रतीत होता है, तो हुआ करे। असत् होने पर भी प्रतीत होना मायावादी का भूषण है। मिथ्या कहते ही उस वस्तु को हैं, जो असत् हो, अर्थात् स्वरूप से न हो परन्तु प्रतीत होती हो; जैसे स्वप्नावस्था के हाथी आदि ॥७०॥

एकसाथ प्रतीयमान वस्तुओं का भेद

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

अन्वय—यथा जातिव्यक्ती, देहिदेहौ, गुणद्रव्ये, पृथक्, तथा एव वियत्सतः पार्थक्यं, अत्र कः विस्मयः ?

जैसे नियम से सदा साथ दीखने वाले भी जाति तथा व्यक्ति, देही तथा देह, और गुण तथा द्रव्य, पृथक्-पृथक् हैं, इसी प्रकार आकाश और सत् भी पृथक्-पृथक् हैं; इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? ॥७१॥

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत् तदा ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२॥

अन्वय—'बुद्धः अपि भेदः चित्ते निरूढिं न याति' इति चेत् ? तदा अस्य ते रूढ्यभावः अनैकाग्र्यात् संशयात् वा इति वद ।

आकाश और सत् का यह भेद समझा हुआ भी, यदि चित्त में न जमता हो तो यह बता कि इस अस्थिरता का कारण चित्त की एकाग्रता का न होना है अथवा तुम्हारे चित्त में बैठा हुआ कोई संशय है ? ॥७२॥

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥७३॥

अन्वयः—आद्ये ध्यानात् अप्रमत्तः भव; अन्यस्मिन् प्रमाण-युक्तिभ्यां विवेचनम् कुरु; ततो रूढतमः भव ॥

यदि इस अरूढिका कारण अनेकाग्रता है, तब तो अपने मन को सावधान कर। यदि कोई संशय रह गया हो तो, प्रमाण और युक्तियों द्वारा उसका विवेचन कर, उसे मिटा डाल। इन दोनों साधनों द्वारा सत् और आकाश का भेद निश्चित हो जायगा।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ॥७४॥

अन्वय—ध्यानात् मानात् युक्तितः अपि वियत्सतोः भेदे रूढे, वियत् कदाचित् न सत्यम्, च, सद्वस्तु अपि छिद्रवत् न ।

ध्यान (प्रत्यय की एकतानता), प्रमाण (६७वें श्लोक में कहा गया) तथा ६८ वें श्लोक में वर्णित युक्ति द्वारा अथवा निदिध्यासन आदि द्वारा आकाश और सत् का भेद जब चित में भली भांति जम जायगा तो आकाश कभी सत्य प्रतीत न होगा और यह भी ज्ञात हो जाएगा कि सद्वस्तु में छिद्र अर्थात् आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥७४॥

सत् और आकाश के विवेक का फल

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥७५॥

अन्वय—ज्ञस्य व्योम सदा निस्तत्वोल्लेखपूर्वकं भाति । अस्य सद्+वस्तु अपि निश्च्छिद्रत्वपूर्वकं विभाति ॥

ज्ञानी पुरुष को जब कभी व्यवहार में आकाश की प्रतीति होती है तब उसे साथ-साथ आकाश की निस्तत्त्वता का भी ज्ञान रहता है और उसको जब-जब सद्वस्तु का भान होता है तब-तब यह ज्ञान भी रहता है कि यह सद्वस्तु आकाशरहित है ॥७५॥

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

अन्वय—वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनं सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा बुधः विस्मयते ।

[आकाश की असत्यता और सत् की सत्यता के बार-बार अनुभव करने से उत्पन्न, जो पीछे स्मृति का हेतु होता है वह संस्कार

दृढ़ होकर वासना बनता है।] वासना जब (बढ़) दृढ़ हो जाती है, तब आकाश और सत् की यथार्थता को जानने वाला ज्ञानी, आकाश को सत्य मानने वाले और आकाशरहित सत् वस्तु को न जानने वाले पुरुष को देखकर आश्चर्य करने लगता है ।।७६।।

सत् का वायु आदि से विवेक

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।।७७।।

अन्वय—एवं आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते अनेन न्यायेन वायु+आदेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।

इस प्रकार जब आकाश का मिथ्यापन और सत् का सत्यपन भले प्रकार चित्त में जम जाय तो, इसी न्याय—शैली—के द्वारा वायु आदि चारों भूतों से सद्वस्तु को भिन्न करके जान लेना चाहिए ।।७७।।

वायु का सद्वस्तु से परम्परागत तादात्म्य सम्बन्ध

आकाश के कार्य वायु का अकारण सत् से तादात्म्य सम्बन्ध तो है नहीं, फिर उसका सत् से भेद-विवेचन व्यर्थ ही है, इस आशंका के उत्तर में कहते हैं:—

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ।
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ।।७८।।

अन्वय—सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया, तत्र एकदेशगं वियत् । तत्र अपि एकदेशगतः वायुः प्रकल्पितः ।

सद्वस्तु के किसी एक देश में माया पड़ी हुई है और माया के किसी एक देश में आकाश है; उस आकाश के भी एक देश में वायु की कल्पना* की गई है ।।७८।।

---

*आकाश, माया-उपहित-चेतन में कल्पित है, इसलिए अन्य कल्पित

सत् और वायु का धर्म से भेद-ज्ञान कराने के लिए वायु के धर्मों का उल्लेख करते हैं:—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः ॥

अन्वय—शोषस्पर्शौ, गतिः, वेगः; इमे वायुधर्माः मताः । सन्माया-व्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः, ते अपि वायुगाः ।

शोष, स्पर्श, गति तथा वेग—ये चार—वायु के अपने धर्म हैं । सत्, माया और आकाशके जो क्रमशः तीन स्वभाव-सत्ता, मिथ्यापन और शब्द—हैं; वे भी वायु में हैं ॥७९॥

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥

अन्वय—वायुः अस्ति इति सद्भावः वायौ, सतः पृथक्कृते निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावः, व्योमगः ध्वनिः ।

'वायु है' इस व्यवहार के हेतु सद्रूपता है : वह सद्रूपता वायु में सत्वस्तु का धर्म है । वायु के सत्वस्तु से पृथक् कर लेने पर जो निस्तत्वरूपता (मिथ्यात्व) है वह वायु में माया का धर्म आया हुआ है । और आकाश से वायु में आता हुआ शब्द उसका तीसरा धर्म है ॥८०॥

एक शंका

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नोनेति पुरेरितम् ।
व्योमानुवृत्ति रधुना कथं न व्याहतं वचः। ।८१॥

अन्वय—'सतः सर्वत्र अनुवृत्तिः, व्योम्नः न' इति पुरा ईरितम् । अधुना व्योमानुवृत्तिः (उच्यते); वचः कथं व्याहतं न ?

इसी प्रकरण के ६७ वें श्लोक में कहा है कि सत् की सर्वत्र

का अधिष्ठान नहीं बन सकता । अतएव यहां आकाश+उपहित+चेतनमें वायु कल्पित (अध्यस्त) है; यह अभिप्राय है ।

अनुवृत्ति है, आकाश की नहीं। अब उसके विपरीत वायु में आकाश की अनुवृत्ति बता रहे हो; तुम्हारे कथन में क्या यह व्याघात (पूर्वापर विरोध) दोष नहीं है? ॥८१॥

समाधान

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुनात्वियम्।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥८२॥

अन्वय—'छिद्रानुवृत्तिः न' इति पूर्वोक्तिः, अधुना तु इयं शब्दानुवृत्तिः एव उक्ता वचसः व्याहतिः कुतः?

इस शंका का समाधान यह है कि ६७ वें श्लोकमें कहा गया था कि छिद्र अर्थात् अवकाशरूप लक्षण वाले आकाश की अनुवृत्ति नहीं होती। अब तो शब्द की अनुवृत्ति कही है, अवकाशरूप स्वरूप की अनुवृत्ति नहीं; इसलिए वचन का व्याघात कैसे हुआ?

वायु में माया की अकार्यता की शंका

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम्।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३॥

अन्वय—ननु, सद्वस्तुपार्थक्यात् असत्वं चेत्, तदा अव्यक्तमायावैषम्यात् अमायामयता अपि कथं नो?

हे सिद्धान्ती! यदि तुम वायु को सद्ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण असत् (मायामय) मानते हो तो यह बताओ कि जब यह वायु, जो कि व्यक्त है, अव्यक्तरूपा माया से भी विलक्षण है तो फिर इसे अमायामय—सत्य—भी क्यों नहीं मान लेते? ॥८३॥

समाधान

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥८४॥

अन्वय—अत्र मायात्वस्य प्रयोजिका निस्तत्वरूपता एव। सा, व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः शक्तिकार्ययोः तुल्या।

मायामय होने का कारण अव्यक्तता नहीं अपितु निस्तत्त्वता ही है; निस्तत्वता के कारण ही वायु को मायामय (असत्) कहा गया है। और वह निस्तत्त्वरूपता ही, व्यक्त और अव्यक्त में भेद रखने वाली शक्ति में तथा उसके कार्यों में—दोनों में–समान है। [निस्तत्त्वरूपता अव्यक्त माया में भी है और माया के कार्य व्यक्त वायु आदि में भी पाई जाती है। माया और मायाके कार्यों में केवल अव्यक्तता और व्यक्तता का भेद है।] ।।८४।।

व्यक्तता--अव्यक्तता का विचार प्रस्तुतानुपयोगी

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिन्त्यताम्।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्रकिम् ।।

अन्वय—सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् सः चिन्त्यताम्; असतः अवान्तरः भेदः आस्ताम्। अत्र तच्चिन्तया किम् ?

जब माया और उसके कार्य वायु आदि में निस्तत्त्वरूपा समानता है तो उनमें व्यक्त+अव्यक्त का भी भेद क्यों हो ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यहां तो सत् और असत् के विवेक का ही प्रसंग हैं; उसी का विचार हमें करना चाहिए। माया और माया के कार्यभूत असत् पदार्थ के जो व्यक्तता-अव्यक्तता-रूप अवान्तर भेद हैं उन्हें रहने दो; उनका यहां प्रसंग ही नहीं हैं; तो उनका यहां विचार ही क्यों करें।

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत्।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुत् त्यजेत् ।।८६।।

अन्वय—सत् वस्तु ब्रह्म, शिष्टः अंशः वायुः मिथ्या, यथा वियत्। इत्थं चिरं वायोः मिथ्यात्वं वासयित्वा मरुत् त्यजेत्।

वायु में जितना सत् अंश है, वह ब्रह्मरूप है; शेष अंश निस्तत्त्वता, शब्द, स्पर्श आदि वायु का स्वरूप है। वह वायु आकाश के

समान निस्तत्वरूप (अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न सत्ता के अभाव वाला होने से मिथ्या) है। इस प्रकार चिरकाल तक वायु के मिथ्याभाव का निश्चय करके, मुमुक्षु, वायु को छोड़ दे : 'वायु सत्य है' इस बुद्धि को छोड़ दे ॥८६॥

सत् और अग्नि का विवेक

चिन्तयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम्।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

अन्वय—एवं मरुतः न्यूनवर्तिनं वह्निम् अपि चिन्तयेत्। ब्रह्माण्डावरणेषु एषा न्यूनाधिकविचारणा ॥

वायु से दस अंश न्यून देश में रहने वाली वह्नि का भी इसी प्रकार विचार करे। [और अंत में उसकी भी सत्यत्वबुद्धि का परित्याग कर दे]। ८८ वें श्लोक में आकाश आदि का जो न्यूनाधिक विचार बताया है वह लोकमें चाहे न होता हो, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि समस्त आवरणों में किया जाता है ॥८७॥

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौप्रकल्पितः।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥८८॥

अन्वय—वह्निः वायोः दशांशतः न्यूनः; सः च वायौ प्रकल्पितः। भूतपञ्चके पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैः (वर्तते)।

अग्नि वायु के दसवें भाग के बराबर है [यदि दस भाग वायु है तो अग्नि एक भाग है] अग्नि भी वस्तविक पदार्थ नहीं है; वह वायु में कल्पित है, वायु-उपहित-चेतनमें कल्पित है। यह न्यूनाधिकता स्वकपोलकल्पित नहीं है अपितु पुराणों के कथनानुसार इन पांच भूतों में $\frac{1}{10}$ भाग के अनुसार क्रम से न्यूनाधिकभाव है ॥८८॥

वह्नि का स्वरूप

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च।
अस्ति वह्निः सनिस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि॥

अन्वय–वन्हिः उष्णः प्रकाशात्मा च। अत्र च पूर्वानुगतिः। अस्ति वन्हिः, सः निस्तत्वः, शब्दवान् स्पर्शवान् अपि।

वह्नि उष्ण है और प्रकाशस्वरूप है। इसमें भी वायु की भांति पूर्वानुगति (कारण के धर्मों की अनुगति) हो रही है। इसीलिए कहा जाता है कि वह्नि 'है', मिथ्यारूप है, शब्दवान् है और स्पर्शवान् है।

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्धया विविच्यताम्॥

अन्वय–सन्मायाव्योमवाय्वंशैः युक्तस्य अग्नेः निजः गुणः रूपं अस्ति। तत्र सतः अन्यत् सर्वं बुद्धया विविच्यताम्।

सत्, माया, आकाश तथा वायु इन चार कारणों के अंश क्रमशः अस्तित्व, मिथ्यात्व, शब्द और स्पर्श ये चार धर्म हैं, उनसे युक्त अग्नि का अपनागुण (धर्म) 'रूप' है। इनमें से 'सत्' को छोड़ कर शेष सब धर्म मिथ्या हैं, बुद्धि द्वारा इस बातका विवेचन (पृथक्-करण) कर लेना चाहिए॥९०॥

सत् और जल का विवेक

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत्॥

अन्वय–वन्हौ सतः विवेचिते, (तथा वन्हौ) मिथ्यात्वे वासिते, आपः दशांशतः न्यूनाः इति चिन्तयेत्।

सत् से अग्नि के विविक्त कर लेने और अग्नि के मिथ्यात्व के दृढ़निश्चित हो जाने पर यह चिंतन करना चाहिए कि जल भी अग्नि से दस अंश कम है, और वह भी अग्नि-उपहित-चेतनमें कल्पित है।

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥६२॥

अन्वय—अन्यधर्मानुवृत्या अमूः आपः सन्ति, शून्यतत्वाः, सशब्द-स्पर्शसंयुताः रूपवत्यः । स्वीयः गुणः रसः ॥

कारणों के धर्मों की अनुगति होने से ही 'यह जल है', 'यह जल मिथ्या है', 'यह शब्द, स्पर्श और रूपवाला है', ऐसा कहा जाता है । जल का अपना गुण केवल 'रस' है ॥६२॥

सत् और पृथिवी का विवेक

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिन्तयेत् ॥

अन्वय—अप्सु सतः विवेचितासु तन्मिथ्यात्वे च वासिते, भूमिः दशांशतः न्यूना अप्सु कल्पिता इति चिन्तयेत् ।

सत् से जलों को विविक्त कर लेने और उनके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर फिर यह निश्चय करे भूमि जल से दस अंश कम है और वह भी जल-उपहित-चेतन में कल्पित है ॥६३॥

अस्ति भूस्तत्त्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥६४॥
पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्यावशिष्यते ।

अन्वय—भूः अस्ति, तत्वशून्या, अस्यां सरूपकौ च रसः परतः; गन्धः नैजः, सत्ता विविच्यताम् । सत्तायां पृथक् कृतायां भूमिः मिथ्या अवशिष्यते ।

भूमि 'है', वह 'निस्तत्त्व (मिथ्या) है', इस पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये गुण दूसरों (क्रमशः सत्, माया, आकाश, वायु, तेज और जल कारणों) से आये हैं । पृथिवी का अपना गुण (धर्म) गन्ध है । उन सब में से सत्ता को पृथक् करना है ॥६४॥

सत्ता के पृथक् कर लेने पर भूमि नाम का पदार्थ 'मिथ्या' रह जाता है ।

सत् और भूतों के कार्य-ब्रह्माण्ड आदि-का विवेक

भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

अन्वय–भूमिमध्यगं ब्रह्माण्डं भूमेः दशांशतः न्यूनम् ।

भौतिक ब्रह्मांड आदि से सत् का विवेक करने के लिए, ब्रह्मांड आदि की स्थिति का वर्णन करते हैं:—पृथ्वी से दस अंश कम चौदह भुवनों के रूप में विद्यमान 'ब्रह्माण्ड' है; वह पृथ्वी के मध्य में स्थित है। [इसका एक अर्थ यह भी है कि वह ब्रह्मांड आकाश में घूमते रहने वाले भूमि के खण्डों (परमाणुओं) से बना हुआ है। परन्तु 'पृथिवी जिस ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है'—ऐसा अर्थ होना ठीक प्रतीत होता है।] यहां अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सातलोक नीचे और भूः, भुवः,स्वः, महः, जन, तप और सत्य ये सात ऊपर, इस प्रकार-चौदहभुवन हैं।

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥९६॥

अन्वय–ब्रह्माण्ड मध्ये चतुर्दश भुवनानि तिष्ठन्ति । एषु भुवनेषु प्राणिदेहाः यथायथं वसन्ति ।

ब्रह्माण्ड में चौदहभुवन (लोक) विद्यमान हैं; इन चौदहभुवनों में प्राणियों के देह व्यवस्थानुसार रहते हैं।

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥

अन्वय–ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते, असन्तः अण्डादयः (यदि भान्ति) भान्तु; तद्भाने अपि इह का क्षतिः ?

ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन और प्राणियों के देहों में से सद्वस्तु के पृथक् कर लेने पर भी यदि असत् ब्रह्माण्ड आदि का भान होता है,

तो होता रहे। इनका असत् रूप से भान होने पर भी अद्वैतवस्तु में कोई हानि है। जैसे, मृगजल की प्रतीति से उसकी अधिष्ठान पृथ्वी गीली नहीं होती ऐसे ही जगत् की मिथ्याप्रतीति से उसके अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्म की कोई हानि नहीं होती ॥९७॥

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥९८॥

अन्वय—भूतभौतिकमायानां असत्वे अत्यन्तवासिते 'सदवस्तु अद्वैत' इति धीः क्वचित् न विपर्येति।

आकाश आदि पांचभूत, ब्रह्माण्ड आदि भौतिक और इनकी कारणरूप माया—इन तीन—की असत्ता अर्थात् मिथ्यात्व की वासना के, विवेक और ध्यान से चित्त में दृढ़ जम जाने पर, "सद्वस्तु अद्वैत ही है" यह बुद्धि कभी नष्ट नहीं होती ॥९८॥

मिथ्यात्व के निश्चय होने पर भी व्यवहार का अलोप

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥९९॥

अन्वय—भूम्यादिरूपिणि द्वैते सदद्वैतात् पृथक्भूते तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथा एव सा।

जब भूमि आदि रूपधारी इस द्वैत जगत् को, सत् अद्वैतसे पृथक् (मिथ्या) जान लिया जाता है तब भी उन भूमि आदि में उस-उस निमित्त से जो प्रवृत्ति (क्रिया) है वह लोक में वैसी ही रहती है जैसी कि पूर्व अज्ञानकालमें अनुभव की जाती रही है। विवेक, व्यवहार को रोकता नहीं है: जो काम क्षुद्र देहाभिमान की प्रेरणा से होते थे वे अब आत्मा की अमरता, सच्चिदानन्दरूपता तथा सार्वात्म्य की दृष्टि से होने लगते हैं ॥९९॥

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेनेतयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१००॥

अन्वय–सांख्यकाणादबौद्धाद्यैः अनेकयुक्त्या यथा यथा जगद्भेदः उत्प्रेक्ष्यते एष तथा तथा भवतु ।

कपिलमत के अनुयायी सांख्यवादी, कणादमत के अनुयायी वैशेषिक और माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ये चार बुद्ध के शिष्य–बौद्ध–तथा नैयायिक आदि ने अनेक युक्तियों से जिस जगद्भेद की कल्पना की है वह वैसा ही रहे; उस व्यावहारिक भेद को हम भी मानते हैं । इसलिए उसके खण्डन का प्रयत्न नहीं करते ॥१००॥

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ॥१०१॥

अन्वय–अन्यवादिभिः निःशंकैः अवज्ञातं सदद्वैतं, तद्-द्वैतं अवजानतां अस्माकं एवं का क्षतिः ?

यदि यह शंका करो कि जिस सत्वभेद को अन्यवादियों ने प्रमाणों से सिद्ध किया है उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है तो हमारा उत्तर यह है कि जब अन्यवादियोंने निःशंक होकर श्रुति आदि से सिद्ध सद् अद्वैत की अवज्ञा की है तो श्रुति, युक्ति और अनुभव द्वारा उनके द्वैत की अवज्ञा करने में हमारी क्या हानि है ? कुछ भी हानि नहीं है ॥१०१॥

द्वैतावज्ञा का प्रयोजन–जीवन्मुक्ति

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

अन्वय–द्वैतावज्ञा सुस्थिरा चेत्, धीः अद्वैते स्थिरा भवेत् । तस्याः स्थैर्ये एषः पुमान् जीवन्मुक्तः इति ईर्यते ।

द्वैतावज्ञा से यह लाभ होता कि जब द्वैतावज्ञा पूर्णरूप से दृढ़ हो जाती है तब साधक की बुद्धि अद्वैत में स्थिर हो जाती है ।

उस बुद्धि के स्थिर हो जाने पर वह स्थिरबुद्धि पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाने लगता है ॥१०२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

अन्वय–पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां, प्राप्य न विमुह्यति । अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्म निर्वाणं ऋच्छति ।

केवल जीवन्मुक्ति ही नहीं, अपितु, विदेहमुक्ति भी द्वैतावज्ञा का फल है । भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक ७२ में कहा है–हे अर्जुन ! यहां तक ब्राह्मीस्थिति–ब्रह्मनिष्ठा–(सब कर्मों को छोड़कर ब्रह्मस्वरूप से स्थिति) बतलाई । इस स्थिति को प्राप्त हुआ मनुष्य फिर भ्रांत नहीं होता । यदि मनुष्य अन्तकाल में भी इस स्थितिमें ठहर सकता हो तो वह ब्रह्मभावरूप विदेहमुक्तिमय ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है । [जब प्रपंच की प्रतीति न हो और अद्वैतब्रह्मस्वरूप से स्थिति हो तब विदेहमुक्ति होती है] ॥१०३॥

'अन्तकाल' का अर्थ

सदद्वैतेनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

अन्वय—सदद्वैते अनृतद्वैते यदन्योन्यैकवीक्षणं तद्भेदबुद्धिः एवं तस्य अन्तकालः, न इतरः ।

यहाँ अन्तकाल का अर्थ वर्तमान देहका विनाश नहीं है; अपितु सद्रूप अद्वैत और मिथ्यारूप द्वैत में जो अन्योन्याध्यासरूप एकता का ज्ञानरूप भ्रम हो रहा था उस एकता के भ्रमज्ञान का अन्तकाल अर्थात् 'सद् अद्वैत' और मिथ्याद्वैत को क्रमशः सत्य और मिथ्या जानकर उन में भेद समझना ही अन्तकाल है ॥१०४॥

यद्वान्तकालः प्राणस्य वियोगोस्तु प्रसिद्धितः ।

तस्मिन्कालेपि नभ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ॥१०५॥

अन्वय—यद्वा प्रसिद्धितः प्राणस्य वियोगः अन्तः कालः अस्तु। तस्मिन् काले अपि गतायाः भ्रान्तेः पुनः आगमः न।

अथवा लोक में प्रसिद्ध होने के कारण देह से प्रधानलिंग प्राणों के वियोग को ही अन्तकाल मान लो—इस में भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट हो जाएगी वह फिर कभी लौटकर आनेवाली नहीं है ॥१०५॥

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा॥

अन्वय—एषः नीरोगः उपविष्टः, वा भुवि विलुठन् रुग्णः, वा मूर्छितः प्राणान् त्यजतु; भ्रान्तिः सर्वथा न।

जिस ज्ञानी की द्वैतावज्ञा स्थित हो चुकी है वह चाहे तो नीरोग होकर, चाहे बैठे-बैठे, चाहे रोगी होकर या भूमि पर पड़ा-पड़ा, या मूर्छावस्थामें, प्राणों का त्याग करे, उसे फिर भ्रान्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानी चाहे 'ब्रह्मैवाहं' या 'राम-राम' कहता हुआ, या पीड़ा से व्याकुल हो 'हाय-हाय' करता हुआ, प्राणत्याग करे; वह चाहे काशी आदि पवित्र देश में अथवा मघाक्षेत्र आदि अपवित्र स्थान में, उत्तरायण आदि उत्तम काल में अथवा दक्षिणायन आदि निकृष्ट-काल में प्राण त्याग करे—उसको 'मैं देहादिक हूँ' 'जीव हूँ' आदि भ्रान्ति नहीं होती। ज्ञानी के देहत्याग में कोई नियम नहीं है; परन्तु उपासक के देहत्याग के विषय में नियम है ॥१०६॥

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेप्ययम्।
परेद्युर्नानधीतः स्यत्तद्वद्विद्या न नश्यति॥१०७॥

अन्वय—यथा दिने-दिने अधीते (वेदे) स्वप्नसुप्त्योः विस्मृते

अपि अयम् परेद्युः अनधीतः न स्यात् तद्वत् विद्या न नश्यति ।

जैसे प्रतिदिन पढ़ा गया वेद, स्वप्न और सुषुप्ति में विस्मृत हो जाने पर भी वह अगले दिन अनधीत (न पढ़ा हुआ) नहीं होता ; ऐसे ही मरते समय मूर्छा सन्निपात आदि के कारण तत्त्वका विचार न कर सकने पर भी ज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं होता ।।१०७।।

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं बिना ।
न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ।।१०८।।

अन्वय–प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रबलं प्रमाणं विना न नश्यति; वेदान्तात् प्रबलं मानं न ईक्ष्यते ।

'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणों से उत्पन्न हुई विद्या (ज्ञान), प्रबलतर प्रमाणों के बिना नष्ट नहीं हो सकती, और वेदान्त से प्रबलतर दूसरा प्रमाण दिखाई नहीं देता । इसलिये यह ज्ञान मूर्छा आदि में नष्ट नहीं होता ।।१०६।।

तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ।।१०६।।

अन्वय–तस्मात् वेदान्तसंसिद्धं सत्-अद्वैतं अन्तकाले अपि न बाध्यते । अतः भूतविवेकात् निर्वृतिः स्थिता ।

इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्तसिद्ध अद्वैत की बाधा अन्तकाल में भी नहीं होती । इसीलिए यह कहना सर्वथा उचित है कि सत् से पंचभूतों का भेदज्ञानरूप विवेचन कर लेने पर निरतिशय सुख की प्राप्तिरूप मुक्ति निश्चित रूप से होती है ।।१०६।।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के द्वितीय प्रकरण–पंचमहाभूतविवेक की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।

—o—

अथ पञ्चकोशविवेकः—३

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
पंचकोशविवेकस्य कुर्वे तत्वप्रकाशिकाम् ।।

श्रीयुक्त सब गुरुओं को नमस्कार करके पंचदशीके तीसरे, पंचकोशविवेक-नामके, प्रकरण की तत्त्वप्रकाशिका नामकी व्याख्या करता हूँ ।

यह तीसरा प्रकरण यजुर्वेदके अन्तर्गत तैत्तिरीय उपनिषदके तात्पर्यंका व्याख्यानरूप है । इसका आरम्भ करनेसे पूर्व अधिकारी श्रोताकी प्रवृत्तिके लिए इसका प्रयोजन एवं विषय बतलाते हैं:—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ।।१।।

अन्वय—गुहाहितं यत् ब्रह्म तत् पंचकोशविवेकत् बोद्धुं शक्यं; ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ।

'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वाक्य में जिस ब्रह्मको गुहा में स्थित बताया है, वह ब्रह्म गुहा शब्द से वाच्य अन्नमयादि पंचकोशों के विवेक से जाना जा सकता है ; इसलिए उन पांचों कोशों को आन्तर-आत्मा से भलीभान्ति पृथक् करके दिखाया जा रहा है ।।१।।

गुहा शब्द का अर्थ

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ।।२।।

अन्वय—देहात् प्राणः आभ्यन्तरः । प्राणात् मनः आभ्यन्तरं । ततः कर्त्ता । ततः भोक्ता । सा इयं परम्परा गुहा ।

देह (अन्नमय-कोश) से प्राणमयकोश भीतर का है । प्राणमय

कोश से मन भीतर का है। मनोमयकोश से कर्त्ता अर्थात् विज्ञानमय कोश भीतर का है। उस विज्ञानमयकोश के भीतर आनन्दमयकोश है। इस प्रकार अन्नमय से लेकर आनन्दमय तक की यह परस्परा (माला) 'गुहा' कहलाती है ॥२॥

[किसी पहाड़ में पांच द्वारवाली कोई गुफा हो, उसमें अतिशय तेजोरूप मणिमयी भगवत्-प्रतिमा विद्यमान हो—वैसे ही आकाश आदि सबको अवकाश देनेवाले, अव्याकृत मायारूप आकाश में विद्यमान पांच कोशों में ब्रह्म ही प्रत्यगात्मारूप से विद्यमान है। ये पंचकोश उसके आच्छादक हैं, इसलिये गुहा कहलाते हैं।]

अन्नमयकोश

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥३॥

अन्वय—पितृभुक्तान्नजात् वीर्यात् जातः अन्नेन एव वर्धते। सः देहः अन्नमयः आत्मा; न प्राक् ऊर्ध्वं च तदभावतः।

माता-पिता के खाये अन्न से उत्पन्न वीर्य से जो पैदा होता है और जन्म के पश्चात् क्षीरादि भोजनों (अन्न) से ही जो बढ़ता है, वह देह ही अन्नमयकोश है। वह अन्नमय (देह) आत्मा नहीं है क्योंकि जन्म से पहले और मरण के पश्चात् वह देह नहीं रहता; (अर्थात् प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव होने के कारण)। यहाँ अनुमान इस प्रकार है:—(चार्वाक और साधारणजन देह को आत्मा मानते हैं—इसलिये विवाद का विषय यह जो देह है, वह आत्मा नहीं है; क्योंकि यह 'कार्य' अर्थात् उत्पत्ति और विनाशवान् है; जैसे घट) ॥३॥

पूर्वजन्मन्यसन्नैतज्जन्म संपादयेत्कथम्।
भाविजन्मन्यसत्कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४॥

अन्वय–(अयं देहः) पूर्वजन्मनि असत् एतत् जन्म कथं सम्पादयेत् ? भाविजन्मनि असत् इह संचितं कर्म न भुंजीत।

यदि यह देहरूप आत्मा पूर्व जन्म में नहीं था तो इसने इस जन्म को कैसे पाया ? जब आत्मा को देहरूप ही मान लिया जाता है तो पूर्वजन्म में न यह था, न इसको उत्पन्न करने वाला अदृष्ट ही था। फिर भी इस जन्म की उत्पत्ति मानने से अकृताभ्यागम दोष आता है। जो इस शरीरात्मा ने किया नहीं था उसे अब यह भोग रहा है।

और यह देहरूप आत्मा भावी जन्म में भी नहीं रहेगा, तब इस जन्म में किये भले-बुरे कामों (संचित पाप-पुण्यों) का फल यह नहीं भोग सकेगा। इस प्रकार भोग के बिना ही कर्म का नाश होना अर्थात् कृतनाश दोष आता है। इसलिए आत्मा को कार्य अथवा अन्न का विकार देहरूप मानना ठीक नहीं है ।।४।।

प्राणमयकोशका स्वरूप और उसकी अनात्मता

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ।।५।।

अन्वय– यः देहे पूर्णः (सः) बलं यच्छन् अक्षाणां प्रवर्तकः वायुः प्राणमयः। चैतन्यवर्जनात् असौ आत्मा न ।

जो वायु पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त सम्पूर्ण देह में पूर्ण होकर व्यान रूप से शक्ति देता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक है, वह वायु प्राणमयकोश है। चेतनता न होने से, जड़ होने के कारण, वह भी आत्मा नहीं है। विवाद का विषय प्राणमयकोश आत्मा नहीं है, जड़ होने से ; जैसे घट आदि ।।५।।

मनोमय और विज्ञानमयका भेद

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।।६।।

अन्वय–देहे अहंतां गेहादौ ममतां च यः करोति (सः) मनोमयः; कामाद्यवस्थया भ्रान्तः असौ आत्मा न।

जो देह में 'मैं' भाव और गृह आदि में 'मेरा है' ऐसा अभिमानरूप ममता को करता है, वह मनोमयकोश है। वह भी आत्मा नहीं है; क्योंकि काम, क्रोध आदि अवस्थाओं से भ्रान्त (कभी कामी, कभी क्रोधी आदि) रहने से उसका स्वभाव नियत या नियमित नहीं है। [मनोमय कोश, आत्मा नहीं है, क्योंकि वह विकारी (पूर्व वृत्ति अर्थात् अवस्था को छोड़कर दूसरी वृत्ति को ग्रहण करने वाला) है; जैसे देह; बाल्य आदि अवस्थाओं वाला होने से, विकारी है, और आत्मा भी नहीं है ॥६॥

विज्ञानमय का स्वरूप और उसकी अनात्मता

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥७॥

अन्वय–चिच्छायोपेतधीः सुप्तौ लीना, बोधे आनखाग्रगा, वपुः व्याप्नुयात् (सा) विज्ञानमयशब्दभाक्; आत्मा न।

चेतन के प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहती है तथा जाग्रत अवस्था में नखाग्रपर्यन्त शरीर में व्याप्त रहती है, वह विज्ञानमय कहलाती है; वह भी आत्मा नहीं है। घटादि की भान्ति विलय आदि अवस्थावाली बुद्धि आत्मा कैसे हो सकती है! ॥७॥

मनोमय और विज्ञानमय का भेद

(शंका) मन और बुद्धि दोनों ही अन्तःकरण हैं, अतएव दो पृथक् कोशोंकी कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती। इसका उत्तर देते हैं–

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८॥

अन्वय–अन्तरिन्द्रियम् कर्तृत्वकरणत्वाभ्याम् विक्रियेत, एते विज्ञानमनसी। एते च परस्परं अन्तः बहिः।

भीतर की इन्द्रिय (मन) कभी कर्तारूप (क्रिया के आश्रय रूप) से और कभी करणरूप (क्रिया के साधन रूप) से विकृत (परिणत) होती रहती है; जब कर्तारूप से परिणत होती है तब उसको विज्ञान (बुद्धि) मयकोश और जब करणरूपसे परिणत होती है तब उसको 'मनोमयकोश' कहते हैं। विज्ञान का अर्थ निश्चयरूप वृत्ति और मन का वाच्य संशयरूप वृत्ति है। ये दोनों परस्पर भीतर और बाहर रहा करते हैं। [बुद्धि भीतर रहती है, मन बाहर रहता है, इसीलिए एक अन्तःकरण के दो कोश हो गये हैं।] ॥८॥

आनन्दमयकोश का स्वरूप

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

अन्वय–पुण्यभोगे काचित् वृत्तिः अन्तर्मुखा आनन्दप्रतिबिम्बभाक्; भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥

जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल को अनुभव करते हैं तब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है और भोगों के शान्त हो जाने पर वही बुद्धिवृत्ति निद्रारूप से विलीन अर्थात् संस्काररूप हो जाती है। उस वृत्ति को ही 'आनन्दमयकोश' कहते हैं ॥९॥

आनन्दमयकोश की अनात्मता

कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम्।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥१०॥

अन्वय–अयं आनन्दमयः अपि कादाचित्कत्वतः आत्मा न स्यात्। बिम्बभूतः यः आनन्दः असौ, आत्मा; सर्वदा स्थितेः।

यह आनन्दमय भी मेघ की भान्ति कभी-कभी होता है, सदा नहीं रहता, इसलिए आत्मा नहीं है। किन्तु बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बरूप से स्थित प्रिय आदि शब्दों के वाच्य आनन्दमय का बिम्ब अर्थात् कारणभूत आनन्द ही सच्चा आत्मा है। क्योंकि वह सदा बना रहता है, नित्य है। यहां अनुमान इस प्रकार है :—विवाद का विषय आनन्द आत्मा है, नित्य होने के कारण; जो आत्मा नहीं है, वह नित्य भी नहीं है, जैसे देह आदि। आकाश आदि तो उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं; इसलिए नित्यतारूप हेतु आकाश आदि में अतिव्याप्त नहीं है ॥१०॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११॥

अन्वय—ननु देहं उपक्रम्य निद्रा-अन्त-वस्तुषु आत्मत्वं मा भूत्; अन्यः तु कश्चित् न अनुभूयते।

(शंका) अन्नमय देह से लेकर निद्रा तथा आनन्दपर्यन्त पदार्थों में, बताये हुए कारणों से, आत्मभाव नहीं घटता हो मत घटे, परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु भी तो ऐसी अनुभवमें नहीं आती जिसे आत्मा कहा जा सके ? ॥११॥

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२॥

अन्वय—'निद्रादयः सर्वे अनुभूयन्ते, च इतरः न,—बाढम्। तथापि येन एते अनुभूयन्ते तं कः निवारयेत् ?

(उत्तर) 'निद्रा अर्थात् निद्रागत आनन्द, अतएव, आनन्दमय। उस 'आनन्दमय से लेकर (देह) अन्नमयकोश तक पांच कोश ही उपलब्ध होते हैं अन्य कोई भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता' यह तुम्हारा कथन सर्वथा ठीक है। परन्तु जिसके बल से आनन्दमय

आदि कोशों की प्रतीति होती है उस अनुभव को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते ? ॥१२॥

आत्माकी अज्ञेयता का कारण

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥१३॥

अन्वय—स्वयम् एव अनुभूतित्वात् अनुभाव्यता न विद्यते । ज्ञातृ-ज्ञानान्तराभावात् अज्ञेयः ; असत्तया तु न ।

(शंका) पर आत्मा तो अज्ञेय है—जाना नहीं जाता, फिर उसे कैसे मानें ? (उत्तर) नित्यज्ञानरूप होने के कारण वह स्वयं ही अनुभूतिरूप है । इसलिये आत्मा किसी का अनुभाव्य नहीं होता : आनन्दमय आदि का साक्षीआत्मा अनुभवरूप होने के कारण किसी अन्य के अनुभव का विषय नहीं है । और क्योंकि आत्मासे भिन्न अन्य ज्ञाता और उससे भिन्न अन्य ज्ञान नहीं होता इसलिए वह अज्ञेय कहलाता है ; उसकी अज्ञेयता का हेतु, उसकी 'असत्ता'= 'अभाव' नहीं है । १२ वें श्लोक में, निद्रा आनन्द आदि का साक्षी होने के कारण, आत्मा के असद्भाव का निषेध किया जा चुका है । अतएव आत्मा अपने अभाव के कारण अज्ञेय नहीं है अपितु वह स्वयं विद्यमान होता भी अपने से भिन्न ज्ञाता और ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञेय* अर्थात् स्वप्रकाश रूप है ।

आत्मा के अनुभाव्य न होने में दृष्टान्त

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।

*'अज्ञेय' (ज्ञानका अविषय) तीन प्रकार का होता है—१-असत् जैसे वन्ध्यापुत्र । २—कदाचित्वृत्तिसम्बन्धरहित और अज्ञान के सम्बन्ध-वाला, जैसे घट और ३-स्वप्रकाश । आत्मा न तो असत् है और न कदाचित्वृत्तिसम्बन्ध-रहित और अज्ञानके सम्बन्ध वाला ही है । वह सत्, सर्वदावृत्ति और अज्ञान के वास्तवसम्बन्ध से रहित है । अतएव वह स्वप्रकाश होने से ही अज्ञेय है ।

स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४॥

अन्वय—अन्यत्र स्वगुण-अर्पिणां माधुर्य-आदि-स्वभावानां स्वस्मिन् तदर्पणापेक्षा नो। च अन्यत् अर्पकं न अस्ति।

गुड़ आदि स्वभाव से मीठे (खट्टे आदि) पदार्थ अपने से बनाये गये गेहूँ, चने आदि में अपने मिठास आदि गुणों को अर्पित कर देते हैं; उन गुड आदि को अपने आपको मिठास आदि अर्पण करने की आवश्यकता नहीं होती—वे यह कभी नहीं चाहते कि कोई हमको आकर मीठा करदे। और फिर इन गुड आदि को मिठास आदि देने वाला दूसरा पदार्थ है भी तो नहीं ॥१४॥

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता।
मा भूत्तथाऽनुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

अन्वय—अर्पकान्तर-राहित्ये अपि एषां तत्स्वभावता अस्ति। तथा अनुभाव्यत्वं मा भूत्। बोध-आत्मा तु न हीयते।

गुड आदि को मिठास आदि के देने वाले किसी दूसरे पदार्थ के न होते हुए भी, गुड आदि में मिठास आदि गुण हैं ही। ऐसे ही आत्मा भले ही (किसी के) अनुभव का विषय न होता हो, तो भी उसमें अनुभवरूपता रहती है ॥१५॥

अब आत्मा की अज्ञेयता (स्वप्रकशता) में प्रमाण उपस्थित करते हैं:—

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात्।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६॥

अन्वय—एषः स्वयंज्योतिः भवति। अस्मात् अखिलात् पुरः भासते तं एव भान्तं अनु-एति, तद्-भासा जगत् भास्यते।

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।' 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभाति' 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—अर्थात् स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है।'

'उस आत्मा के भान के पीछे सारा प्रपंच भासित होता है और उस आत्मा के प्रकाश से यह सारा जगत् भासता है।' इत्यादि श्रुतियां आत्मा की स्वप्रकाशता को बता रही हैं ॥१६॥

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७॥

अन्वय–येन इदं सर्वं जानते तत् केन अन्येन जानताम् (पुमांस-इतिशेषः) ? विज्ञातारं केन विद्यात् ? साधनं तु वेद्ये शक्तम् ।

बृहदारण्यक उपनिषद् (४-५-१५) के 'येनेदं सर्वंविजानाति' आदि वाक्य का अभिप्राय कहते हैं :–जिस साक्षिचैतन्यरूप आत्मा से समस्त प्राणी, सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को जान रहे हैं, उस साक्षी आत्मा को लोग किस दूसरे साक्ष्य जड़ से जानेंगे ? सब दृश्य पदार्थों के जाननेवाले को किस दृश्य-साधन से जानें ? किसी से भी नहीं। ज्ञान का साधन जो मन है वह ज्ञान के विषय (वेद्य) को तो जान सकता है, परन्तु ज्ञाता* आत्मा को नहीं जान सकता। श्रुति में कहा है–"नैव वाचा न मनसा" न वह वाणी से और न मन से ही जाना जाता है। यदि आत्मा को अपना ही ज्ञेय मानें तो वह स्वयं ही विषय (ज्ञेय-कर्म) और स्वयं ही ज्ञातारूप कर्ता हो–यह परस्पर विरोध आता है। अतएव आत्मा अनुभव का विषय नहीं है। वह स्वप्रकाश है ॥१७॥

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

अन्वय–सः तत् सर्वं वेद्यं वेत्ति; तस्य वेदिता अन्यः न अस्ति । तत् बोधस्वरूपकं विदित-अविदिताभ्यां पृथक् ।

---

*बुद्धि उपाधिके कारण आत्माको ज्ञाता, (ज्ञानका आश्रय) अर्थात् वृत्ति-ज्ञानरूप क्रियाका कर्त्ता बताया है; वास्तवमें तो आत्मा निरपेक्षज्ञानरूप ही है।

वह आत्मा वेद्य, विषयमात्र, को जानता है ; उसका ज्ञाता दूसरा कोई नहीं है। वह बोधस्वरूप, बोधस्वरूप है, इसीलिएं प्रत्यक्-अभिन्नब्रह्म, विदित अर्थात् व्याकृत वस्तु तथा, अविदित अर्थात् व्याकृत रूप जगत् की बीज भूत अविद्यारूप अव्याकृत–इन दोनों प्रकार की वस्तुओं से विलक्षण, भिन्न रूप, है ॥१८॥

बोधानुभव की अङ्गीकार्यता

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥१९॥

अन्वय–यस्य बोधे अपि अनुभवः कथंचन न जायते तं नरसम-आकृतिं लोष्टं शास्त्रं कथ बोधयेत् !

कदाचित् कोई शंका करे कि विदित और अविदित से भिन्न (विलक्षण) तो कोई बोध देखा ही नहीं उसे मान कैसे लें? उत्तर देता है कि यह ठीक नहीं है क्योंकि विदित (बोधके विषय) में जो 'वेदन' विशेषण है और जो कि ज्ञात एवं अज्ञात वस्तु में व्यावर्तक है, वही बोध कहलाता है। उस बोध का अनुभव यदि नहीं मानो तो विदित (ज्ञात वस्तु) का भी अनुभव नहीं होगा। इसलिए बोधका अनुभव अवश्य मानना होगा। अतएव वादी को उपहासपूर्वक उत्तर देते हैं कि जिस मंदबुद्धि को घट आदि के स्फुरणरूप बोध का भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार नहीं होता उस मनुष्याकार ढेले (जड़) को शास्त्र भी कैसे समझावेगा ? अर्थात् मूर्ख को ज्ञान होना असम्भव है ॥१९॥

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०॥

अन्वय–'मे जिह्वा अस्ति न वा' इति उक्तिः यथा केवलं लज्जायै; 'मया बोधः न बुध्यते बोधव्यः ? इति तादृशी।

फिर जैसे किसी उन्मत्त पुरुष का यह कहना कि "मेरी जिह्वा नहीं है" उसे केवल लजाता ही है : जब जिह्वा के बिना भाषण असम्भव है तब किसी का ऐसा कहना उसकी मूर्खता को जतलाता है। ऐसे ही "मैं बोध (घटादि के स्फुरणरूप ज्ञान) को अब तक नहीं जानता ; उस बोध को मुझे अभी जानना है" यह कथन भी वैसा ही लज्जाजनक है ; क्योंकि बोध के बिना यह बात भी नहीं कही जा सकती ॥२०॥

ब्रह्मनिश्चय का स्वरूप

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥२१॥

अन्वय–लोके यस्मिन् यस्मिन् बोधः अस्ति तदुपेक्षणे यत् बोधमात्रं तत् ब्रह्म ; एवं धीः ब्रह्मनिश्चयः।

लोक में जिन घट आदि नाम वाले विषयों का ज्ञान होता है उन-उन विषयों की उपेक्षा (अनादर) कर देने पर उन घटादि विषयों में जो केवल ज्ञानरूप से स्फुरण है, वही ब्रह्म है अर्थात् ऐसी बुद्धि का हो जाना ही 'ब्रह्मनिश्चय'=ब्रह्मज्ञान कहलाता है।

पंचकोशविवेक का फिर भी उपयोग

घटादि विषयों की अपेक्षा से ही उस-उस घटादि विषयों का ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाता है तो फिर पंचकोश-विवेक की क्या आवश्यकता है ? यह बताते हैं:–

पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥२२॥

अन्वय–पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः सः एव स्वस्वरूपं स्यात्। तस्य शून्यत्व दुर्घटम्।

बुद्धि से अन्नमय आदि पांचकोश 'अनात्म' हैं ऐसा निश्चय

कर लेने पर वह साक्षी प्रत्यगात्मारूप बोध ही शेष रह जाता है ; वह साक्षीरूप बोध ही स्वस्वरूप-ब्रह्म है। यदि यह कहो कि अनुभव-सिद्ध अन्नमय आदि कोशों के परित्याग-(आत्मा न मानने) से तो शून्य ही रह जायगा ; तो यह कथन ठीक नहीं है ; क्योंकि साक्षीरूप बोध, शून्य नहीं हो सकता ॥२२॥

'साक्षिबोध की शून्यता असम्भव है'—इसका समर्थन

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

अन्वय—स्वयं तावत् अस्ति नाम विवादाविषयत्वतः। स्वस्मिन् अपि विवादः चेत्, अत्र प्रतिवादी कः भवेत् ?

पहली बात तो यह है कि स्वयं शब्द का वाच्य 'स्वस्वरूप' (अपना आपा) नाम की वस्तु लौकिक एवं वैदिक (शास्त्रवेत्ता) सब के मत में विद्यमान है ही। यह स्वस्वरूप 'मैं हूँ या नहीं' ऐसी विप्रतिपत्ति (विवाद) का विषय नहीं है। यदि अपने आपे में भी विवाद हो तो इस विवाद में प्रतिवादी कौन होगा ? ॥२३॥

यदि यह कहो कि आत्मा को असद् मानने वाला ही यहां प्रतिवादी होगा इसका उत्तर देते हैं:—

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ।
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥२४॥

अन्वय—स्व असत्वं तु विभ्रमं विना कस्मैचित् न रोचते। अत-एव च श्रुतिः असत्ववादिनः बाधं ब्रूते।

भ्रान्ति (पागलपन) अवस्था को छोड़कर दूसरी किसी भी दशा में अपना अभाव तो कोई भी नहीं मानता। इसीलिये श्रुति भी असत्वादी अर्थात् शून्यवादी का निषेध करती है ॥२४॥

वह कौन सी श्रुति है यह बताते हैं :—

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५॥

अन्वय–ब्रह्म असत् इति वेद चेत् ? स्वयं एव असत् भवेत् । अतः अस्य वेद्यत्वं मा भूत्, स्वसत्वं तु अभ्युपेयताम् ।

यदि कोई यह समझता है कि 'ब्रह्म असत्' है तो वह स्वयं भी असत् हो जाता है । इसलिए यह आत्मा ज्ञान का विषय भले ही न हो, अपनी सत्ता को तो मान ही लेना चाहिए ॥२५॥

वेद्यत्वाभाव में आत्मा का स्वरूप

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ।
यदनीदृगताटक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६॥

अन्वय–तर्हि कीदृग् इति पृच्छेत् चेत् ? तत्र ईदृक्ता नहि अस्ति । यत् अनीदृक् च अतादृक् तत् स्वरूपं विनिश्चिनु ।

आत्मा वेद्य नहीं है तो कैसा है ? इस प्रश्नके उत्तरमें 'आत्मा ऐसा है' इस प्रकार किसी भी रूप में विशिष्टता स्वीकार करने से उस ही रूप में आत्मा वेद्य हो जायगा और यदि 'ऐसा है' इसको किसी भी रूप में स्वीकार न करें तो फिर वह 'शून्य' हो जायगा; इसलिए कहते हैं कि आत्म तत्त्व में 'ईदृक्ता' (ऐसापन) है ही नहीं। इसी प्रकार उसमें 'तादृक्ता' (वैसापन) भी नहीं हैं । जो ऐसा भी नहीं और वैसा भी नहीं उसी को आत्मा का अपना स्वरूप समझो ।

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक्परोक्षस्तादृगुच्यते ।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

अन्वय–अक्षाणानं विषयः तु ईदृक्, परोक्षः तादृक् उच्यते । विषयी अक्षविषयः न । स्वत्वात् अस्य परोक्षता न ।

इन्द्रियजन्यज्ञान के विषय घट आदि 'ऐसा' (ईदृक्) शब्द के

वाच्य होते हैं और परोक्ष, धर्माधर्म स्वर्ग आदि 'वैसा' (तादृक्) शब्द के वाच्य हैं। आत्मा प्रत्यक्ष तो है नहीं और स्वस्वरूप होने से परोक्षता भी उसमें नहीं है; अतएव न वह 'ईदृक्' शब्द का और न ही 'तादृक' शब्द का वाच्य है।

आत्मा की स्वप्रकाशकता के बहाने शून्यता का निषेध

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

अन्वय—अयं अवेद्यः अपि अपरोक्षः। अतः स्वप्रकाशः भवति। इह सत्यं ज्ञानं च अनन्तं इति ब्रह्मलक्षणं अस्ति।

यह आत्मा इन्द्रियजन्यज्ञान का अविषय होता हुआ भी अपरोक्ष है; इसलिए स्वप्रकाशरूप है।

यहां यह अनुमान है :—आत्मा स्वप्रकाशरूप है; संवित् (ज्ञान) का विषय हुए बिना अपरोक्ष होने से; जैसे संवेदन [इन्द्रियजन्य वृत्तिज्ञान]। इस अनुमान में हेतु का विशेषण 'संवित् का विषय हुए बिना' असिद्ध नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा संवित् का कर्म [विषय] भी होवे तो वही कर्ता भी होगा और इस प्रकार विरोध होगा।

यदि यहां यह कहो कि वही आत्मा चेतनमात्र साक्षीरूप में ज्ञान का कर्ता या ज्ञाता है और अन्तःकरणविशिष्टरूपसे कर्म [ज्ञान का विषय] है, और इस प्रकार विरोध नहीं है; तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यों तो गमन क्रिया में भी एक ही पुरुष जीवरूप में कर्ता और देहविशिष्टरूप से गमनक्रिया का कर्म होगा और इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन होगा।

यदि यह कहो कि इस अनुमान में 'संवेदन की न्याईं' यह दृष्टान्त सिद्धिरहित है; सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि संवेदन को

यदि अपनी सिद्धि के लिए दूसरे संवेदन की चाह रहेगी तो इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

यदि यह कहो कि न्याय के मत में घट का ज्ञान घटाकारवृत्ति से और घटज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसायज्ञान से होता है। ["यह घट है" यह घटज्ञान का आकार है और 'मैं घट को जानता हूँ' यह अनुव्यवसायज्ञान का आकार है।] इस प्रकार "संवेदन की भान्ति" यह दृष्टान्त असिद्ध है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक इन्द्रियजन्यवृत्तिरूप ज्ञान दूसरे इन्द्रियजन्यवृत्तिरूप ज्ञान से भासमान नहीं है। इसलिए उक्त दृष्टान्त असिद्ध नहीं है।

इस प्रकार आत्मा स्वप्रकाश है यह सिद्ध हो जाने पर भी वह आत्मा ब्रह्म है यह बताते हैं–श्रुति ने ब्रह्म का जो सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप लक्षण बताया है वह लक्षण इस आत्मामें विद्यमान है। इसलिए इस स्वयंप्रकाश तत्त्व को ब्रह्म मान लेना चाहिये ॥२८॥

सत्यता का लक्षण और आत्मा की सत्यरूपता

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

अन्वय–बाधराहित्यं सत्यत्वम्। जगद्-बाध-एकसाक्षिणः बाधः किं-साक्षिकः? ब्रूहि। असाक्षिकः तु न इष्यते।

बाधशून्यता ही सत्यता है। सत्य उसी को कहते हैं जिसकी बाधा [मिथ्यापन का निश्चय] कभी न होती हो; जो बाधयोग्य है वह असत्य है–सत्य और मिथ्या का यह विवेक पूर्वाचार्योंने किया है। और जो इस जगत् के बाध का एकमात्र साक्षी आत्मा है उस के बाध का साक्षी कौन हो सकता है? कोई नहीं। अभिप्राय यह

है कि सुषुप्ति, मूर्छा और समाधि अवस्था में जब स्थूल, सूक्ष्म देहादिरूप यह जगत् नहीं रहता, तब उसके अभाव का साक्षी (उस अभाव को जानने वाला) आत्मा ही है; उस आत्मा के न रहने का साक्षी कौन है ? कोई भी नहीं है। अतएव आत्मा अबाध्य है; क्योंकि साक्षिरहितबाध तो माना नहीं जाता, नहीं तो अतिप्रसंग–मर्यादा का उल्लंघन–होता है ।।२९।।

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ।।३०।।

अन्वय–मूर्तेषु अपनोतेषु अमूर्तं वियत् हि शिष्यते । शक्येषु बाधितेषु अन्ते यत् शिष्यते तत् एव तत् ।

घर आदि में रखे आकारवान् पदार्थों को घर से निकाल देने पर भी निकालने के अयोग्य अमूर्त (निराकार) आकाश ही शेष रह जाता है; इसी प्रकार आत्मा से भिन्न सब बाधयोग्य, मूर्तामूर्त देह; इन्द्रिय आदि का "यह भी नहीं है" "यह भी नहीं है" (नेति, नेति)* इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाध का साक्षी जो बोध (ज्ञान) मात्र शेष रह जाता है वही बाधरहित आत्मा है ।।३०।।

सर्वबाधे न किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि ।।३१।।

अन्वय–सर्वबाधे न किंचित् चेत् ? यत्-न किंचित् तत्+एव तत् । अत्र भाषा एव भिद्यन्ते, निर्बाधं तावत् अस्ति हि ।

---

* जैसे किसी वनकी एक ही गुफामें रहने वाले दो शेर पिता-पुत्र मेढ़ोंमें से एक-एक मेढ़ेको खा जावें; वैसे ही ब्रह्मरूपवम की "नेति नेति" इस श्रुति रूप गुफामें निषेध अर्थके वाची दो 'नञ्' प्रत्यय हैं। वे कारण (अज्ञान) और कार्य (स्थूल सूक्ष्म) रूप दोनों प्रपञ्चोंका क्रमसे निषेध करते हैं।

यदि यह कहो कि प्रतीयमान मात्र का निषेध करने से तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा; फिर कैसे कहते हो कि जो शेष रहे वह आत्मा है ? इस का उत्तर यह है–'कुछ शेष नहीं रहता' ऐसे कहनेवाले शून्य-वादी को भी सब के अभाव का ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा; वही ज्ञान हमारा अभीष्ट आत्मा का रूप है। क्योंकि 'कुछ नहीं' (न किंचित्) इस शब्द से जिस चैतन्य का उल्लेख किया जाता है वही वह ब्रह्म है।

यदि यह कहो कि 'कुछ नहीं हैं' इस अभाववाचक शब्दसे भावरूप चैतन्य का उल्लेख कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि बाध (अभाव) का साक्षी तो मानना ही पड़ेगा। यहां वाचक-शब्दों (भाषा) में ही हेर फेर है, 'नकिंचित्' कह दो या 'साक्षी' कह दो। इनके वाच्य, बाध के साक्षी, बाधरहित प्रत्यगात्मा के विषय में तो कोई विवाद नहीं है; बाध का साक्षी तो हमें मानना ही पड़ेगा।

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः॥३२॥

अन्वय–अतएव "स एषः आत्मा न इति, न इति" इति श्रुतिः अतद्व्यावृत्तिरूपतः बाध्यं बाधित्वा अदः शेषयति।

क्योंकि साक्षिचैतन्य अबाध्य है इसलिए "यह आत्मा यह नहीं है यह नहीं है" यह श्रुति अनात्मपदार्थों का निराकरण करते-करते बाधयोग्य सब अनात्म पदार्थों का निषेधकर, निराकरण के अयोग्य इस प्रत्यक् आत्मस्वरूप को शेष रख लेती है ॥३२॥

बाधशक्य और बाधाशक्य का विभाग

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः॥३३॥

अन्वय—यत् यावत् इदं रूपं तत् तु अखिलं त्यक्तुं शक्यते अनिदंरूपः अशक्यः हि बाधवर्जितः सः आत्मा।

'यह' इस प्रकार दृश्य रूपमें अनुभूयमान जो भी देह आदि है वह सबका सब त्यागा जा सकता है। और जो प्रत्यक्रूप होने के कारण 'यह' से जानने के योग्य नहीं है, वह साक्षी आत्मा त्यागा जा नहीं सकता। जो बाधरहित साक्षी है वही आत्मा है; अहंकार आदि दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं हैं ॥३३॥

आत्मा की ज्ञानरूपता

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम्।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४॥

अन्वय—ब्रह्मणि सत्यत्वं सिद्धम्। ज्ञानत्वं तु 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्' इत्यदि वचनैः पुरा स्फुटं ईरितम्।

इस प्रकार आबाध्य होने से, ब्रह्म में जो सत्यत्व कहा है वह आत्मा में सिद्ध हो गया। ज्ञानरूपत्व (चिद्रूपता) तो पहले ही 'स्वयमेवानुभूतित्वात्' इत्यादि वचनों से (११ से २२ श्लोक तक) सिद्ध कर चुके हैं।

ब्रह्म की अनन्तरूपता में प्रमाण

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥

अन्वय—व्यापित्वात् देशतः अन्तः न ; नित्यत्वात् कालतः अपि न (अन्तः); सार्वात्म्यात् वस्तुतः अपि न (अन्तः)। (एवं) ब्रह्मणि त्रिधा आनन्त्यं (अस्ति)। ततः ब्रह्मानन्त्यं स्फुटम्।

पहले ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि—'नित्य विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं (मुण्डक १-१-६) 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ २-४;१३) 'इदं सर्वं

यदयमात्मा' [बृ.२-४-६] 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (माण्डू. २) 'ब्रह्मै वेदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मकी व्यापकता, नित्यता और सर्वात्मकता का प्रतिपादन है। इसलिए ब्रह्म में तीन प्रकार की अनन्तता माननी चाहिए; व्यापक होने से उसका देशकृत अन्त नहीं है; नित्य होने के कारण उसका कालकृत अन्त नहीं है और सब का आत्मा होने के कारण उसका वस्तुकृत अन्त भी नहीं है।* इस प्रकार देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित होने के कारण वह ब्रह्म तीन प्रकार से अनन्त है ॥३५॥

युक्ति से ब्रह्म की अनन्तता की सिद्धि

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया।
न देशादिकृतोन्तोस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६॥

अन्वय—च देशकालवस्तूनां मायया कल्पितत्वात् देश-आदि कृतः अन्तः न-अस्ति। ततः ब्रह्मानन्त्यं स्फुटम्।

---

* अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भाव देशपरिच्छेद होता है। जो वस्तु किसी देश में हो और किसी में न हो तो वह वस्तु देशपरच्छेदवाली कहलाती है; जैसे घट, पट आदि। ब्रह्म देशपरिच्छेद रहित है, क्योंकि वह व्यापक है, जो देश-परिच्छेदरहित नहीं है, वह व्यापक भी नहीं है जैसे घटपट आदि।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगीभाव कालपरिच्छेद कहलाता है। जो वस्तु किसी समय में हो पर दूसरे समय में न हो तो वह कालपरिच्छेद वाली कहलाती है। ब्रह्म उत्पत्ति-विनाश रहित होनेसे नित्य है इसलिए काल-परिच्छेदरहित है।

अन्योन्याभाव का प्रतियोगी भाव वस्तुपरिच्छेद कहलाता है। जब कोईवस्तु दूसरी वस्तुसे भिन्न हो तो उन दोनोंका परस्पर परिच्छेद होता है। ब्रह्म तो सब कल्पित वस्तुओं का अधिष्ठान (विवर्त्तोपदानकारण) है; इसलिए सबका स्वरूप है। कल्पित की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं होती। इसलिए ब्रह्म की वस्तुओंसे भिन्नता नहीं है।

परिच्छेद [अन्त] के हेतु देश,काल और पदार्थों की कल्पना माया ने की है। जैसे कल्पित गन्धर्वनगर, नीलपन, कढाई जैसे आकारवाला आदि भेद आकाश में सम्भव नहीं हैं; वैसे ही ब्रह्म में माया से कल्पित देश आदि का परिच्छेद, वास्तविक नहीं होता। अतएव ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट ही है। और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म और आत्मा को एक बता रही हैं। अतएव आत्मा की अनन्तता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

[आत्मा में ब्रह्म के लक्षण को घटाते हुए ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध की गई है; इसलिए जैसे महाकाश से घटाकाश भिन्न नहीं होता वैसे ही ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा है और उस आत्मा की अनन्तताका प्रतिपादन ग्रन्थकर्ता की इच्छा है--इसलिए यह अर्थ किया गया है।]

[शंका] जड़ जगत् का ब्रह्म में आरोप किया गया है अतएव वह चाहे ब्रह्म का परिच्छेदक न हो, पर चेतन जीव और ईश्वर तो ब्रह्म में कल्पित नहीं हैं; अतएव उनके किए परिच्छेदवाला होने से ब्रह्म अनन्त नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम्॥३७॥

अन्वय—सत्यं ज्ञानं अनन्तं (च) यद् ब्रह्म तद् वस्तु। तस्य ईश्वरत्वं च जीवत्वं तत् उपाधिद्वयं कल्पितम्।

सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ही एक पारमार्थिकवस्तु है; उस ब्रह्म को लोक में ईश्वर या जीव कहना तो, आगे [३८ से ४१वें श्लोक तक] कही गई दो उपाधियों–माया और पंचकोश–से कल्पित है। कल्पित होने से ही जड़ की भान्ति जीव-ईश्वर भी ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं हैं।

शक्ति का निरूपण

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८॥

अन्वय—काचित् (अनिर्वचनीया) सर्ववस्तुनियामिका शक्तिः अस्ति । (सा) आनन्दमयं आरभ्य सर्वेषु वस्तुषु गूढा ।

कोई सत् अथवा असत् या दोनों रूप; अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न अथवा अभिन्न, या दोनों रूप; निरवयव, सावयव अथवा दोनों रूप—इनमें से किसी भी शब्द से निरूप्य न होने वाली, बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय के अन्तर्यामीब्राह्मण नामक प्रकरण में वर्णित, नियम में रखने योग्य पृथिवी आदि पदार्थों को नियम में रखने वाली, ईश्वर की उपाधिभूत, ईश्वर की [ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली] शक्ति है; वह शक्ति आनन्दमय से लेकर ब्रह्माण्ड तक सब वस्तुओं में गूढभाव से छिपी बैठी है । इसीलिए दीख नहीं पड़ती ॥३८॥

[शंका] जो शक्ति नियम से उपलब्ध नहीं होती उसको असत् ही क्यों न मान लिया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं—

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्यान्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत् खलु ॥३९॥

अन्वय—वस्तुधर्मा यदा शक्त्या न+एव नियम्येरन् तदा अन्योन्यधर्मसांकर्यात् खलु जगत् विप्लवेत ।

पृथिवी आदि वस्तुओं के कठिनता आदि धर्मों का यदि मायारूप शक्ति से नियमन (व्यवस्था) न हो तो वे गड्डम गड्ड होकर एक ही स्थान में इकट्ठे हो जांय और निश्चय ही जगत् में अव्यवस्था फैल जाय ॥३९॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०॥

अन्वय—सा शक्तिः चिच्छायावेशतः चेतना इव विभाति। तत्+शक्ति+उपाधिसंयोगात् ब्रह्म एव ईश्वरतां व्रजेत्।

वही शक्ति चिदाभास के प्रवेश से चेतन सी प्रतीत होती है। इसीलिए जड़ होते हुए भी नियामक अर्थात् नियम की कर्त्री है। वही, चिदाभासयुक्त शक्ति ही, उपाधि है; उससे जो कल्पिततादात्म्य-सम्बन्ध है उसके कारण, सत्य आदि लक्षणवाला ब्रह्म ही ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञता आदि धर्मों से युक्त बन जाता है ॥४०॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रो यथा प्रति ॥४१॥

अन्वय—कोशोपाधिविवक्षायां ब्रह्म एव जीवतां याति; यथा एकः (देवदत्तादिः) पुत्रपौत्रौ प्रति पिता च पितामहः।

जब कोश [पंचकोश] रूपी उपाधि [विशेषण] की पर्यालोचना की जाती है, तब सत्यतादिलक्षणवाला ब्रह्म ही [जो कभी ईश्वर भी बनता है, वही] 'जीव' भी बन जाता है। जैसे एक ही देवदत्त आदि पुरुष एक ही समय में पुत्र का पिता और पौत्र का पितामह होता है ऐसे ही ब्रह्म भी एक ही समय में कोशरूप उपाधि की दृष्टि से जीव और शक्तिरूप उपाधि की दृष्टि से ईश्वर कहलाता है ॥४१॥

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥४२॥

अन्वय—पुत्रादेः अविवक्षायां पिता न पितामहः न। तद्वत् शक्तिकोशाविवक्षणे ईशः न जीवः अपि न।

जैसे पुत्र आदि की विवक्षा न रहने पर मनुष्य न किसी का

पिता होता है, न पितामह; वैसे ही जब किसी को शक्ति और कोश की विवक्षा नहीं रहती–जब इन उपाधियों की ओर साधक की दृष्टि नहीं रहती–तब वह ब्रह्म 'ईश्वर' या 'जीव' कुछ नहीं रहता ॥४२॥

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥४३॥

अन्वय–यः एवं ब्रह्म वेद एषः स्वयं ब्रह्म एव भवति । ब्रह्मणः जन्म न अस्ति अतः एषः पुनः न जायते ।

विवेक आदि चारसाधनोंसे सम्पन्न अधिकारी जब कथित प्रकार से पांचों कोशों का विवेक करके प्रत्यक्आत्मा से अभिन्न सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। और क्योंकि ब्रह्म का जन्म नहीं होता इसलिए फिर वह ज्ञानी भी स्वात्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान हो जाने के कारण जन्मता नहीं है।* "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मविदाप्नोति परम्" 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के तृतीय प्रकरण-पंचकोशविवेक
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।

---

* जैसे निर्विकार कुन्ती के पुत्र कर्ण में राधापुत्रभाव की प्रतीति होती है वैसे निर्विकारचिदानन्दघन ब्रह्म में अविद्या के कारण जीवभाव की प्रतीति होती है। वास्तव में तो सब सर्वदा ब्रह्मरूप ही हैं इसलिए यद्यपि वास्तविक जन्म आदि संसार का अभाव है, तो भी अविद्याकृत जीवभाव के कारण अज्ञानियों को अपने जन्म आदि की प्रतीति होती है। फिर जैसे सूर्य के कहने से कर्ण का कुन्तीपुत्र होना ज्ञात होने पर उसके राधापुत्र होने की भ्रान्ति मिट गई थी; वैसे ही; गुरुके उपदेश से अपने निर्विकार ब्रह्मत्व का ज्ञान होने र जन्मादि संसार की निवृत्ति हो जाती है।

अथ द्वैतविवेकः—४

मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे द्वैतविवेकस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

श्रीयुक्त सब गुरुओं को नमस्कार करके पंचदशी के द्वैतविवेक प्रकरण की तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या करता हूँ।

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१॥

अन्वय—ईश्वरेण, अपि जीवेन, सृष्टं द्वैतं विविच्यते। विवेके सति जीवेन हेयः बन्धः स्फुटीभवेत्।

मायारूपकारणोपाधिवाले अन्तर्यामी ईश्वर और अन्तःकरण-रूप कार्योपाधिवाले, 'मैं' की प्रतीतिवाले जीव के बनाए द्वैतों को पृथक् करके दिखाया जाता है। कौनसा द्वैत ईश्वरकृत है और कौन सा जीवकृत है, यह ज्ञात हो जाने पर, पंचकोशरूप उपाधि वाले जीव को यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि परित्याग करने योग्य सुख-दुःखरूप बन्ध का हेतु जगत् कितना है। (तब यह ज्ञात हो जायगा कि जीव कितना द्वैत छोड़ सकता है और कितने द्वैत को हटाना उसके बस का नहीं है; ईश्वर के संकल्प से बना द्वैत हटाना उसके बस का नहीं है; उसको तो अपना बनाया हुआ द्वैत ही हटाना है।] ॥१॥

ईश्वर के स्रष्टा होने में श्रुति प्रमाण

जीवके अदृष्ट (धर्माधर्म) आदि किसी को भी जगत् का कारण मानना ठीक नहीं है; क्योंकि अनेक श्रुतियाँ इस स्थापना का विरोध करती हैं। इन श्रुतियां का क्रमशः दिग्दर्शन कराते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥२॥

अन्वय–"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरं (विद्यात्) सः मायी सृजति" इति श्वेतश्वतरशाखिनः आहुः ।

श्वेताश्वतरशाखावाले कहते हैं कि माया प्रकृति (उपादानकरण) है और माया का अधिष्ठान ब्रह्म महेश्वर है। वह माया उपाधिवाला परमेश्वर जगत् की रचना करता है। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" ॥२॥

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥३॥

अन्वय–"इदं अग्रे आत्मा वा अभूत् सः सृजै इति ईक्षत । सः संकल्पेन एतान् लोकान् असृजत्"–इति बह्वृचाः ।

ऋग्वेदगत ऐतरेय उपनिषद् के वचन (आत्मा वा इदम् एक एव अग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत् २-१-१ इत्यादि) के अनुसार बह्वृच शाखा वालों ने कहा है कि पहले अकेला आत्मा ही था; उसने संकल्प किया कि 'मैं लोकों की रचना करूं;' इस संकल्प से ही उस ने लोकों को बनाया ॥३॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥
बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

अन्वय– "खं-वायु-अग्नि-जल-ऊर्वि-औषधि-अन्न-देहाः अमी अखिलाः क्रमात् तस्मात् एतस्मात् ब्रह्मणः सम्भूताः ।" "अहं एव बहु स्याम्, अतः प्रजायेय–इति कामतः तपः तप्त्वा सर्वं जगत्

असृजत् ।"—इति तित्तरिः आह ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'तस्मात् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः "अन्नात् पुरुषः" "सो कामयत बहुस्याँ प्रजायेय" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषद् में तित्तिरि ने कहा है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल; पृथिवी, औषधि, अन्न और देह, क्रमशः, उस (वेद के परिमित अक्षररूप मंत्रभाग से प्रतिपादित) और इस (वेद के अपरिमित अक्षररूप ब्राह्मणभाग से प्रतिपादित) आत्मारूप ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं ।

और कि "मैं बहुत हो जाऊं—प्रजारूप से उत्पन्न हो जाऊं—इस कामना से तप को तपकर (विचार करके) इस सब जगत् को उत्पन्न कर डाला । इस प्रकार तित्तिरि के मत में जगत् के सर्जन की इच्छा और विचारात्मक तप द्वारा ब्रह्म जगत् का स्रष्टा है ॥४,५॥

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६॥

अन्वय—"अग्रे इदं सत् एव आसीत्, तत् बहुत्वाय ऐक्षत; च तेज.—अप्-अन्न-अण्डजादीनि ससर्ज"—इति सामगाः ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जरायुजमुद्भिज्जम्" इत्यादि सामवेदगत छान्दोग्योपनिषद् के वाक्यों से सामवेद के गायन करने वाले ब्राह्मण कहते हैं कि—सृष्टि से पहले यह जगत् सद् ब्रह्म ही था; उस ब्रह्म ने बहुत होने के लिए आलोचन [विचार] किया और तेज, जल, पृथिवी अन्न तथा अण्डज, जरायुज और उद्भिज प्राणियों को रचा ॥६॥

विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा ।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥७॥

अन्वय–'यथा वह्नेः विस्फुलिङ्गाः जायन्ते तथा अक्षरतः

विविधाः चित्+जडाः (जायन्ते)–इति आथर्वणिका श्रुतिः।

"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड २–१–१) इत्यादि अथर्ववेद की श्रुति मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि—जैसे अग्नि* से सूक्ष्मअंशरूप चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अविनाशी ब्रह्मतत्त्व से विविध प्रकार के चेतन और जड़ पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥७॥

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥८॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा।
पिपीलिकावधिद्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ॥९॥

अन्वय–'पूर्वं जगत् अव्याकृतं आसीत्, अधुना दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां व्याक्रियत ; ते विराडादिषु स्फुटे। (विराडादयश्च इत्थं)–विराट्, मनुः ; नरः, गावः, खर+अश्व+अजावयः, तथा पिपीलिकावधि द्वन्द्वम्'–इति वाजसनेयिनः।

"तद्धीदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ

*महातेज अग्निके दोरूप हैं, एक निरुपाधिक सामान्य और दूसरा काष्ठ आदि उपाधिवाला विशेष। विशेषरूप उपाधिभेद से नानाविध और परिच्छिन्न है। उस सोपाधिक अग्नि के ढेर से उसकी अंशभूत चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और वे फिर उपाधि के अंशों के विलय के साथ-साथ विलीन हो जाती हैं। वास्तविक अग्नि की नानारूप से उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। ऐसे ही चेतन के भी निरुपाधिक ब्रह्म और माया-अविद्या-उपाधि-विशिष्ट चिदाभास ये दो क्रमशः सामान्य और विशेषरूप हैं। विशेषरूप ही विविध और परिच्छिन्न है। और उपाधि अंश के कारण ही उसमें नानात्व एवं उत्पत्ति-विनाशशीलता है। वास्तविक चेतन में नानाभाव अथवा उत्पत्ति, विलय आदि नहीं हैं। इस प्रकार जीव ब्रह्म का वास्तविक अंशांशीभाव नहीं है।

नामायमिदं रूपम्" (.बृ १-४-७) शुक्लयजुर्वेदगत बृहदारण्यक उपनिषद् के इन वाक्यों में वाजसनेयियों ने यह कहा है कि—यह जगत् सृष्टिसे पहले अव्याकृत (ब्रह्म) रूप था और अब, सृष्टिके पश्चात् द्रष्टा के विषय [दृश्य]—नाम तथा रूप—इन दो से व्याकृत अर्थात् स्पष्ट हो गया। वे नाम और रूप विराट् आदि स्थूल कार्यों में स्पष्ट दीख पड़ते हैं ॥८॥

और 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' 'एवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्य स्तत्सर्वमसृजत्'—इत्यादि वाक्यों में विराट् आदि का वर्णन किया है। वे निम्नलिखित हैं—विराट्, मनु, मनुष्य, गौ, गर्दभ, घोड़े, बकरे, पक्षी, मेंढा और चींटी पर्यन्त स्त्रीपुरुषमय मिथुन [जोड़े] ॥९॥

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

अन्वय—"ईश्वरः जैवं रूपान्तरं कृत्वा देहे प्र+अविशत्" इति ताः श्रुतयः प्राहुः : प्राणधारणात् जीवत्वम्।

ये ही श्रुतियां यह भी बताती हैं कि वही ईश्वर अपना एक विकारी रूपान्तर करके अर्थात् अपने अविकारी ब्रह्मत्व से विलक्षण विकारी जीवरूप को धारण करके देहों मे प्रविष्ट हो गया है; और प्राणधारण करने से अर्थात् इन्द्रिय आदि वस्तुओं का स्वामी बन कर उनका प्रेरक होने से ही वह जीव हो गया है अर्थात् जीवका रूप धारण करके शरीरों में प्रविष्ट हो गया है ॥१०॥

जीव का स्वरूप

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ॥११॥

अन्वय—यत् अधिष्ठानं चैतन्यं पुनः यः च लिङ्गदेहः, लिङ्ग-

देहस्था चिच्छाया च–तत्संघः जीव उच्यते ।

लिंगदेह की कल्पना का आधारभूत अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् घटाकाशस्थानीय कूटस्थ है; एक तो यह; दूसरा उस कूटस्थमें अध्यस्त, जलपूरितघटस्थानीय लिंगदेह और तीसरा उस लिंगदेह में वर्तमान चिदाभास,महदाकाश के प्रतिबिम्बस्थानीय ब्रह्म का प्रतिबिम्ब —ये तीनों मिलकर 'जीव' कहलाते हैं ।।११।।

जब ईश्वर ही जीव बना है तो उसमें अज्ञता, दुःखता आदि विरोधी धर्म कहां से आगये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ।।१२।।

अन्वय—माहेश्वरी तु या माया तस्याः निर्माणशक्तिवत् मोहशक्तिः च विद्यते ; असौ जीवं मोहयति ।

'मायिनं तु महेश्वरम्' इस श्रुति में बताई गई महेश्वर की माया अर्थात् मूलप्रकृति जैसे जगत् की रचना में समर्थ है, वैसे ही वह मोहने में भी समर्थ है । श्रुति में कहा भी है–'तदेज्जडं मोहात्मकम्' । यह मोहन शक्ति ही जीव को मोहित कर देती है अर्थात् जीव को इस शक्ति के प्रभाव से ही अपने चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान नहीं रहता ।।१२।।

मोहदनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ।।१३।।

अन्वय–मोहात् अनीशतां प्राप्य वपुषि मग्नः शोचति–इति इदं ईशसृष्टं सर्वं अद्वैतं समासतः उक्तम् ।

मोहके कारण उस जीवमें इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति का सामर्थ्य नहीं रहता–वह अनीश बन जाता है । और इस प्रकार शरीरमें तादात्म्यरूप अहंभावसे डूबकर शोक करने लगता है । 'मैं

दुःखी हूँ' ऐसा अपने आप को मानने लगता है। मुंडक उपनिषद् [३-१-१] में भी कहा है—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ॥ ईश्वररचित जड़चेतनमय द्वैत-वर्णन के पश्चात् अब जीव रचित द्वैत का वर्णन करते हैं ॥१३॥

जीव के द्वैतस्रष्टा होने का प्रमाण

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥१४॥

अन्वय–सप्तान्नब्राह्मणे जीवसृष्टं द्वैतं प्रपञ्चितम् । पिता ज्ञानेन कर्मणा (च) सप्त अन्नानि अजनयत् ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के सप्तान्नब्राह्मण में 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत् पिता' [बृ॰ १-५-१] ऐसा कह कर जीवरचित द्वैत का विस्तार से वर्णन किया गया हैं। उस वाक्य का अभिप्राय यह है कि–पिता अर्थात् अपने अदृष्ट द्वारा जगत्की उत्पत्ति करने वाले सर्वलोकपालक, जीव, ने सप्त अन्नों को ज्ञान [चिन्तन] और कर्म द्वारा उत्पन्न किया ॥१४॥

सप्तान्न सृष्टि का विनियोग

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

अन्वय–एकं मर्त्यान्नं, द्वे देवान्ने, चतुर्थकं पश्वन्नम् । अन्यत् त्रितयं आत्मार्थम् ; (इति) अन्नानां विनियोजनम् ।

'एकमस्य साधारणं, द्वे देवानभाजयत्, त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एकं प्रायच्छत् (बृ॰ १-५-२) बृहदारण्यक के इस वाक्य के अनुसार उन सातों अन्नों का विनियोग यों किया है–चावल आदि रूप एक मर्त्यान्न है; दर्श और पूर्णमासरूप ये दो देवताओं के अन्न हैं। दूध के रूप में चौथा पश्वन्न है। मन, वाणी और प्राण रूप तीन अन्न स्वयं जीव के हैं।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ।।१६।।

अन्वय–व्रीहि+आदिकं, दर्शपूर्णमासौ, क्षीरं, तथा मनः, वाक्, च प्राणाः–इति अन्नानां सप्तत्वं अवगम्यताम् ।

इन सात अन्नों के नाम ये हैं—व्रीहि आदि, दर्श, पूर्णमास, दुग्ध, मन, वाक् और प्राण । इनका वर्णन 'एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यत' से लेकर 'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः' इस वाक्य तक किया है । यहां साधारण का अर्थ 'सब भूतप्राणियों में बांटनेयोग्य' है । भूतयज्ञ में यही अन्न प्रसिद्ध है ।।१६।।

जीव ने ही ईश्वर रचित पदार्थों को भोग्य बनाया

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ।।१७।।

अन्वय–यद्यपि एतानि स्वरूपतः ईशेन निर्मितानि, तथापि, जीवः ज्ञानकर्माभ्यां तदन्नतां आकार्षीत् ।

यद्यपि ये सात अन्न स्वरूप से ईश्वररचित हैं तथापि जीव ने ज्ञान और कर्म के सहारे इनको अन्न (भोग्य) बना लिया है । ज्ञान का अर्थ विषय का ध्यान है । वह शास्त्रोक्त [विहित] और निषिद्ध [शास्त्रनिषिद्ध] दो प्रकार का होता है । देवतादि विषय का ध्यान अथवा उपासना विहित है और परस्त्री आदि विषय का चिन्तन निषिद्ध है । इसी प्रकार यज्ञादि विहित और हिंसा आदि निषिद्ध दो प्रकार के कर्म हैं । इन दो प्रकार के ज्ञान और कर्म के सहारे ही तंडुल से लेकर प्राण तक के सातों अन्न जीव के भोग्य [अन्न] बनते हैं । ईश्वर ने तो इनके स्वरूप का निर्माण किया परन्तु जीव ने अपने ज्ञान और कर्मों के सहारे इनको अपना अन्न [भोग्य] बना लिया ।।१७।।

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥

अन्वय—ईशकार्यं जीवभोग्यं जगत् द्वाभ्यां समन्वितम् । यथा योषित् पितृजन्या भर्तृभोग्या तथा इष्यताम् ।

सप्तान्नरूप से जिस जगत् का उल्लेख किया है उस जगत् का सम्बन्ध ईश्वर और जीव दोनों से है; यह ईश्वर का तो कार्य है और जीव का भोग्य (भोग का साधन) है। ईश्वर इस जगत् को बनाने वाला है और जीव इसको भोगने वाला। जैसे एक ही स्त्री, पिता से उत्पन्न होती है और पति की भोग्य होती है; ऐसे ही यह जगत् भी ईश्वर-जीव दोनों से सम्बद्ध है ॥१८॥

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥

अन्वय—मायावृत्त्यात्मकः हि ईशसंकल्पः जनौ साधनम् । मनोवृत्यात्मकः जीवसंकल्पः भोगसाधनम् ।

जब ईश्वर मायावृत्तिरूप संकल्प करता है तो उस संकल्प से यह जगत् उत्पन्न होता है। और अंतःकरण की वृत्ति (मनोवृत्ति) रूप जीव के संकल्प से यह जगत् सुखादिअनुभवरूपभोग बनता है। [यह जगत् अज्ञान अर्थात् माया के बल से बनता और मनसे भोगा जाता है।]॥१९॥

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०॥

अन्वय—ईशनिर्मितमण्यादौ एकविधे वस्तुनि स्थिते भोक्तृधीवृत्ति-नानात्वात् तद्भोगः बहुधा इष्यते ।

ईश्वररचित मणि आदि के एक प्रकार की होने पर भी भोक्ता बुद्धिवृत्तियों के नाना प्रकार की होने से, उस एक ही मणि आदि

का भोग विविध प्रकार का हो जाता है। एक ही पदार्थ में जो बहुत प्रकार का भोग देखा जाता है वह अपने (भोग-भेद के) प्रयोजक अर्थात् निमित्त कारण भोग्याकार (विषयाकार) भेद को सिद्ध करता है ॥२०॥

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१।

अन्वय–एकः मणिं लब्ध्वा हृष्यति हि अन्यः अलाभतः क्रुद्ध्यति। अत्र विरक्तः पश्यति एव ; न हृष्यति न कुप्यति।

मणि का लालची एक आदमी तो उसे पाकर प्रसन्न हो उठता है और दूसरा लालची उसके न मिलने से क्रुद्ध हो उठता है। मणि के प्रति वैराग्य (उदासीनता) रखने वाला तीसरा पुरुष उसी मणि को केवल देखता ही है; न प्रसन्न होता है और न क्रुद्ध होता है। इस प्रकार भोगभेद होने से भोग्यभेद भी मानना पड़ता है ॥२१॥

जीवरचित भोगभेद से रंजित आकारभेद

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

अन्वय–मणिगाः, प्रियः अप्रियः च उपेक्ष्यः इति त्रयः, आकाराः जीवैः सृष्टाः। त्रिषु साधारणं रूपं ईशसृष्टम्।

मणिमें जो प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा ये तीन आकार पाये जाते हैं वे तीनों जीवों के बनाये हुए हैं। और इन तीनों में सामान्य (सर्वनिष्ठ) अनुस्यूत जो मणिरूप है वह ईश्वर का बनाया हुआ है।२२।

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥२३॥

अन्वय–भार्या, स्नुषा, ननान्दा, याता च माता इति अनेकधा योषित् प्रतियोगिधिया भिद्यते, न स्वरूपतः।

देखते हैं कि एक ही ईश्वररचित स्त्री, पति-श्वसुर आदि सम्बन्धियों की भिन्न-भिन्न बुद्धियों के कारण 'पत्नी', 'पुत्रबधू', 'ननद', 'देवरानी' और 'माता' कहलाने लगती है; परन्तु वह स्त्रीशरीर शरीर से भिन्न नहीं होता; शरीर का स्वरूप तो वही का वही रहता है ॥२३॥

एक शंका

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४॥

अन्वय—ननु ज्ञानानि भिद्यन्तां, आकारः तु न भिद्यते । योषिद्वपुषि जीवनिर्मितः अतिशयः न दृष्टः ।

स्त्रीविषयक ज्ञान, 'भार्या है' 'पुत्रबधू है' आदि भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं, उन ज्ञानों का विषय बनी हुई स्त्री का आकार या स्वरूप भिन्न नहीं होता—वह वैसे का वैसा ही रहता है। स्त्री के शरीर में जीव से निर्मित कोई विशेषता नहीं पायी जाती; इस लिए यह कहना कि "सम्बन्धियों की भिन्न-भिन्न बुद्धि से स्त्री भी भिन्न भिन्न हो जाती है" अयुक्त है ॥२४॥

इस शंका का समाधान

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥

अन्वय—मा एवम् । काचित् मांसमयी योषित्, अन्या मनोमयी । मांसमय्याः अभेदे अपि मनोमयी हि भिद्यते ।

यह बात ठीक नहीं है कि स्त्रीके देहमें जीव-निर्मित कोई अतिशय या अधिक आकार नहीं है। एक स्त्री में दो स्त्रियां होती हैं—एक तो, ईशरचित मांसमयी और दूसरी जीवरचित मनोमयी। मांसमयी स्त्री के अभिन्न (एक) होने पर भी मनोमयी स्त्री भिन्न-भिन्न होती

हैं। [सिद्धान्त यह है कि ज्ञेय पदार्थ की विलक्षणता के बिना ज्ञान में विलक्षणता नहीं आती; जब ज्ञान में भिन्नता है तो ज्ञेयमें आकार-भेद मानना ही पड़ेगा ॥२५॥

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम्।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६॥

अन्वय-भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिषु मनोमयम् अस्तु। जाग्रन्मानेन मेयस्य मनोमयता न इतिचेत् ?

फिर शंका होती है कि भ्रान्ति, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मृति के समय जब कि बाह्य विषय नहीं होते तो, वहाँ की वस्तुएं मनोमय हुआ करें; परन्तु जो वस्तु जाग्रत्कालीन मान अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण की प्रमेय है उसको 'मनोमय' कैसे मान सकते हैं ? ॥२६॥

बाढं माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

अन्वय-माने विषयाऽऽकृतिः तु; तस्य मेयेन योगात् (सम्बन्धात्) स्यात्। भाष्यवार्तिककाराभ्याम् अयम् अर्थः उदीरितः।

इसका समाधान करते हैं कि-यह ठीक है कि प्रमिति के स्थल में बाह्य विषय रहा करता है, तो भी उस विषय को मनोमय इसलिए कहते हैं कि नाले के समान आकृति वाली मनोवृत्ति में विषयाकार (मनोमय स्वरूप), इन्द्रिय से विषय तक मेय पदार्थ के संयोग से पहुँचता है। भाष्यकार श्री शंकराचार्य और वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य—दोनों ने यह बात कही है ॥२७॥

इस विषयमें भाष्यकारने उपदेशसाहस्रीके दो श्लोकोंमें कहा है :-

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥

अन्वय-यथा ताम्रम् मूषासिक्तम् तन्निभम् जायते। तथा

रूपादीन् व्याप्नुवत् चित्तम् ध्रुवम् तन्निभम् दृश्यते ।

जैसे पिघले हुए ताम्बे को जब सांचे में ढाल दिया जाता है तो वह सांचे के आकार का ही हो जाता है, वैसे ही रूपादि विषयों को व्याप्त करने वाला चित्त भी, अवश्य ही, उन रूपादि के समान मनोमय दीखने लगता है ॥२८॥

जो कहो कि ताम्बे आदि को अग्निसंयोग से पिघलाकर जब सांचे में ढाला जाता है तो वहां ठोस सांचे के संयोग से ठंडे होकर, वे, सांचे के आकार के हो जाते हैं; परन्तु चित्त तो अमूर्त और इसीलिए ताम्बा आदि से विलक्षण है, वह विषय को व्याप्त करके भी विषयाकार कैसे हो सकता है? इस शंका के निवारणार्थ दूसरा दृष्टान्त देते हैं–

व्यञ्जको वा यथालोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२९॥

अन्वय–यथा वा व्यञ्जकः आलोकः व्यङ्ग्यस्य आकारतां इयात् । धी सर्वार्थव्यञ्जकत्वात् अर्थाकारा प्रदृश्यते ।

अथवा जैसे व्यञ्जक, सूर्य आदि का प्रकाश, प्रकाश्य घट आदि के आकारवाला हो जाता है; वैसे ही, सब पदार्थों की प्रकाशिका होने से बुद्धि भी पदार्थ के आकार की दीखने लगती है। जैसा आकार पदार्थ का होता है वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखने वाली बुद्धि का भी हो जाता है ॥२९॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥

अन्वय–मातुः मानाभिष्पत्तिः । निष्पन्नम् तत् मेयम् एति च । तत् मेयाभिसङ्गतम् मेयाभत्वम् प्रपद्यते ।

इसी विषय में वार्तिककार ने कहा है–पहले प्रमाता अर्थात् कूटस्थ अधिष्ठानसहित बुद्धिस्थ चिदाभासरूप प्रमाता, जीव से चिदाभाससहित अन्तःकरण, की वृत्तिरूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है।

जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है तब वह घटादि मेय पदार्थों के पास पहुँचता है और इस प्रकार मेय पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमेय के-से आकार का दीखने लगता है ॥३०॥

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥

अन्वय—एव सति मृन्मयधीमयौ घटौ विषयौ द्वौ स्तः । मृन्मयः मानमेयः धीमयः तु साक्षिभास्यः स्यात् ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण के विषय—घट, दो होते हैं—एक मिट्टी का और दूसरा मनोमय । जिस प्रकार मृन्मय घट मनोवृत्ति द्वारा प्रमाज्ञानका विषय अर्थात् प्रमाताभास्य है; (प्रमाण-वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है वे बाह्य घट पट आदि प्रमाताभास्य हैं ।) वैसे ही, मनोमय घट साक्षिभास्य है; (साक्षी से भीतर ही उत्पन्न हुई वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी-प्रकाशित करता है वे स्वप्न, सुख-दुःख और काम आदि मनोमय पदार्थ साक्षिभास्य हैं ।)

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत् ।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥

अन्वय—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयः जीवबन्धकृत् । अस्मिन् सति सुखदुःखे स्तः । असति तस्मिन् न द्वयम् ।

अन्वय-व्यतिरेक से यह बात सिद्ध होती है कि ईश्वररचित और जीवरचित द्वैतों में से जीवरचित धीमय (मनोमय) द्वैत संसार ही जीव को बन्धनमें डालने वाला है । [इसलिए वही हेय भी है ।]

अन्वयव्यतिरेक दिखाते हैं—कि जीव के बनाये मनोमय प्रपञ्च के होने पर ही सुख-दुःख होते हैं (यह अन्वय है) और उसके न होने पर दोनों ही नहीं होते । (यह व्यतिरेक है) ॥३२॥

सुख दुःख का जो अन्वय-व्यतिरेक मनोमय पदार्थों में बताया वह

बाह्य पदार्थ अर्थात् ईश्वररचित-प्रपञ्च का सम्बन्धी क्यों नहीं है, यह दर्शाते हैं—

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥३३॥

अन्वय—नरः स्वप्नादौ बाह्यार्थे च असति अपि बद्धचते। समाधिसुप्तिमूर्छासु अस्मिन् सति अपि न बद्धचते।

मनुष्य आदि प्राणी, स्वप्न या स्मृति आदि के समय, स्त्री आदि अनुकूल और व्याघ्र आदि प्रतिकूल और सच्चे बाह्यार्थ की अविद्यमानतामें भी सुखी या दुःखी हुआ करते हैं; इसके विपरीत, समाधि सुषुप्ति और मूर्छाके समय, बाह्यपदार्थोंके विद्यमान रहने पर भी सुखी या दुःखी नहीं होते। इससे यही सिद्ध होता है कि सुखदुःख के साथ ईश्वर-रचित बाह्यप्रपंचके अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं; किन्तु सुखदुःख के साथ जीवरचित मनोमय पदार्थों के ही अन्वयव्यतिरेक हैं। जीव अपने मनोमय प्रपञ्च से ही सुखी या दुःखी होता है ॥३३॥

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥
मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतः सर्वस्य जीवस्यबन्धकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

अन्वय—दूरदेशं गते पुत्रे जीवति एव अत्र तत्पिता विप्रलम्भकवाक्येनं मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥

तस्मिन् मृते अपि वार्तायां अश्रुतायां न रोदिति। अतः सर्वस्य जीवस्य मानसं जगत् बन्धकृत् ॥३५॥

किसी का पुत्र दूर देश (विदेश) में गया हो और वहां राजी खुशी रहता भी हो तो भी किसी ठग के झूठ-मूठ वाक्य (तेरा पुत्र मर गया) को सुन कर अपने पुत्र को (मनोमय पुत्र को) मृत मान कर घर में बैठा ही उसका पिता रोने लगता है; और उसी परदेश

में गये पुत्र के यथार्थं में मर जाने पर भी, उसके मरने का समाचार न सुनने पर नहीं रोता। इससे यही सिद्ध होता है कि मानस जगत् ही सब जीवों को बन्धन में डालता है ॥३४-३५॥

त्रिज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत्।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥३६॥

अन्वय–बाह्यार्थवैयर्थ्यात् इह विज्ञानवादः स्यात् इति चेत्? न। हृदि आकारं आधातुं बाह्यस्य अपेक्षितत्वतः।

जब मनोमय पदार्थ ही बन्ध का हेतु है तो बाह्य पदार्थ व्यर्थ मानने पडेंगे और इस प्रकार विज्ञानवाद आ खड़ा होगा-यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि बुद्धि में आकार को जमाने के लिए बाह्य पदार्थ की अपेक्षा है ही। [यद्यपि बन्धका कारण बाह्य प्रपंच नहीं है परन्तु मानस-प्रपंच की उत्पत्ति तो बाह्य प्रपंच पर निर्भर है; अतः बाह्य पदार्थ को भी स्वीकार करने के कारण विज्ञानवाद को कोई स्थान नहीं है।]

अन्तःकरण में आकार जमाने के लिए बाह्य पदार्थ की अपेक्षा बताना उचित नहीं है; क्योंकि पूर्व-पूर्व मानस प्रपंच ही उत्तरवर्ती मानस प्रपंच का हेतु हो सकता है–इस आशका को प्रौढिवाद (दुर्जन-तोषन्याय से अपना उत्कर्ष दिखाने वाले वाक्य को प्रौढ़िवाद कहते है।) से स्वीकार करते हुए कहते हैं:––

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥

अन्वय–वा वैय्यर्थम् अस्तु। बाह्यं वारयितुं न ईश्महे। मानानि प्रयोजनम् न अपेक्षन्ते इति स्थितिः।

बाह्यवस्तु व्यर्थ ही मानलो तो भी हम (विज्ञानवादी की भांति) बाह्य अर्थ का निषेध नहीं करते; बाह्य पदार्थों को केवल प्रयोजन-रहित मानते हैं। विज्ञानवादीके और हमारे सिद्धान्तमें यही अन्तर

है कि हम बाह्य पदार्थों को प्रयोजनरहित मानते हुए भी, उनकी भांति बाह्य पदार्थों का अपलाप नहीं करते।

बात यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, वस्तु की सिद्धि में, प्रयोजन के आधीन नहीं हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो बाह्य पदार्थ सिद्ध हैं भले ही उनका कुछ प्रयोजन न हो तो भी लोग अथवा वादी उनको अस्वीकार नहीं कर सकते* ॥३७॥

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

अन्वय—मानसं द्वैतं बन्धः चेत्? तत् निरोधेन शाम्यति। अतः योगं एव अभ्यसेत्। ब्रह्मज्ञानेन किं वद?।

यदि मानस द्वैत ही बन्ध का हेतु है तो मन का निरोध करने से उस मानसद्वैत की निवृत्ति हो जायगी। इसलिए मुमुक्षु चित्त के निरोधरूप योग का ही अभ्यास करे; ब्रह्मज्ञान को क्या आवश्यकता है? ॥३८॥

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

अन्वय—तात्कालिकद्वैतशान्तौ अपि "आगामिजनिक्षयः ब्रह्मज्ञानं विना न स्यात्' इति वेदांतडिंडिमः।

योग से द्वैत की तात्कालिक (केवल चित्त निरोध के समय ही) निवृत्ति होती है या आत्यन्तिक; (एकवार निवृत्ति होकर फिर द्वैत की उत्पत्ति न होना)। यहां, वेदान्त की घोषणा यह है कि योग से चित्तनिरोधकाल में तो द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, पर आत्यन्तिक निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं होती। 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञा-

---

*रास्ते में पड़े तिनके व कांटे आदि व्यर्थ हैं तो भी उनकी सत्ता माननी ही पड़ती है।

त्वा शिवं शान्तिमत्यंतमेति । यदा चर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।" इत्यादि श्रुतियों ने भी अन्वयव्यतिरेक द्वारा यही बताया है कि ब्रह्मज्ञान से ही बन्ध की निवृत्ति होती है ॥३९॥

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥

अन्वय–ईशसृष्टे अद्वैते अनिवृत्ते अपि तस्य मृषात्मतां बुध्वा वस्त्वैक्यवादिनः अद्वयं ब्रह्म बोद्धुं शक्यम् ।

यदि यह कहो कि बाह्य द्वैत को निवृत्ति के बिना अद्वितीयब्रह्म-ज्ञान ही नहीं होगा तो मुक्ति कैसे होगी ? इसके उत्तरमें कहते हैं–ईश्वररचित अद्वैत के निवृत्त न होने पर भी (उसके बने रहने पर भी) उसको मिथ्या समझ लेने मात्र से वास्तविक एक वस्तुवादी को अद्वैतब्रह्म का ज्ञान होना सम्भव है ॥४०॥

"अद्वैत ज्ञान का प्रेरक द्वैत का मिथ्यात्वज्ञान नहीं अपितु द्वैत की निवृत्ति है"–इसके समर्थकों को कहते है—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

अन्वय–प्रलये तन्निवृत्तौ तु विरोधिद्वैताभावेपि गुरुशास्त्राद्य-भावतः अद्वयं बोद्धुं शक्यं न ।

प्रलयावस्था में जब द्वैत की निवृत्ति हो जाती है तब, अद्वैत-ज्ञान के विरोधी द्वैत के निवृत्त हो जाने पर भी, ज्ञान के साधन गुरु शास्त्र आदि के न होने के कारण, अद्वैत का ज्ञान नहीं हो सकता; अतएव ईश्वरचरित द्वैत का विनाश, अद्वैतज्ञान का कारण नहीं ॥४१॥

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ॥४२॥

अन्वय–ईश्वरनिर्मितं द्वैतं अबाधकं च साधकं च अपनेतुं अशक्यं इति तत् आस्ताम् । कुतः द्विष्यते ?

पर यह तो बताओ कि ईश्वर द्वैत के रहते अद्वैतज्ञान कैसे सम्भव है ? कहते हैं–ईश्वरनिर्मितं द्वैतं अबाधकं च साधकं च अपनेतुं अशक्यं इति तत् आस्ताम् । कुतः द्विष्यते ? अर्थात् ईश्वरनिर्मित द्वैत, अद्वैत के ज्ञान का बाधक* नहीं है, क्योंकि जस द्वैत का मिथ्यापन ज्ञात होने पर ही अद्वैतज्ञान होता है–यह श्रुति में कहा है। फिर, ईश्वरद्वैत, अद्वैतज्ञान का साधक भी है; क्योंकि गुरु-शास्त्र आदि रूप में वह ईश्वरद्वैत, ज्ञान का साधन है। तीसरी बात यह है कि आकाश आदि ईश्वरद्वैत को हम नष्ट भी तो नहीं कर सकते। इसलिए ईश्वररचित द्वैत को ऐसे ही रहने दो; उससे द्वेष क्यों ? ।४२।

जीवसृष्टद्वैत के भेद

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात् ॥४३॥

अन्वय–जीवद्वैतं तु शास्त्रीयं अशास्त्रीयं इति द्विधा । तत्त्वस्य अवबोधनात् आ शास्त्रीयं उपाददीत ।

जीवरचित द्वैत 'शास्त्रीय' और 'अशास्त्रीय' भेद से दो प्रकार का है। इनमें से तत्त्वज्ञान को प्राप्ति तक शास्त्रीय द्वैत को पकड़े रहना चाहिए ।।४३।।

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।

---

*जैसे घट, कुण्डल आदि का आकार, मिट्टी-सोने आदि के ज्ञान में बाधक नहीं है और दर्पण का प्रतिबिम्ब, आकाश की नीलता, मरुभूमि का पानी और स्वप्न का संसार—ये क्रमशः मुख, आकाश, मरुभूमि और पुरुष के अद्वैतज्ञान में बाधक नहीं हैं वैसे ही ईश्वरद्वैत भी, अद्वैतब्रह्मके ज्ञान का विरोधी नहीं है; अपितु मिथ्या होने से अबाधक है।

बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥४४॥

अन्वय–आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् । तत्त्वे बुद्धे तत् च हेयम् इति श्रुत्यनुशासनम् ।

प्रत्यक्‌तत्त्व आत्मारूप से ब्रह्म का विचार अर्थात् श्रवण-मनन आदि विचार, (मनकी कल्पनारूप होने से) शास्त्रीय मानस अर्थात् जीवकृत जगत् हैं । इस शास्त्रीयद्वैतको तत्त्वज्ञान के पश्चात् छोड़ना चाहिए; श्रुति ने यही आज्ञा दी है ।

"ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप तत्त्व का ज्ञान होने तक श्रवण-मनन आदि शास्त्रीय द्वैत का अवलम्बन करना चाहिए" यह कहा है तो फिर 'दद्यान्नावसरं किंचित्कामादीनां मनागपि । आसुप्तेरामृतेः कालत्रये वेदान्तचिन्तनम्' इस वाक्य में जो "सुप्तेः" अर्थात् सुषुप्ति-पर्यन्त वेदान्त का चिन्तन बताया है वह क्यों ? इसका उत्तर देते हैं कि इसके पूर्वार्धं में जो यह कहा है कि जीवन्मुक्तिसुख के विरोधी काम आदि को अवसर न दे–सो काम आदि को अवसर न देना ही अभीष्ट है, सुषुप्ति या मरणकाल तक वेदान्तचिन्तन का विधान इस वाक्य में नहीं है ॥४४॥

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानी विज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥४६॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

अन्वय–मेधावी शास्त्राणि अधीत्य च पुनः पुनः अभ्यस्य परमं ब्रह्म विज्ञाय अथ उल्कावत् तानि उत्सृजेत् ॥४५॥

मेधावी ग्रन्थं अभ्यस्य ज्ञानविज्ञानतत्परः सन् धान्यार्थी पलाल-मिव, अशेषतः ग्रन्थं त्यजेत् ।।४६।।

धीरः ब्राह्मणः तं एव विज्ञाय प्रज्ञांकुर्वीत बहून् शब्दान् न अनुध्यायात्, हि तत् वाचः विग्लापनम् ।।४७।।

विवेक आदि से युक्त अधिकारी शास्त्रों का गुरुमुख से श्रवण और बारबार उनका मनन करके, परमब्रह्म को विशेषतया अर्थात् संशयादिरहित जान लेने के पश्चात् शास्त्रों को उल्का की भान्ति व्यर्थ जानकर त्याग दे; जैसे पाकार्थी पुरुष रसोई बनाने के पश्चात् बची जली लकड़ियोंको व्यर्थ समझकर छोड़ देता है, वैसे ही मुमुक्षु परब्रह्म को जानकर शास्त्र को छोड़े; बोध से पहले न छोड़े । क्योंकि ब्रह्म को जानना ही शास्त्र का एकमात्र प्रयोजन है ।।४५।। बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थों के अभ्यास से ज्ञान (परोक्षानुभव या श्रवण-मनन से उत्पन्न अथवा गुरु शास्त्र से जन्य, जगत् के मिथ्यात्वसहित ब्रह्म एवं आत्मा की एकताका निर्णय) और विज्ञान (अपरोक्षानुभव या निदिध्यासन से जन्य अथवा गुरु-शास्त्र द्वारा निर्णीत अर्थ का अपने को वैसा का वैसा अनुभव) में कुशल हो जाने पर, ग्रन्थ को पूरी तरह ऐसे छोड़ दे जैसे धान्य चाहने वाला किसान धान्य निकालकर भूसे को छोड़ देता है ।।४६।। ब्रह्मचर्य आदि साधनसे सम्पन्न धीर ब्राह्मण प्रत्यक्अभिन्न परमात्मा को ही विशेषरूप से जानकर उसमें निष्ठा (प्रज्ञा) अर्थात् ब्रह्म में निरन्तर वृत्तिरूप एकाग्रता को सिद्ध करे—अपनी बुद्धि को सदा तदाकार बनाये रखे; और बहुत से शब्दों का ध्यान, चिन्तन और कथन—भी न करे । क्योंकि ऐसा चिन्तन वाणी और मन को व्यर्थ में थकाता ही है ।।४७।।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ।

अन्वय—एकं तं एव विजानीथ हि, अन्याः वाचः विमुञ्चथ। प्राज्ञः वाङ्मनसी यच्छेत् इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः।

'तमैवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः'। मुण्डकोपनिषद् (२-२-५) के इस वाक्यका उद्धरण देते हुए कहते हैं कि—उस एक ब्रह्माभिन्न आत्मा को ही जानो दूसरी सब वाणियों-शास्त्रों-को छोड़ो; "यच्छेद्वाङ्❀मनसी प्राज्ञः" (कठ १-३-१) अर्थात् ज्ञानीपुरुष वाणी को मन में लीन करे' इत्यादि श्रुतियाँ इस बात में प्रमाण हैं कि ज्ञान होने के पश्चात् श्रवणादिरूप शास्त्रीय द्वैत त्याज्य है ॥४८॥

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४९॥

अन्वय—अशास्त्रीयं द्वैतं अपि, तीव्रं मन्दं इति, द्विधा। कामक्रोधादिकं तीव्रम्। तथा मनोराज्यं इतरत्।

अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द भेद से दो प्रकार का है। काम क्रोध आदि तीव्र अशास्त्रीय जीवरचित द्वैत है और मनोराज्य मन्द अशास्त्रीय जीव रचित द्वैत है ॥४९॥

उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥
बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।

❀यहां वाणी से दसों इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् श्रोत्र आदि दसों इन्द्रियो को मन में लीन करे—इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण न करे। "मन को निःसंकल्प कर निश्चयरूप बुद्धि में, निश्चय बुद्धि (ज्ञानआत्मा) को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिरूप अव्यक्त में और निर्विकल्प महदात्मा को शान्तआत्मा (निरुपाधिक परमात्मा) में लीन करे—केवलमात्र परमात्मा शेष रहे।" यह इस श्रुति का अर्थ है।

कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य न हि मुक्तता ॥५१॥

अन्वय—बोधसिद्धये उभयं तत्त्वबोधात् प्राक् निवार्यम्। यतः शमः च समाहितत्वं साधनेषु श्रुतम् ॥५०॥

च बोधात् ऊर्ध्वं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये तत् हेयम्। कामादिक्लेश-बन्धेन युक्तस्य मुक्तता न हि ॥५१॥

इन दोनों का निवारण बोध की सिद्धि के लिए तो तत्त्वबोध से पहले ही होना चाहिए। इसीलिए ब्रह्मज्ञान के साधनों, नित्यानित्य-वस्तुविवेक आदि में "शान्ति" और 'समाधि' साधनों के नाम भी सुने जाते हैं। यहां शान्ति का अर्थ है, कामादि तीव्र जीवद्वैत का निषेध और समाधि का अर्थ है, मनोराज्यरूप मंद जीवद्वैत का निषेध ॥५०॥ और तत्वबोध के पश्चात् जीवन्मुक्ति की सिद्धि के लिए इन दोनों अशास्त्रीय द्वैतोंको त्याग देना चाहिए; क्योंकि कामादि क्लेश रूप बन्धसे बन्धा हुआ जीव जीवन्मुक्त नहीं हो सकता ॥५१॥

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥

अन्वय—इयं जीवन्मुक्तिः मा भूत्। तु जन्माभावे अहं कृती। तर्हि जन्म अपि ते अस्तु एव। स्वर्गमात्रात् भवान् कृतिः।

"यह जीवन्मुक्ति न मिले तो चाहे न मिले, मैं तो भावी जन्म के न होनें मात्र से ही—विदेहमुक्ति से ही—कृतार्थ हो जाऊंग."—अर्थात् 'जन्म मरणादिरूप संसार से दुःखी जीव को तो नित्यानन्द-रूप विदेहमुक्ति ही पर्याप्त है' ऐसा माननेवाले को उत्तर देते हैं कि जब तुम इस लोक के भोगों की निवृत्ति के लोभ में जीवन्मुक्ति' का त्याग कर रहे हो तो स्वर्गादिपरलोकके भोगोंके लोभ में विदेहमुक्ति को भी क्यो न छोड़ दोगे ? जन्म भी तुम्हें स्वीकार रहे; क्योंकि स्वर्गमात्र से ही तुम अपने आपको कृतार्थ समझो ॥५२॥

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ।।५३।।

अन्वय–यदा क्षयातिशयदोषेण स्वर्गः हेयः, तदा स्वयं दोषतमाऽऽत्मा अयं कामादिः किं न हीयते ?

यदि यह कहो कि क्षय और अतिशय दोष के कारण स्वर्ग तो त्याज्य है; [पुण्यक्षय के पश्चात् अथवा प्रलयकाल में स्वर्ग का नष्ट होना क्षय दोष और देवों का पुण्य अपने से अधिक है–यह अतिशय दोष है] तो, यदि स्वर्गादि, दोषयुक्त होने से त्याज्य हैं तो सकल-पुरुषार्थ का नाशक होने के कारण स्वयं अत्यन्त दूषित काम आदि तो त्याज्य है ही; उसे क्यों नहीं छोड़ते ? ।।५३।।

यदि यह कहो कि वैराग्य के सम्पादन के लिए तो अनर्थ के हेतु काम आदि हेय हैं, पर (१) इस लोक में भोग के हेतु तो उनको स्वीकार करने में दोष नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं––

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ।।५४।।

अन्वय–तत्त्वं बुद्ध्वा अपि निःशेषं कामादीन् न जहासि चेत् ? कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ते यथेष्टाचरणं स्यात् ।

तत्त्व को जानकर भी, 'मैं तत्त्ववेत्ता हूँ', 'मुझे क्या दोष है' इस प्रकार तत्त्वज्ञानी होने का अभिमान करके, (२) यदि काम आदि का सर्वथा त्याग नहीं करोगे तो, ऐसा करना, विधि-निषेध शास्त्र का उल्लंघन कर काम आदि के अधीन होने वाले तुम्हारा,

---

(१) स्वेच्छा से प्राप्त स्त्री आदि विषयक काम और प्रतिकूल प्राणियों के प्रति क्रोध प्रारब्ध भोग में उपयोगी हैं–उनका अंगीकार करना कैसे बाधक है ?

(२) वासिष्ठ के मुमुक्षुप्रकरण में बताया है कि प्रारब्धरूप पूर्व जन्मों के पुरुषार्थ और इस जन्म के पुरुषार्थों में से अधिक बली की जीत होती है . इसप्रकार

पशु और नीच पुरुष की भाँति यथेष्टाचरणरूप (३) प्रमाद ही कहलायेगा ।।५४।।

यथेष्टाचरण का दोष

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।।५५।।

अन्वय—यदि बुद्धाद्वैतंतत्त्वस्य यथेष्टाचरणम्, (तर्हि) अशुचि-भक्षणे (सति) शुनां च एव तत्त्वदृशां कः भेदः ? ।।५५।।

अद्वैत स्वरूपब्रह्मको जानने वाला तत्त्वज्ञानी यदि यथेष्टाचरण करेगा तो वह अपवित्र वस्तुभक्षण भी करेगा; उस अवस्थामें कुत्तोंमें और ऐसे गर्हित आचरण करनेवाले तत्त्वज्ञानियोंमें क्या भेद रहेगा ?

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ।।५६।।

इस जन्म के अधिक पुरुषार्थ से प्रारब्धजनित काम आदि जीते जा सकते हैं । इसलिए प्रारब्ध के बहाने, प्रयत्न में ढाल देकर जीवन्मुक्तिसुखके विरोधी कामादि में नहीं फंसना चाहिए ।

(३) विषयोंके अधीन होना या कर्त्तव्य को भूल जाना प्रमाद कहलाता है। ज्ञानीको, मोक्ष या तत्त्वज्ञान अथवा इस तथा उस लोकके लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है परन्तु लोकसंग्रह अर्थात् लोगों को कुमार्ग में जाने से रोकने के लिए तो शास्त्रानुसार आचरण करना ही चाहिए अथवा जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के हेतु ब्रह्मविचार करना चाहिए । इनको छोड़कर अन्यथाचरण ही प्रमाद है । यह प्रमाद, कामचार-कामवाद-कामभक्षण आदि अनेक प्रकार का है। विधि-निषेध से परे हुआ विद्वान् प्रमाद कर ही नहीं सकता । भागवतपुराण और स्मृतियोंके प्रमाणके अतिरिक्त इसमें युक्ति यह है कि दुराचारमें जो प्रवृत्ति होती है वह पूर्वजन्मके पापकी अधिकतासे होती है : वह अधिकता ज्ञानीमें होती ही नहीं, इसीलिए ज्ञानीकी निषिद्ध कर्मरूप पापमें प्रवृत्ति ही नहीं होती।

अन्वय–बोधात् पुरा मनोमात्रदोषात् क्लिश्नासि । अथ अधुना च अशेषलोकनिन्दा । इति ते बोधवैभवम् अहो ॥५६॥

ऐसे तत्त्वज्ञानीको हंसीमें कहते हैं–अरे ! बोधसे पहले, तत्त्व-ज्ञानके उदयसे पूर्व, तो तुम काम-क्रोध आदि मनके दोषोंसे ही कष्ट पा रहे थे और अब, ज्ञानकी दशामें, सब लोकोंकी निन्दाके पात्र बने हो ! वाहरे तुम्हारा बोधवैभव ! ऐसा बोध तो न हो तभी अच्छा है ! ॥५६॥

विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७॥

अन्वय–तत्त्ववित् भवान् । विड्वराहादितुल्यत्वम् मा कांक्षीः; सर्वधीदोषसंत्यागात् लोकैः देववत् पूज्यस्व ॥५७॥

इसलिए मैलाखाने वाले ग्राम्यसूअर आदिकी भांति मत होना चाहो; तुम तत्त्वज्ञानी हो; ग्राम्यसूअर आदि तो कामादिके त्याग में असमर्थ हैं–अतएव अधमाचरण हैं,– तुम सर्वश्रेष्ठताके हेतु तत्त्व-ज्ञानसे युक्त हो; उनकी तरह मत होओ । अपितु मनके सबकामादि दोषोंको छोड़कर, विष्णु आदि देवोंकी भांति सब लोगोंके पूजनीय बनो ॥५७॥

कामादि के त्याग का उपाय

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

अन्वय–मोक्षशास्त्रेषु काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः प्रसिद्धाः; तान् अन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

मोक्षशास्त्रों (श्रीमद्भागवत, आत्मपुराण, वासिष्ठ आदि)में कामनाके विषय (भोगसाधन) माला-चन्दन-स्त्री आदि तथा अन्य लोभ-भय द्वेष आदिके विषयसाधनोंमें अनित्यता, सातिशयता आदि

दोषोंको देखना, क्रोधादिके स्वरूपका विचार* आदि बातें काम-क्रोध आदिके त्यागके साधन बताये हैं; उन सब साधनोंको ढूंढकर सुखी बनो ॥५८॥

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ।
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥५६॥

अन्वय—एषः कामादिः त्यज्यताम् । तु मनोराज्ये का क्षतिः ? अशेषदोषबीजत्वात् भगवता क्षतिः ईरिता ॥५६॥

कामादि अनर्थके कारण हैं, उन्हें छोड़ दो; पर मनोराज्य तो वैसा नहीं है, उसे न छोड़नेमें क्या हानि है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मनोराज्य यद्यपि साक्षात्‌रूपसे अनर्थका हेतु नहीं है, परन्तु कामादि द्वारा परम्परासे तो अनर्थका हेतु है ही; भगवान् श्रीकृष्णने विषयचिन्तनरूप मनोराज्यको सब दोषोंका कारण होनेसे उसमें हानि बताई है ॥५६॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६०॥

अन्वय—विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते । सङ्गात् कामः सञ्जायते । कामात् क्रोधः अभिजायते ॥६०॥

गीताके २·६२को उद्धृत करते हैं कि—जब मनुष्य बुद्धिसे विषयोंका ध्यान करता (मनोराज्य) रहता है, उसको उन विषयोंसे

---

*काम के विषय स्त्री आदिमें दोषदृष्टि कामके त्यागका हेतु है । क्रोधके स्वरूपको अनर्थकारी विचारना क्रोधके त्यागका हेतु है । क्रोधी और राक्षसमें से क्रोधी अधिक क्रूर है ; राक्षस तो दूसरोंका ही खून पीता है, क्रोधी अपना खून भी पीता है ; राक्षस तो रातमें ही नाचता है, क्रोधी दिन-रात नाचता फिरता है । इत्यादि रूपसे क्रोध अनर्थकारी है ।

आसक्ति हो जाती है; संगसे इच्छा (उनकी चाह) उत्पन्न होती है और उस इच्छाका भंग होनेसे, इसमें रुकावट पड़ने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है ॥६०॥

मनोराज्य की निवृत्ति के उपाय

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१॥

अन्वय–निर्विकिल्पसमाधितः मनोराज्यम् जेतुम् शक्यम् । सः अपि क्रमात् सविकल्पसमाधिना सुसम्पादः ॥६१॥

मनोराज्यको निर्विकल्प समाधिसे जीता जा सकता है और वह निर्विकल्पसमाधि, क्रमशः सविकल्पसमाधि करते-करते सरलता से प्राप्त हो जाती है ॥६१॥

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२॥

अन्वय–बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येन एकान्तवासिना दीर्घम् प्रणवम् उच्चार्यं मनोराज्यम् विजीयते ॥६२॥

और जो यमसे लेकर सविकल्पसमाधितकके अष्टांग योगका अभ्यासी नहीं है वह भी यदि ब्रह्मात्मैक्यरूपतत्वका ज्ञानी, काम-क्रोध आदि बुद्धिदोषों से रहित, और एकान्तवासी है, तो लम्बे अर्थात् ६,८,१०,१२ मात्राके प्रणवका उच्चारण कर मनो-राज्यको जीत सकता है। [मनके चार आधार (पाद) हैं–वाणी, श्रोत्र, चक्षु और संकल्प-विकल्पादि भीतरी कल्पना। एकान्तवास करनेसे वहां वाणी आदिके विषयों–वचन, श्रवण और दृश्य–का अभाव होनेके कारण निरोध हो ही जाता है और इन तीनके निरोधके पश्चात् जैसे आना रोकनेसे तालाबमें जल नहीं आता वैसे ही भीतरी कल्पनायें भी रुक जाती हैं] ॥६२॥

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत्।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥६३॥

अन्वय—तस्मिन् जिते मनः वृत्तिशून्यम् मूकवत् तिष्ठति। एतत् पदम् वसिष्ठेन रामाय बहुधा ईरितम् ॥६३॥

मनोराज्यके जीत लेनेपर उस पुरुषका मन; गूंगे मनुष्यकी भान्ति संकल्प-विकल्परूप सकलव्यापारसे रहित हो जाता है। वशिष्ठ-मुनिने मनकी इस दशाकी ओर रामको अनेक प्रकारसे प्रेरित किया है; अतः यह वृत्तिरहित मनकी स्थिति पुरुषार्थ ही है ॥६३॥

वसिष्ठमुनिके दो श्लोकोंको इस विषय में प्रमाणरूप उद्धृत करते हैं—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥

अन्वय—'दृश्यं नास्ति' इति बोधेन मनसः दृश्यमार्जनम् सम्पन्नं चेत्, तत् परा निर्वाणनिर्वृतिः उत्पन्ना ॥६४॥

अन्वय—शास्त्रम् अलम् विचारितम्। मिथः चिरम् उद्ग्राहितम्। सन्त्यक्तवासनात् मौनात् ऋते उत्तमम् पदम् न अस्ति ॥६५॥

'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियोंसे जब अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त जगदभावका ज्ञान होकर मनसे दृश्यका, अर्थात् द्रष्टाके विषयभूत जगत्का, निवारण सिद्ध हो जाता है तब परम अर्थात् निरतिशय निर्वाणनिर्वृति-(मोक्षसुख)-सिद्ध हो जाती है। ६४। हमने अद्वैत-शास्त्र अथवा वेदान्तका खूब विचार किया और गुरुशिष्य आदिके संवाद द्वारा परस्पर एक दूसरे को समझा भी: इस प्रकार करनेसे यही निश्चय हुआ कि कामादिवासनाओंसे रहित मौनभाव

से अधिक पद (पुरुषार्थ) नहीं है ॥६५॥

वृत्तिरहित चित्त में यदि प्रारब्धके कारण कोई विक्षेप उठें तो उनके निवारणका उपाय बताते हैं :—

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६॥

अन्वय–भोगदायिना कर्मणा कदाचित् धीः विक्षिप्यते, सा अभ्यासपाटवात् तदा एव पुनः समाहिता स्यात् ।

भोगप्रद प्रारब्धकर्मोंके कारण यदि कभी चित्त विक्षिप्त होने लगे तो वह बुद्धि प्रबल अभ्यासके सामर्थ्यसे फिर उसी समय समाहित हो सकती है ॥६६॥

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७॥

अन्वय–यस्य विक्षेपः न अस्ति अस्य ब्रह्मवित्त्वम् न मन्यते । पारदर्शिनः मुनयः 'अयम् ब्रह्म एव' इति प्राहुः ।

जिसको कभी भी विक्षेप नहीं होता उसको ब्रह्मवित् नहीं माना जाता । वेदान्तके पारदर्शी मुनिलोग कहते हैं कि वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है । [विक्षेपरहित महापुरुषको गौणरूप में ही 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है : वह तो वस्तुतः 'ब्रह्म' ही है ।] ॥६७॥

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥६८॥

अन्वय–यः दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः तिष्ठति, सः तु ब्रह्मन् स्वयं ब्रह्म; ब्रह्मवित् न ।

इस विषयमें वशिष्ठजी ने कहा है–जो महापुरुष ब्रह्मके दर्शन (ज्ञान) और अज्ञान—दोनों पचड़ोंको छोड़कर, 'ब्रह्म' को जानता

हूँ' 'नहीं जानता हूँ' इन दोनों प्रतीति एवं कथनरूप व्यवहारोंको छोड़कर; आप केवल चिद्रूपसे, अद्वितीय चैतन्यरूपमें अवस्थित हो बैठता है; वह महापुरुष तो ब्रह्मवित् नहीं; साक्षात् ब्रह्म ही है।

द्वैत विवेचन का उपसंहार

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥६९॥

अन्वय—असौ जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् लभ्यते। अतः अत्र इदम् ईशद्वैतात् विवेचितम्।

इस प्रकार जो जीवन्मुक्तिकी अन्तिम अवस्था वर्णितकी है वह मनोमय प्रपञ्चरूप जीव द्वैतको छोड़ने पर प्राप्त होती है। इसीलिए यहां जीवरचित जगत्को ईश्वररचित जगत्से पृथक् करके दिखाया है ॥६९॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के चतुर्थ प्रकरण-द्वैतविवेक
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त।

—०—

अथ महावाक्य-विवेकः—५

मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे महावाक्यविवेकस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५—१); "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १—४—१०) 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१६) ये चार महावाक्य हैं। मुमुक्षुको मोक्षके साधन ब्रह्मात्मैकताका ज्ञान इनसे ही होता है। इस प्रकरणमें इन्हीं चारों वाक्योंके अर्थका निरूपण किया है। आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामी प्रथम 'प्रज्ञानंब्रह्म' के 'प्रज्ञान' पदका अर्थ कहते हैं—

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

अन्वय—येन इदम् ईक्षते, शृणोति, जिघ्रति, व्याकरोति च स्वाद्वस्वादू विजानाति। तत् 'प्रज्ञानम्' उदीरितम्।

यह पुरुष, चक्षु द्वारा बाहर निकली अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्यसे दर्शनयोग्य रूप आदिको देखता है; श्रोत्र द्वारा निकली अन्तःकरणकी वृत्तिसहित जिस चैतन्यसे शब्दोंको सुनता है; नासिका द्वारा निर्गत अन्तःकरणकी उपाधिसहित जिस चैतन्यसे गन्धोंको सूंघता है; वागिन्द्रियसे युक्त जिस चैतन्यसे शब्दोंका उच्चारण करता है; रसना इन्द्रिय द्वारा निर्गत अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधिवाले जिस चैतन्य से स्वादु-अस्वादु दोनों प्रकारके रसोंको

चखता है; च–अर्थात् उक्तानुक्त सभी इन्द्रियों और अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे उपलक्षित जो चैतन्य है–वही यहां 'प्रज्ञान' शब्दसे अभि-धेय है। इस प्रकार 'येन वा पश्यति' से लेकर 'सर्वण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि' ऐतरेयारण्यकके षष्ठाध्यायमें आए इन अवान्तर वाक्यों का अर्थ भी संक्षेपसे दिखला दिया ॥१॥ [इन वाक्यों द्वारा सब इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंसे भिन्न, स्वप्रकाशस्वरूप, सबके साक्षी, सब वृत्तियोंमें अनुगत एक आत्माके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है।]

ब्रह्मपद का अर्थ

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥२॥

अन्वय–चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु एकम् चैतन्यम् ब्रह्म। अतः मयि अपि प्रज्ञानम् ब्रह्म।

ब्रह्मा, इन्द्र और देव आदि उत्तम, अधम मनुष्य, नीच गाय, घोड़ा आदि, सब देहधारियों और आकाश आदि भूत पदार्थोंमें जो जगत्के जन्म स्थिति और प्रलयका कारणभूत एक चैतन्य है-वह ब्रह्म है। इससे "एष ब्रह्मैष इन्द्रः" से लेकर "प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" तक के ऐतरेयारण्यकके छठे अध्यायके आत्माके स्वरूपके जतलानेवाले अवान्तर वाक्योंका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार 'प्रज्ञान' और 'ब्रह्म' दोनों पदोंका अर्थ बतलाकर 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस सम्पूर्ण वाक्यका अर्थ बतलाते है :–अतः मयि अपि प्रज्ञानं ब्रह्म' क्योंकि सर्वत्र अवस्थित रहने वाला 'प्रज्ञान' ही 'ब्रह्म' है, इसलिए मुझमें भी जो 'प्रज्ञान' है वह भी 'ब्रह्म' है; क्योंकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' की प्रज्ञानतामें कोई अन्तर नहीं है ॥२॥

❀अहं ब्रह्मास्मि के 'अहं' पद का अर्थ

परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।

बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

अन्वय-परिपूर्णः परात्मा अस्मिन् विद्याधिकारिणि देहे बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन् 'अहम्' इति ईर्यते ।

स्वभावतः देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न—परिपूर्ण परमात्मा, इस मायाकल्पित जगत् में; शमादिसाधनोंसे सम्पन्न होनेसे ब्रह्मविद्याको पानेकी योग्यता वाले, श्रवण-मननाद्यनुष्ठान वाले इस मनुष्यादिदेहमें बुद्धि अर्थात् सूक्ष्मशरीरका साक्षी अर्थात् अविकारी अतएव अवभासक रूप में स्थित हो प्रकाशित होता हुआ लक्षणासे 'अहं' पदका लक्ष्य बनता है ॥३॥

स्वतःपूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

अन्वय-स्वतः परिपूर्णः परात्मा अत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः । 'अस्मि' इति ऐक्यपरामर्शः । तेन अहम् ब्रह्म भवामि ।

स्वतःपरिपूर्ण अर्थात् स्वभावसे देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न परमात्मा ही यहां—'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यमें—ब्रह्म शब्दका लक्षणा से वाच्य है । और इस वाक्य में जो "अस्मि" पद है वह "अहं" और 'ब्रह्म' इन दोनों पदोंको समानाधिकरण+ (एकार्थवाची) बतलाता है; अतएव जीव और ब्रह्म दोनोंकी एकताका बोधक होता

---

*देखो बृहदारण्यकोपनिषद् प्रपाठक ३, ब्राह्मण ४, कंडिका १० ।

+भिन्नार्थक पदोंकी समानविभक्तिके बलसे जो एक ही अर्थमें प्रवृत्ति होती है वह 'समानधिकरणता' कहलाती हैं । यहां 'अह' और 'ब्रह्म' पद क्रमशः 'आत्मा' और ब्रह्म' के बोधक हैं परन्तु समान प्रथमा विभक्तिके बलसे वे दोनों पद अखण्ड एकरसताके बोधक हैं । इसीलिए ब्रह्मात्माकी एकता सिद्ध होती है । 'अस्मि' पद इसीको स्मरण कराता है ।

है। इस प्रकार इस वाक्यका सारांश यह है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ॥४॥

सामवेदकी छान्दोग्योपनिषद्के 'तत्वमसि'* महावाक्यके 'तत्' पदका लक्ष्य अर्थ बतलाते हैं :—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

अन्वय—सृष्टेः पुरा एकं एव अद्वितीयं नामरूपविवर्जितं सत्। अस्य अधुना अपि तादृक्त्वम् 'तत्' इति ईर्यते।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्यसे सृष्टिसे पहले स्वगतादिभेदरहित, नामरूपरहित जिस 'सत्' वस्तुका प्रतिपादन किया है, अब सृष्टिके पश्चात् भी, वह सद्वस्तु 'वैसीकी वैसी ही है' यह बात विचारसे ठीक प्रतीत होती है। 'तत्' शब्द उसी अविकृत सद्वस्तुकी ओर निर्देश कर रहा है ॥५॥

त्वंपद का अर्थ और वाक्य का अभिप्राय

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६॥

अन्वय—श्रोतुः देहेन्द्रियातीतम् वस्तु अत्र त्वम्पदेरितम्। 'असि' इति एकता ग्राह्यते। तत् ऐक्यम् अनुभूयताम्।

श्रवण आदिके अनुष्ठानसे महावाक्यके अर्थका निश्चय करने वाला श्रोता कहलाता है। उसके देह इन्द्रिय आदि स्थूलसूक्ष्म और

---

*उद्दालक ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको ९ बार ९ प्रकारसे इस महावाक्य को समझाया है। छान्दोग्योपनिषद्का ६ठा अध्याय और उस पर श्रीभाष्य तथा आनन्दज्ञान टीका देखो।

कारणरूप तीन शरीरोंसे भिन्न उनकी साक्षीभूत जो सद्वस्तु है, इस महावाक्यके 'त्वत्' पदसे वही अभिप्रेत है। इस वाक्यगत 'असि'* पदसे शिष्यको यह बोध होता है कि क्योंकि 'तत् त्वं' ये दोनों पद समानाधिकरण हैं अतएव ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ के बोधक हैं ॥ ६॥

'अयमात्मा ब्रह्म' के 'अयम्' और 'आत्मा' पदों का अर्थ

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७॥

अन्वय–'अयम्' इति उक्तितः स्वप्रकाशापरोक्षत्वम् मतम् । अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यक आत्मा इति गीयते।

अथर्ववेदकी माण्डूक्यापनिषद्के अन्तर्गत 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस महावाक्यकी व्याख्या करते हुए 'अयम्' और 'आत्मा' पदोंके अर्थ क्रमशः स्पष्ट करते हैं :—'अयं' इस शब्दसे साक्षी आत्माकी, स्वप्रकाश होनेसे, अपरोक्षता कही गई है। अर्थात् यह तत्व (अदृष्ट धर्माधर्म) की न्याईं सदा परोक्ष भी नहीं है और घटादिकी न्याईं दृश्य (परप्रकाश्य तथा अपरोक्ष) भी नहीं है।

जो चेतन तत्त्व अहंकारसे लेकर देह पर्यन्त संघात (अहंकार, प्राण, मन, इन्द्रिय और देहरूप संघात) से पृथक् अर्थात् उक्तसंघात का अधिष्ठान एवं साक्षी अन्तरात्मा है, उसको इस महावाक्यमें

---

*'असि' पदको ब्रह्म कहना तो सर्वथा विरुद्ध है; क्योंकि 'असि' का वाच्यार्थ 'है' या 'हो' है; लक्षणाकी प्रवृत्ति 'तत्' तथा 'त्वं' पदोंके अर्थोंमें ही है। अतएव 'असि'का लक्ष्यार्थ भी ब्रह्म' नहीं हो सकता।

'आत्मा' कहा गया है ।

'ब्रह्म' पद का अर्थ और एकतारूप वाक्यार्थ

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥८॥

अन्वय—दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतः तत्वम् ब्रह्म शब्देन ईर्यते तत् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।

दृश्यमान अर्थात् दृश्य होनेसे मिथ्याभूत आकाशादि सकल जगत्का जो अधिष्ठान है एवं इस जगत्का बाध हो जाने पर भी जो शेष रह जाता है वह पारमार्थिक (वास्तविक) सच्चिदानन्दरूप तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है ।

इस प्रकार इस महाकाव्यका अर्थ यह हुआ कि उक्तलक्षणवाला ब्रह्म स्वप्रकाशात्मस्वरूप है : जो मनुष्यका स्वयंप्रकाश आत्मा है, वही ब्रह्म है तथा जो ब्रह्म है वह मनुष्यका यह स्वयंप्रकाश आत्मा ही है; इस आत्मासे भिन्न किसीको ब्रह्म नहीं समझना चाहिए ।

मुमुक्षुजनोंको चाहिए कि वे इन चार महाकाव्योंके ब्रह्मात्माके एकतारूप अर्थको वेदान्तशास्त्र द्वारा तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे जान और सुनकर, वाच्य एवं लक्ष्यार्थके विचार द्वारा पदार्थका शोधन कर, उसकी यथार्थता जानकर, श्रवण-मननादिसे संशय-विपर्ययका निवारण करते हुए, दृढ़-अपरोक्ष निष्ठासे अज्ञान तथा उसके कार्य-रूप अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति और देहमुक्तिको अनुभव करें ॥८॥

कुछ महत्वपूर्ण वेदान्त-सिद्धान्त

वेदान्तके सिद्धान्तको समझानेके लिए उत्तम-मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी भेदसे तीन पक्ष माने जाते हैं—(१) अजातवाद

दृष्टिसृष्टिवाद और (३) व्यवहारिकपक्ष अर्थात् सृष्टिदृष्टिवाद ।

(१) मुख्य अजातवादमें एक ही परमार्थसत्ता चेतनको माना गया है–यह विद्वानोंके लिए है । इसमें आरोप और अपवाद दोनों नहीं हैं अतएव वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थकी कल्पना तक नहीं होती ।

(२) दृष्टिसृष्टिवादमें परमार्थसत्ता और प्रातिभासिकसत्ता दोनोंको स्वीकार किया जाता है । यहां स्वप्नकल्पित राजाकी न्याईं जीवकल्पित ईश्वर 'तत्' पदका वाच्यार्थ है और अविद्यावृत अज्ञात ब्रह्मरूप जीव 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है । दोनों पदोंका लक्ष्यार्थ शुद्ध ब्रह्म है ।

(३) व्यवहारिकपक्ष या सृष्टिदृष्टिवादके पांचभेद हैं (क) बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद (ख) कार्यकारणोपाधिवाद (ग) अवच्छिन्न-अनवच्छिन्नवाद (घ) अवच्छेदवाद और (ङ) आभासवाद ।

(क) बिम्बप्रतिबिम्बवादकी रीतिसे अज्ञानोपहित शुद्धब्रह्मरूप बिम्ब ईश्वर 'तत्' पदका वाच्य है और समष्टि-अज्ञानके सम्बन्ध के कारण भ्रान्तिसे प्रतिबिम्बरूप हुआ ब्रह्मरूप जीव, 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है । दोनों पदोंका लक्ष्यार्थ, बिम्बप्रतिबिम्ब भावकी कल्पना से रहित असंग शुद्ध चैतन्य है ।

(ख) कार्यकारणोपाधिवादकी रीतिसे मायारूप कारणोपाधि-वाला चेतन ईश्वर, 'तत्'का वाच्य और अन्तःकरणरूप कार्योपधि-वाला चेतन जीव 'त्वं' पदका वाच्य है । दोनों पदोंका लक्ष्यार्थ दोनों उपाधियों से रहित शुद्ध ब्रह्म है ।

(ग) अवच्छिन्नानवच्छिन्नवाद की रीति से अन्तःकरणानवच्छिन्नचेतन, ईश्वर ('तत्'का वाच्य) और अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव ('त्वं' पदका वाच्य) हैं। इन दोनों उपाधियों से रहित शुद्ध ब्रह्म; दोनों पदों का लक्ष्यार्थ है।

(घ) अवच्छेदवाद की रीतिसे मायाविशिष्ट चेतनरूप ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ है और मायानवच्छिन्न ब्रह्मचेतन 'तत्' का लक्ष्यार्थ है। और अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अज्ञान से विशिष्ट चेतनरूप जीव 'त्वं' पदका वाच्यार्थ और अन्तःकरण अथवा व्यष्टि-अज्ञानानविच्छिन्नकूटस्थ चेतन 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ है। यहां इन दोनों लक्ष्यार्थों–ब्रह्म और कूटस्थ–की अखण्ड एकरसता है।

(ङ) इस ग्रन्थ में वर्णित आभासवाद की रीति से चिदाभाससहित मायाविशिष्ट चेतनरूप ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ और साभासमायाभाग को त्याग करके, अवशेष शुद्धब्रह्म उसका लक्ष्यार्थ है। 'त्व' पदका वाच्यार्थ साभास अन्तःकरण अथवा व्यष्टि-अज्ञान अंशविशिष्टचेतनरूप जीव है। इनका लक्ष्यार्थ साभासअन्तःकरण या व्यष्टि–अज्ञानअंशरूप उपाधिभाग को छोड़ कर अवशेष चेतन अर्थात् कूटस्थ है। इन दोनों लक्ष्यार्थो–कूटस्थ और ब्रह्म–की अखण्ड एकरसता है।

इन सब प्रक्रियाओं का तात्पर्य एक ही–अर्थात् जीवभाव, ईश्वरभाव और जगत् का आरोप करके उनके निराकरण द्वारा अद्वैत ब्रह्म का बोध कराना–है। जिस मुमुक्षुको जिस रीति से अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान हो, उसके लिए वहीं उपयुक्त है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में जो वाच्य-लक्ष्यकी रीति दिखाई है

वही शेष तीन महावाक्यों में भी समझनी चाहिए। इस प्रकरण में दो-दो पदों के लक्ष्यार्थ बताकर जो एकता समझाई है, मुमुक्षु के लिए वही उपादेय है, परन्तु वाच्यार्थके ज्ञानके बिना उसमें प्रविष्ट लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान नहीं हो सकता अतएव वाच्य-लक्ष्य दोनों अर्थों का उल्लेख किया है।

इन चार महावाक्यों में क्रमशः विद्यमान 'प्रज्ञानं' 'अहं' 'त्वं' और 'अयम्' इन चार विशेषणों वाला, आत्मा, इन पदोंका वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' 'ब्रह्म' 'तत्' और 'ब्रह्म' इनचार पदोंका वाच्यार्थ ईश्वर है। ये जीव और ईश्वर अल्पज्ञतादि तथा सर्वज्ञतादि विरुद्ध धर्म वाले हैं; अतएव, यद्यपि, इन दोनों में घटाकाश-मठाकाश की न्याईं एकता असम्भव है; तथापि, घट–मटकी दृष्टिको छोड़कर दोनों में विद्यमान 'आकाश' मात्र की दृष्टि से जैसे एकता सम्भव है वैसे ही लक्षणासे धर्मसहित उपाधिभाग को छोड़कर, जीव-ईश्वर दोनों में जो लक्ष्यार्थ चेतनमात्र है उसकी एकता संभव है।

इन महावाक्यों के दोनों-दोनों पदों में 'सो यह देवदत्त है' इस दृष्टान्त के समान विरोधीभाग को छोड़कर और अविरोधी भाग को ग्रहण करके एकता संभव है अतएव भागत्यागलक्षणा से ही इनके लक्ष्यार्थ हैं।

ओत-प्रोत भाव की रीति

इस रीति से आचार्य द्वारा दोनों पदों के लक्ष्यार्थ की एकता का बोध कराने पर भी यथार्थ एकता का ज्ञान नहीं होता और एकताअंश में स्थित माया-अविद्यारूप कारण से परोक्षता और परि-

च्छिन्नता की भ्रान्ति होती है, उसके निवारणार्थ ओतप्रोतभाव की रीति करनी चाहिए। वह इस प्रकार है—

'तत्' पदके अर्थ में परोक्षता की भ्रान्ति के निवारण के लिए 'तत् त्वं' (सो तू है)—कहकर 'तत्' पदके अर्थ के उद्देश्यसे 'त्वं' पद का अर्थ विधेय है और 'त्वं' पद के अर्थ में परिच्छिन्नता भ्रान्ति के निवारणार्थ 'त्वं तत्' (तू सो है) में 'त्वं' पद के अर्थ के उद्देश्य 'तत्' पद की अर्थरूपता विधेय है। क्योंकि 'तत्' पद के अर्थ 'ब्रह्म' की परोक्षताभ्रान्ति का नाश 'त्वं' पद के अर्थ नित्य अपरोक्षसाक्षी-रूपतासे होता है और 'त्वं' पदके अर्थ 'साक्षी'की परिच्छिन्नताभ्रांति का नाश 'तत्' पद के व्यापकब्रह्मरूप अर्थ से होता है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'आत्मा ब्रह्म' इस प्रकार के ज्ञान से तो परिच्छिन्नता नष्ट होती है और 'ब्रह्म अहं' 'ब्रह्म प्रज्ञानं' 'ब्रह्म आत्मा' इस प्रकार जानने से परोक्षता की हानि होता है।

ओत-प्रोत-भाव की यही रीति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध ५म अध्याय के १२वें श्लोक में श्री शुकदेवजी ने परीक्षित् राजा को समझाई है।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के पञ्चम प्रकरण-महावाक्य-विवेक की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त।

—०—

अथ चित्रदीपः—६

मंगलाचरणम्

वाणीविनायकावीशौ सर्वसिद्धिविधायकौ ।
भवतां भवतां ग्रन्थरचने च सहायकौ ।।

दोनों ईश्वर—सरस्वती और गणपति—सब सिद्धियों को सिद्ध कराने वाले और ग्रन्थरचना में सहायक हों ।।

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
कुर्वेऽह चित्रदीपस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ।।

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ।।१।।

अन्वय—यथा चित्रपटे अवस्थानां चतुष्टयं दृष्टम्, तथा परमात्मनि अवस्थाचतुष्टयं विज्ञेयम् ।।

अर्थ—जैसे चित्रयुक्त वस्त्र पर आगे कही हुई चार अवस्थायें दीख पड़ती हैं, इसी प्रकार परमात्मामें भी आगे कही चार अवस्थाएं जाननी चाहिएं ।

इस श्लोक में पड़ा 'परमात्मनि' पद प्रसंगगत अर्थको तो जतलाता ही है, साथ ही, मंगलके प्रयोजक मृदंग आदि की ध्वनि की भान्ति मंगल का भी प्रयोजक है । ग्रन्थकर्त्ता ने चित्रदीपप्रकरण की

---

*अधिष्ठानचेतनरूप वस्त्र पर जगत्‌रूप चित्र को प्रकाशित करनेवाला होने से इस प्रकरण का नाम 'चित्रदीप' है ।

रचना को निर्विघ्न समाप्त करने की इच्छा से 'परमात्मनि' पद द्वारा पृथक् अभिन्नतत्त्व का स्मरणरूप मंगल ही किया है। तथा प्रकरणागत वेदान्तशास्त्र के विषय आदि चार अनुबन्धों के द्वारा उन अनुबन्धों वाले की सिद्धि करना भी अभीष्ट है पर उस निष्प्रपंच का निरूपण सीधा तो हो नहीं सकता इसलिए (१) 'अध्यारोप और (२) अपवाद की सहायता से इसका वर्णन किया जाता है, इस न्याय के अनुसार परमात्मा में आरोपित [कल्पित] जगत् की स्थिति कैसी है, इसका स्पष्टीकरण यहां किया गया है ॥१॥

चार अवस्थाओं के नाम

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

अन्वय–यथा पटः, धौतः, घट्टितः, लाञ्छितः च रञ्जितः, तथा आत्मा चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा च विराट् इर्यते।

अर्थ–जैसे, धौत, घट्टित, लांछित और रञ्जित-वस्त्र की ये चार अवस्थाएं होती हैं; वैसे ही परमात्माकी भी चार अवस्थाएं–चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्—हैं ॥२॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात्।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

---

(१) असर्प रज्जु में सर्प के आरोप की न्याईं वस्तु ब्रह्म में अवस्तु-अज्ञान और उसके कार्य का आरोप अध्यारोप कहलाता है।

(२) रज्जु का विवर्त सर्प जैसे रज्जुमात्र है वैसे ही अवस्तुरूप-अज्ञान-आदि प्रपंच ब्रह्मरूपवस्तुमात्र है—यह अपवाद कहलाता है।

अन्वय–अत्र स्वतः शुभ्रः धौतः स्यात्, अन्नविलेपनात् घट्टितः, मष्याकारैः लाञ्छितः स्यात्, वर्णपूरणात् रञ्जितः।

अर्थ–इनमें से स्वभाव से, किसी अन्यद्रव्यके संयोग के बिना ही, (शुभ्रः) धुला हुआ, 'धौत' कहलाता है : अन्नसे लिप्त, मांड दिया हुआ 'घट्टित', स्याही जैसे धब्बों से युक्त, यों ही देवमनुष्य आदि आकृतियों से भरा, लांछित और यथोचित रंगोंसे सज्जित एवं पूरित 'रञ्जित' कहलाता है ।।३।।

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी, सूक्ष्मसृष्टितः।
सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ।।४।।

अन्वय–परः स्वतः चित्, मायावी तु अन्तर्यामी, सूक्ष्मसृष्टितः सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्या एव विराट् इति उच्यते।

अर्थ–परमात्मा स्वतः हो तो चित्, माया से युक्त होने पर, अन्तर्यामी, सूक्ष्मसृष्टि से युक्त होने पर सूत्रात्मा और स्थूलसृष्टि के कारण विराट् कहा जाता है।

अर्थात् परमात्मा जब तक माया और उसके कार्यके सम्बन्धसे रहित हो, स्वरूपसे ही हो, तब तक 'चित्' · तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा माया से युक्त होने पर वही परमात्मा अन्तर्यामी, अपञ्चीकृत पंच-भूतोंके कार्यभूत समष्टि सूक्ष्मशरीरसे संयुक्त होने पर सूत्रात्मा और पंचीकृतपंचभूतोंके कार्यभूत समष्टिस्थूलशरीर (ब्रह्माण्ड) रूप उपाधि के योग होने पर विराट् कहलाता है।

ब्रह्मादिरूप चित्र

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ता प्राणिनोऽत्र जडा अपि।

उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

अन्वय—अत्र ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनः, जडा अपि उत्तमाधमभावेन पटचित्रवत् वर्तन्ते ।

अर्थ—इस परमात्मामें ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (जड़ से ही पत्तों वाले तुच्छ घास आदि) पर्यन्त सब, चेतन (जंगम) एवं अचेतन (स्थावर) प्राणी और गिरि नदी आदि जड़ जगत्, ऊंच-नीच भाव से ऐसे रह रहे हैं जैसे वस्त्र पर चित्र विद्यमान रहते हैं ।

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६॥

अन्वय—चित्रार्पितमनुष्याणां पृथक् पृथक् वस्त्राभासाः चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ।

अर्थ—चित्र में अङ्कित मनुष्योंके ही पृथक्-पृथक् वस्त्र-से लगने वाले वस्त्राभास, चित्र के आधारवस्त्र के समान लगने वाले कल्पित किये जाते हैं ।

जैसे चित्र में बनाये गये मनुष्यादि शरीरों के ही विविध रंग के, पर शीतादिको हटाने योग्य न होनेके कारण वस्त्र नहीं, अपितु वस्त्राभास (वस्त्र सरीखे दीखने वाले); चित्र के आधार वस्त्र के समान दीखने वाले, कल्पित किये जाते हैं ॥६॥

पृथक् पृथक्चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ॥७॥

अन्वय—चैतन्याध्यस्तदेहिनां पृथक्-पृथक् जीवनामानः चिदाभासाः

कल्प्यन्ते । अमी बहुधा संसरन्ति ।

अर्थ–चैतन्य में अध्यस्त देहधारियों के पृथक्-पृथक् जीवनाम के चिदाभास कल्पित कर लिए जाते हैं; यही अनेक प्रकार से संसार को भोगते हैं।

परमात्मामें आरोपित देवादिक के प्रत्येक शरीर के लिए पृथक्-पृथक् जीव नाम का एक-एक चिदाभास कल्पित किया जाता है; पर्वत आदि जडपदार्थोंके चिदाभास नहीं कल्पित करते। [चिदाभास का अर्थ है चेतन न होते हुए भी चेतनकी भांति प्रतीति होने वाला।] देवदिक के शरीरों के चिदाभास कल्पित करने का कारण यह है कि ये जीव, देवादि के शरीरों को प्राप्त कर अनेक प्रकार से जन्ममरणादिरूप से संसार बनाते हैं; संसार में अनेक प्रकार से चक्कर लगाते हैं। परमात्मा निर्विकार है, वह संसार में नहीं फंसता ॥७॥

आत्मा की संसार-प्रतीति का कारण; अज्ञान

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८॥

अन्वय–यथा अज्ञाः वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् आधारवस्त्रागान् वदन्ति तथा, जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ।

अर्थ–जैसे वस्त्राभास [बनावटी कपड़ों] में भरे रंगों को आधाररूप वस्त्र में भरे बतलाते हैं ऐसे ही अज्ञानीजन [तथा नैयायिक आदि वादी भी] जीवगत संसार को साक्षीचेतनगत समझते हैं। [वे अज्ञान से कहने लगते हैं कि आत्मा संसारमें भ्रमण कर रहा है। आत्मा नाम का असंग तत्त्व कभी संसार में नहीं फंसता।] ॥८॥

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥९॥

अन्वय–(यथा) चित्रस्थपर्वतादीनाम् वस्त्राभासो न लिख्यते तथा सृष्टिस्थमृत्तिकादीनाम् चिदाभासः नहि ।

अर्थ–जैसे चित्रोंमें पवत आदिका वस्त्राभास अङ्कित नहीं होता; ऐसे ही सृष्टिस्थ मिट्टी आदि जड़ पदार्थों का चिदाभास नहीं होता–क्योंकि ऐसा करने का कोई प्रयोजन (संसाररूप फल) ही नहीं है ।

अविद्या का स्वरूप और उसकी निवृत्ति

संसारः परमार्थोऽयं संल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

अन्वय–'अयं संसारः परमार्थः, स्वात्मवस्तुनि संल्लग्नः' इति भ्रान्तिः अविद्या स्यात्; एषा विद्यया निवर्तते ।

अर्थ–"यह कर्तृत्वादिरूप संसार पारमार्थिक (वास्तविक) है और वह स्वात्मवस्तुमें संलग्न अर्थात् आत्माका धर्म है" यह भ्रांति (अन्यथाबुद्धि) अविद्या, कार्यरूप अज्ञान है । इस अविद्या का निवारण विद्या (ज्ञान) से होता है ॥१०॥

विद्या का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

अन्वय–'(अयं) संसारः आत्माभासस्य जीवस्य, आत्मवस्तुनः न इति बोधः विद्या भवेत्; असौ विचारणात् लभ्यते ।

अर्थ—"यह संसार आत्माभास (चिदाभास) जीव का है; आत्मवस्तु का नहीं है" यह ज्ञान ही विद्या है। यह विद्या अध्यात्म-विचार (विवेक) करते रहने से मिला करती है ॥११॥

सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२॥

अन्वय—तस्मात् जगत्–जीव–परात्मनः सदा विचारयेत्; जीवभाव–जगद्भाव–बाधे स्वात्मा एव शिष्यते ।

इसलिए मुमुक्षुको चाहिए कि वह जगत् जीव और परमात्मा, इन तीन का सदा विचार करे। जीव और जगत् का भी विचार इसलिए कि इनका 'बाध' होने पर ब्रह्म से अभिन्न आत्मा (स्वात्मा) ही शेष रहता है ॥१२॥

'बाध' का अर्थ

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३॥

अन्वय—(किन्तु) बाधः तयोः अप्रतीतिः न, किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः, नोचेत् सुषुप्तिमूर्च्छादौ जनः अयत्नतः मुच्येत ।

परन्तु 'बाध' उन-जीव और जगत्–की अप्रतीति को नहीं कहते अपितु उनके मिथ्या होने के निश्चयको 'बाध' कहते हैं। यदि ऐसा न मानोगे तो, सुषुप्ति, मूर्छा, मरण और प्रलय आदिके समय मनुष्य बिना ही प्रयत्न के मुक्त हो जायगा; क्योंकि उस समय बिना ही प्रयत्न के द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है: अतएव तत्त्वज्ञान के बिना ही मुक्ति माननी पड़ेगी ॥१३॥

परमात्मावशेष का अर्थ

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४॥

अन्वय—परमात्मावशेषः अपि तत् सत्यत्वविनिश्चयः, न जगत्-विस्मृतिः। नो चेत् जीवन्मुक्तिः न सम्भवेत्।

अर्थ—परमात्मावशेष (१२वें श्लोकमें वर्णित 'स्वात्मैव शिष्यते' का अभिप्राय) का अभिप्राय भी परमात्मा को सत्य समझ लेना ही है; परमात्मा के अतिरिक्त सब जगत् को भूल जाना 'परमात्म-शेष' का अर्थ नहीं है; यदि जगत् को भूल जाना ही इसका अर्थ हो तो, 'जीवन्मुक्ति' ही सम्भव न होगी ॥१४॥

विचार की अवधि

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

अन्वय—विचारजा विद्या परोक्षा च अपरोक्षा इति द्वेधा। तत्र अपरोक्षविद्याप्तौ अयं विचारः समाप्यते॥

अर्थ—विचारसे उत्पन्न होने वाली विद्या 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' दो प्रकार की है; जगत्, जीव और परमात्मा का यह विचार अप-रोक्ष ज्ञान की प्राप्ति पर समाप्त होता है ॥१५॥

परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान का स्वरूप

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

अन्वय–'अस्ति ब्रह्म' इति वेद तत् परोक्षज्ञानम् एव; चेत् 'अहं-ब्रह्म' इति वेद सः साक्षात्कारः उच्यते ।

अर्थ–'ब्रह्मतत्त्व है' इतना समझ लेना 'परोक्षज्ञान' है और जब यह जान ले कि "मैं ब्रह्म हूँ" तब इसको साक्षात्कार अथवा अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं ॥१६॥

आत्मतत्त्व का विवेचन

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७॥

अन्वय–येन अयं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते, तत्साक्षात्कार-सिद्ध्यर्थं आत्मतत्त्वं विविच्यते ।

अर्थ–जिस साक्षात्कार से, उसके उत्पन्न होते ही, पुरुष मुक्त हो जाता है, उस साक्षात्कार की सिद्धि के लिए आत्माके स्वरूपका विवेचन करते हैं ॥१७॥

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८॥

अन्वय–चित् 'कूटस्थः, ब्रह्म, जीवेशौ' इति चतुर्धा । यथा घटा-काशमहाकाशौ जलाकाशभ्रखे ।

अर्थ–कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर-एक ही चैतन्यके वे चार प्रकार हैं ।* जैसे एक ही आकाशके घटाकाश, महाकाश, जला-

---

*वार्तिककार ने शुद्धचेतन, ईश्वरचेतन, जीवचेतन, अविद्या, अविद्या तथा चेतन का परस्पर सम्बन्ध और पांचों का परस्पर भेद–ये छ. अनादि गिनाये हैं

काश और अभ्र—(मेघ)—आकाश ये चार भेद हैं।

घटोपहित घटाकाश और घटानवच्छिन्न महाकाश को सब जानते ही हैं—अतएव जलाकाश का स्वरूप बताते हैं—

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

अन्वय—घटावच्छिन्नखे यत् नीरं तत्र प्रतिबिम्बितः साभ्रनक्षत्रः आकाशः जलाकाशः उदीर्यते।

अर्थ—घटोपाधि आकाश में [घट के भीतर के आकाश में] जो जल भरा है उसमें मेघ और नक्षत्र सहित जिस आकाश का प्रतिबिम्ब❀ पड़ता है उसे जलाकाश कहते हैं।

इसलिए कुछ विद्वान् चेतन के तीन ही प्रकार मानते हैं। तीन चेतन के मानने से भी मुमुक्षु को ब्रह्म-आत्मा की एकता का बोध सम्भव है ही; इसलिए कूटस्थ चेतन मानने में गौरव है। इसलिए कूटस्थ और ब्रह्मका नाममात्र का ही भेद है—ऐसा मानना चाहिए। विद्यारण्य स्वामी ने स्वयं 'दृग्दृश्य-विवेक' नामके ग्रन्थ में कूटस्थ का जीव में अन्तर्भाव बताया है—इस प्रकार भी चेतन तीन ही सिद्ध होते हैं। समझाने में सुगमता के हेतु चेतन को चार प्रकार का वर्णन करने में गौरवदोष नहीं है—यह समझना चाहिए।

❀यहां यह शंका हो सकती है कि जलपूर्ण घट में प्रतिबिम्ब तो घटाकाश ही होगा इसकी निवृत्तिके लिए बादल और नक्षत्र सहित प्रतिबिम्ब का ग्रहण है। फिर जंघापरिमाण घट के जलमें जो गम्भीरता प्रतीत होती है वह घट भीतर के आकाश में प्रतीत नहीं होती, अपितु बाहर के आकाश में ही है, अतएव महाकाश का ही वह प्रतिबिम्ब है।

अभ्राकाश का स्वरूप

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

अन्वय—महाकाशस्यमध्ये यत् मेघमण्डलं ईक्ष्यते तत्र जले प्रतिबिम्बतया स्थितः मेघाकाशः ।

अर्थ–महाकाश के मध्य जो मेघमण्डल दीख पड़ता है और उस मेघमण्डल में जो जल विद्यमान है उस जल में प्रतिबिम्बित आकाश 'मेघाकाश' कहलाता है ॥२०॥

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

अन्वय–मेघांशरूपं उदकं, तुषाकारसंस्थितं, नीरत्वात् तत्र अयं खप्रतिबिम्बः अनुमीयते ।

अर्थ–मेघ का अंशरूपी जल तुषार के रूप में रहता है; जल होने से ही उसमें आकाश के प्रतिबिम्बका अनुमान कर लिया जाता है ।

यदि यह कहो कि मेघका जल तो अप्रत्यक्ष है, उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे दीख पड़ेगा ? इसका उत्तर देते हैं—वृष्टिरूप कार्य से, वृष्टि के उपादान कारण, सूक्ष्म अवयवरूप अर्थात् बिन्दु-रूप जल का अनुमान* होता है । और उदक के सद्भावरूप हेतु

---

*यह अनुमान इस प्रकार है—मेघों में जल है; वृष्टिरूपकार्य होने से जहाँ-जहां वृष्टि होती है, वहां–वहां जल अवश्य है; पर्वत के झरने से गिरे जलबिन्दुओं से युक्त पर्वत की भान्ति ।

(लिंग) से उसमें आकाश के प्रतिबिम्ब का भी अनुमान हो जाता है। यह अनुमान इस प्रकार होगा—विवाद का विषय मेघ का जल, आकाश के प्रतिबिम्बवाला होने योग्य है; क्यों कि जल है; जैसे घट में स्थित जल। इस अनुमान से मेघ के अंश जल में भी आकाश के प्रतिबिम्ब की विद्यमानता सिद्ध होती है।

दृष्टान्तरूप चार आकाशों की व्याख्याके पश्चात् घटाकाश-स्थानीय कूटस्थचेतन की व्याख्या करते हैं—

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

अन्वय—अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः कूटस्थः उच्यते; (सः हि) कूटवत् निर्विकारेण स्थितः।

अर्थ—अधिष्ठान होने से दोनों देहों से घिरा चेतन कूटस्थ कहलाता है; (कूटस्थ इसलिए कि वह) लोहार के ऐरन की भान्ति निर्विकार रहता है।

चेतन आत्मा, पंचीकृत और अपंचीकृतभूतों के कार्यरूप स्थूल और सूक्ष्म देहों का अविद्याकल्पित आधार बना रहता है। अतएव इन दोनों देहों से अवच्छिन्न आत्मा (जीवसाक्षी) कहलाता है; और जैसे दूसरे लोहोंके पीटे जाने का आधारभूत, लुहार का ऐरन स्वयं निर्विकार रहता है, उसी ऐरन की भांति निर्विकार रहने से इसे कूटस्थ कहा जाता है ॥२२॥

कूटस्थ में कल्पित जो बुद्धि उसमें प्रतिबिम्बित, कूटस्थ की बराबरी के, जलाकाश-स्थानीय, जीव की व्याख्या करते हैं—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बितः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

अन्वय—कूटस्थे बुद्धिः कल्पिता; तत्र चित्प्रतिविम्बितः प्राणानां धारणात् जीवः । सः संसारेण युज्यते ॥

अर्थ—कूटस्थ में कल्पित की गई बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब ही जीव है । वह सब प्राणों को धारण करता है इसलिए उसे जीव कहते हैं । वह जीव ही संसारमें फंसा रहता है ।

यहां प्रतिबिम्ब का अर्थ है चिदाभास । घटाकाश के आश्रित जलपूरितघट में महाकाश के प्रतिबिम्ब की भान्ति, कूटस्थमें कल्पित स्थूलदेहरूपघटमें स्थित अन्तःकरण या अविद्यांशरूप जलमें प्रतीयमान, व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास है । अधिष्ठान कूटस्थ सहित उस चिदाभास को ही जीव कहते हैं ।

यहां यह आशंका है कि रूपसहितआकाश का रूपसहितजल में और रूपरहित लालगुण का रूपसहिस दर्पण आदि में तो प्रतिबिंब देखा जाता है परन्तु रूपरहित उपाधि में प्रतिबिंब कहीं नहीं दीख पड़ता; इस प्रकार रूपरहित, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके अप्रत्यक्ष, अन्तःकरण अथवा अविद्यांश में रूपरहित चेतन का प्रतिबिंब संभव ही नहीं है ।

इसका समाधान यह है कि रूपसहित वस्तु में अवश्य ही प्रतिबिंब हो ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि नीलादिरूपसहित घट आदि में प्रतिबिंब नहीं दिखाई देता । हां, स्वच्छवस्तु में अवश्य प्रतिबिंब दिखाई पड़ने का नियम है । इसलिए 'रूपसहित वस्तु प्रतिबिंबवाली होगी, रूपवान् होने से' यह अनुमान रूपसहित वस्तु में प्रतिबिंब का साधक नहीं है ।

अन्तःकरण या आविद्यांश रूपसहित हैं। पर तो भी अस्त्वगुण-युक्त होने से स्वच्छ हैं। इसलिए उनमें चेतनका प्रतिबिम्ब है।

सच बात तो यह है कि श्रुतिप्रतिपादित विषय में तर्क असंगत है और दृष्ट कल्पानारूप युक्ति तो पुरुष की बुद्धि से कल्पित ही है अतएव, श्रुतिप्रतिपादित विषयमें उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' इत्यादि श्रुतियों से ही से चिदाभास सिद्ध है।

फिर प्राणधारण का नाम ही जीवन है। प्राण के निकलनेके पश्चात् जो स्थित नहीं रह सकती और प्राण की शरणमें रहने के कारण जिन्हें प्राण कहा जाता है, उन वाणी आदि इन्द्रियों की शरीर में स्थिति का कारण प्राणधारण है ॥२३॥

जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥२४॥

अन्वय–यथा जलव्योम्ना घटाकाशः सर्वतः तिरोहितः तथा जीवेन कूटस्थः, सः अन्योन्याध्यास उच्यते।

अर्थ–जैसे जलाकाश से घटाकाश सारा ढका रहता है वैसे ही जीव से कूटस्थ (आवृत रहता है); इसका नाम अन्योन्याध्यास है।

जब कूटस्थ जीव से भिन्न है तब वह प्रतीत क्यों नहीं होता? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव से ऐसे आवृत रहता है जैसे जलाकाश से घटाकाश। और इस तिरोधानका नाम शारी-

रिक भाष्य आदि में 'अन्योन्याध्यास' बताया है ।।२४।।

अध्यास का कारण—भेदाप्रतीतिरूप अविद्या

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ।।२५।।

अन्वय—अयं जीवः कदाचन कूटस्थं न विविनक्ति अयं अनादिः अविवेकः मूलाविद्या इति गम्यताम् ।

अर्थ—यह जीव कभी भी अपने कूटस्थरूप को पहचानता नहीं; यह अनादि काल का अविवेक (कार्यअज्ञान) 'मूलाविद्या' है-ऐसा जानो । [इस अविद्या से ही अन्योन्याध्यास की उत्पत्ति हुई है] ।

२३वें श्लोक में जीव को अविद्या से कल्पित कहा है; इसको स्पष्ट करने के लिए अविद्या के भाग बताते हैं—

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ।।२६।।

अन्वय—विक्षेपा ऽऽवृतिरूपाभ्यां द्विधा अविद्या व्यवस्थिता; कूटस्थः 'न भाति' 'न अस्ति' इति अपादानं आवृतिः ।।

अर्थ—उस अविद्या के 'विक्षेप' और 'आवृति' ये दो भेद हैं । 'कूटस्थ न तो प्रतीत होता है' 'नां ही वह है ही' इस मिथ्याव्यवहार का हेतु 'आवृति-अविद्या' अथवा 'आवरण' है ।

'आवृति-अविद्या' विक्षेपकी हेतु है—अतएव उसका लक्षण पहले किया गया है ।

अविद्या और उसके कार्य आवरण के सद्भाव में क्या प्रमाण है?

यह बताते हैं।

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७॥

अन्वय-विदुषा पृष्टः अज्ञानी 'कूटस्थं' न प्रबुध्यते'। अपितु 'न भाति न अस्ति' इति बुध्वा वदति।

अर्थ-ज्ञानी जब अज्ञानीसे पूछता है कि 'तू कूटस्थ को जानता है या नहीं है तब "मैं कूटस्थ को नहीं जानता" यह उत्तर वह अनुभवके आधार पर ही देता है। यह अविद्याका अनुभव है। फिर वह केवल अज्ञान का अनुभव ही नहीं बताता अपितु 'कूटस्थ नहीं है और भासमान भी नहीं होता' यह बात कूटस्थ के अभाव को और उसकी अप्रतीति को अनुभव के कारण ही बताता है-यही आवरण का अनुभव है। इसलिए अविद्या और आवरण दोनों में अनुभव प्रमाण है।

(शंका) वेदान्तमत से आत्मास्वप्रकाश है उसमें अविद्याका संबन्ध कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रकाश और अन्धकारकी भांति आत्मा और अविद्या परस्पर विरुद्धस्वभाव के हैं फिर उनका संबन्ध कैसा ? जब अविद्या का ही अभाव है तो उसका किया आवरण कैसे होगा ? जब आवरण नहीं हुआ तो उसके कारण होने वाला विक्षेप भी सिद्ध नहीं होगा। विक्षेप के अभाव में ज्ञान से नष्ट होने वाला अनर्थ भी नहीं होगा और इस प्रकार ज्ञान ही जब व्यर्थ होगा तो उसका प्रतिपादक शास्त्र भी अप्रमाण होगा। इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं :-

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८॥

अन्वय—'स्वप्रकाशे अविद्या कुतः ? तां बिना आवृतिः कथम् ?" इत्यादि तर्कजालानि असौ स्वानुभूतिः ग्रसति ।

अर्थ—"आत्मा में अविद्या कहां से आयी ? तथा अविद्या के बिना आवरण कैसे हुआ ?" इत्यादि तर्कों को तो (पहले श्लोक में प्रदर्शित) स्वानुभव ग्रस लेता है ।

जो वस्तु दृष्ट अर्थात् अनुभूत होती है उसको असिद्ध या असम्भव नहीं माना जाता ।

अनुभव विरुद्ध तर्क का अनादर

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥

अन्वय—स्वानुभूतौ अविश्वासे तर्कस्य अपि अनवस्थितेः तार्किकम्मन्यः तत्त्वनिश्चयं कथं वा आप्नुयात् ।

अर्थ—यदि अपने अनुभव पर विश्वास नहीं किया जायगा तो तर्क की भी स्थिति नहीं होगी—इससे अपने आपको तार्किक मानने वाला किस प्रकार तत्त्वनिश्चय पर पहुँचेगा ? किसी भी प्रकार नहीं ।

वादी कहता है कि २७वें श्लोक में बताया गया अनुभव २८वें श्लोक में वर्णित तर्क से विरुद्ध है अतएव वह आभासमात्र है और उससे निश्चय नहीं हो सकता—इसके उत्तर में कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि तार्किक स्वानुभव को ही प्रमाण न मानेगा और केवल तर्क को ही निश्चायक मानेगा तो फिर उसे

तत्वज्ञान ही न होगा क्योंकि तर्क तो अनवस्थित है । जो जितना बड़ा तार्किक होता है उसका तर्क उतना प्रबल होता है । अपना अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी बातका निर्णय हो सकता है ॥२६॥

यद्यपि, अनुभव से तत्व का निश्चय होता है तथापि,अनुभव किये तत्व की संभावितताके लिए तर्क आवश्यक है; ऐसा कहनेवाले वादी को कहते हैं–

बुद्धयारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०॥

अन्वयः–बुद्धयारोहाय तर्कः अपेक्षेत चेत् तथासति, स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम्; मा कुतर्क्यताम् ॥

अर्थ–बुद्धि में पदार्थके आरूढ होनेके लिए जब तर्ककी अपेक्षा है तो अपने अनुभवके अनुसार ही तर्क करना चाहिए; कुतर्क नहीं करना चाहिए ॥३०॥

वह अनुभव कौनसा है ? बताते हैं :—

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ॥३१॥
तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।

अन्वयः–अविद्यायां च आवृतौ स्वानुभूतिः प्रदर्शिता । अतः 'कूटस्थचैतन्यं अविरोधि' इति तर्क्यताम् । तत् विरोधि चेत् इह आवृतिः केन अनुभूयताम् ?

अर्थ–अविद्या और आवृति विषयक अनुभव का वर्णन(२७वें

श्लोक में) कर चुके हैं। इसलिए कूटस्थ चैतन्य अविद्या और आवरण का विरोधी नहीं है; ऐसी तर्कणा करनी चाहिए ॥३१॥

यदि कूटस्थचैतन्य विरोधी हो तो इस आवरण को कौन अनुभव करेगा, उसको बताओ!

अविद्या और आवरणका साधक चैतन्य ही यदि उनका विरोधी हो तो "कूटस्थ को मैं नहीं जानता हूँ" इस आकारवाली अविद्या की प्रतीति ही न होगी ; जब यह प्रतीति होती है तब यह मानना पड़ता है कि कूटस्थ-अविद्या का विरोधी नहीं है ॥३२॥

तब अविद्या का कौन विरोधी है ? इसका उत्तर देते हैं—

विवेकस्तु विरोध्यस्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥

अन्वय–विवेकः तु अस्याः विरोधी । तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥

अर्थ–विवेक अर्थात् उपनिषद्विचारजन्य ज्ञान इस अविद्या का विरोधी है। और वह अविद्या का विरोधी विवेक तत्त्वज्ञानीमें स्पष्ट ही देख लो ॥३२॥

अविद्या और आवरण की व्याख्या कर अब विक्षेपाध्यास का वर्णन है :-

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

अन्वय–अविद्यावृतकूटस्थे शुक्तौ रूप्यवत् अध्यस्ता देहद्वययुता चितिः विक्षेपाध्यास एव ।

अर्थ–पूर्वोक्त अविद्या और आवरण वाले कूटस्थरूप प्रत्यगात्मा में, सीपीमें चांदी की भान्ति, आरोपित स्थूल सूक्ष्म दोनों देहोंसे युक्त चिदाभास का नाम ही विक्षेपाध्यास है ॥३३॥

विक्षेप को अध्यास सिद्ध करने के लिए इसकी शुक्तिरजताध्यास के साथ साम्यता दिखाते हैं—

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते।
स्वयंत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४॥

अन्वय—शुक्तिगं इदमंशः च सत्यत्वं रूप्ये ईक्ष्यते, एवं अन्यगं स्वयंत्वं वस्तुता च विक्षेपे वीक्ष्यते।

अर्थ—शुक्तिगत इदं अंश और सत्यत्वं जैसे चाँदी में दिखाई देते हैं ऐसे ही अन्यग अर्थात् कूटस्थगत आपपना और वस्तुपना (सत्यपना) ये दोनों धर्म विक्षेप अर्थात् चिदाभासमें दिखाई देते हैं।

'इदंअंश' का अर्थ है सन्मुखदेश में तथा वर्तमान काल में स्थिति और अबाध्यता—शुक्ति के ये दोनों धर्म जैसे आरोपित चांदी में दीखने लगते हैं वैसे ही, कूटस्थ में स्थित स्वयंपना और सत्यत्व ये दोनों धर्म आरोपित चिदाभास में दीखते हैं—

इस प्रकार शुक्ति कूटस्थ दोनों में* सामान्यांश की प्रतीति दखाकर दोनों में विशेष अंश की अप्रतीति दिखाते हैं—

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम्।
असङ्गानन्दताद्यैवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥३५॥

---

*सामान्यांश अथवा आधार वह है जो : भ्रान्ति के साथ ही प्रतीत होता है और जिसकी प्रतीति के विना भ्रान्ति नहीं होती : दृष्टान्त में 'इदंअंश' और अबाध्यता, सामान्य अंश है और सिद्धान्त में स्वयंपना और वास्तवपना सामान्यअंश है।

अन्वय–यथा शुक्तौ नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं तिरोहितम् । एवं कूटस्थे अपि असंगऽऽनन्दतादि तिरोहितम् ।

अर्थ–जैसे सीप का नीला पृष्ठ और त्रिकोणपना(ये दोनों विशेषअंश) ढक गये हैं इसी प्रकार कूटस्थ में से भी असङ्गता और आनन्दता आदि * विशेष अंश तिरोहित हो गये हैं ॥३५॥

अन्य साम्य दिखाते हैं :—

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम यथा तथा ।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

अन्वयः—यथा दृष्टान्ते आरोपितस्य रूप्यं नाम; कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामा'अहं, इति निश्चयः ॥

अर्थ—जैसे दृष्टान्त सीपी में आरोपित पदार्थ का नाम 'चांदी है; ऐसे ही दार्ष्टान्त कूटस्थ में कल्पित चिदाभासरूप विक्षेप का नाव 'अहं' अर्थात् मैं है ; यह निश्चय है ॥३६॥

सामने पड़ी सीप में इन्द्रिय सन्निकर्ष से 'चांदी है' इस प्रकारका एक अतिरिक्त 'रजतज्ञान' उत्पन्न होता है–यहां कूटस्थ में वह कैसे होता है, यह दिखाते हैं :-

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ।३७।

अन्वय—इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यं इति अभिमन्यते ; तथा स्वं स्वतः पश्यन् 'अहम्' इति अभिमन्यते ।

---

*भ्रान्तिकाल में जिसकी प्रतीति न हो, और जिसकी प्रतीति होने पर भ्रान्ति दूर हो वह विशेष अंश कहलाता है । इसी को अधिष्ठान भी कहते हैं ।

अर्थ—जैसे 'इदं' भाग को स्वतः देखता हुआ पुरुष भी झूठमूठ 'चाँदी है' ऐसा मान लेता है ऐसे स्वसं को निजरूप से देखकर 'मैं' ऐसा मान लेता है ॥३७॥

(शंका) 'स्वयं' और 'अहं' शब्द तो एकार्थक हैं ; फिर शुक्ति और आत्मा की समता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर देते हैं :—

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वांहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ।३८।

अन्वय—(यथा) इदंत्वरूप्यते भिन्ने तथा स्वत्वाहंते इष्यताम्; सामान्यं च विशेषः च उभयत्र अपि गम्यते ।

अर्थ—जैसे 'यह पना' और रूप्यपना' दोनों भिन्न हैं ऐसे ही स्वयंता' और 'अहता' भी परस्पर भिन्न हैं : (दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में ही) ये क्रमशः सामान्य और विशेषरूप हैं ॥३८॥

स्वयंशब्द का सामन्यरूप से लौकिकव्यवहार दर्शाते हैं :—

देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ।३९।

अन्वय—'देवदत्तः स्वयं गच्छेत्' तथा 'त्वं स्वयं वीक्षस्व' 'अहं स्वयं न शक्नोमि' इति एवं लोके प्रयुज्यते ।

अर्थ—'देवदत्त अर्थात् अमुक पुरुष (स्वयं) आप जाता है' 'तू आप देख' 'मैं स्वयं समर्थ नहीं हूँ' इस प्रकार के प्रयोग लोक में होते हैं । [इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि 'स्वयं' सामान्यरूप का 'अहं' विशेषरूप होता है] ॥३९॥

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०॥

अन्वय– इदं रूप्यम्' 'इदं वस्त्रम्' इति यद्वत् इदं; तथा 'असौ, त्वं, अहम्' एषु 'स्वयं' इति अभिमन्यते।

अर्थ–'यह रूप्य है', यह वस्त्र है' यहां जैसे सर्वत्र इदं शब्द का प्रयोग होने से उसके अर्थ की समान्यरूपता मानी जाती है; इसी प्रकार असौ (वह), त्वं (तू) और अहं (मैं) इन तीनों के साथ स्वयं शब्द का प्रयोग उसके अर्थ की सामान्यरूपता को दर्शाता है।

स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ है, भिन्न नहीं

अहंत्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१॥

अन्वय–स्वत्वं अहंत्वात् भिद्यतां, तेन कूटस्थे तव किम्? "स्वयंशब्दार्थः एव एषः कूटस्थः" इति मे भवेत्।

अर्थ–स्वपन, अहंपन से भिन्न रहे इससे तेरे कूटस्थ (आत्मा) में क्या सिद्ध हुआ? इसका उत्तर यह है कि 'सामान्यरूप जो जो स्वयं शब्दार्थ है वही कूटस्थ है' यह मेरी बात सिद्ध हो जाती है ॥४१॥

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम्।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥४२॥

अन्वय–"अन्यत्ववारकं स्वत्वं" इतिचेत्? तत् अन्यवारणं कूटस्थस्थस्यात्मतां वक्तुः, इष्टं एव।

अर्थ—यदि कहो स्वत्वरूप धर्म तो अन्य का निवारण करता है, (वह कूटस्थपने का बोध नहीं कराता है) तो ऐसा कहना अर्थात् अन्यत्वका वारण, कूटस्थको आत्मा बताने वाले मुझे, अभीष्ट ही है।

यहां शंका यह है कि जो 'स्व' है वह अन्य नहीं हो सकता फिर वह स्वत्वरूपधर्म, कूटस्थताका बोध कैसे होने देगा ? समाधान यह है कि स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ तत्त्व ही हमारा अभीष्ट आत्मा है; यदि स्वत्वसे अन्य (अनात्मा) का वारण हो जाता है तो आत्मा तो स्वयं शेष रह जाता है—और यही अभीष्ट है ।।४२।।

स्वयं और आत्मा शब्द पर्याय हैं—यह दिखाते हैं :—

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगोनास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ।।४३।।

अन्वय—'स्वयं आत्मा' इति पर्यायी, तेन लोके तयोः सह प्रयोगः न अस्ति । अतः स्वत्वं च आत्मत्वं च अन्यवारकम् ।

अर्थ—स्वयं और आत्मा शब्द दोनों आपस में हस्त और कर की भान्ति पर्याय हैं। इसीलिए लोक में इनका एक साथ प्रयोग नहीं होता। इसलिए स्वत्व और आत्मत्व दोनों शब्द अन्यत्व के वारक हैं ।।४३।।

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद्दृश्यतामात्मसत्त्वतः ।।४४।।

अन्वय—'घटः स्वयं न जानाति' इति एवं घटादिषु अचेतनेषु अपि स्वत्व दृष्टं चेत् ? दृश्यताम् आत्मसत्वतः ।

अर्थ—यदि कहो कि 'घट स्वयं नहीं जानता' इस रूप में अचेतन घटादि पदार्थों में भी स्वत्व देखा जाता है; फिर स्वत्व और आत्मत्व एक कैसे हुए ? इसका उतर देते हैं—उसमें स्वयंपना दीखता है तो दीखे—क्योंकि उनमें भी भातिरूप-स्फुरणरूपसे आत्म-चैतन्य रहता है।

जब घटादि जड़ पदार्थों में भी आत्मचैतन्य मान लिया तो फिर चेतन और अचेतन का भेद किस कारण से होगा ? इसका उत्तर देते हैं :—

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि।
किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५॥

अन्वय—चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि, किन्तु बुद्धिकृता ऽऽभासकृता एव इति अवगम्यताम्।

अर्थ—चेनन और अचेतन का भेद कूटस्थ आत्मा का किया हुआ नहीं है किन्तु वुद्धिकृतआभास (चिदाभास) का किया हुआ है। बुद्धि के अधीन चेतनका प्रतिबिम्ब ही उनके भेद का कारण है॥४५॥

चेतनाचेतन का विभाग चिदाभास की सत्ता और असत्ता से ही माना जाय तो फिर अचेतनों में आत्मा का स्वीकार करना निष्प्रयोजन होगा ? इसका उत्तर देते है :—

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः।४६।

अन्वय—यथा कूटस्थे चेतनः आभास भ्रान्तिकल्पितः तथा तत्र एव अचेतनः घटादि च कल्पितः।

अर्थ–जैसे कूटस्थ में चेतन का आभास भ्रान्ति से कल्पित है इसी प्रकार अचेतन घट आदि भी उसी कूटस्थ में भ्रान्ति से कल्पित हैं।

अर्थात् यह ठीक है कि चेतन और अचेतन के विभाग का हेतु कूटस्थ नहीं है परन्तु वह कूटस्थ अचेतन पदार्थों की कल्पना का अधिष्ठान तो ठीक वैसे ही है जैसे कि वह चिदाभास की कल्पना का अधिष्ठान है; इस कारण अचेतनों में भी आत्मा की सत्ता को मानना निष्प्रयोजन नहीं है ॥४६॥

स्व और आत्मा को एक मानने में दोष

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।

सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥

अन्वय–"तत्तेदन्ते स्वत्वं इव 'त्वम्' 'अहम्' आदिषु सर्वत्र अनुगते तेन तयोः अपि आत्मता" इति चेत् ?

अर्थ—जैसे तुम 'त्वम्' (तू) 'अहम्' (मैं) आदि में सर्वत्र रहने वाले स्वपन (स्वत्व) को आत्मा मानते हो, 'तत्ता' (वह पन) और 'इदन्ता (यह पन) भी इसी प्रकार सर्वत्र अनुगत हैं: उनको भी आत्मा मानना पड़ेगा ! इनका समाधान करते हैं :–

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।

आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ।४८।

अन्वय–ते तत्तेदंते आत्मत्वे अपि अनुगते; ततः तयो आत्मत्वं न एव सम्भाव्यम् । यथा सम्यक्त्वादेः तथा ।

अर्थ–वे 'तत्ता' और 'इदन्ता' आत्मपन में भी अनुगत हैं; इसलिए उनकी आत्मरूपता सम्भव नहीं है जैसे सम्यक्त्व (समीचीनता) आदि की आत्मस्वरूपता सम्भव नहीं है वैसे।

'तत्ता' और 'इदन्ता' स्वयंपन की भान्ति 'त्वं' और 'अहम्' में तो अनुगत हैं ही, पर 'त्व' और 'अहम्' में अनुस्यूत जो आत्मता है उसमें भी वे अनुगत हैं। "तदात्मत्वम्" "इदं आत्मत्वम्" (वह आत्मता, यह आत्मता) इत्यादि व्यवहार सम्भव है ही; अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' आत्मतासे अधिक देशवर्ती हैं इसलिए वे आत्मस्वरूप नहीं हैं। इसमें उदाहरण देते हैं कि जैसे 'यह आत्मा सम्यक् (समीचीन) है' या 'यह असम्यक् (असमीचीन) है' इत्यादि व्यवहार में आत्मत्व में भी वर्तमान सम्यक्त्व अथवा असम्यक्त्व की आत्मस्वरूपता नहीं है वैसे ही 'इदन्ता' और 'तत्ता' की भी आत्मरूपता नहीं है ॥४८॥

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम्।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९॥

अन्वय–लोके तत्ता+इदन्ते, स्वता+अन्यत्वे, त्वन्ता+अहन्ते परस्परं प्रतिद्वन्द्वितया प्रसिद्धे (अत्र) संशयः न अस्ति।

अर्थ—लोक में 'वह'–'यह'। 'स्वयम्-दूसरा' 'तू–मैं' परस्पर प्रतिद्वन्द्वी (प्रयोग में विरोधी) प्रसिद्ध हैं–इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४९॥

प्रतिद्वन्द्वी होने का यहां प्रसंग में क्या परिणाम है ?

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम्।

त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥

अन्वय—अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थः इष्यताम् । त्वन्तायाः प्रतियोगी एषः अहम् इति आत्मनि कल्पितः ।

अर्थ—अन्यता का प्रतिद्वन्द्वी (बराबरी का) दूसरा जो स्वयं है वह कूटस्थ है यह मानो और 'त्वंता' का प्रतियोगी (प्रतिद्वन्द्वी) जो यह 'अहम्' है वह आत्मा में कल्पित है । अर्थात् अन्यपन का प्रतियोगी, स्वयं शब्दका अर्थ कूटस्थ है और त्वंपन के प्रतियोगी अहं शब्द का अर्थ चिदाभास है : वह चिदाभास कूटस्थ में कल्पित है ।

फिर, जीव-कूटस्थ के एकत्व का बोध क्यों ?

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

अन्वय—रूप्यतेन्दन्तयोः इव अहन्तास्वत्वयोः भेदे स्पष्टे अपि मोहं आपन्नाः एकत्वं प्रपेदिरे ।

अर्थ—रूप्यता और इदन्ता की भान्ति अहन्ता और स्वयंता में भेद स्पष्ट है : फिर भी भ्रान्तिमें पड़े जीव उनको एक समझते हैं ।

बुद्धि का साक्षी कूटस्थ बुद्धि से प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता इसलिए 'अहम्' रूप वृत्ति में भासमान जो दोनों जीव और कूटस्थ हैं उनको अज्ञजन भ्रान्तिसे एक मान लेते हैं । 'अहं' से एक ही समय में चिदाभास और कूटस्थ की प्रतीति होती है । 'भेद इतना ही है कि चिदाभास तो कूटस्थ के विषय रूप में प्रतीत होता है और कूटस्थ अर्थात् आत्मा, अहंवृत्तिसहित चिदाभास को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशता से प्रतीत होता है ॥५१॥

जीव कूटस्थ की एकता की भ्रान्ति का कारण अविद्या

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

अन्वयः—तादात्म्याध्यासः अत्र पूर्वोक्ताविद्यया एव कृतः । अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ।

अर्थः—यह तादात्म्याध्यास (जीव औरकूटस्थकी एकता का भ्रम) इस प्रकरणके 'अनादिरविवेकोयम्' इस २५वें श्लोकमें वर्णित अविद्या का किया हुआ है; जीव और कूटस्थ की एकता का भ्रम अविद्या का कार्य है। अतएव अविद्याके निवृत्त हो जाने पर (उसकी निवृत्ति करने वाले ज्ञान से) उसका कार्य भ्रम भी नष्ट जाता है ॥५२॥

"अविद्या का कार्य होनेके कारण अध्यास अविद्या की निवृत्तिसे हट जाता है यह सिद्ध नहीं होता, क्योकि हम देखते है कि ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी अविद्या के कार्य देह आदि वर्तमान रहते ही हैं ।' इस शंका का समाधान करते हैं:—

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३॥

अन्वयः—अविद्यावृतितादात्म्ये विद्यया एव विनश्यतः । विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षय ईक्षते ।

अर्थ—अविद्याकृत आवरण और तादात्म्य(जीवकूटस्थकी एकता का भ्रम) ये दोनों तो (मुख्यतया अविद्या के कार्य होने के कारण) विद्या से ही नष्ट हो जाते हैं परन्तु विक्षेप का स्वरूप तो प्रारब्धके विनाश की अपेक्षा करता है ।

स्थूलसूक्ष्मशरीर सहित चिताभास को विक्षेप कहते हैं ; उस विक्षेप का स्वरूप प्रारब्धकर्मोपाधि सहित अविद्या से जन्य है ; उस में अविद्या और कर्म दोनों कारण हैं; अतएव कर्म के अवसान-पर्यन्त विक्षेप तो रहेगा ही इसीलिए ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर भी देहादिक की उपलब्धि होती रहती है ॥५३॥

प्रारब्धकर्म तो निमित्तमात्र हैं; वे चाहे बने रहें; उपादान कारण अविद्या है उसके नष्ट हो जाने पर भी कार्यरूपविक्षेप कैसे बना रहता है ? इसके उत्तर में न्याय में प्रसिद्ध दृष्टान्त दिखाते हैं :-

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं न संभवेत् ।५४।

अन्वय-'उपादाने विनष्टे अपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते' इति तार्किकाः आहुः । तद्वत् अस्माकं किं न सम्भवेत् ।

अर्थ-तार्किक कहते हैं कि उपादान के नष्ट हो जाने पर भी कार्य क्षणभर ठहरा रहता है: (जब तार्किकों ने अपने कार्यकारण-भाव को सिद्ध करने के लिए यह बात मानली है तब) उनके सामान हमारे सिद्धान्त में भी विक्षेप का बना रहना सम्भव क्यों नहीं है ?

-तार्किक तो कार्य को क्षणमात्र स्थायी मानते है तब फिर तुम विक्षेप को चिरकालस्थायी कैसे मानते हो ? इसका उत्तर देते हैं-

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ।५५।

अन्वय-तैः दिनसख्यानां तन्तूनां तादृक् क्षणः ईरितः, इह

असंख्यकल्पस्थभ्रमस्य योग्यः क्षणः इष्यताम् ।

अर्थ—उन नैयायिकों ने, जैसे, दिनों में गिनेजानेयोग्य तन्तुओं का क्षण वैसा ही (छोटा सा) क्षण मान लिया है वैसे यहां भी असंख्य-कल्पों की आयुवाले भ्रम के योग्य क्षणको (उसी अनुपात में लम्बा) मानना चाहिए ।

संसार तो आदिकाल से चला आ रहा है, संस्कारवश वह भ्रमरूप संसार अविद्यारूप उपादान के नष्ट हो जाने पर भी चिर-काल अर्थात् प्रारब्धकर्मोंकी समाप्ति तक ऐसे ही बना रहता है जैसे कि कुलाल का चक्का एक वार घुमाकर छोड़ देने पर भी देर तक घूमता रहता है ॥५५॥

नैयायिकों की भान्ति तुम्हारा कथन भी तो अयुक्त है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं :—

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥५६॥

अन्वय—क्षोदेक्षमं मानं बिना तैः वृथा परिकल्प्यते श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः वदतां कि नु दुःशकम् ।

अर्थ—विचार करने पर भी बने रहने वाले प्रमाणान्तरके बिना ही उन नैयायिकों ने व्यर्थ ही क्षण की कल्पना कर डाली है परन्तु श्रुति, युक्ति और अनुभव के आधार पर कहने वाले हमारे लिए क्या कठिनाई है ?

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" यह छान्दोग्य श्रुति का प्रमाण है—अर्थात् ज्ञानी को मोक्ष में इतनी ही देरी है

कि जब तक देहपात नहीं होता। देहपात होते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है। कुलालचक्र का भ्रमण हमारे सिद्धान्त में युक्ति है और विद्वानों का अनुभव है ही। अतएव इतने प्रमाणों के रहते प्रारब्ध-कर्मों की समाप्ति तक विक्षेपका का बना रहना हमारे मत में सिद्ध करना कठिन नहीं है ॥५६॥

अब पुनः प्रसंग पर आते हैं :—

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

अन्वय—दुस्तार्किकैः साकं विवादः आस्ताम्; प्रकृतं ब्रुवे—स्वाहमोः कूटस्थपरिणामिनोः एकत्वं सिद्धम्।

अर्थ—अच्छा; कुतार्किकों के साथ छिड़े इस विवाद को जाने दो; प्रसंग की बात को ही कहता हूं — स्व का अर्थ कूटस्थ-निर्विकार साक्षी है और अहम् का अर्थ परिणामी-विकारी चिदाभास है। उन दोनों की एकता भ्रान्ति से सिद्ध हो गई ॥५७॥

जब कूटस्थ और जीवकी एकता भ्रान्ति से सिद्ध है तो 'यह भ्रान्ति है' इस बातको कितने ही क्यों नहीं जानते ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८॥

अन्वय—पंडितम्मन्याः लौकिकतैर्थिकाः सर्वे मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य केवलां युक्तिं आश्रिताः भ्राम्यन्ते।

अर्थ—पंडित न होते हुए भी अपने आपको पंडित समझनेवाले

अज्ञानी और नैयायिक आदि शास्त्रवेत्ता जन सब (अपनी) मूर्खता से श्रुति का अनादर कर निरे तर्क का जो कि, उनकी कल्पना ही है, आश्रय लिए चक्कर खा रहे हैं। यदि वे श्रुति के तात्पर्य का विचार करें तो उन्हें ज्ञान हो जाय कि कूटस्थ और जीव की एकता भ्रांति-सिद्ध है और वे दोनों को एक न मान बैठें ।।५८।।

श्रुत्यर्थ के कुछ वक्ता भी ऐसा क्यों नहीं जानते ?

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।
वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ।।५९।।

अन्वय–तत्र केचन पूर्वापरपरामर्शविकलाः अलज्जया स्वस्वपक्षे वाक्याभासान् अपि योजयन्ति ।

अर्थ—उन्हीं में से पूर्वापर का विचार करने में असमर्थ कुछ (श्रुत्यर्थ को थोड़ा जानने वाले) पुरुष आप निर्लज्ज होकर अपने अपने पक्ष (मत) में वाक्याभासों को भी लगा लिया करते हैं।

पूर्वापरके विरोध से अन्यार्थ बताने वाले वाक्य को वाक्याभास कहते हैं ।।५९।।

आत्मा के सम्बन्ध में अनेक मत

केवलमात्र प्रत्यक्षको प्रमाण माननेवाले लोकायतादि का अतिस्थूल पक्ष

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः ।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ।।६०।।

अन्वय–लोकायताः च पामराः प्रत्यक्षाभासम् आश्रिताः कूटस्थादिशरीरसंघातस्य आत्मतां जगुः ।

अर्थ—(चार्वाक के अनुयायी)लोकायत तथा (महामूर्ख) पामर लोग प्रत्यक्ष का,नहीं अपितु प्रत्यक्षाभास का आश्रय लेकर कूटस्थ से लेकर शरीरपर्यन्त का जो यह संघात(जमघट्ट)है, इसी को आत्मा कहते रहते हैं।

जैसे 'अहं' प्रतीति के द्वारा देह का प्रत्यक्षभान होता है ऐसे ही इन्द्रियों का भी 'अहं' प्रतीति में प्रत्यक्षभान होता है। इसलिए देह को विषय करने वाला प्रत्यक्षज्ञान व्यभिचारी होने से प्रत्यक्षाभास ही है ॥६०॥

और वे अपने पक्ष को श्रुति से भी प्रमाणित करते हैं!

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१॥

अन्वय—ते स्वपक्षं श्रौतीकर्तुं अन्नमयं कोशं तथा विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे।

अर्थ—वे अपने पक्ष को श्रुतिसिद्ध करने के लिए अन्नमयकोश को और प्रह्लादपुत्र विरोचन के सिद्धान्त को प्रमाण स्वीकार करते हैं। 'अन्नमयकोश' से यहां उसके प्रतिपादक 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि वाक्यों का ग्रहण है। विरोचन का सिद्धान्त 'आत्मैव देहमयः' यह वाक्य है। ये लोग इन वाक्यों को प्रमाण तो मानते हैं परन्तु प्रसंग के विरोध के कारण इन वाक्यों से अपने पक्ष का उपपादन नहीं कर पाते ॥६२॥

इन्द्रियात्मवादी दूसरे लोकायतों का सिद्धान्त

जीवात्मनिर्गमे देहमरणास्यात्र दर्शनात्।

देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२॥

अन्वय— परे लोकायताः जीवात्मनिर्गमे अत्र देहमरणस्य दर्शनात् देहातिरिक्तः एव आत्मा इति आहु :।

अर्थ—(इन्द्रियात्मवादी) कुछ दूसरे लोकायत जीवात्माके निकल जाने पर देह को मरा हुआ देखकर कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न ही है ॥६२॥

चार्वाक और लोकायतमत

ये लोग क्रमशः वायु आदि चार और आकाश आदि पांच भूतों के संघट्टरूप देह को आत्मा मानते हैं। इसमें निम्न युक्तियां देते हैं:-

(१) अहं बुद्धि का विषय ही आत्मा है। 'मैं मनुष्य हूं' मैं स्थूल हूं—आदि में मनुष्यत्व आदि धर्मविशिष्ट स्थूल देह ही अहं प्रतीति का विषय है; अतएव देह ही आत्मा है।

(२) अथवा परमप्रीति का विषय ही आत्मा है स्त्री, धन आदि भी इसी लिए मनुष्य को प्यारे हैं कि वे इस देह के उपकारक हैं; अतएव यह देह ही परमप्रीति का विषय है और इसीलिए वही आत्मा है।

(३) उस देहरूप आत्माका स्नान, मंजन, अंजन, वस्त्राभूषण और नानाविध भोजनसे शृङ्गारपोषणजन्यभोग्य ही परमपुरुषार्थ है।

(४) मरण ही मोक्ष है। केवलमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है — अन्य कोई प्रमाण नहीं आदि, आदि।

चार्वाक मत की असंगति

चार्वाकमत की असंगतिमें निम्न युक्तियां हैं—(१) "मैं देखता हूं

मैं सुनता हूँ' इत्यादि प्रयोग से इन्द्रियां भी तो अहं प्रतीतिकी विषय हैं; और 'मेरा देह स्थूल या कृश है' ऐसा कहा जाता है इसलिए देह ममता का विषय भी है ही। जो ममता का विषय होता है वह 'अहंता' का विषय नहीं होता—अतएव स्थूलदेह अहं प्रतीत का विषय नहीं है।

(२) जैसे स्त्री पुत्र आदि से देह में अधिक प्रीति होती है वैसे देह से अधिक प्रीति इन्द्रियों में होती है; अतएव देह परमप्रीति का विषय नहीं है। फिर चेतन ही आत्मा होता है, क्यों कि भूतों का संघात रूप देह चेतन है नहीं, अतएव वह आत्मा भी नहीं है।

चार्वाक आदिका यह कहना कि कत्था-चूनेसे पान रंग देने लगता वैसे भूतसमुदायदेहमें ज्ञानशक्ति सम्भव है—ठीक नहीं हैं; क्योंकि यों तो भूतसमुदाय घटमें भी चेतनता होनी चाहिए। और सुषुप्तिमूर्छा—मरण आदि अवस्थाओं में देह घट की भांति जड़ हो ही जाता है, अतएव देह जड़ ही है और जड़ होने से आत्मा नहीं है।

फिर यदि देहको आत्मा मानें तो बालक शरीर से भिन्न युवा-शरीर में 'मैं वही हूँ, यह ज्ञान नहीं होना चाहिए। देह जन्ममरण-शील है—जन्म से पहले और मरण के पीछे देह रहता ही नहीं; यदि यही आत्मा हो तो उसमें कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आजायंगे (देखो पंचकोश-विवेक श्लोक ४)। आदि अनेक युक्तियों से देह अनात्मा सिद्ध होता है।

(३) देहके शृङ्गार व पोषणादिको चार्वाक परमपुरुषार्थ मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है। पुरुषकी इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ

होता है–और सुख की प्राप्ति व दुःख की निवृत्ति ही सब की इच्छा है–वही पुरुषार्थ है। सबसे अधिक सुख और अत्यन्त दुःखाभाव परमपुरुषार्थ है। इसी को सिद्धान्ती मोक्ष कहता है। भोग में सातिशयता आदि दोष हैं, अतएव वह परमपुरुषार्थ नहीं हो सकता।

(४) मरण के पश्चात् जला देने पर देहरूप आत्मा ही नहीं रहता अतएव मरण को मोक्ष कहना तो प्रलाप ही है। अभुक्त भोजन में तृप्ति हेतु है– इस की सिद्धि अनुमान से होती है; परदेश में माता-पिता का मरण शब्दप्रमाण से सिद्ध होता है; इसी प्रकार दूसरे प्रमाणों की व्यवहार से सिद्धि होने कारण केवलमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना हठ और दुराग्रह ही तो है।

इस प्रकार देहात्मवादी चार्वाक का मत असंगत सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताऽहंधीर्देहातिरेकिणम्।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३॥

अन्वय–वच्मि इत्यादि प्रयोगतः प्रत्यक्षत्वेन अभिमता अहंधीः देहातिरेकिणं इन्द्रियात्मानं गमयेत्।

अर्थ–'मैं कहता हूँ, मैं देखता हूँ' इत्यादि प्रयोगों से प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह अहंबुद्धि देह से भिन्न (अहं बुद्धि से गम्य) इन्द्रियों को आत्मा बता रही है ॥६३॥

वे अपने ढंग से इन्द्रियों में चेतनता भी प्रमाणित करते हैं:–

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ॥६४॥

अन्वय—वागादीनां इन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः तेन ऐतेषां चैतन्यम् । ततः आत्मत्वम् एव हि ।

अर्थ—वाक् आदि इन्द्रियोंका संवाद-विवाद श्रुतियोंमें सुना गया है—इस कारण वे इन्द्रियां चेतन हैं और चेतन होने के कारण ही आत्मा भी हैं । *क्योंकि चेतनता ही आत्मा का लक्षण है ।६४।

हैरण्यगर्भ मत

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।

चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्वे तु जीवति ॥६५॥

अन्वय—प्राणात्मवादिनः हैरण्यगर्भाः तु एवम् ऊचिरे—चक्षुराद्यक्ष-लोपे अपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ।

अर्थ—समष्टि प्राणरूप हिरण्यगर्भ के उपासक जो प्राण को आत्मा मानते हैं, उनका कहना है—चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट हो

---

*चार्वाकों में से अन्यतम इन्द्रियात्मवादी का मत

भी असंगत है। क्योंकि जिसके विना शरीर न रह सके वह आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियों में से एक-एक के नष्ट हो जाने पर भी शरीर रहता है अतएव इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं।

'मैं देखता हूँ सुनता हूँ' 'आदि में अहं प्रतीति की विषय इन्द्रियां नहीं हैं अपितु ऐसा कहते हुए वक्ता का अभिप्राय 'मैं नेत्रवाला देखता हूँ' 'मैं कानवाला सुनता हूं' यह है। इसलिए अहं प्रतीति का विषय इन्द्रियों से भिन्न है।

'मेरी दृष्टि मन्द है' 'मेरी वाणी स्पष्ट है' इत्यादि प्रयोगों से स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ ममता की विषय हैं अतएव वे अहंता की विषय नहीं हो सकतीं। फिर जो जिसको जानता है वह उससे भिन्न होता है जैसे घटद्रष्टा, घटसे भिन्न होता

जाने पर भी प्राणके रहने तक पुरुष जीवित रहता है—इसलिए प्राण आत्मा है ; इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं ॥६५॥

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६॥

अन्वय—सुप्ते अपि प्राणः जागर्ति प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् प्राणमयः कोशः सम्यक् विस्तरेण प्रपञ्चितः ।

है । इस नियम के अनुसार इन्द्रियों की मन्दता को जाननेवाला इन्द्रियों से भिन्न मानना पड़ेगा । पुनश्च मन के व्याकुल होने पर इन्द्रियों से श्रवणादि व्यापार नहीं होते अतएव इन्द्रियों की जड़ता प्रतीत होती है : इसलिए जड़ होने से भी इद्रियां आत्मा नहीं हैं ।

इन्द्रियों की चेतनता के विषयमें तीन पक्ष सम्भव हैं:—(१) एक ही इन्द्रिय चेतन है । (२) इन्द्रियों का समुदाय चेतन है । (३) सब इन्द्रियां पृथक्-पृथक् चेतन हैं । ये तीनों ही पक्ष सिद्ध नहीं होते ।

(१) प्रथम पक्ष इसलिए असिद्ध है जिस भी इन्द्रिय को चेतन मानो उसके विना भी ज्ञान और जीवन तो विद्यमान रहता ही है ।

(२) यदि समुदाय को चेतन मानों तो एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर समुदायता नष्ट हो जायगी और फिर ज्ञान-जीवन नहीं रहने चाहिए । पर वे बने रहते हैं इसलिए इन्द्रियसमुदाय की चेतनता सिद्ध नहीं होती ।

यदि सब इन्द्रियों को पृथक्-पृथक् चेतन मानो तो एक देह में दस चेतन हो जायंगे । इन दसों की विभिन्न इच्छाओं के कारण शरीर ऐसे ही छिन्नभिन्न हो जायगा जैसे एक केले में वन्धे दस हाथियों से केला टूट-फूट जाता है ।

अतएव इन्द्रियां चेतन नहीं हैं । श्रुतिमें इन्द्रियोंका जो संवाद है वह इन्द्रियों के अभिमानी देवों का ही है । इस प्रकार इन्द्रियात्मवादी का मत असंगत है ।

अर्थ—इन्द्रियोंके सोये रहते भी प्राण जागता है और प्राणकी श्रेष्ठता आदि श्रुति में भी प्रतिपादित की गई है और श्रुतियों में प्राणमय-कोशका विस्तारसे वर्णन भी किया है।

"प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति"; इत्यादि श्रुतियोंमें प्राण-जागरण का विधान है। 'तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत् तदुक्थमभवत्त-देतदुक्थम्' इनमें प्राण की श्रेष्ठता, प्राण का संवाद, शरीरमें प्रवेश आदि का वर्णन है। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादिमें प्राण-मयकोश का विवरण है ॥६६॥

प्राणसे भी आभ्यन्तर मनकी आत्मता नारदपञ्चरात्रके अनुसार दिखाते हैं।

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥६७॥

अन्वय—उपासनपराः जना मनः आत्मा इति मन्यन्ते। प्राणस्य अभोक्तृता स्पष्टा ततः मनसः भोक्तृत्वम्।

अर्थ—उपासना में लगे पुरुष मन को आत्मा मानते हैं: उन का कहना है कि प्राण का अभोक्तापन तो स्पष्ट है अतएव मन को भोक्ता मानना चाहिये ॥६७॥

मन आत्मा है इस विषय में श्रुति का प्रमाण भी है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

अन्वय—मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणं मनः एव। मनोमयः कोशः श्रुतः। इति मनः आत्मा ईरितम्।

अर्थ—क्योंकि मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही

है और 'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' (तै० २-३) इस श्रुति में मनोमय कोश का वर्णन भी आता है इसलिए मन को ही आत्मा* कहा है।

---

*प्राण आत्मा नहीं है—

(१) क्यों कि वह वायु है : जैसे बाह्य-वायु आत्मा नहीं है ऐसे ही यह वायु प्राण भी आत्मा नहीं है। (२) प्राण के अदर्शन से मृत्यु का होना नियम नहीं है; स्थावर वृक्ष आदि में प्राण न दिखाई देने पर भी मृत्यु नहीं होती; जंगम मनुष्यादि में भी मूर्छादि के समय प्राण न दिखाई देने पर भी मृत्यु नहीं होती। इसलिए प्राण आत्मा नहीं है। (३) नींद के समय प्राण जागता है तो भी यदि कोई शरीरके भूषणादि को ले जावे तो हटाता नहीं; सम्बन्धी आवे तो उसका सत्कार नहीं करता इसलिए प्राण जड़ है ; जड़ होने से वह आत्मा नहीं है। (४) प्राण के निकलने से देह की मृत्यु होना हेतु प्राण के आत्मा होने का साधक नहीं है, जठराग्नि के निकलने से भी तो मृत्यु हो जाती है। (५) श्रुति में प्राण की श्रेष्ठता आदि के प्रतिपादक जो वाक्य कहे हैं वे प्राण की उपासना में प्रवृत्ति के प्रयोजक-मात्र हैं और प्राणमयकोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनों का तो मनोमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनों से बाध है अतएव उन श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य तो स्थूला-रुन्धतिन्याय से अधिष्ठान-प्रत्यक्- अभिन्न-ब्रह्म को जतलाना ही है। कोशों की आत्मता के प्रतिपादक सब वाक्यों के विषय में यही बात है। इन्द्रिय-प्राण संवाद और शरीर में प्राण के प्रवेश का वर्णन भी वायु के अभिमानी देवता का ही समझना चाहिए। (६) 'भूख से मेरे प्राण निकल जायेंगे' या 'भोजन से मेरे प्राण सन्तुष्ट हो गये' आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्राण-ममता के विषय हैं अतएव वे अहं प्रतीति के विषय नहीं हो सकते। (७) फिर अपने प्राण का गमनागमन अपने आप अनुभव होता है अतएव प्राण को जानने वाला आत्मा स्वयं प्राण से भिन्न ही है। अतएव प्राण की आत्मता असंगत है।

विज्ञानवादी बौद्ध का मत

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६६॥

अन्वय–परे क्षणिकवादिनः विज्ञानं आत्मा इति आहुः। यतः मनसः विज्ञानमूलत्वं स्फुटं गम्यते।

अर्थ–दूसरे क्षणिकवादी बौद्ध लोग (बुद्ध के शिष्य योगाचार नामक नास्तिक) क्षणिकविज्ञानरूप बुद्धि–विज्ञान–को ही आत्मा कहते हैं क्योंकि मन+का विज्ञानमूलक होना स्पष्ट ही है।

+मन आत्मा नहीं है—

(१) क्योंकि वह छैनी आदि की भांति करण अर्थात् साधन है। (२) मन के होनेसे ही चेतनता का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि सुषुप्ति आदिके समय भी सामान्य चेतनता रहती ही है। अतएव मन जड़ है। (३) 'पहले मेरा मन किसी दूसरे स्थान पर गया था' 'अब मेरा मन स्थिर है' इस प्रकार मन ममता का विषय है, अहं प्रतीति का विषय नहीं है। अतएव मन की स्थिरता अथवा अस्थिरता को जानने वाला आत्मा मन से भिन्न है। (४) मन स्वतन्त्र-रूपसे भोक्ता नहीं है, चेतनाभास विशिष्ट होने से ही वह भोक्ता है; अतएव 'भोक्ता होने के कारण उसको आत्मा मानो' ऐसा कहना ठीक नहीं है। (५) मनुष्यों के बन्ध-मोक्ष का कारण मन को बताने वाली श्रुति यह बताती है कि ज्ञान-प्राप्ति से मन का बाध होने पर मोक्ष और विषयवासनाओं के कारणभूत मोक्ष साधनों का प्रतिबन्ध होने से अभ्यास होने पर बन्ध होता है। यह मन को आत्मा नहीं बताती। अतएव यह श्रुति मन की आत्मता में प्रमाण नहीं है अपितु बन्ध के साधनों से निवृत्ति और मोक्ष-साधन में प्रवृत्ति की बोधक है। (६) मनोमयकोश को आत्मा कहने का निराकरण गत पृष्ठ की टिप्पणी में कर चुके हैं। अतएव मन की आत्मता असंगत है।

प्रश्न यह है कि विज्ञान और मनका वाच्य अन्तःकरण एक ही है अतएव मन और विज्ञान क्रमशः कार्य और कारण कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले मन और विज्ञान में परस्पर भेद दर्शाते हैं:–

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तःकरणं द्विधा ।
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

अन्यय–अहंवृत्तिः इदंवृत्तिः इति अन्तःकरणं द्विधा । अहंवृत्तिः विज्ञानं स्यात्, इदंवृत्तिः मनः भवेत् ॥

अर्थ–'अहंवृत्ति' और 'इदंवृत्ति' नाम से अन्तःकरण के दो भेद हैं। अहंवृत्ति को विज्ञान और इदंवृत्ति को मन कहते हैं। [मन और विज्ञान, अन्तःकरण नाम से एक होने पर भी, वृत्तिभेद से भिन्न-भिन्न हैं।] ॥७०॥

मन और विज्ञान का कार्यकारणभाव

अहंप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ॥

अन्वय–इदंवृत्तेः अहंप्रत्ययबीजत्वं इति स्फुटम् । स्वं आत्मानं अविदित्वा क्वचित् बाह्यं न तु वेत्ति।

अर्थ–यह इदंवृत्ति-(बाहर के पदार्थों की प्रतीति) "अहंप्रत्यय" ('मैं इस ज्ञान के भीतर) से उत्पन्न हुआ करती है, यह बात स्पष्ट है। यही कारण है कि पहले अपने स्वरूप को जाने बिना कहीं भी कोई बाह्य पदार्थ (अनात्मवस्तु) को नहीं जानता। अर्थात् 'अहंवृत्ति' के अभाव में 'इदंवृत्ति' (यह है) का भी उदय नहीं होता। इसलिए इदंवृत्तिरूप मन और अहंवृत्तिरूप बुद्धि क्रमशः कार्य-कारण हैं।

यह विज्ञान क्षणिक है-इसमें अनुभव प्रमाण बताते हैं:—

क्षणे क्षणे जन्मनाशा वहंवृत्तेर्मतौ यतः ।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

अन्वय—यतः क्षणे क्षणे अहंवृत्तेः जन्मनाशौ मतौ तेन विज्ञानं क्षणिकम् । स्वतः मितेः स्वप्रकाशम् ।

अर्थ—क्योंकि इस अहंवृत्ति का जन्म और विनाश क्षणक्षण में होते जाने जाते हैं [यह अहंवृत्ति कभी पैदा होती है और क्षणभर रह कर फिर मर जाती है] इसलिएअनुभव से विज्ञान क्षणिक सिद्ध हो जाता है। और अपने से ही प्रमित होने के कारण यह विज्ञान स्वयंप्रकाश भी है। यह ज्ञान स्वयं अपने आपको जानता है, इसलिए स्वयंप्रकाश हैं ॥७२॥

विज्ञान के आत्मा होने में आगम प्रमाण

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३॥

अन्वय—"विज्ञानमयकोशः अयं जीवः जन्मनाशसुखादिकः सर्वसंसारः एतस्य" इति आगमाः जगुः ।

अर्थ—विज्ञानमयकोश यह जीव है; जन्म, नाश तथा सुखादिनामक यह सारा संसार इस विज्ञानमय कहलाने वाला जीव का ही है-यह शास्त्रों ने बताया। तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः (तै०२-४) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै०२-५)आदि श्रुयिवाक्य विज्ञान की आत्मता के प्रतिपादक हैं ॥७३॥

उक्त मत में दोष दिखाते हुए बौद्धोंके अवान्तरभेद माध्यमिक (शून्यवादी) का मत दर्शाते हैं :—

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥

अन्वय–विद्युदभ्रनिमेषवत् क्षणिकं विज्ञानं आत्मा न; अन्यस्य अनुपलब्धत्वात् माध्यमिकाः शून्यं जगुः ।

अर्थ–बिजली, बादल और आंखों की झपक के समान क्षणिक (क्षणभर में नष्ट हो जाने वाला) विज्ञान, आत्मा नहीं है। तथा इसके अतिरिक्त और कुछ न दीखने से माध्यमिक 'शून्य' को ही 'आत्मा' बता गये हैं ॥७४॥

क्षणिक विज्ञानवादी का मत और उसकी असंगति

क्षणिकविज्ञानवादी बुद्धि को आत्मा मानते हैं। उनका आशय यह है कि भीतर बाहर सब वस्तुएं विज्ञानाकार हैं और वह विज्ञान बिजली-बादल की भान्ति क्षण,क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होता है। अतएव क्षणिक है। तथा अपना एवं दूसरों का प्रकाशक होने से स्वप्रकाश है।

एक विज्ञान के नष्ट होते ही दूसरा,-दूसरे के नष्ट होने पर तीसरा उत्पन्न होता है। इस प्रकार दीपज्योति अथवा नदीके प्रवाह की भान्ति विज्ञान की धारा बनी रहती है। यह धारा आलयविज्ञान-धारा और प्रवृत्तिविज्ञानधारा नामसे दो प्रकार की है। अहं आकार वाली प्रथम धारा बुद्धिरूप है और 'यह घट है' 'यह देह है' इस इदं आकारवाली दूसरी धारा मन आदि बाह्यपदार्थरूप है। पहले आलय-

विज्ञानधारा होता है, पश्चात् प्रवृत्तिविज्ञानधारा। अतएव दूसरी पहली का कार्य है। यह आलयविज्ञानधारारूप बुद्धि ही आत्मा है, इसमें प्रवृत्तिविज्ञानधारारूप मन आदि के बाध को विचारने से एकरस क्षणिकविज्ञानधारा की स्थिति हो जाती है; वही मोक्ष है।

विज्ञानवादी का यह मत असंगत है। क्योंकि रूपादि ज्ञानरूप कार्यके साधन जैसे चक्षु आदि हैं वैसे ही जो निश्चयरूप कार्य की करण, (साधन) बुद्धि है—वह आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि सब पदार्थों का निश्चय करने वाली बुद्धि को जो जानता है वह आत्मा है। वह क्योंकि प्रकाशस्वरूप है अतएव सदा प्रकाशित रहता है। भास्य और भासक (रूप और सूर्यप्रकाश) जैसे भिन्न हैं वैसे भास्य बुद्धि से भासक आत्मा भिन्न है।

जैसे घटादि के आकार को प्राप्त हुआ दीपादिका प्रकाश मिश्र-भाव से भासमान होता हुआ भी वस्तुतः भिन्न स्वभाव का है, ऐसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा, बुद्धि-वृत्तियों के साथ एकाकार हुआ मिश्र-भावसे भासमान है तो भी वस्तुतः बुद्धिवृत्तियों से भिन्न, नित्य और शुद्ध ही है।

जैसे एक ही ब्राह्मण को पाठन और पाचन आदि क्रियाओंके कारण पाठक, पाचक आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं वैसे ही अपंचीकृत भूतोंके मिलित सत्वगुणोंके अंशोंका कार्यभूत अन्तःकरण निश्चयक्रिया के कारण बुद्धि और संकल्प-विकल्प क्रिया के कारण मन कहलाता है। इसलिए अहं आकारवाली आन्तरवृत्ति बुद्धि और इदं आकारवाली बाह्यवृत्ति मन, अन्तःकरणसे भिन्न नहीं हैं। इस

प्रकार देह, इन्द्रिय और मनकी भान्ति बुद्धि भी भौतिक होने से अनात्मा ही है ,

कोठषनिषद् की तीसरी बल्ली में जो रूपक बताया है उसमें बुद्धि को 'सारथि' और आत्मा को 'रथी' बता कर बुद्धि की अनात्मता का वर्णन किया है ।

आत्मा को क्षणिक मानना भी असंगत है । यदि ज्ञाता आत्मा को क्षणिक मानें तो धन देने वाले आत्मा के नष्ट हो जाने पर वर्ष पीछे धन लेने का कार्य कौन करे ? प्रथम क्षण में भोजन करने वाले का दूसरे क्षण में नाश हो जाने से भोजन के पश्चात् "मैं भोजन करने बैठा अब तृप्त हो गया हूँ" ऐसी प्रत्यभिज्ञा क्यों कर सम्भव है ।

यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति से होती है और पूर्व नष्ट हुए आत्मा आदि के संस्कार से दूसरे आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है इसलिए भी प्रत्यभिज्ञा सम्भव है ;—यह कहना भी असंगत है । क्योंकि जब विज्ञानवादी क्षणिक आत्माको दूसरे क्षणमें विनाशी मानता है तो भ्रान्तिके द्रष्टा और अधिष्ठानके न होने से भ्रान्ति ही असम्भव है । समाधान के लोभ में यदि संस्कार मान भी लें तो भी उसका आश्रय तो बताना पड़ेगा । यदि वह आश्रय विज्ञानरूप है तो निर्विशेष सिद्धान्त की हानि होगी ; विज्ञान से भिन्न पदार्थ तो है ही नहीं । इसलिए संस्कार विज्ञानरूप मानना पड़ेगा और उसमें आत्माश्रयदोष आवेगा ।

जब आत्मा, उत्तर क्षण में, रहेगा ही नहीं तो मोक्षके साधनों में कैसे प्रवृत्त होगा !

'मेरी बुद्धि मन्द या तीव्र है' रूप में बुद्धि ममता की विषय है। अतएव उसकी मन्दता-तीव्रताको जानने वाला आत्मा बुद्धि से भिन्न है और बुद्धि स्वप्रकाश नहीं अपितु परप्रकाश है। इस प्रकार विज्ञानवादी का मत असंगत है।

शून्यवाद में प्रतीयमान जगत् की गति

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५॥

अन्वय-'इदं असत् एव' इत्यादौ इदं एव श्रुतं ततः ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगत् भ्रान्तिप्रकल्पितम्।

अर्थ-'क्योंकि असदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में यह शून्य ही प्रसिद्ध है इसलिए शून्य ही आत्मा है। इसलिए ज्ञानज्ञेयरूप सारा जगत् ही उस शून्य से भ्रांति से कल्पित है ॥७५॥

शून्य मत में दोष दिखाते हुए भट्ट आदि का मत दर्शाते हैं:—

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

अन्वय-निरधिष्ठानविभ्रान्तेः अभावात्, शून्यस्य अपि ससाक्षित्वात् आत्मनः अस्तिता। अन्यथा अस्य उक्तिः ते न।

अर्थ-क्योंकि अधिष्ठानरहित कोई भ्रांति नहीं होती और शून्य का भी कोई साक्षी मानना पड़ेगा इसलिए आत्मा को तो मानना ही पड़ेगा। यदि शून्यसे भिन्न आत्मा को स्वीकार नहीं करोगे तो 'यह शून्य है' यह कथन भी सिद्ध नहीं होगा।*

---

*बुद्ध के शिष्य माध्यमिक के अनुयायी शून्य को आत्मा मानते हैं—

वन्ध्यापुत्र की भान्ति शून्य का तो कोई स्वरूप नहीं है अतएव वह अधिष्ठान नहीं बन सकता : अधिष्ठानरहित भ्रान्ति नहीं अतएव जागृतरूपकल्पना का अधिष्ठान आत्मा मानना ही पड़ेगा। पुनश्च शून्य के साक्षी के रूप में भी शून्यवादी को आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। नहीं तो 'शून्य है' यह कथन ही कौन करेगा ? ॥७६॥

फिर आत्मा क्या वस्तु है ? इसका उत्तर नैयायिक प्रभाकर और भट्ट के अनुयायी देते हैं :—

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७॥

उनके मत का सारांश यह है कि आत्मा से भिन्न सब वस्तुएं शून्यरूप हैं। सब का निजरूप होनेके कारण वह शून्य ही परमतत्व है। सुषुप्ति में सब पदार्थों का अभाव होने के कारण "मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ" इस प्रतीति का विषय और विद्वान् की दृष्टि में तुच्छ अज्ञानरूप जो आनन्दमयकोष शेष रहता है वही शून्यरूप आत्मा है।

शून्यवादी का यह मत असंगत है क्योंकि इस शून्य को (१) साक्षीसहित (२) साक्षीरहित अथवा (३) स्वप्रकाश मान सकते हैं। प्रथमपक्ष में शून्य का साक्षी, शून्य से भिन्न होगा; वही आत्मा है–ऐसा सिद्ध होगा। दूसरे पक्ष में साक्षीरहित शून्य की सिद्धि ही न होगी। तीसरे पक्ष में तो स्वप्रकाशरूप जिस ब्रह्म को हम मानते हैं वही सिद्ध होगा–शून्य सिद्ध ही नहीं होगा।

"यह जगत् आगे असत् ही था" यह श्रुतिवाक्य पूर्वापरके विरोधके कारण शून्य का प्रतिपादक नहीं है अपितु नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध आदि वादी जो प्रागभाव आदि को जगत् का कारण मानते हैं उसका निषेध करता है। इस प्रकार शून्यवादी का मत असंगत है।

अन्वयः–विज्ञानमयतः अन्यः आन्तरः आनन्दमयः 'अस्ति' इति एव उपलब्धव्यः' इति वैदिकदर्शनम् ।

अर्थ—उस विज्ञानमय से भिन्न आन्तर (भीतर रहने वाला) आनन्दमय आत्मा है । वह आत्मा है इस रूप में जाना जाता है । यही वैदिक सिद्धान्त है ऐसा नैय्यायिक कहते हैं । 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योंतर आत्माऽनन्दमयः । अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्व-भावेन' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं ॥७७॥

आत्मा के परिमाण के विषय में विभिन्न विचार

तीन परिमाण

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥७८॥

अन्वय–अणुः, महान् वा मध्यमः इति एवं तत्र अपि वादिनः श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् बहुधा विवदन्ते हि ।

अर्थ—वह अणु है, महान् है या मध्यम है इस प्रकार उस आत्मा के परिमाण के विषय में भी श्रुति और युक्ति के आधार पर वादी आपस में, अनेक प्रकार के विवाद करते हैं ॥७८॥

अणुपरिणामवादी आन्तराल का मत

अणुं वदन्त्यान्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७९॥

अन्वयः—सूक्ष्मनाडीप्रचारतः आन्तरालाः अणुं वदन्ति । रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु अयं प्रचरति ।

अर्थ—सूक्ष्मनाड़ियों में प्रवृत्ति होने से आन्तराल लोग इसे

अणुपरिमाण बताते हैं यह आत्मा बाल के हजारवें भाग के बराबर सूक्ष्मनाड़ियोंमें संचार करता है। [यह संचार आत्मा के अणु हुए बिना सम्भव नहीं है।]

आत्मा के अणु होने में श्रुति प्रमाण

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०॥

अन्वय–अणोः अणीयान्। एषः अणुः। सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं तु इति शतशः अथ सहस्रशः श्रुतयः अणुत्वं आहुः।

अर्थ–"यह आत्मा अणु से भी अत्यन्त अणु है।" "यह आत्मा अणु है।' 'सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है'–ऐसी सैंकड़ों नहीं, हजारों श्रुतियों ने आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन किया है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (कठ १–२–२०) 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरंत्विति' (मुण्डक० ३–१–६) इत्यादि श्रुतियां आत्मा के अणुत्व में प्रमाण हैं ॥८०॥

इसी में अन्य प्रमाण दिखाते हैं:–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहाऽपरा श्रुतिः ।८१।

अन्वय–स जीवः शतधाकल्पितस्य बालाग्रशतभागस्य च भागः विज्ञेयः इति अपरा श्रुतिः आह।

अर्थ–वह जीव, सौवां भाग किए हुए, बालाग्र के सौवें भाग के बराबर है–ऐसा एक दूसरी श्रुति ने कहा है अर्थात् इतना सूक्ष्म

है कि बाल के अगले भाग के सौ टुकड़े करें फिर उनमें से एक के सौ टुकड़े करके जितना भाग बने उसके बराबर है* ॥८१॥

मध्यमपरिणामवादी दिगम्बर का मत

दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२॥

---

*आन्तराल आदि का यह आत्माणुपरिमाणवाद असंगत है। क्योंकि ज्ञाता आत्मा अणु होकर शरीर के किसी एक देश में स्थित रह सकेगा अतएव एक साथ सिर और पैर में कष्ट आदि का अनुभव कैसे होगा ?

यदि यह कहो कि जैसे एक स्थान पर रखे फूल का गन्ध बहुत दूर-दूर तक फैल जाता है ऐसे ही एक देशस्थ आत्मा का ज्ञानगुण भी शरीरभर में व्याप्त रहता है—सो भी ठीक नहीं। क्योंकि गुण गुणी को छोड़कर नहीं रहता। जैसे नीलादिगुण घट को नहीं छोड़ता-ज्ञान गुण भी आत्मा को कैसे छोड़ेगा ?

शरीर के एक देश में छूनेसे चन्दन की शीतलता का सारे शरीर में व्याप्त होना दृष्टान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ एकदेशीय स्पर्श से शरीर में व्याप्त जलांश के घनीभाव का उद्बोध होता है—उससे ही सारे शरीर में शीतलता हो जाती है।

यदि दीपक की भांति प्रकाशक मानो तो आत्मा को भी दीपक की भांति सावयव और परप्रकाश्य अतएव विनाशी और दृश्य मानना पड़ेगा। अणु सिद्ध करते-करते आत्मा ही हाथ से जाने लगा—ब्याज के लोभ में मूलधन भी गँवा बैठे !

आत्मा को अणु बताने वाली श्रुतियों का तात्पर्य तो यह बताना ही है कि स्थूलबुद्धि पुरुषों के लिए आत्मा अणु की भान्ति दुर्ज्ञेय है : उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आत्मा को व्यापक बताया है। इस प्रकार आत्माणुवाद असंगत ही ठहरता है।

अन्वय–आपादमस्तकं चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेः दिगम्बराः मध्यमत्वं आहुः; आनखाग्रश्रुतेः अपि।

अर्थ–पाँवसे लेकर मस्तक पर्यन्त शरीरमें चेतनता व्याप्त दिखाई देती है, इसलिए दिगम्बर आत्माको मध्यमपरिमाण कहते हैं; और 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" इस श्रुति से भी आत्मा मध्यम-परिमाणवाला सिद्ध होता है ॥८२॥

मध्यमपरिमाण माननेपर 'सूक्ष्मनाडी प्रचार' कैसे सम्भव होगा ? यह दर्शाते हैं–

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३॥

अन्वय–सूक्ष्मनाडीप्रचारः तु सूक्ष्मैः अवयवैः स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत्, भवेत्।

अर्थ–उस आत्मा का सूक्ष्मनाडियों में प्रचार तो उस आत्मा के सूक्ष्म अवयवों द्वारा ऐसे ही होता है जैसे कि हाथों से कुर्त्ते में प्रवेश से स्थूलदेह का कुर्त्ते में प्रवेश माना जाता है।

देह के अवयवभूत दो हाथों के कुर्ते में प्रविष्ट हो जाने से देह का कुर्ते में प्रवेश माना जाता है ऐसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का नाडियों में संचार होनेसे यह माना जाता है कि आत्मा नाडियों में संचरित हो रहा है।

यदि आत्मा को निश्चित मध्यमपरिमाण वाला ही मानें तो कर्मवश चींटी आदि छोटे और हाथी आदि बड़े शरीरों में उसका प्रवेश कैसे होगा ? इसका उत्तर मध्यमपरिमाणवादी के मत से देते हैं :–

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।

आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४॥

अन्वय—न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशः अपि आत्मांशानां गमागमैः भवेत्। तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम्।

अर्थ—(आत्मा को नियतरूप से मध्यमपरिमाण मानने पर भी उसका) छोटे-बड़े शरीरों में प्रवेश उसके अंशों की घटाबढ़ी या गमनागमन (या उत्पत्ति विनाश) से सम्भव है : इसलिए आत्मा का मध्यमपरिमाण निश्चित है ॥८४॥

"मध्यमपरिमाण मानने में दोष है, अतएव आत्मा विभु है" यह मानने वाले नैय्यायिकों का मत दर्शाते हैं :—

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५॥

अन्वय—सांशस्य घटवत् नाशः भवति एव; तथासति कृतनाशा-कृताभ्यागमयोः वारकः कः भवेत् ?

अर्थ—सावयव वस्तु का घटकी न्याईं नाश होता ही है; अतएव यदि आत्माका नाश मानेंगे तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों को कौन हटाएगा ? [किये गये पाप-पुण्यों का भोग के बिना नष्ट हो जाना 'कृतनाश' और बिना किये पाप-पुण्यों का भोग अकृताभ्या-गम' कहलाता है।] ॥८५॥

आत्मा की विभुता और उसमें प्रमाण

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥८६॥

अन्वय–तस्मात् आत्मा महान् एव, अणुः न एव; मध्यमः अपि न आकाशवत् सर्वगतः निरंशः श्रुतिसम्मतः ।

अर्थ–अतएव '(परिशेषसे) आत्मा महान्–महत्परिमाणवाला अथवा विभु ही है; अणु तो वह है ही नहीं; मध्यम भी नहीं है। वह 'आकाशकी भांति सर्वगत और निरवयव है' ऐसा श्रुति मानती है। [श्वेताश्वतर उपनिषद् ६–१९ में कहा है–"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" "निष्कलं तत्" ॥८६॥

आत्मा की चिद्रूपता पर विचार

आत्मा को विभु सिद्ध करके अब अब उसकी चिद्रूपता का निश्चय करने के लिए पहले वादियों के विविध मत दर्शाते हैं:—

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

अन्वयः–इति उक्त्वा तद्विशेषे तु अचिद्रूपः, अपि चिद्रूपः, चिदचिद्रूपः इति अपि, बहुधा कलहं ययुः ।

अर्थ–यों आत्मा की विभुता सिद्ध करके, उस आत्मा की विशेषता—विलक्षणता–के विषय में 'वह जड़ है, चेतन है अथवा जड़-चेतन उभयरूप है' आदि अनेक विवाद करते हैं ॥८७॥

प्राभाकर और तार्किकों का मत

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥८८॥

अन्वय–प्राभाकराः तार्किकाः च अस्य चिदात्मताम् प्राहुः । आत्मा द्रव्यम्, आकाशवत् । शब्दवत् तद्गुणः चितिः ।

अर्थ–भट्ट के शिष्य के अनुयायी प्रभाकर और तार्किक लोग इस आत्मा को जड़ बताते हैं। वे कहते हैं कि आकाश की भान्ति आत्मा एक द्रव्य है : और आकाश के गुण शब्द की न्याईं इस आत्माका गुण चैतन्य (ज्ञान) है। [गुणोंके आश्रयको द्रव्य कहते हैं।]

ज्ञानगुण ने ही आत्मा को पृथिवी आदि दूसरे द्रव्यों से भिन्न कर दिया है।

उस आत्मा के कुछ विशेष गुण

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥८९॥

अन्वयः–इच्छाद्वेषप्रयत्नाः च धर्माधर्मौ सुखासुखे च तत्संस्काराः एते चितिवत् तस्य गुणाः ईरिताः।

अर्थ–इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, सुख, दुःख तथा उनके संस्कार ये आठ, चेतना के समान, उस आत्मा के गुण हैं ॥८९॥

ज्ञानादिगुणों के उत्पत्तिविनाश के कारण

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

अन्वय–स्वादृष्टवशतः आत्मनः मनसा योगे गुणाः जायन्ते; अथ सुषुप्ते अदृष्टसंक्षयात् प्रलीयन्ते।

अर्थ–जब अपने अदृष्ट के प्रताप से आत्मा का मन के साथ संयोग होता है तो गुण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर सुषुप्ति में, अदृष्ट का क्षय हो जाने पर ये गुण नष्ट हो जाते हैं ॥९०॥

जड़ होते हुए भी आत्मा चेतन कैसे ?

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥६१॥

अन्वय–चितिमत्वात् अयं चेतनः; इच्छाद्वेषप्रयत्नवान्, धर्माधर्मयोः कर्ता दुःखादिमत्त्वतः भोक्ता स्यात् ।

अर्थ–ज्ञानगुण वाला होनेसे यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष एवं उत्साह विशेष प्रयत्न वाला होने से भी चेतन है । वह आत्मा धर्म और अधर्म दोनों का कर्ता और दुःख आदि वाला होने से भोक्ता है ।[ईश्वर और आत्मामें यही भेद है कि ईश्वर धर्माधर्मका कर्ता या दुःख आदि का भोक्ता नहीं है ।]

यदि आत्मा व्यापक है तो फिर परलोकमें गमन कैसे करेगा ? इस प्रश्न का इस मत में उत्तर देते हैं:—

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥६२॥

अन्वय–यथा अत्र कर्मवशतः कदाचित्कं सुखादिकं तथा लोकान्तरे देहे कर्मणा इच्छादि जन्यते ।

अर्थ–जैसे इस लोक में कर्मवश कभी-कभी सुखादि होते हैं वैसे ही दूसरे लोक में प्राप्त देह में भी कर्मवश इच्छा आदि उत्पन्न हो जाते हैं ।

इस देह में कर्मवश इच्छादि के उत्पन्न होने पर आत्मा की स्थिति आदि व्यवहार जैसे चलते हैं वैसे ही, लोकान्तर में कर्मवश देह मिलता है और उस मिले हुए दूसरे देह में भी कर्म से सुख

आदि उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार आत्मा के गमन आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं ॥९२॥

एव च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥९३॥

अन्वय—एवं च सर्वगस्य अपि गमागमौ संभवेताम् । समग्रः कर्मकाण्डः अत्र प्रमाणं इति ते अवदन् ।

अर्थ—इस प्रकार व्यापक आत्मा का भी गमनागमन सम्भव है और आत्मा में कर्तृत्व आदि गुण हैं इसमें तो सारा कर्मकाण्ड ही प्रमाण है—ऐसा प्राभाकरों और नैयायिकों का कहना है ॥९३॥

तुमने पूर्वोक्त ७७ वें श्लोक में विज्ञानमय से भिन्न आनन्दमय को आत्मा बतलाया था और अब इच्छादियुक्त दूसरे को आत्मा बता रहे हो ? इसका उत्तर देते हैं :—

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥९४॥

अन्वय—सुषुप्तौ अस्पष्टचित् यः आनन्दमयकोशः परिशिष्यते सः पूर्वकोशः एषां आत्मा, अस्य ते गुणाः ।

अर्थ—सुषुप्ति अवस्था में अस्पष्टचित् अर्थात् विलीनगुण वाला जो आनन्दमयकोश अवशेष रहता है वह श्रुत्युक्त पंचकोशों में प्रथमकोश ही इन वादियों का आत्मा है और इस आत्मा के वे ज्ञानादिगुण हैं ॥९४॥*

---

*नैयायिक और प्रभाकर सुषुप्ति में ज्ञान न होने के कारण आत्मा को जड़ मानते हैं परन्तु सुषुप्ति से उठे पुरुष को 'मैंने कुछ भी नहीं जाना—

"आत्मा जड़ चेतन उभयरूप है"—इस भट्टमत का प्रतिपादन

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥९५॥

अन्वय—भाट्टाः गूढे चैतन्यं उत्प्रेक्ष्य आत्मनः जडबोधस्वरूपतां ब्रुवते; उत्थितस्मृतेः चिदुत्प्रेक्षा ।

अर्थ—(पूर्व मीमांसा के वार्तिककार) भट्ट के अनुयायी आत्मा में गूढ़ चैतन्य (अस्पष्ट चेतनता) की उत्प्रेक्षा (कल्पना) करके आत्मा को जड़-चेतन उभयरूप मानते हैं। आत्मा में अस्पष्ट चेतना की कल्पना का कारण है, सुषुप्ति से उठे पुरुषका स्मरण। क्योंकि सुषुप्ति से उठे पुरुष को स्मरण उत्पन्न होता है अतएव सुषुप्ति में चेतनता की स्थिति की कल्पना होती है ॥९५॥

चिदुत्प्रेक्षा का प्रकार दर्शाते हैं :—

जडो भूत्वा तदास्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।
विना जाड्यानुभूतिं न कथञ्चिदुपपद्यते ॥९६॥

सुखसे सोया' इस प्रकार सुषुप्तिकालीन अज्ञान और सुखकी स्मृति होती है: यदि आत्मा जड़ होता तो उसे किसी भी प्रकार की स्मृति नहीं होती।

श्रुति में आत्मा को निर्गुण कहा है अतएव इच्छादि आत्माके नहीं, अन्तःकरण के धर्म हैं; वे अभ्यास से आत्मामें प्रतीत होते हैं। श्रुतिमें भी इच्छादिक को अन्तःकरण के गुण बताया है।

नैयायिक आदि आत्मा को विभु और नाना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार तो सब आत्माओं का सब देहों, सब कर्मों और सब भोगों और सब मनों के साथ सम्बन्ध रहेगा। फिर यह व्यवस्था कैसे होगी कि किस आत्मा का कौन-सा देहादि है। इस प्रकार अनेक दोषों के कारण नैयायिक और प्राभाकरों का मत असंगत है।

अन्वय—'तदा जडः भूत्वा अस्वाप्सं' इति जाड्यस्मृतिः तदा जाड्यानुभूतिं विना कथञ्चित् न उपपद्यते ।

अर्थ—'तब सुषुप्तमें मैं जड़ होकर सोया था' जड़ता की जाग्रत अवस्था में यह स्मृति, तब (सुषुप्तिमें) जड़ता की अनुभूति के बिना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती ।

इस प्रकार जाड्यस्मृति ही सुषुप्तिकाल की जडताज्ञान की कल्पना करती है ॥९६॥

सुषुप्ति में भी चेतनता बनी रहती है ; इस में प्रमाण है :—

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥९७॥

अन्वय—सुप्तौ द्रष्टुः दृष्टेः अलोपः च श्रुतः ततः तु अयम् आत्मा खद्योतवत् अप्रकाशप्रकाशाभ्यां युतः ।

अर्थ—सुषुप्ति में द्रष्टा की दृष्टि का अलोप भी सुना है; इसलिए यह आत्मा खद्योतकी भान्ति अप्रकाश और प्रकाश दोनों से युक्त है।

"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वम्" यह बृहदारण्यक (४–३–२३) का वचन है । इसका अर्थ है कि आत्मा के अविनाशी होने के कारण उस द्रष्टा आत्मा की स्वरूपभूत दृष्टि अर्थात् ज्ञानका लोप नहीं होता । यदि चैतन्यका लोप माने तो लोपवादी भी साक्षिरहित लोप तो सिद्ध नहीं कर सकेगा अतएव उसे भी सुषुप्ति में चैतन्य का अलोप ही मानना होगा । इसलिए भी यह आत्मा खद्योत की भान्ति स्फुरण और अस्फुरण दोनों से युक्त है ॥९७॥

पूर्वोक्त भाट्टमत में दोष दिखाते हुए सांख्यमत को दर्शाते हैं :—

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥६८॥

अन्वय–विवेकिनः सांख्याः निरंशस्य उभयात्मत्वं कथंचित् न घटिष्यते तेन आत्मा चिद्रूपः एव इति आहुः ।

अर्थ–(प्रकृति और पुरुष का) विवेक करने वाले (कपिलमतानुयायी) सांख्य कहते हैं कि निरवयव आत्मा जड़-चेतन उभयरूप किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।* अतएव वे "आत्मा चेतन-

---

*आत्मा को जडचेतन उभयरूप मानना (भाट्टमत) असंगत है : क्योंकि तेज को तिमिर कहना या 'यह मनुष्य घट है' की भाँति एक ही पदार्थ में दोनों रूप सिद्ध नहीं हो सकते । वे एक ही आत्मा में दोनों अंश मानते हैं; जड़ांश को गोचर तथा चेतनांश को अगोचर । परन्तु एक ही आत्मा में यह विलक्षणता सम्भव नहीं है । जैसे अकेले दंडको देखने से ही दंडीका ज्ञान नहीं हो सकता, दंड और पुरुष दोनों को साथ देखकर 'दंडी' कहेंगे; ऐसे ही अकेले जड़अंश के ज्ञान से आत्मा को उभयरूप सिद्ध नहीं कर सकते । यदि चेतनअंश को भी अनुभवगोचर मानें तो जड़ कल्पित होगा । फिर प्रश्न यह है कि आत्मा के जड़चेतनअंशों का परस्पर सम्बन्ध (१) संयोग है या (२) तादात्म्य है या (३) विषयविषयीभाव ? प्रथम पक्ष मानेंगे तो आत्मा अनित्य हो जायगा; संयोग सम्बन्ध दो अनित्य पदार्थोंका ही होता है । द्वितीय पक्षमें चित् और जड़ दोनों अंशोंकी एकता माननी पड़ेगी और इस प्रकार चेतनांश जड़ और जड़ांश चेतन होजायगा । तृतीयपक्ष में घटकी भांति दोनोंकी अनात्मता हो जायगी ।

श्रुति में आत्मा को विज्ञानघन कहा है अतएव आत्माको अर्धजड मानना प्रमाणरहित है । आत्मा की जड़ता की सम्पादिका स्मृति तो सुषुप्ति में स्थित अज्ञानांश की स्मृति है–आत्मा की जड़ता की नहीं है इस प्रकार आत्मा की जडचेतन–उभयरूपता असंगत सिद्ध होती है ।

रूप ही हैं' ऐसा कहते हैं ॥९८॥

फिर जड़तास्मृति क्यों होती है? इस का उत्तर देते हैं:—

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत्।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९॥

अन्वय–जाड्यांशः प्रकृतेः रूपं तत् विकारि च त्रिगुणम्। सा प्रकृतिः चितः भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते।

अर्थ—जाड्यांश प्रकृति का रूप है, प्रकृतिका वह रूप विकारी और (सत्व, रज, एवं तम) इन तीन गुणों वाला है। वह प्रकृति चेतन अर्थात् पुरुष को भोग और मोक्ष दिलाने के लिए प्रवृत्त होती है।

चेतन पुरुष तो असंग है–इसीलिए प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न हैं; फिर प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष को भोग और मोक्ष कैसे होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥१००॥

अन्वय–असंगायाः चितेः भेदाग्रहात् बन्धमोक्षौ मतौ। बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषां इव चिद्भिदा।

अर्थ–असंग चेतन के भेद के अग्रहण अर्थात् भ्रान्ति से ही बन्ध और मोक्ष होते हैं। पहलों (तार्किकों) के समान सांख्य भी बन्ध और मुक्ति की व्यवस्था के लिए चैतन्यका भेद मानते हैं।

पुरुष की सत्ता और असंगता में श्रुति का उदाहरण देते हैं:—

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते।

श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा: ॥१०१॥

अन्वय–महतः परं अव्यक्तं इति श्रुतौ प्रकृतिः उच्यते; तद्वत् असंगः हि इति अतः असंगता स्फुटा।

अर्थ–'महतः परं अव्यक्तम्' (कठ ३–११) "महत् तत्त्वसे (कारण होने से) श्रेष्ठ अव्यक्त है" इस श्रुति में अव्यक्त का अर्थ प्रकृति है। 'यह पुरुष असंग है'—(असंगोह्ययं पुरुषः-बृ० ४-३-१५) इस श्रुति से पुरुष की असंगता स्पष्ट है ॥१०१॥

ईश्वर के स्वरूप के विषय में विविधमत

जीव के विषय में वादियों के विविधवादों को दिखाकर ईश्वर विषयक विवाद को दिखाने के लिए प्रथम ईश्वर के स्वरूप की स्थापना योगमत से करते हैं—

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम्।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२॥

अन्वयः–योगाः चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेः नियामकं हि ईश्वरं ब्रुवते। सः जीवेभ्यः परः श्रुतः।

अर्थ–योगमत के अनुयायी कहते हैं कि चेतन आत्माओं की सन्निधि में प्रवृत्त होने वाली प्रकृतिको नियम रखने वाला प्रेरक पुरुष-विशेष ईश्वर है। और प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न ईश्वर की यह कल्पना प्रमाणरहित है। क्योंकि वह ईश्वर श्रुति में जीवों से न्यारा बताया गया है ॥१०२॥

ईश्वर की सत्ता की प्रतिपादक श्रुति कहते हैं:—

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः।

आरण्यके संभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥१०३॥

अन्वय–प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः इति हि श्रुतिः। आरण्यके संभ्रमेण हि अन्तर्यामी उपपादितः।

अर्थ–'प्रधानक्षेत्रज्ञपति गुणेशः'–यह श्वेताश्वतर (६–१६) का वाक्य है। इस श्रुति में ईश्वर को प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ का पति और गुणों का ईश बताया है।

गुणों की साम्यावस्था (मिलितावस्था) का नाम प्रधान है और शरीररूप क्षेत्र को जाननेवाले जीव क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं : ईश्वर इन दोनों का पति है। सत्व आदि गुणों का नियामक है। और बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में बड़े आदर के साथ अन्तर्यामी (ईश्वर) का उपपादन किया है ॥१०३॥

वादियों का विवाद

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ॥१०४॥

अन्वय–अत्र अपि वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः कलहायन्ते। दार्ढ्याय वाक्यानि अपि यथाप्रज्ञं उदाहरन्ति हि।

अर्थ–वादीजन ईश्वर के विषय में अपनी-अपनी युक्तियों से विवाद करते हैं और अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिए अपने-अपने मतानुसार श्रुतिवाक्यों के उदाहरण भी देते हैं ॥१०४॥

अब पंतजलिमुनि के 'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः सूत्र का भावार्थ कहते हैं :—

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः।

पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोप्यसङ्गचित् ॥१०५॥

अन्वय–क्लेशकर्मविपाकैः तदाशयैः अपि असंयुतः पुंविशेषः ईशः भवेत् । सः अपि जीववत् असंगचित् ।

अर्थ—क्लेश, कर्म, विपाक और उनके आशयों से असम्बद्ध पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है : वह ईश्वर भी जीव* की भान्ति असङ्गतचेतन है ।

चार प्रकार की अविद्या, दृक् और दर्शन शक्तियों की एकात्मता-रूप अस्मिता, राग, द्वेष, मरणादि से शरीर की रक्षा का आग्रह रूप अभिनिवेश; ये पाँच क्लेश हैं । कर्म शुभ (पुण्य), अशुभ (पाप), और मिश्रभेद से तीन प्रकार के हैं । जाति-आयु-व-भोग इन कर्मों के फलविशेष (विपाक) हैं । इनके संस्कार, आशय है । इनके स्पर्श से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है ॥१०५॥

ईश्वर की नियामकता

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेस्य नियन्तृता ।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

---

*सांख्य मत की भाँति योगमत में भी जीव को असंग, स्वप्रकाश, कूटस्थ और चेतनरूप माना है । वह जीव केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं । और बुद्धि के धर्म (सुख-दुःख) के कारण, बुद्धि के साथ अपने अविवेकसे उपलक्षित अपना अनुभवरूप ही उसका भोक्तापन है । बुद्धि ही कर्ता है । बुद्धि के अविवेक से आत्मा में कर्तापन का व्यवहार होता है । संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णसिद्धि होने पर बुद्धिके विवेकज्ञान द्वारा अविवेक की निवृत्ति होकर दुःखका अत्यन्तोच्छेद होता है, वही मोक्ष कहलाता है । सांख्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता । योगमत में जीव की भांति ईश्वर भी असंग-चेतन है ।

अन्वय–तथापि पुंशेषत्वात् अस्य नियंतृता घटते । अन्यथा इह बन्धमोक्षौ अव्यवस्थो आपतेताम् ।

अर्थ—ईश्वर 'असंगचेतन होता हुआ भी, पुरुष विशेष होने से नियामक भी है । यदि उसको नियन्ता न मानें तो जगत् में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बिगड़ जायगी । जैसे राजा के बिना, शुभ-कर्म करने पर प्रजा की प्रसंशा और अशुभ कर्म करने पर दण्ड देने की व्यवस्था नहीं हो सकती वैसे ही उस जीव का बन्ध हो, इसका मोक्ष हो-ऐसी व्यवस्था, ईश्वर के नियन्ता हुए बिना, न रह सकेगी । यह योगमत का सारांश है ॥१०६॥

ईश्वर की नियामकता में प्रमाण बताते हैं :—

भीषास्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः ।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥१०७॥

अन्वय–'अस्मात् भीषा' इति एवं आदौ असंगस्य परात्मनः तत् श्रुतम् । अस्य क्लेशकर्माद्यसंगात् तत् युक्तम् अपि ।

अर्थ–"भीषास्माद्वातः पवते" (तै०२-८) इत्यादि वाक्यों में असंगत परमात्मा को नियन्ता सुना गया है और चूंकि उसमें, जीवादि में पाये जाने वाले क्लेश कर्म आदि का स्पर्श नहीं है, इसलिए नियन्तापान युक्तिसंगत भी है ॥१०७॥

परन्तु फिर भी जीव ईश्वर का भेद तो है ही; यह दर्शाते हैं:—

जीवानामप्यसंगत्वात्क्लेशादिर्नह्यथापि च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥१०८॥

अन्वय–जीवनां अपि असंगत्वात् क्लेशादिः न हि । अथ अपि च

विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्राक् उदीरितम्

अर्थ—यद्यपि, जीव भी असंग हैं इसलिए उनको क्लेशादिका संग नहीं है, तथापि, विवेकाग्रह (प्रकृति और पुरुष के भेद को न समझने) के कारण जीवों को क्लेशादि होते हैं; यह बात पहले ही कह चुके हैं ॥१०८॥

और नैय्यायिक असंगको नियन्ता नहीं मान सकते, अतएव वे ईश्वर और जीवों में भेद बताने के लिए, ज्ञान-प्रयत्न-इच्छा, इन तीनों गुणों को ईश्वर में नित्य मानते हैं। यही दर्शाते हैं :—

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणानीशस्य मन्वते।
असंगस्य नियन्तृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९॥

अन्वय—तार्किकाः ईशस्य नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणान् मन्वते; असंगस्य नियन्तृत्वं अयुक्तम् इति।

अर्थ—तार्किक लोग ईश्वर के तीन गुणों-ज्ञान, प्रत्यत्न और इच्छा—को नित्य मानते हैं क्योंकि उनके मत में असंग को नियन्ता मानना असंगत है ॥१०९॥

ईश्वर पुरुषविशेष क्यो कहलाता है ? यह बतलाते हैं :—

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ॥११०॥

अन्वय—अस्य पुंविशेषत्व अपि गुणैः एव च अन्यथा न। सत्य-कामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुतिः जगौ।

अर्थ—इस ईश्वर को पुरुषविशेष उसके नित्यगुणों के कारण ही मान लिया है, अन्यथा नहीं; इसके अतिरिक्त जीव-ईश्वर के

भिन्न होने का दूसरा कोई कारण नहीं है। श्रुति ने भी ईश्वर के गुणों की नित्यता का बखान उसे 'सत्यकाम' और सत्यसंकल्प' कह-कर किया है। 'सत्यकाम' का अर्थ नित्य इच्छा वाला और 'सत्य संकल्प' का अर्थ नित्यज्ञान (आलोचन) वाला है ॥११०॥

नैयायिक के मत में दोष दिखाते हुए हिरण्यगर्भोपासक के मत को दर्शाते हैं:—

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत्।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिंगदेहेन संयुतः ॥१११॥

अन्वय—अस्य नित्यज्ञानादिमत्वे सदा एव सृष्टिः भवेत् अतः हिरण्यगर्भः ईशः लिंगदेहन संयुतः।

अर्थ—*ईश्वर को यदि नित्यज्ञानवान् आदि मानें तो सदा ही सृष्टि रहेगी : अतएव हिरण्यगर्भ ईश्वर है—वह हिरण्यगर्भ लिंग-देह से संयुक्त है। [समष्टि लिङ्गशरीर के अभिमानी मायोपाधि परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं; जब उसके लिंगदेह (मन) में इच्छा होगी तब वह सृष्टि को बनायेगा : इस प्रकार सृष्टि सदा न होगी; कभी-कभी होगी।] ॥१११॥

हिरण्यगर्भ की ईश्वरता में प्रमाण दिखाते हैं :—

उद्गीथब्राह्मणे तस्य महात्म्यमतिविस्तृतम्।

---

* यदि ईश्वरके ज्ञानादिको नित्य मानें तो, सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरके ज्ञानादिकी उत्पत्ति बताने वाले श्रुतिवाक्योंका क्या अर्थ होगा ? फिर श्रुतिमें अद्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया। उससे भी नैयायिक मतका विरोध है। 'सत्यकाम' 'सत्यसंकल्प'में तो सत्य शब्दका अर्थ 'प्रलय-पर्यन्तस्थायी'' ही लेना चाहिए। अतएव नैयायिकों का मत असंगत है।

लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

अन्वय—उद्गीथब्राह्मणे तस्य महात्म्यं अति विस्तृतम् । अस्य लिंगसत्वे अपि कर्माद्यभावतः जीवत्वं न ।

अर्थ—उद्गीथ ब्राह्मण में उसकी महिमा का विस्तार से वर्णन है। और लिंग शरीर के होते हुए भी यह हिरण्य गर्भ, जीव नहीं है क्योंकि इसमें कर्म (अविद्या, काम) आदि नहीं होते ॥११२॥

हिरण्यगर्भोपासक के मत में दोष दिखाते हुए विराट् उपासकों के मत का प्रतिपादन करते हैं :—

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतोः सर्वतो मस्तकादिमान् ।११३॥

अन्वय—स्थूलदेहं विना लिंगदेहः क्व अपि न दृश्यते ; अतः सर्वतः मस्तकादिमान् वैराजः देहः ईशः ।

अर्थ—स्थूलदेह के बिना लिंगशरीर अकेला कहीं नहीं दीखता, इस कारण सब ओर मस्तक आदि अंगों वाला विराट पुरुष देह ही ईश्वर है ॥११३॥

विराट्-ईश्वर की सत्ता में प्रमाण

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्त्याहुरनिशं त्रिश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

अन्वय—सहस्रशीर्ष इति, एवं च विश्वतः चक्षुः इति अपि श्रुतं इति अनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः आहुः ।

अर्थ—निरन्तर विराट्रूप के उपासक कहते हैं कि "सहस्रशीर्षा

पुरुषः" (यजुर्वेद) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात् (श्वे० ३-३) अर्थात् वह "हजारों सिरवाला है" 'सब ओर उसके चक्षु हैं' आदि श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध हैं। इन वाक्यों से ईश्वर के विराट् स्वरूप की सत्ता का समर्थन होता है ॥११४॥

विराट् के ईश्वरभाव में दोष दिखाते हुए ब्रह्मा के ईश्वरभाव का प्रतिपादन करते हैं :—

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५॥

अन्वय—सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेः अपि च ईशता, ततः चतुर्मुखः देवः एव ईशः, इतरः पुमान् न।

अर्थ—यदि इस प्रकार सब ओर हाथ पैर वाले को ईश्वर मानें तो (सब ओर अनेक हाथ-पैर वाले) कीट आदि भी ईश्वर हो जायेंगे ! इसलिए चतुर्मुख, ब्रह्मा देवता, ही ईश्वर है; कोई दूसरा पुरुष, ईश्वर नहीं है ॥११५॥

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः।
प्रजा असृजतेत्यादि श्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

अन्वय—पुत्रार्थं तं उपासीनाः एवं आहुः; च 'प्रजापतिः प्रजाः असृजत' इत्यादि श्रुतिं अमी उदाहरन्ति।

अर्थ—यह बात सन्तान के लिए ब्रह्मा के उपासकों ने कही है। ये (प्रजार्थी) लोग अपने मत की पुष्टि में 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादि श्रुतियों का उदाहरण देते हैं।

भागवत मत

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः।
विष्णोरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

अन्वय–कमलजः वेधाः विष्णोः नाभेः समुद्भूतः ततः विष्णुः एव ईशः इति लोके भागवताः जनाः आहुः।

अर्थ–"कमलोत्पन्न ब्रह्मा विष्णु की कमलरूप नाभि से उत्पन्न हुआ है इस कारण 'विष्णु' ही इश्वर है" यह बात भागवत (वैष्णवजन) कहते हैं ॥११७॥

शैवमत

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शाङ्‍र्ग्यशक्तस्ततः शिवः।
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११७॥

अन्वय–शिवस्य पादौ अन्वेष्टुं शार्ङ्गी अशक्तः ततः शिवः ईशः, विष्णुः न, इति आगममानिनः शैवाः आहुः।

अर्थ–"शिव के दोनों पांवोंको ढूंढनेमें विष्णु असमर्थ रहा–इस कारण शिव ही ईश्वर है, विष्णु नहीं" ऐसा शैवशास्त्र-विशेष को मानने वाले शैव लोग कहते हैं ॥११८॥

गाणपत्यमत

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत्।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११६॥

अन्वय–सः अपि पुरत्रयं सादयितुम् विघ्नेशं अपूजयत् (अतः) गणपत्यमते रताः विनायकं ईशं प्राहुः।

अर्थ—"उस शिव ने भी त्रिपुर को नष्ट करने के लिए विघ्नेश गणपति की पूजा की थी; अतएव गाणपत्यमत में आसक्त जन गणपति को ईश्वर बताते हैं ॥११९॥

अन्य भी वहुत से मत हैं :—

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेना न्यथान्यथा ।
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

अन्वय—एवं अन्ये अपि स्वस्वपक्षाभिमानेन मन्त्रार्थवादकल्पादीन् आश्रित्य अन्यथा अन्यथा प्रतिपेदिरे ।

अर्थ—इस प्रकार और भी भैरव मैराल आदि देवोपासकों ने अपने-अपने पक्ष का अभिमान करके तथा मन्त्रों, अर्थवादों एवं कल्प आदिका सहारा लेकर, कुछ का कुछ प्रतिपादन कर डाला है ।

यहां मन्त्र से अभिप्राय मारण, उच्चाटन, वशीकरणादि रूप सिद्धि के लिए नाना इष्टदेवों—भैरव—आदि के मन्त्रों से है। अर्थवाद का अर्थ है अपने देवता भैरवआदि की स्तुति व दूसरे देवताओं की निन्दा : कल्प से अभिप्राय मन्त्र-तन्त्र के प्रतिपादक आधुनिकग्रन्थ है। इनके प्रमाण से वादी लोग कुछ का कुछ प्रतिपादन करने लगते हैं ॥१२०॥

ईश्वर के सम्बन्ध में असंख्य मत

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१॥

अन्वय—अन्तर्यामिणं आरभ्य स्थावरान्तेशवादिनः सन्ति ; अश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवत्वदर्शनात् ।

अर्थ–अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को ईश्वर मानने वाले (इस संसार में) विद्यमान हैं। क्योंकि पीपल, आक तथा बांस आदि भी कुलदेवता पाये जाते हैं ॥१२१॥

इस प्रकार मतभेद दिखाई देता है तो किस को ठीक मानें ? इसका उत्तर देते हैं :—

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात्साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥२२॥

अन्वय–तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणां एका एव प्रतिपत्तिः स्यात्; सा अपि अत्र स्फुटं उच्यते ।

अर्थ–तत्त्व अर्थात् ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के निश्चय की इच्छा लेकर जो लोग (न्याय) युक्ति और शास्त्रको विचारते हैं उनका एक ही निर्णय (प्रतिपत्तिः)सम्भव है : अब उसी निर्णय को यहां स्पष्टरूप से कहते हैं ॥१२२॥

उसी निर्णय का दिग्दर्शन कराने के लिए तदनुकूल श्रुति का पाठ करते हैं:—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३॥

अन्वय–मायां तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम् । अस्य अवयवभूतैः तु इदं सर्वं जगत् व्याप्तम् ।

अर्थ–माया को ही प्रकृति (जगत्का उपादान कारण) जानो; और मायी (मयोपाधि अन्तर्यामी)को ही महेश्वर (मायाधिष्ठाता जगत्का निमित्त कारण) जानो । इस मयोपधिक ईश्वरके अवयवभूत (चरा-

चर अर्थात् स्थावरजंगमरूप जीवों) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

इस श्रुति के अनुसार ही निर्णय उचित है—

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥

अन्वय—इति श्रुत्यनुसारेण ईश्वरे निर्णय न्याय्यः तथा सति स्थावरान्तेशवादिनां अविरोधः स्यात्।

अर्थ—इस (पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित) श्रुति के, अनुसार ही, ईश्वर के विषय में निर्णय करना उचित है। ऐसा होने पर अर्थात् स्थावर जंगमादिरूप सारे जगत् को (अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को) ईश्वर मान लेने वालों का किसी भी वादी से विरोध नहीं होता ॥१२४॥

माया का स्वरूप

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५॥

अन्वय—तापनीये तदीरणात् इयं माया तमोरूपा। तत्र अनुभूतिं प्रमाणं श्रुतिः स्वयं प्रतिजज्ञे।

अर्थ—नृसिंह तापनीय उपनिषद् में ऐसा बताया गया है इसलिए वह माया (जगत्की उपादानभूत कारण) तम अर्थात् अज्ञानरूपा+ है। श्रुतिने स्वयं माया को तमोरूप सिद्ध करने के लिए अनुभव को प्रमाण माना है ॥१२५॥

+लोक में भी ऐन्द्रजालिक के मंत्र औषध आदि के द्वारा देखने वाले पुरुषों के अज्ञान के क्षुब्ध होने से ही उस-उस आकार में ऐन्द्रजालिक दीखने लगता

माया की अज्ञारूपता में श्रुत्यनुसार लोकानुभव

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतः।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥

अन्वय—तत् जडं च मोहात्मकं इति श्रुतिः अनुभावयति । आबालगोपं स्पष्टत्वात् तस्य आनन्त्यं सा अब्रवीत् ।

अर्थ—'तदेतज्जडं मोहात्मकम्' "माया का यह कार्य जड और मोहरूप है" यह श्रुति ही माया की तमोरूपता विषयक अनुभव को स्पष्ट करती है । फिर प्रकृति का कार्य जड और मोहरूप हैं यह बात बाल-गोपाल आदि सब लोगों को अनुभव होती है । और 'अनन्तम्' 'वह अनन्त' है इस श्रुति ने उसकी अनन्तता बताई है ॥१२६॥

जड़ और मोह का अर्थ बताते हैं :—

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥

अन्वय—अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं तत् हि जडम् । 'यत्र बुद्धिः कुण्ठीभवेत् सः मोहः इति लौकिकाः ।

अर्थ—अचेतनरूप घटादि पदार्थों का स्वरूप ही जड़ है और जहां जाकर बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वह मोह है ऐसा लोग कहते हैं ॥१२७॥

है अतएव माया ही अज्ञान है । अज्ञान जब असम्भव को सम्भव बना देता है तब उसे माया कहते हैं और जब वही अज्ञान ब्रह्मात्मा के स्वरूप को ढकता है अथवा ज्ञान का विरोधी होने से अज्ञान कहलाता; है इसलिए माया अज्ञान से भिन्न नहीं है ।

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ।

अन्वय—इत्थं लौकिकदृष्टया एतत् सर्वैः अनुभूयते; तु युक्ति दृष्टया अनिर्वाच्यम्; नासदासीत् इतिश्रुतेः ।

अर्थ—इस प्रकार लौकिकदृष्टि से जड और मोहरूप मायाकी तमोरूपता को सब जन अनुभव करते ही हैं, परन्तु युक्ति से तो वह माया का रूप अनिर्वाच्य सिद्ध होता है । उसको सत् अथवा असत् कुछ नहीं कह सकते । 'नासदासीत्' इस श्रुति से भी माया की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है ।।१२८।।

उक्त श्रुति के अभिप्राय को कहते हैं :—

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ।।

अन्वय—न असत् आसीत् विभातत्वात्, च नो सत् आसीत् बाधनात्; विद्यादृष्टया तुच्छं श्रुतम् तस्य नित्यनिवृत्तितः ।

अर्थ—वह मायातत्त्व असत् नहीं था; क्योंकि सब को प्रतीत होता था; और सत् भी नहीं था क्योंकि 'नेह नानास्तिकिंचन' (बृ० ४-४-१९) इस श्रुति में आत्मा से भिन्न सब तत्त्वों का बाध किया है । [सत् और असत् उभयरूप होना तो तम-प्रकाश की भान्ति विरुद्ध होनेसे अयुक्त है, इसलिए श्रुतिने उसकी उपेक्षा करदी है ।]

इस प्रकार युक्ति से उसकी अनिर्वचनीयता दिखला कर कहते हैं कि ज्ञान की दृष्टि से—श्रुति में उसे तुच्छ कहा गया है क्योंकि ज्ञान दृष्टि हो जाने पर वह अज्ञानरूपमाया सदा के लिए निवृत्त

हो जाती है।* श्रुतिमें "तुच्छमिदं रूपमयं" कहकर उस मायाको तुच्छ बताया है ॥१२९॥

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥

अन्वय–असौ माया श्रौतयौक्तिकलौकिकैः त्रिभिः बोधैः तुच्छा अनिर्वचनीया च वास्तवी इति त्रिधा ज्ञेया।

अर्थ–वह माया श्रुतिजन्य, युक्तिजन्य और लोकप्रसिद्ध तीन बोधों से क्रमशः तुच्छ अर्थात् तीनों कालों में असत्; अनिर्वचनीय अर्थात् सत् असत्से भिन्न (मिथ्या) और वास्तवी अर्थात् सत्य) इस प्रकार; तीन प्रकार की जाननी चाहिए। [श्रुति माया को तुच्छ बताती है; युक्ति से वह अनिर्वचनीय सिद्ध होती है और लौकिक प्राणी उसे

---

*निवृत्ति का अर्थ बाध है। यह विषय और विषयी रूप से दो प्रकार का है। जिस बाध का प्रकाश होता है वह विषय और प्रकाश करने वाले बाध का नाम विषयी होता है। जैसे रज्जुमें सर्प का त्रिकालव्यापी व्यावहारिक अभाव है वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म में अविद्या और उसके कार्य जगत् का त्रिकाल-व्यापी पारमार्थिक अभाव है: यह विषयरूप बाध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस निश्चयरूप तत्वज्ञान के पश्चात् के क्षण में होने वाली 'मुझ में तीनों कालोंमें अविद्या और प्रपंच नहीं हैं' इस आकारवाली वृत्ति, विषयीरूप बाध है क्योंकि यह पूर्वसिद्ध अविद्यादिके अभावको प्रकाशित करती है।

यदि विषयरूप बाध को न मानें तो विषयीरूपी से निश्चय भी भ्रम में बदल जायगा क्योंकि अन्य में अन्य की बुद्धि होजायगी। इसलिए विषयरूप बाध को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। यहां नित्यनिवृत्ति से विषयरूप बाध का ही ग्रहण है।

वास्तविक (सत्य) मानते हैं।]॥१३०॥

अब इस माया के कार्य को दिखाते हैं :—

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

अन्वय—प्रसारणात् च संकोचात् यथा चित्रपटः: तथा असौ अस्य जगतः सत्वं च असत्वं दर्शयति ।

अर्थ— जैसे चित्रपट, फैलाने और लपेटने पर क्रमशः चित्र को सत् और असत् रूप में दिखाता है वैसे ही यह माया कभी जगत् को सत् और कभी असत् प्रकट करती है ।॥१३१॥

फिर, वह माया स्वतन्त्र भी है और अस्वतन्त्र भी है यह दर्शाते हैं :--

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्याद्सङ्गस्यान्यथाकृतेः ॥१३२॥

अन्वय—चितिं विना अप्रतीतेः माया अस्वतन्त्रा हि स्यात् । तथा एव असंगस्य अन्यथाकृतेः स्वतन्त्रा अपि स्यात् ।

अर्थ—चिति अर्थात् अपने प्रकाशक चैतन्यके बिना प्रतीत नहीं होती इसलिए तो माया अस्वतन्त्र कही जा सकती है और चूंकि वह असंग अर्थात् मायाके सम्बन्धसे रहित आत्मा को और तरह का कर देती है इसलिए वह स्वतन्त्र भी कही जा सकती है ॥१३२॥

आत्मा के अन्यथाकरण को ही अब स्पष्ट करते हैं:—

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥१३३॥

अन्वय–सा कूटस्थासंगं आत्मनं जगत्वेन करोति। चिदाभासस्व-रूपेण जीवेशौ अपि निर्ममे।

अर्थ–यह माया निर्विकार असंग आत्मा को अहंकारादि प्रपंच-मय जगत् बना देती है और उसी माया ने चिदाभसरूपसे जीव और ईश्वर का निर्माण किया है। "जीवेशावभासेन करोति" यह श्रुत्युक्त जीवेश्वर-विभाग भी माया का किया हुआ है। [असङ्ग आत्मा का यह सब अन्यथाकरण ही है।] ॥१३३॥

आत्मा का अन्यथाकरण मान लेने से वह कूटस्थ कैसे रहेगा? इस शंका का समाधान करते हुए वताते हैं कि माया तो दुर्घट कामों को ही करती है:–

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम्।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायाया का चमत्कृतिः ॥१३४॥

अन्वय–कूटस्थम् अनुपद्रुत्य जगदादिकं करोति; दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः।

अर्थ–वह माया कूटस्थ में किसी प्रकार का उपद्रव भी नहीं करती (कूटस्थ को जैसा का तैसा ही बना रहने देती है) और फिर भी उसको जगदादि बना डालती है। यह कैसे? क्योंकि एकमात्र (मुख्यरूप से) दुर्घट कामों को करने वाली माया के लिए यह कोई चमत्कार नहीं है! यदि यह दुर्घट कामों को न करे तो फिर उसे माया ही कौन कहे? ॥१३४॥

माया की दुर्घटकारिता के दृष्टान्त

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि।

मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥

अन्वय–उदके द्रवत्वं वह्नौ औष्ण्यं अश्मनि काठिन्यं च मायायां दुर्घटत्वं, स्वतः सिद्धयति, अन्यतः न ।

अर्थ–जल में द्रवत्व, अग्नि में उष्णता, पत्थर मे कठोरता और माया में दुर्घटता स्वतः सिद्ध हैं—अन्य से नहीं । जलादि में द्रवत्व आदि की भान्ति माया में दुर्घटकारिता स्वभाव से ही है–किसी और कारण से नहीं ।

१३४वें श्लोक में जो यह कहा है कि "मायामें दुर्घटकारिता कोई आश्चर्य का कारण नहीं है"-यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि लोक में माया चमत्कार की हेतु दीख पड़ती है—इस आशंका उत्तर देते हैं—

न वेत्ति लोको यावत्तं साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

अन्वय–लोकः यावत् तं साक्षत् न वेत्ति तावत् मनसि चमत्कृतिं धत्ते । पश्चात् तु एषा माया इति उपशाम्यति ।

अर्थ–जब तक यह लोक उस माया के प्रयोक्तृत्व का साक्षात्कार नहीं करता तभी तक वह अपने मन में आश्चर्य करता है; पीछे तो (मायावीका ज्ञान होनेके पश्चात्) 'यह माया है' इस प्रकार आश्चर्य (शान्त) निवृत्त हो जाता है ॥१३६॥

जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिकों से ही ऐसे प्रश्न पूछो, मायावदियों से नहीं—इसी को स्पष्ट करते हैं :—

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।

न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ।१३७।

अन्वय–जगद्वस्तुत्ववादिषु चोद्यानि प्रसरन्ति हि मायायां चोदनीयं न तस्याः चोद्यैकरूपतः ।

अर्थ–इस प्रकार के आक्षेप तो जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिक आदियों पर ही हो सकते हैं; माया पर आक्षेप नहीं करने चाहिएं क्योंकि माया तो स्वयं आक्षेप योग्य है। [दुर्घटपना ही मायाका रूप है : वह समझ में नहीं आती इसलिये उस पर आक्षेप सम्भव हैं, वह तो पहले ही आक्षेप योग्य है फिर उस पर आक्षेप क्या करना ?] ॥१३७॥

मायावादी पर आक्षेप लगाने में दोष है

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥

अन्वय—चोद्य अपि यदि चोद्यं स्यात् त्वच्चोद्ये मया चोद्यते। ततः चोद्यं परिहार्यं पुनः न प्रतिचोद्यताम् ।

अर्थ–यदि आक्षेपयोग्य बात पर भी आक्षेप करते जाओगे तो मुझे फिर तुम्हारे कथन पर आक्षेप करना पड़ेगा [इस प्रकार आक्षेप-प्रत्याक्षेपों का परिणाम क्या होगा ? कुछ भी नहीं] इसलिए चाहिए यह कि किसी प्रकार आक्षेप (या प्रश्न) का निवारण (समाधान) हो;पुनः प्रत्याक्षेप या परिप्रश्न करना उचित नहीं है।

इसी अर्थ को विस्तार से कहते हैं :—

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ।

अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥

अन्वय—विस्मयैकशरीरायाः मायायाः चोद्यरूपतः अस्याः परिहारः बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः अन्वेष्यः ।

अर्थ—मुख्य-रूप से विस्मय रूप (आश्चर्य रूप) शरीर वाली माया, चूंकि आक्षेप अथवा प्रश्न-योग्य है इसलिए इस माया रूप प्रश्न की निवृत्ति का उपाय बुद्धिमानों को प्रयत्न से ढूंढना चाहिए ।

जब मायात्वका निश्चय हो जाय तभी तो माया-निवृत्ति का उपाय ढूंढना उचित है ? इस प्रश्न और उसके समाधान का वर्णन करते हैं:—

मायात्वमेवनिश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

अन्वय—मायात्वं एव निश्चेयं ? इति चेत् तर्हि निश्चिनु । लोकप्रसिद्धमायायाः, यत् लक्षणं तत् ईक्षताम् ।

अर्थ—मायत्व का ही यदि निश्चय करना है तो कर लो; और देख लो कि लोकमें प्रसिद्ध माया (इन्द्रजालरूप) के लक्षण इसमें भी पाये जाते हैं ॥१४०॥

इन्द्रजालरूपा लौकिक माया का लक्षण बताते हैं:—

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

अन्वय—या निरूपयितुं शक्या न, च विस्पष्टं भासते सा माया इति इन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिदिरे ।

अर्थ—जिसका निरूपण न हो सकता हो, फिर भी स्पष्टभासती

हो वह 'माया' है—इन्द्रजालादि में लोग माया को ऐसा समझते हैं ॥१४१॥

दृष्टान्त में सिद्ध लक्षण को दार्ष्टान्त में घटाते हैं :—

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

अन्वय—इदं जगत् स्पष्टम् भाति च तन्निरूपणं अशक्यं तस्मात् अपक्षपाततः जगत् मायामयं ईक्षस्व ।

अर्थ—यह जगत् स्पष्ट दीख रहा है और इसका निरूपण कर सकना अशक्य है; इस कारण पक्षपात को छोड़कर इस जगत् को मायामय समझ लो ॥१४२॥

जगत् का निरूपण क्यों अशक्य है ?

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

अन्वय—निखिलैः पण्डितैः अपि निरुपयितुम् आरब्धे कासुचित् कक्षासु तेषां पुरतः अज्ञानं भाति ।

अर्थ—संसार के सब पण्डित भी जब इसका निरूपण करने लगते हैं तो कुछ कक्षा चलने पर (वाद की कुछ सीढ़याँ पार करने पर) उनके सन्मुख अज्ञान दीखने लगता है । वे कहने लगते हैं कि इसे हम नहीं जानते ॥१४३॥

'जगत् का निरूपण करना अशक्य है' इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं:–

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।

कथं वा तत्र चैतन्यमियुक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

अन्वय-देहेन्द्रियादयः भावाः वीर्येण कथमुत्पादिताः वा तत्र चैतन्यं कथं इति उक्ते ते किं उत्तरम् ?

अर्थ—देहेन्द्रिय आदि पदार्थ वीर्य से कैसे उत्पन्न हो जाते हैं और इन में चेतनता क्यों कर आजाती है ? इन प्रश्नों का तुम्हारे पास क्या उत्तर है ? ॥१४४

स्वभावसे जगत् की उत्पत्ति मानने वालों (चार्वाक आदि) की शंका का समाधान

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ बन्ध्यवीर्यतः ॥

अन्वय-एष वीर्यस्य स्वभावः चेत् ? त्वया तत् कथं विदितम् ? अन्वयव्यतिरेकौ यौ तौ बंध्यवीर्यतः भग्नौ ।

अर्थ-यदि इस (जगदुत्पत्ति) को वीर्य का स्वभाव मानो तो बताओ तुमने यह स्वभाव कैसे जाना ? यदि कहो कि अन्वय-व्यतिरेक से पहचानाता हूँ तो तुम्हारे अन्वयव्यतिरेक तो बन्ध्य-वीर्य होने से भग्न हो जाते हैं।

[बन्ध्या स्त्री में पड़ा वीर्य अथवा जो वीर्य स्वयं बन्ध्य होता है वह व्यर्थ जाता है। अतएव जहां-जहां वीर्य है वहां-वहां देहादि होते हैं यह व्याप्ति नहीं घटती और व्याप्ति के अभाव से 'वीर्य हो तो देहादि हों'—यह अन्वय नहीं घटता। फिर स्वदेज जूं आदि और उद्भिज वृक्ष आदि की उत्पत्ति में वीर्य कारण नहीं होता। इसलिए 'वीर्य न होने से देहादि भी नहीं होते' यह व्यतिरेक भी नहीं घटता।] ॥१४५॥

इस प्रकार के प्रश्नों का एक मात्र उत्तर 'मैं कुछ नहीं जानता' यही हो सकता है-यह कहते हुए निष्कर्ष कहते हैं:—

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥

अन्वय-'एतत् किम् अपि न जानामि' इति अंते तव शरणम् । अतः एव महान्तः अस्य इद्रजालतां प्रवदन्ति ।

अर्थ—यों बार बार पूछे जाने पर 'मैं कुछ भी नहीं जानता' यह अज्ञान ही तेरा रक्षक होगा—तुझे अन्त में इस विषयक अज्ञान को मानना ही पड़ेगा । यही कारण है कि महान् पुरुष इसको इन्द्र-जाल कह देते हैं ॥१४६॥

इस विषय में वृद्धों की सम्मिति दर्शाते हैं:-

एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं,
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानांकुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं,
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ।

अन्वय-एतस्मात् अपरं इन्द्रजालं किं इव ? यत् गर्भवासस्थितं रेतः चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाकुरं पर्यायेण अनेकैः शिशुत्व-यौवनजरावेषैः वृतं पश्यति अत्ति शृणोति जिघ्रति अथ आ गच्छति ।

अर्थ—इस संसार में इससे बड़ा इन्द्रजाल और क्या होगा कि गर्भवास में स्थित वीर्य चेतन होता (चेष्टा करता) है; और उस म हाथ, मस्तक, पांव और उनमें अंगुली, कान, नाक नेत्र आदि

अंकुर पैदा होते हैं और वही वीर्य क्रम से (समय भेद से) बाल,युवा और वृद्धआदि अनेक वेषों से घिरकर देखता, खाता, सुनता, सूंघता जाता और आता है। और ऐसी ही दूसरी क्रियायें भी करता है।१४७।

और केवल देहादि ही दुर्निरूप्य हों यह बात नहीं, वटवृक्षादि भी दुर्निरूप्य हैं:-

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धानाः कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥

अन्वय-देहवत् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्; क्व धानाः ? कुत्र वा वृक्षः तस्मात् माया इति निश्चिनु ।

अर्थ-देह की भान्ति बड़ आदि वृक्षों के बीजों में भली प्रकार विचार करके देख लो कहां तो यह सूक्ष्म सा बीज है और कहां विशाल वृक्ष ? यह सब देखकर निश्चय करलो कि यह सब माया है।

हम चाहे माया का निरूपण न कर सकें पर उदयनाचार्य आदि ने तो उस का निरूपण किया है; इसका उत्तर देते हैं :—

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥

अन्वय-ये तार्किकादयः निरुक्तौ अभिमानं दधते तु हर्षमिश्रादिभिः खण्डनादौ सुशिक्षिताः ।

अर्थ-जो बड़े-बड़े तार्किक आदि इस संसार की निरुक्ति का अभिमान रखते हैं; खन्डन आदि ग्रन्थों में हर्ष मिश्र आदि ने उन को भली प्रकार छकाया है-(खण्डनरूप दण्ड दिया है) ॥१४८॥

अब इस विषय में साम्प्रदायिक आचार्यों (वेदान्ताचार्यों) के वाक्य प्रमाण-

रूप से उपस्थित करते हैं :—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत्।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ॥१५०॥

अन्वय–ये भावाः अचिन्त्याः खलु तान् तर्केषु न योजयत्। जगत् मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपं खलु।

अर्थ–वेदान्ताचार्यों ने कहा है कि जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उन को कल्पनारूप तर्क से नहीं कसना चाहिए। क्योंकि यह जगत् ऐसा ही है कि उसकी रचना का चिन्तन मन से भी सम्भव नहीं है ॥१५०॥

यदि जगत् की रचना अचिन्त्य हो तो हो, माया से इसका क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर देते हैं :—

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥१५१॥

अन्वय–"अचिन्त्य रचना शक्तिबीजं" माया इति निश्चिनु। तत् एव एकं मायाबीजं सुषुप्तौ अनुभूयते।

अर्थ–'अचिन्त्य की रचनाकी शक्ति का बीज (कारण) माया है' यह समझ लेना चाहिए। [जिस कारणकी रचनाशक्ति का विचार भी न किया जा सके उसे 'माया' समझ लेना चाहिए।] उसी एक मायारूपी कारण का अनुभव सुषुप्ति के समय हुआ करता है।

वह माया जगत् का बीज कैसे है यह दर्शाते हैं :—

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः।

तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

अन्वय—जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र बीजे द्रुमः इव लीनम् । तस्मात् अशेषजगतः वासनाः तत्र संस्थिताः ।

अर्थ—जाग्रत् और स्वप्न नाम का जगत् उस सुषुप्तिकालीन माया बीज में, छोटे से बीज में जैसे वृक्ष, वैसे छिपा रहता है। और चूंकि जगत् का कारण माया है इसलिए सब जगत् की वासनाएं (ज्ञानजन्य-संस्कार) उस माया में स्थित रहती हैं ॥१५२॥

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यह बताते हैं:—

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३॥

अन्वय—याः बुद्धिवासनाः तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति । मेघाकाशवत् अस्पष्टचिदभासः अनुमीयताम् ।

अर्थ—[उस माया में] जो (जाग्रत्-स्वप्न रूप जगत्के ज्ञानरूप) बुद्धि की [अपने उपादान स्वत्वगुण रूप से] वासनायें पड़ती हैं उनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। वह चिदाभास मेघाकाश के समान अस्पष्ट है अतएव उसको अनुमान प्रमाण से मान लो ॥१५३॥

मेघाकाश का अनुमान तो इसलिए सम्भव है कि मेघ का अंशभूत जल यद्यपि अस्पष्ट है पर उस जल का सजातीय स्पष्ट आकाश—प्रतिबिम्बवाला घटोदक विद्यमान है; यहाँ वैसा दृष्टांत कौनसा है ? इसका प्रतिपादन करते हैं:—

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४॥

अन्वय–साभासं एव तत् बीजं धीरूपेण प्ररोहति। अतः बुद्धौ चिदाभासः विस्पष्टं प्रतिभासते।

अर्थ–चिदाभास से युक्त वह (मायारूप) बीज (अज्ञान) बुद्धि-रूप में परिणत हो जाता है; इसलिए वह चिदाभास बुद्धि में स्पष्ट प्रतीत होने लगता है।

यहां निम्न प्रकार से अनुमान का प्रयोग करना चाहिए–विवाद की विषय बुद्धि की वासनायें चेतन-प्रतिबिम्ब वाली होने योग्य हैं; क्योंकि बुद्धिकी अवस्था-विशेष हैं; जैसे बुद्धि-वृत्ति।१५४।

इस प्रकार जीव और ईश्वरों की श्रुत्युक्त मायिकता का उपादान कर उसका उपसंहार करते हैं :–

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५॥

अन्वय–"माया अभासेन जीवेशौ करोति" इति श्रुतौ श्रुतम्। मेघाकाशजलाकाशौ इव तौ सुव्यवस्थितौ।

अर्थ–यह माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना देती है, यह श्रुति में कहा गया है। [मूल प्रकृति अपने में चेतन का आभास करके जीव और ईश्वर को बनाती है- इस प्रकार जीव और ईश्वर का मायिकपना श्रुति से सिद्ध है।] फिर उनमें अवान्तर भेद कैसा है यह बताते हैं:–

वे दोनों जीव और ईश्वर, मेघाकाश जलाकाश की भांति सुव्यवस्थित हैं। [यद्यपि दोनों मायिक हैं* परन्तु अज्ञानावृत

*यहां मायिकका अर्थ यह नहीं है कि जीव और ईश्वर माया के कार्य हैं;

वासना-रूप अस्पष्ट और बुद्धिरूप स्पष्ट उपाधि वाले होने से मेघाकाश और जलाकाश की भान्ति इन दोनों का अवान्तर भेद स्पष्ट हो रहा है।] ॥१५५॥

मेघाकाश से ईश्वर की तुल्यता का स्पष्टीकरण करते हैं:—

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत्।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥१५६॥

अन्वय—मेघवत् माया वर्तते; मेघस्थिततुषारवत् धीवासनाः, तुषारस्थखवत् आभासः स्थितः।

अर्थ—मेघ के समान माया है; बुद्धि-वासनायें मेघस्थित तुषारों (सूक्ष्म जल-बिन्दुओं) के समान हैं और उन तुषारों में स्थित आकाश (आकाश के प्रतिबिम्ब) के समान चिदाभास है। वही ईश्वर है ॥१५६॥

मायाप्रतिबिम्ब के ईश्वर होने में प्रमाण होने का कथन करते हैं:-

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ।१५७।

अन्वय—मायाधीनः चिदाभासः मायी महेश्वरः श्रुतः। च अन्तर्यामी सर्वज्ञः जगद्योनिः सः

अर्थ—चिदाभास (शुद्धसत्व-प्रधान प्रकृति का अंश) माया के

अपितु यह अर्थ है कि इनकी सिद्धि माया की सिद्धि के आधीन है। इसी प्रकार 'माया जीव ईश्वर को बनाती है' का अर्थ भी यही है कि माया अपनी सिद्धि से इनकी सिद्धि को दर्शाती है। यदि जीव-ईश्वर को माया का कार्य मानें तो छः अनादि पदार्थों उनकी गणना कैसे सम्भव है ?

आधीन होता है । श्रुतियों से सुना है कि वह महेश्वर—मायी अर्थात् माया का अधीश्वर है । [और यह मायागत प्रतिबिम्ब ईश्वर है] यही नहीं सुना है अपितु यह भी सुना है कि वह अन्तर्यामी, सर्वज्ञ और जगत् का कारण है ॥१५७॥

प्रकरणगत श्रुति प्रमाण का कथन करते हैं :—

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः॥१५८॥

अन्वय—सौषुप्तं आनन्दमयं प्रक्रम्य 'एषः सर्वेश्वरः' इति एवं श्रुतिः जगौ; सः अयं वेदोक्तः ईश्वरः ।

अर्थ—सुषुप्ति समय के आनन्दमयकोश के विषय में श्रुतिने कहा है कि यही "सर्वेश्वर" है । वह यह (प्रतिबिम्बरूप) आनन्दमयकोश

---

*विज्ञानमय जीव ही सुषुप्तिकाल में सूक्ष्म-रूप से विलीन होकर आनन्दमय कहलाता है । यदि उसको ईश्वर मानें तो जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओंमें अन्तः-करण की विलीन अवस्था-रूप आनन्दमय का अभाव होने से ईश्वर का भी अभाव मानना होगा । और अनन्त पुरुषों की सुषुप्ति में ईश्वर भी अनन्त मानने पड़ेंगे । तथा आनन्दमयकोश तो उन पांच कोशों में से है जिनको सभी ग्रन्थकारों ने जीव के पांच कोश बताया है । अतएव आनन्दमय को ईश्वर नहीं माना जा सकता; फिर यहाँ आनन्दमय को ईश्वर क्यों बताया है ?

इसका समाधान यह है कि माण्डूक्योपनिषद् में आनन्दमय को सर्वज्ञ और सर्वेश्वर केवल उन लोगों के लिए बताया है जो मन्द-बुद्धि हैं और महावाक्यों के विचार से तत्व-साक्षात्कार के अयोग्य हैं । उन्हें प्रणव-चिन्तन बताया है और जीव तथा ईश्वर में अभेद चिन्तन के लिए आनन्दमय को ईश्वर बताया है । यहां आनन्दमय को ईश्वर बताने का विद्यारण्य स्वामी का भी अभिप्राय जीवेश्वर के अभेद चिन्तन को बताना मात्र ही है ।

ही वेदोक्त ईश्वर है । [अर्थात् "सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुति बुद्धिवासनाप्रतिबिम्बरूप आनन्दमय को ईश्वर प्रतिपादित करती है।] ॥१५८॥

उस आनन्दमय के सर्वज्ञता आदि गुण निर्विवाद हैं :—

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥

अन्वय—तस्य सर्वज्ञत्वादिके न एव विप्रतिपद्यताम् । श्रौतार्थस्य अवितर्क्यत्वात् मायायां सर्वसम्भवात् ।

अर्थ—उस आनन्दमय के सर्वज्ञता आदि गुणों में शंका नहीं करनी चाहिए (चाहे वह सर्वसाधारण के अनुभव में नहीं आते) क्योंकि श्रुति की बतायी बात में तर्क नहीं करना होता और क्योंकि माया में सब कुछ करने का सामर्थ्य है। एन्द्रजालिक माया की भान्ति वह अघटितपदार्थ को भी रचने में समर्थ है ॥१५९॥

यदि अनुकूलयुक्ति न होगी तो श्रुतिवाक्य भी "यह पत्थर नौका है" इस वाक्यकी भाँति केवल अर्थवाद (स्तुति अथवा निन्दापरक) ही सिद्ध होगा। अतएव श्रुति की प्रमाणता की सिद्धि के लिए आनन्दमय के सर्वेश्वरता आदि गुणों को युक्ति और हेतु से सिद्ध करते हैं :—

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः॥१६०॥

अन्वय—अयं यत् विश्वं सृजते तत् अन्यथयितुम् कः अपि पुमान् न शक्तः । तेन अयं सर्वेश्वरः इति ईरितः ।

अर्थ–यह आनन्दमय जिस जाग्रदादिरूप जगत् की रचना करता है उस जगत् को कोई भी उलटने (बदलने) में समर्थ नहीं है। यही कारण है कि इसको 'सर्वेश्वर' कहा गया है ॥१६०॥

उसकी सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हैं–

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१॥

अन्वय–तत्र अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनाः संस्थिता ताभिः सर्वं क्रोडीकृतम्; तेन सर्वज्ञः ईरितः।

अर्थ–उस कारणरूप सुषुप्तिकालीन अज्ञान में कार्यभूत अशेष-प्राणियों की बुद्धिवासनायें स्थित हैं और उन वासनाओं ने इस सारे जगत्को अपना विषय बनाया हुआ है। इस कारण, उन सब बुद्धियों की वासनाओं से युक्त अज्ञानोपाधिवाला होने से यह आनन्दमय 'सर्वज्ञ' कहलाता है ॥१६१॥

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बुद्धियों की वासनावाला अज्ञान उस आनन्दमय की उपाधि है इसी से उसको 'सर्वज्ञ' कहते हैं।

और चूंकि उस ईश्वर की उपाधि वासनाएं परोक्ष हैं अतएव सर्वज्ञता अनुभव नहीं होती, यह बताते हैं:–

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते।
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

अन्वय–वासनानां परोक्षत्वत् सर्वज्ञत्वं न हि ईक्ष्यते। सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनासु अनुमीयताम्।

अर्थ—उपाधिरूपवासनाओं के परोक्ष होने से सर्वज्ञता अनुभव नहीं होती। परन्तु सम्पूर्ण बुद्धियों में सर्वज्ञताको देखकर वासनाओं में उस सर्वज्ञता का अनुमान कर लेना चाहिए।

यहां अनुमान इस प्रकार होगा—सब बुद्धियों में (उनको मिला कर उन सब में) स्थित सर्वज्ञता, अपने कारणरूप वासना में विद्यमान सर्वज्ञतापूर्वक होनी चाहिए; क्योंकि वह कार्यरूप सब बुद्धियों में स्थित धर्मविशेष है; तन्तुओं के वस्त्र में विद्यमान रूप आदि की भान्ति ॥१६२॥

अन्तर्यामिता का उपपादन करते हैं:—

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि।
अन्तस्तिष्ठन्यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥

अन्वय—विज्ञानमयमुख्येषु कोशेषु च अन्यत्र एव हि अन्तः तिष्ठन् यमयति; तेन अन्तर्यामितां व्रजेत्।

अर्थ—विज्ञानमय आदि चार कोशों और पृथिवी आदि भूतों के भीतर बैठकर इनको प्रेरित करता है (या नियम में रखता है) इसी से वह अन्तर्यामी (अन्दर रह कर नियमन करने वाला) कहलाता है ॥१६३॥

और इसकी अन्तर्यामिता में अन्तर्यामिब्राह्मण प्रमाण है:—

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥

अन्वय—बुद्धौ तिष्ठन् अस्याः आन्तरः च धिया अनीक्ष्यः धीवपुः धियं अन्तः यमयति इति एवं वेदे घोषितम्।

अर्थ-"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि (बृहदारण्यक ३-७-२२) अन्तर्यामिब्राह्मण में वेद ने घोषणा की है कि विज्ञानमयकोशरूप बुद्धि में स्थित हुआ वह अन्तर्यामी बुद्धि से अविलोकित और बुद्धि-रूपशरीर वाला होकर इस बुद्धि को नियम में रखता व प्रेरित करता है ॥१६४॥

अन्तर्यामिब्राह्मण के सब पर्यायों की व्याख्या से तो ग्रन्थ बढ जायगा अत-एव "यः सर्वेषुभूतेषुतिष्ठन्,' (बृ० ३-७-१५) केवलमात्र इस वाक्य की व्याख्या करते हैं :—

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

अन्वय-यद्वत् तंतुः उपादानतया पटे स्थितः तथा अयं सर्वोपादा-नरूपत्वात् सर्वत्र अवस्थितः ।

अर्थ-जिस प्रकार तन्तु उपादानरूप से पट में सर्वत्र विद्यमान रहता है, इसी प्रकार यह अन्तर्यामी सबका उपादान होने के कारण सर्वत्र स्थित है-यह बात 'यः सर्वभूतेषु तिष्ठन्' इस श्रुतिवाक्य में कही है ॥१६५॥

सर्वत्रावस्थित है तो फिर, सर्वत्र उपलब्ध क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर देते हैं।—

पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥१६६॥

अन्वय-पटात् अपि आन्तरः तन्तुः तन्तोः आन्तरः अंशुः । यत्र आन्तरत्वस्य विश्रान्तिः तत्र असौ अनुमीयताम् ।

अर्थ-पट से भी भीतर तन्तु होता है और तन्तु से भीतर अंशु अर्थात् सूक्ष्मतन्तु होता है : इस प्रकार जहां आन्तरपने की समाप्ति हो जाय वहां इस ईश्वर को अनुमान से जान लेना चाहिए अर्थात् सबसे भीतर होने से ही वह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता।

यह अनुमान इस प्रकार होगा—आन्तरता का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) कहीं तो समाप्त होगा; क्योंकि वह तारतम्य है जैसे अणुत्व का तारतम्य है ॥१६६॥

सबसे भीतर होने पर भी, सूक्ष्म तन्तुओंकी भान्ति अन्तर्यामी का दर्शन तो सम्भव है ही; फिर क्यों नहीं दर्शन होता ? इसका समाधान करते हैं:-

द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥१६७॥

अन्वय-द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शने अपि अयं आन्तरः न वीक्ष्यते। ततः युक्तिश्रुतिभ्यां एव निर्णयः।

अर्थ-आन्तरता की दो तीन अवस्थाओंके तो दर्शन बाह्यपटादि पदार्थों में हो जाते हैं परन्तु इसमें बाह्यत्व तो होता नहीं--यह अन्तर्यामी सबका सब आन्तर है अतएव यह सर्वान्तर नहीं दीखता। इस कारण इसके सद्भाव का निर्णय युक्ति और श्रुति के सहारे ही करना पड़ता है। [कोई भी अचेतन अधिष्ठता के बिना प्रवृत्त नहीं हुआ करता यह तो उसकी सिद्धि में युक्ति है और श्रुति का उद्धरण पहले १६४ श्लोक में दे चुके हैं।] ॥१६७॥

'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' (बृ०३-७-१५) इस वाक्य का अर्थ कहते हैं:-

पटरूपेण संस्थानात्पटस्तन्तोर्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ।।१६८।।

अन्वय–पटरूपेण संस्थानात् पटः यथा तन्तोः वपुः तथा सर्वरूपेण संस्थानात् सर्वं अस्य वपुः ।

अर्थ–जैसे (तन्तुका) पटरूप हो जाने पर वह पट तन्तु का शरीर माना जाता है वैसे वह अन्तर्यामी क्योंकि सर्वरूप (समस्त जगत् रूप) से स्थित हो जाता है इसलिए यह सब जगत् ही उसका शरीर माना जाता है ।।१६८।।

'यः सर्वाणिभूतान्यंतरो यमयति' (बृ० ३–७––१५) इस वाक्य का तात्पर्य दो श्लोकों में बताते हैं:–

तन्तोः संकोचविस्तारचालनादौ पटो यथा ।
अवश्यमेव भवति न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ।।
तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियते तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ।।१७०।।

अन्वय–यथा तन्तोः संकोचविस्तारचालनादौ पटः अवश्यं एव भवति पटे स्वातंत्र्यं मनाक् न । तथा अयं अन्तर्यामी यत्र यया वासनया यथा विक्रियते तथा अवश्यं भवति एव, संशयः न ।

अर्थ–जैसे तन्तु को सिकोड़ने, फैलाने या हिलाने-जुलाने पर वस्त्र भी क्रमशः अवश्य सिकुड़ता, फैलता और हिलता-जुलता है; पट में लेशमात्र भी स्वतन्त्रता नहीं है; ठीक इसी प्रकार [पृथिवी आदि में उपादानरूप से रहने वाला] यह अन्तर्यामी जिस जिस

वासना से, घटादि रूप कार्य में विकृत हो जाता है, वह वह कार्य अवश्य होकर रहते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१६९-१७०॥

अब अन्तर्यामिप्रतिपादिका स्मृति को उद्धृत करते हैं:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

अन्वय—अर्जुन ! ईश्वरः यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ।

अर्थ—यह श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय का ५१ वां श्लोक है। हे अर्जुन ! ईश्वर* सब प्राणियों के हृदय देश में

---

*यहाँ ईश्वर एक वचन है अतएव भगवान् के इस वाक्य से ईश्वर एक सिद्ध होता है । इससे नानात्ववादी विष्णुस्वामी का मत निरस्त हो जाता है । 'हृद्देश' में जो एक वचन है वह तो जाति का निर्देशक है क्योंकि अन्य प्रमाणों और लोकानुभाव के आधार पर हृदय तो अनेक हैं ही । यों भी शरीर-शरीर में पृथक्-पृथक् ईश्वर माननें में एक ही प्रजा के विभिन्न राजाओं की भांति एक ब्रह्मांड के अनेक नियन्ता होने से, विभिन्न इच्छाओं के होने पर जगत् में अव्यवस्था फैल जायगी । यदि यह कहो कि जैसे एक राजा के अनेक सेवक होते हैं वैसे ही एक ब्रह्मरूप महेश्वर के अंशभूत नाना नियन्ता मान लेंगे सो भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह एक महेश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है या नहीं; यदि नहीं है तब तो वह अनीश्वर जीव ही होगा और यदि है तो जब अकेले में ही सब सामर्थ्य है तब अंशभूत नाना अन्तर्यामी स्वीकार करना निष्फल ही होगा । वाचस्पति मिश्रने ईश्वरमें नानात्व केवल इसलिए माना है कि अध्यारोप समझाकर अपवाद द्वारा मुमुक्षुओं को अद्वैत-बोध कराया जा सके । वस्तुतः वह भी ईश्वर का नानात्व स्वीकार नहीं करता ।

स्थित है और वह यन्त्रारूढ सब भूतों को अपनी माया के प्रताप से घुमाता रहता है ॥१७१॥

गीता के सर्वभूतानि' पद का अर्थ समझाते हैं—

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥१७२॥

अन्वय–सर्वभूतानि विज्ञानमयाः ते हृदये स्थिताः । तदुपादानभूतेशः तत्र खलु विक्रियते ।

अर्थ–(ऊपर उद्धृत गीता के श्लोक में) 'सर्वभूतानि' पद का अर्थ 'विज्ञानमय' है : वे सब विज्ञानमयकोशरूप जीव हृदय-कमल में स्थित हैं। क्योंकि उनका उपादानकारण ईश्वर हृदयमें ही विकार को प्राप्त हुआ करता है ॥१७२॥

'यन्त्रारूढानि' पद का अर्थ करते हैं:—

देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता ।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥१७३॥

अन्वय–देहादिपंजरं यन्त्रं; अभिमानिता तदारोहः । विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिः भ्रमणं भवेत् ।

अर्थ–देह आदि का यह पिञ्जरा 'यन्त्र' है और इसमें अभिमान कर बैठना ही इस पर "आरोहण" करना है। इसके पश्चात् देहाभिमानी का विहित (शुभ) और प्रतिषिद्ध (अशुभ) कर्मों में प्रवृत्त हो जाना ही उसका 'भ्रमण' कहलाता है ॥१७३॥

'भ्रामण' (घुमाना) और 'माया' पदों के अर्थ करते हैं:-

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि ततः ।

अन्वय—ईशः स्वशक्त्या विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः विक्रियते; तत् हि मायया भ्रामणम् ।

अर्थ—ईश्वर अपनी माया-शक्तिसे प्रभावित होकर विज्ञानमय जीव रूप होकर उस विज्ञानमय की प्रवृत्ति के रूप में विकृत हुआ करता हैं । यही, ईश्वर का अपनी शक्ति से अपने आप विकृत होते रहना ही, उसका माया से भ्रामण (घुमाना) कहलाता है ।।१७४।।

श्रुतियों के 'यमयति' पद का भी यही अर्थ है.-

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ।।

अन्वय—अन्तःयमयति इति उक्त्या अयं एव अर्थः श्रुतौ श्रुतः । अयं न्यायः पृथिव्यादिषु सर्वत्र धिया योज्यताम् ।

अर्थ—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यमयति" (बृ० ३-७-३) इस श्रुति के "भीतर रहता हुआ चलाता रहता है" इस श्रुतिवाक्य में यही बात (भ्रामणरूप बात) कही गयी है । और यही नियमन पद में वर्णित न्याय अर्थात् रीति पृथिवी आदि सब पदार्थों में अपनी बुद्धि से बरत लेनी चाहिए ।।१७५।।

समस्त प्रवृत्तियां सर्वेश्वर के आधीन ही हैं, इसमें एक दूसरे शास्त्र का प्रमाण उपस्थित करते हैं:—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

केनापि देवेन हृदिस्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥१७६॥

अन्वय–धर्मं जानामि च मे प्रवृत्तिः न; च अधर्मं जानामि मे निवृत्तिः नः। केन अपि हृदिस्थितेन देवेन यथानियुक्तः अस्मि तथा करोमि।

अर्थ–मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती; मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु मैं उससे बच नहीं पाता। इससे यह निश्चय होता है कि हृदय में स्थित कोई देव (अन्तर्यामी) जैसी-जैसी प्रेरणा करता है वैसा-वैसा मैं करता रहता हूं ॥१७६॥

यदि जीवकी प्रवृत्ति ईश्वराधीन ही मानें तो पुरुष का प्रयत्न व्यर्थ होगा ? इस आशका का निवारण करते हैं —

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः।

ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७॥

अन्वय–"पुरुषकारेण अर्थः न" इति एवं मा शंक्यतां, यतः ईशः पुरुषकारस्य रूपेण अपि विवर्तते।

अर्थ–(समस्त प्रवृत्तियां पुरुषके अधीन मान लेने पर) 'पुरुषार्थ का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा' ऐसी शंका मत करो क्योंकि वह ईश्वर ही पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है ॥१७७॥

यदि पुरुष के प्रयत्न को भी ईश्वर माना जाय तो "नियमन करता है"

'घुमाता है' इस रूप में जो अन्तर्यामी की प्रेरणा का निरूपण, १६४ से १७६ श्लोक तक किया है, व्यर्थ हो जायगा—इस आशङ्का का उत्तर देते हैं:—

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥

अन्वय—ईदृग्बोधेन ईश्वरस्य प्रवृत्तिः मा एव वार्यतां तथापि ईशस्य बोधेन स्वत्मासंगत्वधीजनिः ।

अर्थ—'ईश्वर ही पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है' ऐसा बोध हो जाने पर ईश्वर की अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा व्यर्थ होगी-ऐसा मानकर उसका निषेध नहीं करना चाहिए । क्योंकि उस रूप में भी ईश्वर का बोध हो जाने से, अपनी आत्मा (साक्षी) की असङ्गता का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा ॥१७८॥

आत्मा की असङ्गता के ज्ञान का फल दर्शाते हैं:—

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥१७९॥

अन्वय—'तावतामुक्तिः' इति श्रुतयः तथा स्मृतयः आहुः । "श्रुतिस्मृती मम एव आज्ञे" इति अपि ईश्वरभाषितम् ।

अर्थ—"उतने से अर्थात् आत्मा की असंगता के ज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है" यह बात श्रुतियों तथा स्मृतियों ने कही है और "श्रुतियों तथा स्मृतियां मेरी ही आज्ञाएं हैं" यह भी ईश्वर ने कहा है । इसलिए श्रुति और स्मृति के कथन को उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥१७९॥

श्रुति ने भी ईश्वर को भय का कारण बताया है; यह दर्शाते हैं :—

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मादिति हि श्रुतम् ।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१०८॥

अन्वय—आज्ञाया भीतिहेतुत्वं 'भीषा अस्मात्' इति हि श्रुतं । एतत् सर्वेश्वरत्वं अन्तर्यामित्वतः पृथक् स्यात् ।

अर्थ—उस ईश्वर की आज्ञा भीति का कारण है—यह बात "भीषास्माद्वातः पवते" (तै० २—८) इत्यादि श्रुतियों से प्रसिद्ध है। [और उसको भीतिका कारण मानने का प्रयोजन है वह यह कि] इससे उसकी सर्वेश्वरता अन्तर्यामित्व से भिन्न है यह सिद्ध हो जाता है। जिसकी आज्ञा से डर कर वायु आदि गति करते हैं वह 'सर्वेश्वर' है और शरीरों के भीतर रहते हुए नियम रखने की शक्ति ही उसकी 'अन्तर्यामिता' है ॥१८०॥

फिर इस प्रकार बाहर-भीतर वही ईश्वर नियामक है—इसको दो श्रुतियों से प्रमाणित करते हैं:- -

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।
अन्तःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥

अन्वय—"एतस्य वा अक्षरस्यप्राशसने" इति श्रुतिः । च "अन्तः प्रविष्टः अयं जनानां शास्ता" इति श्रुतिः ।

अर्थ—बृ० ३-८-२ में कहा है कि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः:' अर्थात् 'इस अक्षर ब्रह्म के नियन्तृत्व में हे गार्गि ! सूर्य चन्द्रमा रहते हैं" यह श्रुति है जो ईश्वर को

सर्वेश्वर बताती है। और "अन्तः शास्ता जनानाम्" यह भी श्रुति है जो उसको अन्तर्यामी बतलाती है। अर्थात् ये दोनों श्रुतियां यही प्रतिपादन करती हैं कि बाहर और भीतर वही एक ईश्वर नियामक है ॥१८१॥

ईश्वर 'जगद्योनि' है; कैसे है ? यह बतलाते हैं:–

जगद्योनिर्भवेदेषः प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२॥

अन्वय–प्रभवाऽप्ययकृत्त्वतः एषः जगद्योनिः भवेत् । उत्पत्ति-प्रलयौ आविर्भावतिरोभावौ मतौ ।

अर्थ–उत्पत्ति और विनाश दोनों का कर्ता होने के कारण यह ईश्वर जगत् का योनि (जगत् का कारण) कहाता है। यहां उत्पत्ति और प्रलय (प्रभव और अव्यय) के अर्थ आविर्भाव और तिरोभाव हैं ॥१८२॥

ईश्वर जगत् का आविर्भाव करता है (उत्पत्ति का कारण है) इसमें दृष्टान्त उपस्थित करते हैं –

आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत् ।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥१८३॥

अन्वय–यद्वत् प्रसारितः पटः, एषः स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् प्राणिकर्मवशात् आविर्भावयति ।

अर्थ–जैसे कि फैलाया हुआ चित्रपट होता है (समेटे हुए चित्र-पट को फैलाने पर नानाविध चित्र प्रकट होने लगते हैं।) ऐसे ही, यह ईश्वर अपने में विलीन हुए समस्त जगत् को, प्राणियों के कर्मों के अनुसार, आविर्भूत कर दिया करता है ॥१८३॥

अब उस ईश्वर की प्रलयकारणता में दृष्टान्त देते हैं —

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ॥१८४॥

अन्वय—यथासंकोचितपटः, प्राणिकर्मक्षयवशात् अखिलं जगत् पुनः स्वात्मनि एव तिरोभावयति।

अर्थ—वही प्रसारित पट, जैसे, समेट लेने पर चित्रों को अपने भीतर छिपा लेता है; वैसे ही प्राणियों के (भोगदायी) कर्मों के क्षीण हो जानें पर, वह ईश्वर सारे संसार को फिर से अपने भीतर ही छिपा लेता है ॥१८४॥

आविर्भाव और तिरोभाव के अन्य दृष्टान्त देते हैं:—

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने।
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५॥

अन्वय—इमौ सृष्टिलयौ रात्रिघस्रौ, सुप्तिबोधौ, उन्मीलननिमीलने, तूष्णीभावमनोराज्ये इव।

अर्थ—ये सृष्टि और प्रलय परस्पर ठीक ऐसे हैं जैसे दिन-(घस्रः) रात या जाग्रत्-सुषुप्ति अवस्थाएं; या आंख को खोलना और बन्द करना अथवा निर्विकल्प रहना (चुप रहना) और मनोराज्य करना अर्थात् सविकल्प मन ॥१८५॥

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को जगत् का योनि (कारण) कहते हो वह क्या उसका आरम्भ (रचना) करता है इसलिए कहते हो अथवा वह स्वयं जगदाकार में परिणत हो जाता है इसलिए कहते हो ? इसका उत्तरदेते हैं:-

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना।

आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६॥

अन्वय—आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्वेन हेतुना अत्र आरम्भपरिणामादिचोद्यानां संभवः न ।

अर्थ—आविर्भाव और तिरोभाव दोनों शक्तियों (मायारूपसामर्थ्य) का आश्रय होने से यहां हमारे सिद्धान्त में आरम्भ, परिणाम (स्वभाव) आदि विकल्पों की सम्भावना नहीं है। क्योंकि अद्वितीय आरम्भक नहीं हो सकता और निरवयव का परिणाम नहीं हो सकता--वह ईश्वर अद्वितीय और निरवयव दोनों है। अतएव यहां तो एक मात्र विवर्त्तवाद ही निष्कंटक मार्ग है।❀

❀अनेक कारणभूत अवयवों के संयोग से अत्यन्त भिन्न अवयवी कार्य-द्रव्य समवाय-सम्बन्ध से समवेत हुआ उत्पन्न होता है, यह आरम्भवाद है। जैसे, कपाल-रूप अवयवों के संयोग से उनसे अत्यन्त भिन्न घटकार्य उत्पन्न होता है। यहाँ उपादान कारण अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है और उपादान से भिन्न कार्य की उत्पत्ति होती है। अथवा जैसे क्रियाद्वारा दो या तीन अणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक त्र्यणुक, आदि उत्पन्न होते हैं अथवा तन्तुओं से पट उत्पन्न होता है। इन सब में कार्य और कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हैं। परन्तु यह आरम्भवाद ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के विषय में नहीं घटता क्यों कि ब्रह्म तो अद्वितीय है—उससे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। ब्रह्मकी अद्वितीयता उपनिषदों से सिद्ध है ही। यदि यहाँ आरम्भवाद को मानें तो यह दोष आवेगा कि कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् भी कारण ज्यों का त्यों रहता है और इस प्रकार एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। अतएव आरम्भवाद असंगत है।

उपादान की ही समानसत्ता से उसके एकांश का रूपान्तर होकर कार्य की उत्पत्ति होना परिणामवाद है। यहां परिणाम-कार्य और परिणामी-कारण में अभेद

परन्तु चेतन जगत् और अचेतन जगत्–दोनों का एक ही ईश्वर उपादान कैसे हो सकता है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं:–

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७॥

अन्वय–ईश्वरः अचेतनानां जाड्यांशेन हेतुः स्यात् तथा जीवानां चिदाभासांशतः एष कारणं भवेत् ।

अर्थ–ईश्वर अचेतनों का तो जड़तोपाधि की प्रधानता से कारण है और चेतन जीवों का चिदाभासांश की प्रधानता से कारण है : इस प्रकार एक ही ईश्वर जड़-चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का उपादान कारण हो सकता है ।

प्रसंग गत ब्रह्म और ईश्वरका विवेचन : ईश्वरकी कारणतामें एक शंका

तमप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।

मानना पड़ता है । जैसे मिट्टी और घड़ा; अन्तःकरण और वृत्ति तथा प्रकृति और महत्तत्त्व परस्पर अभिन्न हैं । यह सांख्यवादियों का मत है; वे जगत् को प्रकृति का परिणाम मानते हैं, कुछ उपासक इसी रूप से जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं । इन दोनों का ही मत असंगत है; ब्रह्ममीमांसा प्रकरण में सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने जड़-प्रधान को जगत् का उपादान-कारण मानने का प्रबल-युक्तियों से खण्डन किया ही है । चेतन तो निरवयव है अतएव वह परिणामी हो ही नहीं सकता । यदि चेतन को परिणामी मानेंगे तो चेतन को विनाशी मानना पड़ेगा । अतएव परिणामवाद असंगत है ।

उपादान-कारणका अपने स्वरूप को छोड़े बिना विषय-सत्ता द्वारा कार्यरूप में रूपान्तर हो उत्पन्न और भान होना विवर्त्तवाद है । जैसे सीप में चांदी की और स्वर्ण में आभूषणकी उत्पत्ति होती है; वेदान्त इसी विवर्तवाद को स्वीकार करता है ।

परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८॥
इति वार्तिककारेण जड़चेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९॥

अन्वय–परः "भावनाज्ञानकर्मभिः तमप्रधानः क्षेत्राणां कारणतां एति; चित्प्रधानः चिदात्मनाम् ।' इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता परमात्मन एव उक्ता; ईश्वरस्य न–इति चेत् शृणु—

अर्थ–वह परमात्मा, भावना (संस्कार), ज्ञान (देवताध्यान) और कर्मों (पुण्यपुण्य) के कारण जब तमःप्रधान (अर्थात् तमोगुण प्रधानमायोपाधिक) होता है तब तो क्षेत्रों अर्थात् देहों का कारण होता है और जब चित्प्रधान होता है तब चिदात्माओं का कारण हो जाता है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने, इस प्रकार, जड़ व चेतन का कारण परमात्मा को ही माना है–ईश्वर को नहीं। यदि यह कहो तो इसका समाधान सुनो ॥१८८, १८९ ॥

उक्त शंका का समाधान

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१९०॥

अन्वय–जीवकूटस्थयोः इव अत्र अपि ईश्वरब्रह्मणोः अन्योन्याध्यासं सिद्धं कृत्वा सुरेश्वरः ब्रूते ।

अर्थ–जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास कहा है वैसे ही यहां भी ईश्वर और ब्रह्म के अन्योन्याध्यास को सिद्ध मानकर सुरेश्वराचार्य पूर्वोक्त शंका का उत्तर देते हैं।

जैसे 'त्वं' पद के अर्थ जीव और कूटस्थ में अधिष्ठान और

आरोपका अन्योन्याध्यास मानते हैं वैसे ही 'तत्' पद के अर्थ ईश्वर और ब्रह्म का भी अन्योन्याध्यास सुरेश्वराचार्य को विवक्षित है; इस लिए ही उन्होंने परमात्मा को जड़ और चेतन का उपादान कारण कहा है ॥१९०॥

सुरेश्वराचार्य के प्रतिपादित पूर्वोक्त अर्थ को श्रुति से प्रमाणित करते हैं:—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ।
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१९१॥

अन्वय–सत्यं ज्ञानं अनंतं यत् ब्रह्म तस्मात् खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः समुत्थिताः इति श्रुतिः ।

अर्थ—सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्मसे ही, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, अन्न और देह—'ये सब उत्पन्न हुए हैं' यह बात श्रुति ने भी ईश्वर और ब्रह्म के अन्योन्याध्यासको सिद्धवत् मान कर कही है ॥१९१॥

इस श्रुति से अन्योन्याध्यास का ज्ञान कैसे होता है ? यह बताते हैं:—

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥१९२॥

अन्वय–तत्र आपातदृष्टितः ब्रह्मणः हेतुता भाति, च हेतोः सत्यता; तस्मात् अन्योन्याध्यास इष्यते ।

अर्थ–इस श्रुति में आपातदृष्टि से (सरसरीनजर से) सत्य आदि रूप निर्गुण ब्रह्म, जगत् का कारण प्रतीत होता है और जगत् का कारण मायाधीन चिदाभास सत्य भासमान होता है–ये दोनों बातें

अन्योन्याध्यास के बिना नहीं घट सकतीं; इसलिए अन्योन्याध्यास स्वीकार करना पड़ता है ॥१९२॥

अन्योन्याध्यास से सिद्ध ईश्वर और ब्रह्म की एकता का समर्थन दृष्टांतसे करते हैं:-

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१९३॥

अन्वय-यथा अन्नलिप्तपटः घट्टितेन एकतां एति, तद्वत् असौ अन्योन्याध्यासरूपः भ्रान्त्या एकतां गतः ।

अर्थ —जैसे मांडी लगा वस्त्र घोटने से एकीभूत (गफ) हो जाता है, इसी प्रकार अन्योन्याध्यसरूप यह ईश्वर भी भ्रान्ति के कारण ब्रह्म के साथ एक हो जाता है ॥१९३॥

भ्रान्ति से एकता प्रतीति का दृष्टान्त देकर अब अविचारदर्शियोंको जो एकता प्रतीत होती है--उसमें अन्य दृष्टान्त देते हैं:-

समेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१९४॥

अन्वय-पामरैः मेघाकाशमहाकाशौ न विविच्येते, तद्वत् आपातदर्शिनः ब्रह्मेशयोः ऐक्यं पश्यन्ति ।

अर्थ-जैसे अल्पबुद्धि लोग मेघाकाश और महाकाश में भेद नहीं कर पाते, वैसे ही स्थूल विचारक लोग ब्रह्म और ईश्वर को एक समझते रहते हैं । अर्थात् भ्रान्त मनुष्य ब्रह्म और ईश के भेद को नहीं देखते ॥१९४॥

ब्रह्म और ईश्वर के भेद की प्रतीति कैसे होती है ? यह बताते हैं:-

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।

असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥१९५॥

अन्वय–उपक्रमादिभिः लिंगैः तात्पर्यस्य विचारणात् ब्रह्म असंगं मायावी एषः महेश्वरः सृजति ।

अर्थ–उपक्रम आदि छः लिंगों से (श्रुति के) तात्पर्य्यका विचार (और निश्चय) कर लिया जाता है तब यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म तो असंग है (वह कुछ करता-धरता नहीं है) और यह मायावी महेश्वर जगत् की रचना करता है ।

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः लिङ्गों से श्रुति के तात्पर्य का निर्णय होता है ॥१९५॥

उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (समाप्ति) की एकरूपता दिखाते हुए ब्रह्म की असंगता श्रुति में उपपादित है' —यह दर्शाते हैं:—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥१९६॥

अन्वय–'सत्यं ज्ञानं अनन्तं' इति उपक्रम्य "यतः वाचः निवर्तन्ते" इति उपसंहृतं इति असंगत्वनिर्णयः ।

अर्थ–तैत्तिरीय उपनिषद् में 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०२-१) इस वाक्य से आरम्भ करके 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' (तै०२-४) इस वाक्य से उपसंहार किया है—और इस प्रकार इस सन्दर्भ से ब्रह्म की असंगता का निर्णय हो जाता है ॥१९६॥

'मायावी ईश्वर स्रष्टा है'-इसकी प्रतिपादिका श्रुति को उद्धृत करते हैं:

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।

अन्य इत्यपरो ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥

अन्वय-मायी विश्वं सृजति तत्र अन्यः मायया सन्निरुद्धः इति अपरा श्रुतिः ब्रूतेः तेन ईश्वरः सृजेत् ।

अर्थ-'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' (श्वे०४-९) अर्थात् मायावी ईश्वर जगत् को रचता है और उस जगत् में दूसरा--जीव-माया के बस हो बन्दी बना रहता है-यह दूसरी श्रुति है। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् का स्रष्टा ईश्वर है, ब्रह्म नहीं ॥१९७॥

इस प्रकार आनन्दमय ईश्वर को जगत् का उपादान कारण सिद्ध कर अब ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं:—

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत्॥

अन्वय-अयं आनन्दमयः ईशः बहु स्यां इति अवैक्षत; हिरण्यगर्भरूपः अभूत्; यथा सुप्तिः स्वप्नः भवेत् ।

अर्थ-जब इस आनन्दमय ईश्वर ने 'मैं अब बहुरूप हो जाऊं' यह ज्ञानदृष्टिरूप विचार किया तो वह हिरण्यगर्भरूप (समष्टि सूक्ष्म-प्रपंच) हो गया। यह ऐसे ही हुआ जैसे सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा ही स्वप्न बन जाता है ॥१९८॥

परन्तु सृष्टि रचना के दो प्रकार वर्णित हैं-एक तो-'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इसमें क्रम से सृष्टि रचना का वर्णन है और दूसरे 'इदं सर्वमसृजत्'-इसमें एक साथ सृष्टि रचना बतलाई है-दोनों में से कौनसा ग्राह्य है—यह बताते हैं:—

क्रमेण युगपदेषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद्द्विविधस्वप्नदर्शनात् ।१९९।

अन्वय--एषा सृष्टिः द्विविधश्रुतिसद्भावात् क्रमेण युगपत् वा यथाश्रुति ज्ञेया । द्विविधस्वप्नदर्शनात् ।

अर्थ–जगत् की यह रचना, दोनों प्रकार की सक्रम और अक्रम सृष्टि की प्रतिपादिका श्रुतियों के होने के कारण, सक्रम अथवा युगपत् दोनों प्रकार की है–श्रुति के अनुकूल होने से दोनों बातें माननी चाहिए । क्योंकि लोक में स्वप्नपदार्थ दो प्रकार के देखे जाते हैं; किसी स्वप्न में पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होते हैं और किसी में सब के सब पदार्थ एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१९९॥

अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप का निरूपण करते हैं:—

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥

अन्वय--सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वाहंमानधारित्वात् सर्वजीवघनात्मकः; क्रियाज्ञनादिशक्तिमान् ।

अर्थ–वह सूत्रात्मा (जैसे वस्त्र में सूत अनुस्यूत है वैसे ही जगत् में अनुस्यूतात्मा हिरण्यगर्भ) सूक्ष्मदेह नाम से पुकारा जाता है और वह सब (व्यष्टि लिङ्ग शरीरों) में अहंभाव ('मैं हूं' इस भाव) को धारण करता है इसलिए (लङ्गशरीरोपाधिवाले) सब जीवों का (घनात्मक अर्थात्) समष्टिरूप है । और इस सूत्रात्मा में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियां हैं ॥२००॥

हिरण्यगर्भावस्था में जगत् कैसा प्रतीत होता है ? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं:-

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ।२०१।

अन्वय-यथा वा प्रत्यूषे वा प्रदोषे अयं लोकः मंदे तमसि मग्नः भाति तद्वत् अस्पष्टं जगत् ईक्ष्यते ।

अर्थ-जैसे प्रातःकाल या सायंकाल में यह जगत् मन्द अन्धेरे में डूबा, धुंधला-धुंधला, दीखता है वैसे ही हिरण्यगर्भावस्था में जगत् अस्पष्टरूप से दीखा करता है ॥२०१॥

लाञ्छित पट के दृष्टान्तसे मायी ईश्वर के शरीर का लाञ्छित होना प्रकट करते हैं—

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥

अन्वय-यथा घट्टितः पटः सर्वतः मष्या लांछितः स्यात् तथा ईशस्य वपुः सूक्ष्माकारैः सर्वत्र लांछितम् ।

अर्थ-जैसे मांडीदिये वस्त्र पर स्याही से भिन्न-भिन्न आकार बना दिये जा सकते हैं वैसे ही मायावी ईश्वर का शरीर अपंचीकृत भूतों से बने लिंगशरीरों से लाञ्छित रहता है:-

हिरण्यगर्भ के रूप को ही भलीभांति समझाने के लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं:-

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥

अन्वय-यथा वा सस्यं वा शाकजातं सर्वतः कोमलं अंकुरितं तद्वत्

एव एष पेलवः जगदंकुरः ।

अर्थ–जैसे धान्य व शाक के पौदे चारों ओर से कोमल अंकुरों में उगते हैं वैसे ही यह (हिरण्यगर्भ नाम का) जगदंकुर कोमल होता है ॥२०३॥

इस प्रकार सूत्रात्मा (हिरण्य-गर्भ) के रूप को समझाकर उसीके अस्वथा-भेद, पंचीकृतभूतों के कार्यों की उपाधि वाले, विराट् के स्वरूप को तीन दृष्टांतों से स्पष्ट करते हैं:—

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥२०४॥

अन्वय–यद्वत् आतपाभातलोकः वा वर्णपूरितः पटः वा फलितं सस्यं; तथा स्पष्टवपुः विराट् ।

अर्थ–जैसे सूर्योदय के पश्चात् खिली धूप से प्रकाशित होने वाला जगत् अथवा रंगभरा कपड़ा अथवा फलों से लदा वृक्ष होता है वैसे से ही यह विराट् विशद शरीर वाला होता है ॥२०४॥

विराट् की सत्ता में प्रमाण उपस्थित करते हैं:—

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान्विदुः ॥२०५॥

अन्वय–विश्वरूपाध्याये पौरुषे सूक्ते अपि एषः उक्तः । धात्रादि-स्तम्बपर्यन्तान् एतस्य अवयवान् विदुः ।

अर्थ–यजुर्वेद संहिता के द्वितीय अष्टक के पंचम-अध्याय-विश्वरूप अध्याय में और पुरुष-सूक्त में भी इस विराट् का वर्णन किया है:–वहां बताया है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समग्र

चराचर जगत् इस विराट् के अवयव हैं ॥२०५॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अन्तर्यामी से लेकर कुदाल तक सब ही पदार्थं ईश्वरभाव से पूज्य हैं। निम्नलिखित तीन श्लोकों में यही बात कही गई है:—

ईशसूत्रविराड्वेधो विष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥२०६॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

अन्वय—ईशसूत्रविराड्वेधः ....कुद्दालकादयः एते सर्वे एव ईश्वराः पूजिताः फलदायिनः।

अर्थ—ईश (अन्तर्यामी), सूत्र (हिरण्यगर्भ), विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, (विघ्न) गणेश, भैरव, मैराल, मारिका (देवी विशेष), यक्ष, राक्षस, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़ा, मृग, पक्षी, पीपल-बड़-आम आदि वृक्ष, जौ-धान-तिनके आदि, जल पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, बिसौला और कुदाल आदि भी-ये सब के सब ईश्वर हैं : मनुष्य उनको ईश्वर ही जानकर ही पूजे : जो कोई इनकी पूजा करता है उसको ये फल देते ही हैं ॥२०६-२०७-२०८॥

"तं यथायथोपासते तदेव भवति" यह श्रुति बताती है कि उस ईश्वर की जैसी-जैसी उपासना करते हैं वैसा ही फल मिलता है। इसी बातको कहते हैं—

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०९॥

अन्वय–तं यथा यथा उपासते तथा तथा फलं ईयुः । फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।

अर्थ–उस परमेश्वर की जिस-जिस प्रकार से उपासना करते हैं उसी-उसी प्रकार से फल मिलता है । फिर फल की विषमता का क्या कारण है ? कहते हैं कि पूज्य (अधिष्ठान देवता) और पूजा (अर्चा) के सात्विक आदि भेदों के कारण, पूज्य और पूजा के अनुसार ही, फल की न्यूनाधिकता होती है ॥२०९॥

मुक्ति तो, ज्ञान के बिना, किसी की भी पूजा से नहीं होती–यह बताते हैं:–

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ।२१०।

अन्वय–मुक्तिः तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानात् एव; च अन्यथा न । यथा स्वप्रबोधं बिना स्वस्वप्नः न एव हीयते ।

अर्थ–मुक्ति तो ब्रह्मतत्व के ज्ञान से ही होती है; और किसी प्रकार से मुक्ति नहीं होती । जैसे, अपने जागने के बिना अपनी निद्रा में कल्पित स्वप्न का निराकरण नहीं होता; ऐसे, ब्रह्मतत्वज्ञान के बिना अपना संसार नहीं हटता ॥२१०॥

द्वैतनिवृत्तिरूपा मुक्ति, स्वप्न की भान्ति, तत्त्वबोध से सिद्ध नहीं हो सकती ? क्योंकि निवृत्तियोग्य द्वैत, स्वप्न के समान नहीं हो सकता-इस आशंका का उत्तर देते हैं:–

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

अन्वय—ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकं अखिलं जगत् अयं अद्वितीयब्रह्मतत्वे स्वप्नः ।

अर्थ—ईश्वर जीव आदि रूप से जो जड़-चेतन स्वरूप समग्र जगत् है वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व में स्वप्न ही है ।

"त्रयमेतत् सुषुप्तं स्वप्नमायामात्रम्" अर्थात् "यह (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) तीनों सुषुप्ति है और स्वप्नमायामात्र है" श्रुतिमें यह कहा है; वस्तुतः यह जगत् क्या है ? अद्वितीय ब्रह्म को ही तो अन्यथा समझ लिया गया है अर्थात् जगत् स्वप्न तुल्य ही तो है !

ईश्वर और जीव तो ब्रह्म से अभिन्न हैं, फिर वे जगत् के अन्तर्गत क्योंकर माने जाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं:-

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥

अन्वय—आनन्दमयविज्ञानमयौ ईश्वरजीवकौ एतौ मायया कल्पितौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।

अर्थ—आनन्दमय और विज्ञानमय ही क्रमशः ईश्वर और जीव हैं और दोनों माया से कल्पित हैं तथा इन दोनों ने सम्पूर्ण जगत् कल्पित कर डाला है । इस प्रकार ये दोनों जगत् के अन्तर्गत हैं ।

ईश्वर और जीव में से किसने कितना जगत् बनाया है ? यह बताते हैं:-

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।

जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥

अन्वय–ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता; जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः ।

अर्थ–("स ईक्षत लोकान्नु सृजै" ऐत० १-२) 'मैं लोकोंकी रचना करू' इस ईक्षण से लेकर "एतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० ३-१२) "मूर्धा के इस छिद्रभूत द्वार द्वारा जीवरूप से शरीर में प्रविष्ट हुआ" इस प्रवेश तक बताने वाली श्रुति से प्रतिपादित सृष्टि तो ईश्वर ने रची है और ('तस्य त्रय आवसथाः-ऐत० ३-१२) 'इस चिदाभासरूप जीव की "जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं हैं" से लेकर ('स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्'-ऐत० ३-१३) "उस जीव ने इस आत्मारूप पुरुष को ही पूर्णब्रह्म के रूप में देखा"-इस श्रुति तक वर्णित, जाग्रत् से लेकर विमोक्ष पर्यन्त संसार, जीव का बनाया हुआ है ॥२१३॥

परन्तु जब केवल ब्रह्म ही परमार्थतत्त्व है तो जीव और ईश्वरके विषय में विवाद ही क्यों खड़ा होता है ? इसका उत्तर देते हैं:—

अद्वितीयं ब्रह्मतत्वमसङ्गं तन्न जानते ।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

अन्वय–तत् अद्वितीयं असंगं ब्रह्मतत्वं न जानते, (अतः), मायिकयोः जीवेशयोः वृथा एव कलहं ययुः ।

अर्थ—क्योंकि उस अद्वितीय और असंग ब्रह्मतत्त्व को नहीं पहचानते इसलिए मायाकल्पित जीव और ईश्वर के विषय में, वे, व्यर्थ ही विवाद करते हैं ॥२१४॥

फिर उन अज्ञानियों को समझाते क्यों नहीं? इसलिए कि:—

ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ।२१५।

अन्वय--तत्वनिष्ठान् ज्ञात्वा वयं सदा अनुमोदामहे । अन्यान् अनुशोचामः एव; भ्रांतैः सह न विवदामहे ।

अर्थ–तत्त्वनिष्ठों अर्थात् मुक्त पुरुषों को देखकर तो हम मुदिता-वृत्ति से स्वयं भी प्रसन्न होते हैं; अन्य, जिज्ञासु और विषयी पुरुषों को, देखकर हमें उनके प्रति अनुशोच की कारणभूत करुणा* और मैत्री उत्पन्न होती हैं परन्तु जो भ्रान्त (पामर)+ हैं उनके साथ हम विवाद में नहीं पड़ते ।

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियां हैं उनका विभागशः वर्णन करते हैं

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥

---

*जिसके प्रति करुणा होती है उसके प्रति अनुशोच होता है जैसे दयालु पुरुष को; इसलिए करुणा अनुशोच की कारण है; जिसके साथ मैत्री होती है उसका दुःख देखकर अनुशोच हो जाता है जैसे भीष्मादिके साथ मित्रता होनेसे ही अर्जुन को अनुशोच हुआ था । इस प्रकार मैत्री भी अनुशोच का कारण है । इसलिए यहां अनुशोच शब्द से उसके कारण करुणा और मैत्री का ग्रहण है ।

+पामर तीन प्रकार होते हैं—१. उत्तम पामर वे जो शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्र में श्रद्धा के अभाव के कारण नास्तिक हैं । २. मध्यम पामर वे जो शास्त्र को जानते भी नहीं और शास्त्र के वाक्य में विश्वास भी नहीं रखते अतएव स्वेच्छाचारी हैं । ३. कनिष्ठ पामर वे जो शास्त्र में विश्वास रखते हुए भी अज्ञान के कारण स्वेच्छाचारी हैं । ये सब बहिमुख हैं अतएव भ्रान्त हैं ।

अन्वय--तृणाचकादियोगान्ताः ईश्वरे भ्रान्ति आश्रिताः लोकायतादिसांख्यांताः जीवे विभ्रान्ति आश्रिताः ।

अर्थ–तृण, ईट आदि के पूजकों से लेकर योगपर्यन्तवादियों को 'ईश्वर' के विषय में भ्रान्ति है और लोकायत से लेकर सांख्यवादियों तक को 'जीव' के विषय में भ्रान्ति है ।।२१६।।

वे भ्रान्त क्यों कहलाते हैं ? इसलिए कि–

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।

अन्वय--अद्वितीयब्रह्मतत्वं यदा न जानन्ति तदा अखिलाः भ्रान्ताः एव । तेषां क्व मुक्तिः ? इह वा क्व सुखम् ? ।

अर्थ–जब वे अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानते तो वे सब भ्रान्त ही हैं । उनकी मुक्ति कहां ? और उनको इस लोक में भी सुख कहां ? जिस पक्ष को वे ग्रहण कर लेते हैं उसके प्रतिपादन का हठ करते हैं अतएव उनका चित्त स्थिर नहीं होता और फिर इस लोक में भी सुख कहां मिल सकता है ? ।।२१५।।

ठीक है; पर ब्रह्मविद्या के न होते हुए भी उनमें अन्य विद्याओं के कारण ऊंचनीचपना तो देखने में आता ही है ! इसलिए उनमें उत्तमता का कुछ सुख तो वादियों को होगा ही ? इसका उत्तर देते हैं:–

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥

अन्वय–तेषां उत्तमाधमभावः चेत् स्यात्, अस्तु तेन किम् ? स्वप्नस्थ-

राज्य भिक्षाभ्यां बुद्धः खलु न स्पृश्यते ।

अर्थ—यदि उन वादियों में ऊंचनीचभाव हो तो हो, इससे मुमुक्षु को क्या लाभ ? देखते नहीं हो कि सुपने में राज्य मिले या भीख मांगनी पड़े; उससे जागे हुए मनुष्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। उनसे तो वह अछूता ही रहता है। ऐसे ही, उत्तमाधम-भाव का मुमुक्षु को लाभालाभ नहीं होता ।।२१८।।

अब इस विषय का उपसंहार करते हैं:-

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ।।

अन्वय—तस्मात् मुमुक्षुभिः जीवेशवादयोः मतिः न एव कार्या । किन्तु ब्रह्मतत्वं विचार्य च तत् बुध्यताम् ।

अर्थ—इसलिए मुमुक्षुजनों को चाहिए कि वे जीव और ईश्वर सम्बन्धी वादों की उलझन में न फंसें; अपितु श्रुति के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करें और उसे जानें ।।२१९।।

परन्तु ब्रह्मतत्त्व का निश्चय करने के लिए यह भी तो आवश्यक है कि हेय-रूप में जीव और ईश्वर के स्वरूप को जाना जाय ? इसके विषयमें बतलाते हैं:-

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ।।

अन्वय—पूर्वपक्षतया तौ तत्वनिश्चयहेतुतां प्राप्नुतः चेत् अस्तु; एतावता अवशः तयोः न निमज्जस्व ।

अर्थ—यदि वे (जीवेश्वरवाद) पूर्वपक्ष के रूप में तत्त्वनिश्चय के

हेतु बनें, तो बनें; परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विवेक-शून्य होकर उन वादों में ही डूबा रहे ।।२२०।।

सांख्य और योग में तो शुद्ध-चेतनरूप ही जीव और ईश्वर का वर्णन है तुम अद्वैतवादी भी उनको वैसा ही मानते हो तो फिर उनके वर्णित जीव-ईश्वर तो पूर्वपक्ष नहीं हैं न ? इस शंका का वर्णन करते हैं:—

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ।।

अन्वय—सांख्योक्तः जीवः असंगचित् विभुः, तादृक् ईश्वरः योगोक्तः । तौ शुद्धौ च तत्वमोः अर्थौ इति चेत् ? शृणु ।

अर्थ—सांख्य का बताया जीव असंगचेतन और व्यापक है और वैसा ही ईश्वर योग ने बताया है । वे ही शुद्ध जीव और ईश्वर 'तत् और 'त्वं' पदों के अर्थ हैं; फिर उन्हें पूर्वपक्ष क्यों कहते हो ? इस का उत्तर सुनोः—

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ।२२२।

अन्वय—तत्त्वमोः उभौ अर्थौ अस्मत्सिद्धान्ततां न गतौ; अद्वैत-बोधनाय एव सा काचित् कक्षा इष्यते ।

अर्थ—'तत् और 'त्वं' के (उनके) वे दोनों अर्थ हमारे सिद्धांत तक नहीं पहुंचे ! [वे इन दोनों में वास्तविक भेद मानते हैं; हम उस भेद को तात्त्विकरूप से स्वीकार नहीं करते ।] हमने यदि कहीं

कूटस्थ और ब्रह्म शब्दों से 'तत्' 'त्वं' को भिन्न-भिन्न बतलाया भी है तो अद्वैत का ज्ञान कराने के लिए ही, उस रीति का कहीं-कहीं अवलम्बन किया गया है। लोकप्रसिद्ध भेद का निषेध करके उन 'तत्' 'त्वं' की एकता का प्रतिपादन करने के लिए उन पदों के अर्थ अलग-अलग समझाये गये हैं; उनमें कोई वास्तविक भेद है— ऐसा प्रतिपादन करना लक्ष्य नहीं है ॥२२२॥

उन पदों के अर्थों के शोधन का प्रयोजन बताते हैं :—

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ॥
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥

अन्वय—अनादिमायया भ्रान्ताः जीवेशौ सुविलक्षणौ मन्यन्ते। केवलं तद्व्युदासाय तयोः शोधनम्।

अर्थ—अपने ही आश्रय को व्यामोह में डाल देने वाली अनादि अविद्या के प्रभाव से विपरीतज्ञानी बने लोग (भ्रान्ति से) जीव और ईश्वर को अत्यन्त भिन्न समझते हैं (वे कर्ता आदि रूप में जीव को और सर्वज्ञ आदि रूप में ईश्वर को वास्तविक मानते हैं); केवल, उनकी उस भ्रान्ति को हटाने के लिए ही, इन ('तत् त्वं') पदों के अर्थों का शोध किया गया है ॥२२३॥

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः।
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः। २२४।

अन्वय—अतः एव अत्र घटाकाश-महाकाश-जलाकाश-अभ्रखात्मकः योग्यः दृष्टान्तः प्राक् सम्यक् ईरितः।

अर्थ–क्योंकि हमें 'तत्' 'त्वं' पदार्थों का शोधन करना है, इन का शुद्धरूप दिखाना है, इसलिए हमने घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश का उचित दृष्टांत पहले (१८ वें श्लोक में) दिया है।

पदार्थशोधन की रीति का वर्णन करते हैं:–

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ।२२५।

अन्वय–ते जलाकाशाभ्रखे, जलाभ्रोपाध्यधीने; तयोः आधारौ घटाकाशवहाकाशौ तु सुनिर्मलौ।

अर्थ–देखो, जलाकाश और मेघाकाश तो क्रमशः जल और मेघरूप उपाधियों के अधीन हैं (इसलिए वे दोनों अपारमार्थिक हैं) और उनके आधारभूत, घटाकाश एवं महाकाश सुनिर्मल हैं-वे तो जलादि उपाधि की अपेक्षा से रहित, केवल आकाश ही आकाश, हैं ॥२२५॥

इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं:–

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

अन्वन–एवं आनन्दविज्ञानमयौ मायाधियोः वशौ; तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले।

अर्थ–ऐसे ही आनन्दमय ईश्वर और विज्ञानमय जीव तो क्रमशः माया और बुद्धिरूप उपाधियों के वशवर्ती हैं और उनके अधिष्ठान, कूटस्थ और ब्रह्म, सर्वथा निर्मल हैं ॥२२६॥

परन्तु पदार्थ शोधन में उपयोगी होते हुए भी सांख्ययोगमत्त मानने योग्य नहीं

हैं, क्योंकि--

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ।
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७॥

अन्वय--एतत्कक्षोपयोगेन यदि सांख्ययोगौ मतौ, अन्नमयकक्षत्वात् देहः आत्मत्वेन अभ्युपेयताम् ।

अर्थ--यदि दोनों पदार्थों के शोधन की दिशा में कुछ उपयोगी हो जाने से सांख्य और योग मत को मान लें। तो, फिर अन्नमय कोश की शोधनदिशा में उपयोगी होने से देह को भी आत्मा मानना पड़ेगा ॥२२७॥

सांख्ययोग का वेदान्तमत से भेद कहां है ?

आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ।२२८।

अन्वय--आत्मभेदः, जगत् सत्यं, ईशः अन्यः, इति त्रयं तैः त्यज्यते चेत् तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ।

अर्थ--आत्मा भिन्न-भिन्न, अनेक हैं; जगत् सत्य है; (ये दोनों मत सांख्ययोग दोनों के हैं) और ईश्वर जीव एवं जगत् से भिन्न है (यह योग का मत है) इन तीनों मतों को जब सांख्य और योगवादी छोड़ देंगे तब वेदान्त के साथ उनकी सहमति सम्भव है ॥२२८॥

जीव की असंगता के ज्ञान से ही जब मुक्ति की सिद्धि हो जाती है तब अद्वैतबोध से क्या लाभ है ? इस आशंका को मन में रख कर कहते हैं :—

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ।

स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥

अन्वय-- जीवः असंगत्वमात्रेण कृतार्थः इति चेत् तदा स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेण अपि कृतार्थता ।

अर्थ–यदि यह मानो कि जीव तो केवल असंगता (के ज्ञान) से ही कृतकृत्य हो जाता है; (उसे अद्वैतज्ञान से क्या लाभ है ?) तो कृतार्थता माला, चन्दन आदि को नित्य मान लेने से भी हो सकती है। यदि कोई स्रक् आदि भोगों को नित्य मान बैठे तो क्या वह कृतकृत्य हो जायगा ? कभी नहीं ॥२२९॥

इसी के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं:—

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः ।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ।२३०।

अन्वय--यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसम्पाद्यं तथा जगदीशयोः जीवतोः आत्मनः असंगत्वं न सम्भावव्यम् ।

अर्थ–जिस प्रकार माला आदि की नित्यता को सिद्ध करना कठिन अथवा असम्भव है ऐसे ही जब तक जगत् और ईश्वर जीवित हैं—जब तक वे दोनों किसीको क्रमशः विशेष्य एवं विशेषण रूप से भासते हैं, तब तक उसको–आत्मा की असंगता का ज्ञान होना असम्भव है ॥२३०॥

इस असम्भावना को स्पष्ट करते हैं:—

अवश्यं प्रकृतिः संगं पुरेवापादयेत्तथा ।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥

अन्वय—प्रकृतिः पुरा इव अवश्यं संगं आपादयेत् । तथा एतं ईशः अपि नियच्छति । तथा सति अस्य कः मोक्षः ।

अर्थ—यह प्रकृति पहले की भान्ति ही, अवश्य ही उसमें संग को पैदा कर देगी और ईश्वर भी उस पर अपना शासन पूर्ववत् रखेगा,जीव को ईश्वर की प्रेरणा भी बनी रहेगी । इस प्रकार संग और प्रेरणा के बने रहते इस जीव का मोक्ष ही क्या होगा ? अर्थात् जगत् और ईश्वर के रहते, (अद्वैत ज्ञान हुए बिना) असंगता का ज्ञान होना असम्भव है ।।२३१।।

इस पर वादी का एक आक्षेप व उसका उत्तर :—

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत्तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥

अन्वय—संगः च नियमः अविवेककृतः इति चेत् तदा दुर्मतेः सांख्यस्य बलात् मायावादः आपतितः ।

अर्थ—यदि वादी यह कहे कि संग और प्रेरणा (नियमन) तो अविवेक के कार्य हैं; [इसलिए विवेकज्ञान से अविवेक की निवृत्ति होने पर पुनः संग आदि की उत्पत्ति क्यों होगी ?] तब तो दुर्मति सांख्यवादी न चाहता हुआ भी बलात् मायावादी हो गया !

प्रश्न यह है कि अविवेक को—विवेक का अभावरूप, विवेक से अन्यरूप या विवेक--विरोधी भावरूप-इन तीनों रूपों में से किस रूप में मानोगे ? अभावरूप तो वह सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि अभावमात्र से भावरूप संग या नियम की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी ।

विवेक से भिन्न अन्य विवेक भी वह सिद्ध नहीं होता क्योंकि विवेक से भिन्न दूसरा और कोई घटादि संग का हेतु नहीं देखा गया। अन्त में यदि उसे भावरूप अज्ञान मानो तो इसी को मायावाद कहा जायगा ॥२३२॥

बन्धमोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि के लिए आत्माओं का भिन्न-भिन्न मानना भी ठीक नहीं; यह कहते हैं :-

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ।

अन्वय-बन्धमोक्षव्यवस्थार्थं आत्मनानात्वं इष्यतां इति चेत् न; मायाव्यवस्थापयितुं क्षमा ।

अर्थ-"(अद्वैतमानने से) बन्धमोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती इसलिए आत्माओं को नाना मानना चाहिए" ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि माया से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सम्भव है। आत्मा के एक होने पर भी माया बन्धमोक्ष को व्यवस्थित कर लेगी।

वह माया बन्धमोक्ष की व्यवस्था कैसे कर सकती है ? इसका उत्तर देते हैं :-

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥

अन्वय-दुर्घटं घटयामि इति विरुद्धं किं न पश्यसि ? वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिः न सहतेतराम् ।

अर्थ-"जो बात दुर्घट है (असम्भव है) उसे मैं कर देती हूँ" उसके इस विरोधी स्वभाव को क्या तुम नहीं देखते ? (और, बन्ध

अविद्याजन्य है तो मोक्ष वास्तविक मानना होगा यह शंका मत करो क्योंकि) सच्चे बन्ध और मोक्ष को श्रुति सहती ही नहीं। श्रुति, बन्ध की भान्ति मोक्ष को भी सत्य (वास्तविक) नहीं मानती ।।२३४।।

इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण दिखाते हैं :-

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।२३५।

अन्वय- न निरोधः, च, न उत्पत्तिः; न वद्धः, च, न साधकः; न मुमुक्षुः, वै, न मुक्तः इति एषा परमार्थता।

अर्थ—श्रुति कहती है कि इस आत्मा का न कभी नाश होता है न यह कभी उत्पन्न होता है (देह के सम्बन्ध में आता है); न इसका बन्धन (सुख दुःखदि सम्बन्ध) होता है; न यह कभी साधक (श्रवण मनन आदि साधनों का कर्ता) होता है, न मुमृक्षु (साधन चतुष्टयसम्पन्न) बनता है : और यह कभी मुक्त (अविद्या रहित) भी नहीं होता; यही परमार्थता है कि इनमें से कोई भी बात वस्तुतः नहीं होती ।।२३५।।

इस प्रकार मायामय जीवेश्वर के भेद का प्रतिपादन कर इस विषय की समाप्ति करते हैं :-

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ।।२३६।।

अन्वय—मायाख्यायाः कामधेनोः जीवेश्वरौ उभौ वत्सौ यथेच्छं द्वैतं पिबतां, तत्वं तु अद्वैतं एव हि।

अर्थ–माया नाम की कामधेनु के जीव और ईश्वर दोनों बछड़े हैं; ये द्वैतरूप दूध को भले ही, यथेच्छ, पीते रहें (द्वैत में मग्न रहें) पर तत्व तो, अद्वैत ही है--सिद्धान्त तो अद्वैत ही है ॥२३६॥

यदि कहो कि जीव और ईश्वर तो मायिक हैं उनका भेद मिथ्या रहे परन्तु कूटस्थ और ब्रह्म तो पारमार्थिक हैं उनका भेद भी पारमार्थिक होना चाहिए; इस का उत्तर देते हैं :—

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥

अन्वय–कूटस्थब्रह्मणोः भेदः नाममात्रात् ऋते न हि; घटाकाश-महाकाशौ क्वचित् हि न वियुज्येते ।

अर्थ–कूटस्थ और ब्रह्म का भेद तो नाममात्र के सिवाय कुछ भी नहीं है—उनका भेद तो कहने मात्र का ही है; जैसे घटाकाश और महाकाश दोनों एक दूसरे से कभी भी तो पृथक् नहीं होते : उनमें जैसे नाम मात्र का ही भेद है वैसे कूटस्थ और ब्रह्म का भेद भी नाममात्र का ही है ॥२३७॥

अब उपरोक्त रीति से भेद के मिथ्यात्व का समर्थन करने का फल दर्शाते हैं :—

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक् तदेवाद्य चोपरि ।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ॥

अन्वय–यत् अद्वैतं सृष्टेः प्राक् श्रुतं तत् एव अद्य च उपरि मुक्तौ अपि । माया अखिलान् जनान् वृथा भ्रामयति ।

अर्थ–"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति से

सृष्टि से पूर्व विद्यमान जिस अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वही अब सृष्टिकाल में भी और पीछे प्रलयकाल में तथा मुक्ति में भी रहेगा; इस प्रकार त्रिकालाबाधित होने से वह वास्तविक है– ब्रह्म में कोई भेद नहीं है । फिर सब हठात् भेद क्यों मानते हैं ? क्योंकि माया ने सब जनों को व्यर्थ में ही भ्रम में डाला हुआ है । तत्वज्ञान से रहित होने के कारण लोग हठात् भेद ही मानते रहते हैं ॥२३८॥

जो लोग प्रपंच को मायामय और तत्त्व की अद्वैतता को मानते हैं; वे भी संसारी वने दीखते हैं यह क्या बात ? फिर तत्वज्ञान का लाभ ही क्या हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं :–

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्ते विद्ययाऽत्र किम् ।
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात् ॥२३९॥

अन्वय–ये इत्थं वदन्ति एते अपि अत्र भ्राम्यन्ते, विद्यया किम् ? न, पूर्वं यथा एतेषां अत्र भ्रान्तेः अदर्शनात् ।

अर्थ–जो लोग (प्रपंच को मायामय और ब्रह्म तत्व को अद्वितीय) बताते हैं वे भी यहां भरमाये फिरते हैं--संसार में फंसे दीख पड़ते हैं तो तत्वज्ञान से क्या लाभ हुआ ? यह मत कहो क्योंकि इन लोगों को इस संसार के विषय में पहली सरीखी भ्रान्ति नहीं दीख पड़ती । प्रारब्धकर्मवश कितने ही ज्ञानी व्यवहार में भले ही फंसे रहें परन्तु पूर्व अज्ञानावस्था की भांति अब उनका व्यवहार में उतना आग्रह नहीं दिखाई पड़ता ॥२३९॥

अज्ञानी के निश्चय का वर्णन

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥

अन्वय--ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारः वास्तवः ततः अद्वैतं न भाति; च न अस्ति इति अज्ञानिविनिश्चयः ।

अर्थ–"स्त्री पुत्रादि का पोषणरूप ऐहिक तथा स्वर्गसुखादि का अनुभवरूप आमुष्मिक यह सब संसार वास्तव है; अद्वैत नाम की वस्तु न तो प्रतीत होती है, नांही वह है" यही अज्ञानी लोगों की धारणा है ॥२४०॥

तत्त्वज्ञानी के निश्चय का वर्णन

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोहं चेति मन्यते ।२४१।

अन्वय--ज्ञानिनां निश्चयः अस्मात् विपरीतः सम्यक् ईक्ष्यते । स्वस्वनिश्चयतः अहं बद्धः च मुक्तः इति मन्यते ।

अर्थ–ज्ञानी लोगों का निश्चय इससे विपरीत है जो स्पष्ट दीख पड़ता है : उन्हें अद्वैत के पारमार्थिक और संसार के अपारमार्थिक होने का निश्चय होता है । और अपने-अपने निश्चय के अनुसार अज्ञानी व ज्ञानी 'मैं बद्ध हूँ' अथवा 'मैं मुक्त हूँ'--ऐसा मानते हैं ॥२४१॥

'अद्वैत प्रतीत होता है' यह कथन तो शास्त्र के आधार पर ही तो है-- अनुभव के आधार पर नहीं; अतएव इसको निश्चय क्यों कर कह सकते हैं ?

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात्।
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥

अन्वय—अद्वैतं अपरोक्षं न चेत् ? न, चिद्रूपेणभासनात्। अशेषेण न भानं चेत् ? द्वैत किं अखिलं भासते ?

अर्थ—अद्वैत अपरोक्ष (अनुभव का विषय) नहीं है ऐसा मत कहो क्योंकि इसका चिद्रूप से भान होता है। 'घट स्फुरता अर्थात् भासता है' 'पट स्फुरता है' इत्यादि में घटादियों में अनुस्यूत स्फुरण द्वारा चिद्रूप से अद्वैतचेतनतत्त्व की प्रतीति सबको सब पदार्थों में हो रही है।

यदि यह कहो कि सम्पूर्ण अद्वैत का भान किसी को नहीं होता तो, ऐसे तो, सम्पूर्ण द्वैत का भी भान किसी को नहीं होता ।।२४२।।

इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष की तुल्यता दिखाकर अब परिहार की साम्यता दिखाते हैं :—

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु।
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ।२४३।

अन्वय—दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोः अपि खलु समम्। ते तावता द्वैतसिद्धिवत् अद्वैतसिद्धिः किं न ?

अर्थ—एक देश का भान हो जाना तो-द्वैत-अद्वैत-दोनों पक्षों में समान है। जैसे तुम द्वैत के किसी एक देश को देखकर सम्पूर्ण द्वैत को सिद्ध मान लेते हो, वैसे ही अद्वैत के एक देश को जान कर सम्पूर्ण अद्वैत का निश्चय क्यों नहीं होगा ? होगा ही । जैसे

पकते चावलों में से एक को पका देखकर सब के पक जाने का निश्चय होता है-(इसी को स्थालीपुलाक न्याय कहते हैं) वैसे ही एक गृह के आकाश की असंगता आदि को देखकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आकाश की असंगता आदि का निश्चय होता है ॥२४३॥

अब पूर्वपक्षी अन्य प्रकार से अद्वैतासिद्धि की आशंका करता है :—

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्याद्वैतस्य तोऽसमे उभे ॥

अन्वय—द्वैतेन हीनं अद्वैतं इदं द्वैतज्ञाने तु कथम् ? चिद्भानं तु अस्य द्वैतस्य अविरोधी अतः उभे असमे ।

अर्थ—पूर्वपक्षी कहता है कि द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं तो फिर द्वैत का विरोधी अद्वैत ज्ञान, द्वैतज्ञान के रहते कैसे सम्भव है ?

यदि तुम यह कहो कि ऐसे तो हम यह कह सकते हैं कि अद्वैत का ज्ञान रहते द्वैत का ज्ञान कैसे होगा ? अतएव हमारी-तुम्हारी शंका तुल्य है । इसका उत्तर पूर्वपक्षी देता है कि तुम्हारे मत में चिद्रूप की प्रतीति ही अद्वैत की प्रतीति है, वह चिद्रूप प्रतीति द्वैत की विरोधी नहीं है; इसलिए हम दोनों की शंका एक समान नहीं है ॥२४४॥

सिद्धान्ती उक्त शंका का उत्तर देते हैं :—

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥२४५॥

अन्वय—एवं तर्हि शृणु; द्वैतं असत् मायामयत्वतः; तेन परिशेषात् वास्तवं अद्वैतं विभासते ।

अर्थ—पूर्वोक्त शंका का उत्तर सुनो; द्वैत असत् है, क्योंकि वह मायामय है; अतएव परिशेष से वास्तविक अद्वैत ही भासित होता है। [प्राप्तों का प्रतिषेध करते-करते जहां अन्त में वह लागू नहीं होता हो, उसको सत्य मान लेना 'परिशेष' कहलाता है। "प्रसक्त-प्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः।] ॥२४५॥

परिशेष को यहां घटाकर दिखाते हैं :—

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ।२४६।

अन्वय—'अचिन्त्यरचनारूपं सकलं जगत् माया एव' इति निश्चित्य वस्तुत्वं अद्वैते परिशेष्यताम् ।

अर्थ—यह जगत् तो ऐसे रूपवाला है कि उसकी रचना कुछ समझने में नहीं आती; अतएव यह माया (मिथ्या) ही है। इसप्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत को मिथ्या निश्चित कर अद्वैत में सत्यता है—यह परिशेष से समझ लेना चाहिए ॥२४६॥

अद्वैत का निश्चय हो जाने पर भी पुनः द्वैत की सत्यता प्रतीत होती है, तो क्या करें ?

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद ॥२४७॥

अन्वय—पुनः द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्, त्वं तथा पुनः परिशीलय

तेन ते अत्र कः वा प्रयासः ? वद ।

अर्थ–यदि पुनः द्वैत की सत्यता प्रगट होती है, तो फिर विचार कर; इस प्रकार विचार करने में भला क्या परिश्रम होगा ? [यही बात व्यास ने वेदान्त दर्शन के चतुर्थाध्याय के 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्र में कही है कि आत्मा का श्रवणादि बार-बार करते रहना चाहिए । [द्वैत वासनाएं साधक पर बार बार आक्रमण करेंगी । अतएव उसे चाहिए कि वह विवेक को दोहराता रहे ।]

यह विचार कब तक चालू रखना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं :–

कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥

अन्वय–कियन्तं कालं इति चेत् ? अयं खेदः द्वैते इष्यतां, अद्वैते तु अयं न युक्तः सर्वानर्थनिवारणात् ।

अर्थ–"यह विचार कब तक करें ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कष्ट द्वैत में ही इष्ट है, अद्वैत में तो यह कष्ट करना उचित नहीं है क्योंकि तब तो सम्पूर्ण अनर्थ ही निवृत्त हो जाते हैं !

इसी प्रकरण के १५वें श्लोक में बता आये हैं कि प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त हो जाने पर विचार स्वमेव समाप्त हो जाता है; (तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते) ॥२४८॥

अद्वैत को समझ लेने पर भी भूखप्यास की प्रतीति क्यों ?

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥

अन्वय--क्षुत् पिपासादय मयि यथापूर्वं दृष्टाः इति चेत् ? मच्छ-ब्दवाच्ये अहंकारे दृश्यतां, न इति कः वदेत् ।

अर्थ--अद्वैत आत्मा को प्रत्यक्ष जानकर भी मुझ में भूख प्यास आदि पहले की भान्ति दीखते हैं तो फिर आत्मज्ञान को अनर्थ का निवर्तक कैसे मानें ? इसका उत्तर देते हैं कि वे भूख प्यास मत् शब्द के वाच्य अहंकार में दीखते हैं; उसमें भी नहीं दिखाई दें यह कौन कहता है ? भावार्थ यह है कि 'मैं' के दो अर्थ हैं--एक अहं-कार' दूसरा 'चिदात्मा' । चिदात्मा तो असंग और क्षुधा आदि का अविषय है; इसलिए ये भूख-प्यास 'अहंकार' में ही हैं--ऐसा मानते हैं ॥२४९॥

पुनः शंका

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु मर्वदा ॥

अन्वय--तादात्म्याध्यासतः यदि चिद्रूपे अपि प्रसंज्येरन् ? त्व अध्यासं मा कुरु किन्तु सर्वदा विवेकं कुरु ।

अर्थ--चिदा मा में वस्तुतः भूख-प्यास न हों तो न हों किन्तु तादात्म्याध्यास अर्थात् भ्रान्ति से जब चिदात्मा में भी भूख आदि प्राप्त हों तो क्या करें ? इसका उत्तर देते हैं कि जब ऐसा हो तो अध्यास को मत करो; अध्यास की निवृत्ति के लिए सदा विवेक को करो ॥२५०॥

विवेक की आवृत्ति ही एक मात्र उपाय

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।

आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥२५१॥

अन्वय-दृढवासनया झटिति अध्यासः आयाति-इति चेत् ? दृढं वासयितुं सदा विवेकं च आवर्त्तयेत्।

अर्थ-यदि अनादिकाल की दृढ वासनाओं के कारण गया हुआ अध्यास बारबार लौटकर आता हो तो, विवेकवासनाओं को दृढ़ करने के लिए सदा विवेक की आवृत्ति करनी चाहिए : अध्यास की निवृत्ति के लिए दूसरा कोई और उपाय नहीं है ॥२५१॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम्।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥

अन्वय-विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्या एव इति न भण्यतां, हि, अचिन्त्यरचनात्वस्य अनुभूतिः स्वसाक्षिकी।

अर्थ-यह कहना भी उचित नहीं है कि विचार से द्वैत की मायारूपता युक्ति से ही सिद्ध हो जायगी तो अनुभव का क्या काम है ? क्योंकि अचिन्त्यरचनारूप मिथ्यात्व का अनुभव स्वसाक्षिक है--उसका साक्षी अपना आत्मा ही है; अन्य नहीं हो सकता। द्वैत की रचना का चिन्तन भी नहीं हो सकता' यह प्रत्येक का अपना ही अनुभव है ॥२५२॥

आचिन्त्यरचनात्व यदि मिथ्यात्व का लक्षण हो तो वह चिदात्मा में भी अतिव्याप्त है ? इस शंका का वर्णन एवं समाधान करते हैं :-

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम्।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमोनित्यत्वकारणात् ॥

अन्वय–चिदपि अचिन्त्यरचना यदि ? तर्हि अस्तु; वयम् सुचिन्त्यरचनारूपं नो ब्रूमः; नित्यत्वकारणात् ।

अर्थ–यदि यह कहा जाय कि चिदात्मा की रचना भी अचिन्त्य है तो फिर मिथ्या क्यों नहीं ? उत्तर देते हैं कि आत्मा अचिन्त्यरचनावाला हो तो हो; नित्य पदार्थों की तो रचना ही नहीं होती । और जो प्रागभाव से युक्त हो तथा साथ ही अचिन्त्यरचनारूप हो वही हमारे मत में मिथ्या पदार्थ है--चिति तो नित्य है; वह प्रागभाव से युक्त नहीं है ॥२५३॥

चिति का नित्यत्व कैसे है ?

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४॥

अन्वय–चितेः प्रागभावः न अनुभूतः; ततः चितिः नित्या । द्वैतस्य प्रागभावः तु चैतन्येन अनुभूयते ।

अर्थ–क्योंकि चिति का प्रागभाव किसी के अनुभव में नहीं आता इसलिए चिति नित्य है ।

जो यह कहो कि चेतन का प्रागभाव है, उससे पूछो कि चेतनके प्रागभावको कौन अभुभव करता है ? चेतन वा अन्य (जड़)? अन्य तो जड़ होने से अनुभव नहीं कर सकता । यदि चेतन अनुभव करता है तो वह चेतन स्वयं है अथवा अपने से भिन्न चेतन है ? अद्वैतमत में दूसरा चेतन है ही नहीं, यदि दूसरा चेतन मान भी लें तो भी चेतन

के प्रतियोगी+अभावको चेतन के अनुभव किये बिना अनुभव नहीं किया जा सकता; यदि यह मानो कि वह अनुभव का विषय है तो फिर वह घट आदि की भान्ति अचेतन हो जायगा ! यदि अपने प्रागभाव को अनुभव करने वाला स्वयं चेतन को ही मानो तो यह असम्भव है क्योंकि अपने अभाव को अपने आप कोई अनुभव नहीं कर सकता ।*

द्वैत के प्रागभाव को तो चैतन्य अनुभव करता ही है। जाग्रत् आदि द्वैत का अभाव सुषुप्ति में साक्षी से जाना जाता है। श्रुति में भी कहा है कि (तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी) अर्थात् अज्ञान का साक्षी और सब का साक्षी वह है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि जब द्वैत भी प्रमाता आदि अनेक प्रकार का है और द्वैत के प्रागभाव का अनुभविता दूसरा कोई न होने से चैतन्य की न्याईं द्वैत भी नित्य हो जायगा ।

अब द्वैत को मिथ्या सिद्ध करते हैं :—

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्र जालवत् ॥

+जिसका अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगीके ज्ञान के साथ-साथ अभाव का ज्ञान होता है यह नियम है। इसलिए चेतनरूप प्रतियोगी की प्रतीति के विना चेतन के अभाव की प्रतीति सम्भव नहीं। और चेतन की प्रतीति का अर्थ है, प्रतीयमान घटादि की भान्ति उसका जड़ होना।

*अपने अभाव के समय अपने आपकी अविद्यमानता होने से अपने अभाव का अपने आप से ग्रहण नहीं होता ।

अन्वय–प्रागभायुतं द्वैतं घटदिवत् रच्यते हि; तथापि रचना अचिन्त्या; तेन इन्द्रजालवत् मिथ्या।

अर्थ–प्रागभाव से युक्त होने के कारण द्वैत घट आदि के समान रचा तो जाता ही है; तथापि इसकी रचना अचिन्त्य है-- किसी की समझ में नहीं आती; इसलिए यह इन्द्रजाल के समान मिथ्या है। जो वस्तु रची जाय और उसकी रचना अचिन्त्य हो उसे 'मिथ्या' कहते हैं।

और, अद्वैत को अपरोक्ष न मानने में व्याघात दोष भी है

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।२५६।

अन्वय–चित् प्रत्यक्षा च ततः अन्यस्य मिथ्यात्वं अनुभूयते; च अद्वैतं अपरोक्षं न इति एतत् कथं न व्याहतम् ?

अर्थ–स्वप्रकाश होने से चिति तो नित्य और प्रत्यक्ष है ही; उससे अन्य जो द्वैत है उसका मिथ्यापन अनुभव होता है-- यह सिद्ध हो जाने पर भी, यह कहना कि 'अद्वैत का प्रत्यक्ष नहीं होता' वदतोव्याघातदोष से युक्त क्यों नहीं है ? सरासर व्याहत है ही ।।२५६।।

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम्।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥

अन्वय–इत्थं ज्ञात्वा अपि केचित् कुतः असन्तुष्टाः इति ईर्यताम् प्रबुद्धस्य चार्वाकादेः अपि देहः आत्मा कुतः वद।

अर्थ—इस प्रकार जानकर भी कुछ लोग क्यों असन्तुष्ट रहते हैं ? इसलिए कि देखो ऊहापोह में कुशल भी चार्वाक तथा अन्य पामर देहको आत्मा मानते ही चले जाते हैं; सो क्यों ? इसलिये न कि वे सम्यक् विचार नहीं करते । इसी प्रकार, ज्ञान हो जाने पर भी सम्यक् विचार के न होने से सन्तोष नहीं होता ॥२५७॥

वादी का उत्तर तथा सिद्धान्ती द्वारा प्रत्युत्तर

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ।
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥

अन्वय–अस्य धीदोषात् सम्यक्विचारः अस्ति इति चेत् ? तथा असन्तुष्टा. तु विशेषतः शास्त्रार्थं न तु ऐक्षन्त ।

अर्थ–यदि कहो कि चार्वाक आदि को तो बुद्धिदोष के कारण सम्यक् विचार होता ही नहीं तो हम कहेंगे कि ऐसे ही जो लोग असन्तुष्ट हैं वे भी बुद्धि दोष के ही कारण शास्त्र के अर्थ को विशेष रूप से नहीं देखते; इसलिए असन्तुष्ट रहते हैं ॥२५८॥

इस प्रकार तत्त्व का विचार करने के पश्चात् अब तत्वज्ञान के फल का विचार करने के लिए उसकी प्रतिपादिका श्रुति का पाठ करते हैं :—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः ।
इति श्रौतं फलं दृष्ट नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥२५९॥

अन्वय–अस्य हृदि श्रिताः ये कामाः सर्वे यदा प्रमुच्यन्ते । इति श्रौतं फलं न दृष्टं इति चेत् ? तत् दृष्टं एव ।

अर्थ–"जब इस मुमुक्षु के हृदय में स्थित इच्छारूप सब काम

छूट जाते हैं" यह फल केवल श्रुति में सुना ही है; देखा नहीं है-- ऐसा मत कहो : क्योंकि विद्वान् उस फल को निश्चय से अनुभव करते ही हैं।

उपरोक्त पूरा वाक्य इस प्रकार है:—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।' (कठ६-१४) अर्थात् जब मुमुक्षुके हृदय में स्थित तादात्म्याध्यास के कारण उत्पन्न हुए, इच्छादि काम तत्त्वज्ञान द्वारा अध्यास के हट जाने पर, निकल कर भाग जाते हैं तब ही यह, देह के साथ तादात्म्याध्यास के कारण, मरण स्वभाव, पुरुष, अध्यासके अभाव के कारण मरण-रहित हो जाता है; क्योंकि यह इस देह में ही ब्रह्म को भली भान्ति प्राप्त कर लेता है। तत्त्वज्ञानके फलकी प्रतिपादिका उद्धृत श्रुति का यह अर्थ है ॥२५६॥

"तत्वज्ञान का फल, कामनिवृत्ति दृष्ट ही है" इस बात को स्पष्ट करने के लिए श्रुति को उद्धृत कर उसका अर्थ करते हैं।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥

अन्वय—यदा सर्वे हृदयग्रन्थयः तु प्रभिद्यन्ते इति वाक्यशेषतः कामाः ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याताः।

अर्थ—'जब सब हृदय-ग्रन्थियां खुल जाती हैं'--इस वाक्य से श्रुति के पूर्व उद्धृत वाक्य में कामनाओं को "ग्रन्थि" कहा गया है। अर्थात् यहां ग्रन्थिभेदका अर्थ कामनिवृत्ति है तथा अहंकार एवं चिदात्मा के तादात्म्याध्यास की निवृत्तिरूप ग्रन्थिभेद अनु-

भव सिद्ध है ही । इसलिए श्रुति में तत्वज्ञान का जो फल, काम-निवृत्ति, बताया है वह प्रत्यक्ष ही है ॥२६०॥

परन्तु लोकमें तो 'काम', इच्छाका भेद ही है, उसे फिर श्रुतिमें 'ग्रन्थि' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर देते हैं :–

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥

अन्वय–अहंकारचिदात्मानौ अविवेकतः एकीकृत्य 'मे इदं स्यात्, मे इदं स्यात्' इति इच्छाः कामशब्दिताः ।

अर्थ–अहंकार और चिदात्मा को, (अध्यास के कारण), एक मानकर 'यह भी मुझे मिले' 'यह भी मुझे मिले' इत्यादि इच्छाएं करना ही काम कहलाती हैं : सब इच्छाओं का नाम 'काम' नहीं है। [इसलिए ऊपर उद्धृत कठश्रुति में काम का अर्थ ग्रन्थि है; इच्छा नहीं ।] ॥२६१॥

इसलिए जो इच्छाएं अध्यासमूलक नहीं हैं, वे बाधकाभाव के कारण, ग्राह्य ही हैं :–

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक्पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥

अन्वय–चिदात्मानं अप्रवेश्य अहंकृतिं पृथक् पश्यन् कोटिवस्तूनि इच्छन् तु ग्रन्थिभेदतः बाधः न ।

अर्थ–चिदात्मा को अहंकार में प्रविष्ट न कर (अर्थात् तादात्म्याध्यास से चिदात्मा का अहंकार में अन्तर्भाव न करके), अहंकार को चिदात्मा से पृथक् देखता हुआ, कोई चाहे करोड़ों वस्तुओं

की इच्छा करता रहे, ग्रन्थिभेद हो जाने के कारण उसके साक्षी आत्मा का अथवा बोध और मोक्ष का बाध नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि अध्यासमूलक कामनाएं ही त्याज्य हैं, सब नहीं। जो साधक इतने चतुर हो जाते हैं कि चिदाभास और अहंकार को कभी मिलने नहीं देते वे चाहे करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करते रहें, फिर भी उनके साक्षी आत्माके प्रत्यक्ष होने अथवा बोध और मोक्ष में कोई बाधा नहीं पड़ती।* ॥२६२॥

यदि अध्यास न होगा तो काम उदय ही नहीं होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः।

---

*श्री शंकराचार्य ने वाक्य-वृत्ति में अहंकार का त्रिविध तादाम्याध्यास बताया है। १. चिदाभास और अहंकार का तादात्म्य, सहज तादात्म्याध्यास है अहंकार और चिदाभास साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। २. वर्तमान देह के साथ अहंकार के तादात्म्य को कर्मज तादात्म्याध्यास कहा है। सब मनुष्य जीते जी ही 'मैं मनुष्य हूं' यह अनुभव करते हैं। प्रारब्ध कर्म-रूप उपाधि के नष्ट होने पर, देह के साथ-साथ तादाम्य भी नष्ट हो जाता है। इस-लिए देहपात के पश्चात् देह में अहंभाव की प्रतीति नहीं होती। ३. असंगसा-क्षीचेतन और अहंकार का तादात्म्य भ्रमज तादात्म्याध्यास है। तत्वज्ञान द्वारा जब भ्रान्ति हट जाती है तब तादात्म्य नहीं रहता और तब ज्ञानी को साक्षी में 'मैं कर्त्ता हूँ' मैं भोक्ता हूं' इत्यादि अभिमान भी नहीं होता।

इन तीनों में से सहज और भ्रमज की तो ज्ञानी में भी कभी ही प्रतीति होती है। फिर अज्ञान और भ्रान्ति की निवृत्तिके कारण भ्रमज तादात्म्य तो ज्ञानी को होता ही नहीं। इसलिए अहंकार के धर्म आभास-रूप इच्छादि के कारण पूर्व की भान्ति ज्ञानी के साक्षि-स्वरुप का बाध नहीं होता ।

बुद्ध्वापि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ।

अन्वय–ग्रन्थिभेदे अपि प्रारब्धदोषतः इच्छाः संभाव्याः । यथा बुध्वा अपि पापबाहुल्यात् तव असन्तोषः ।

अर्थ–ग्रन्थिभेद हो जाने पर भी प्रारब्धदोष के कारण, इच्छाओं का होना सम्भव है। जैसे, आत्मतत्व को समझ लेने पर भी पापों की अधिकता से अभीतक तुम्हारा असन्तोष बना ही हुआ है। अर्थात् प्रारब्धकर्म की प्रबलता से, अध्यासहीन ज्ञानी की भी, कामनायें बनी--परन्तु निर्वीर्य--रहती हैं ॥२६३॥

अध्यास के अभाव में अहंकारगत इच्छादि में से कोई बाधक नहीं होता, इस बात को दो दृष्टान्तों से समझाते हैं:—

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥

अन्वय–देहाव्याध्यादिभिः वा वृक्षादिजन्मनाशैः तथा अहंकारगतेच्छाद्यैः चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ?

अर्थ–जैसे देह की व्याधियों से या वृक्षादि के उत्पन्न अथवा नष्ट होने से अहंकार के साक्षी आत्मतत्व का बाध नहीं होता—उसका कुछ बिगड़ता नहीं, ऐसे ही ग्रन्थि भेद हो जाने पर, अहंकार में वर्तमान इच्छा आदि से, देहसंबन्धरहित, चित्रूप आत्मा का बाध नहीं होता।

भावार्थ यह है कि जैसे देह में हुए रोग आदि से, अहंकार के साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता, क्योंकि आत्मा का देह से कोई सम्बन्ध नहीं है; अथवा जैसे, वृक्षादि के जन्म आदि के द्वारा देह

और अहंकार के साक्षी का बाध नहीं होता; ऐसे ही अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर अहंकारगत इच्छा आदि धर्मों से भी साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता ।।२६४।।

चिदात्मा असंग है :—त्रिकाल में वह एक रूप ही है; इसलिए ग्रन्थिभेद से पहले भी तो कामादि से उसका बाध नही होगा ? इन शंकाका वर्णन करते हैं—:

ग्रन्थिभेदात्पुराप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ।२६५।

अन्वय—ग्रन्थिभेदात् पुरा अपि एवं इति चेत् ? तं न विस्मर; अयं एव तव ग्रन्थिभेदः तेन भवान् कृती ।

अर्थ—यदि कहो कि ग्रन्थिभेद होने से पूर्व भी इन काम आदि से आत्मा का बाध नहीं होता तो हमारा यह कहना है कि इस बात को मत भूल कि यह बोध हो जाना ही तो ग्रन्थिभेद है। यदि यह 'ग्रन्थि-भेद' हो गया तो उससे तुम सफल हो जाओगे ।

अभिप्राय यह है कि ग्रन्थिभेद से पहले भी कामादि से आत्मा का बाध नहीं होता यह जान लेना तो स्वयं ग्रन्थिभेद है । अतएव वादी की यह शंका सिद्धान्ती के मत के अनुकूल ही है ।।२६५।।

और ऐसा ज्ञान न होना ही तो ग्रन्थि (गांठ) है !

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः ।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ।।२६६।।

अन्वय—मूढा एवं न जानन्ति चेत् सः अयं ग्रन्थिः ; च अपरः न । ग्रन्थितद्भेदमात्रेण मूढबुद्धयोः वैषम्यम् ।

अर्थ–मूर्खों को ऐसा ज्ञान नहीं है–सो यह न जानना ही तो ग्रन्थि है--इसके अतिरिक्त ग्रन्थि किसी दूसरे पदार्थ का नाम नहीं है। मूढ और ज्ञानी में यही अन्तर है कि मूढ में तो यह ग्रन्थि लगी रहती है और ज्ञानी की ग्रन्थि का भेद हो जाता है, उसकी ग्रन्थि खुल जाती है।

अर्थात् यों तो इच्छादि ज्ञानी को भी होते हैं–इसलिए अज्ञानी और ज्ञानी का भेद ग्रन्थि के लगे रहने और उसका भेद होने में ही है ॥२६६॥

ग्रन्थिभेद के अतिरिक्त ज्ञानी में और कोई अन्तर नहीं है :—

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम्।
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः॥

अन्वय–देहेन्द्रियमनोधियां प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा अज्ञानिविबुद्धयोः किंचित् अपि वैषम्यं न अस्ति।

अर्थ–देह, इन्द्रिय मन और बुद्धि की विषयों में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के होने में ज्ञानी व अज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है ॥२६७॥

इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा।
नाहारदावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम्॥

अन्वय--व्रात्यश्रोत्रिययोः वेदपाठापाठकृतभिदा आहारादौ भेदः न अस्ति। सः अयं न्यायः अत्र योज्यताम्।

अर्थ–व्रात्य*और श्रोत्रिय में वेदपाठ करने न करने का ही

*१६ वर्ष तक जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कुमारों का यज्ञोपवीत

भेद है, खान-पान आदि का कोई भेद नहीं है; इसी न्याय को यहां भी लगा लेना चाहिए ॥२६८॥+

ज्ञानी की ग्रन्थिशून्यता में गीता का प्रमाण

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ।२६९।

अन्वय—"संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि निवृत्तानि न कांक्षति, उदासीनवत् आसीनः" इति ग्रन्थिभिदा उच्यते ।

अर्थ—"आये हुए दुःखों से तो ज्ञानी द्वेष नहीं करता और जाते हुए सुखों को चाहता नहीं; वह केवल उदासीन की भान्ति रहने लगता है ।" इसी को "ग्रन्थि-भेद' कहते हैं ॥२६९॥

उक्त वाक्य के अर्थ में शंका व उसका समाधान

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ॥

अन्वय—औदासीन्यं विधेयं चेत् ? तदा वच्छब्दव्यर्थता; अस्य देहाद्याः शक्ताः न इति चेत् सः रोगः एव ।

अर्थ—यदि कहो कि यह वाक्य तो उदासीनता का विधान करता है; (यह ग्रन्थिभेद का प्रमाण नहीं है) ऐसा मानें तो उक्त वाक्य में रखा 'वत्' शब्द व्यर्थ होगा : उदासीन ही कहना था तो 'वत्'

संस्कार और इसीलिए वेदाध्ययन भी नहीं हुआ हो उन्हें व्रात्य कहते हैं ।

+श्रोत्रिय वे ब्राह्मणादि हैं जो यज्ञोपवीत धारण करके षडंग, अर्थ एवं कर्मविधानसहित, अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करते हैं ।

क्यों कहा ? यदि कहो कि ज्ञानी के देहादि असमर्थ हो जाते हैं इसीलिए वह कार्य नहीं कर सकता, तब तो यह ज्ञान क्या हुआ ? एक रोग ही है जो ज्ञानी के शरीर को अशक्त कर देता है ।।२७०।।

तत्वबोध को रोग मानने में क्या हानि है ?

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ।।

अन्वय–ये महाधियः तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते तेषां प्रज्ञा अतिविशदा; तेषां किं दुःशकं वद ।

अर्थ–जो महाबुद्धिमान् तत्त्वबोध को क्षयरोग ही मानते हैं उनकी बुद्धि के विषय में क्या कहें ? वस्तुतः वह बड़ी निर्मल है ! ऐसे पुरुषों को क्या असाध्य है ? अभिप्राय यह है कि तत्वबोध को रोग मानना अत्यन्त हास्यास्पद है ।।२७१।।

पुराणोक्त भरतादि की अप्रवृत्ति की व्याख्या

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ।।

अन्वय–भरतादेः अप्रवृत्तिः पुराणोक्ता इति चेत् ? तदा जक्षन्, क्रीडन्, रतिं विन्दन् इति श्रुतिं किं न अश्रौषीः ?

अर्थ–यदि कहो कि भरत आदि की अप्रवृत्ति पुराणों में वर्णित है ? तो यह कहना श्रुति से अनभिज्ञताका सूचक है क्योंकि 'ज्ञानवान् खाता हुआ, खेलता हुआ, रतिलाभ करता हुआ' इस प्रकार की श्रुति को क्या तूने नहीं सुना है ?

छान्दोग्यनिषद् (८--१२--३) में निम्न वाक्य है--जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" इस श्लोक में 'रममाणः' की व्याख्या 'रतिं विन्दन्' से की गई है।

फिर पुराणों की कथा का क्या अर्थ करोगे ?

नह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित्।
काष्ठपाषाणवत्किन्तु सङ्गभीता उदासते ॥२७३॥

अन्वय–हि भरताद्याः आहारादि संत्यज्य काष्ठपाषाणवत् क्वचित् स्थिताः न, किन्तु संगभीताः उदासते।

अर्थ–पुराण में जड़भरत की कथा में भरत की अप्रवृत्ति का वर्णन नहीं है : भरत आदि आहार आदि को छोड़कर लकड़ी या पत्थर की भान्ति कहीं पड़ नहीं गये थे अपितु वे संगदोष लग जाने के डर से उदासीन रहते थे। वहां पुराणों का तात्पर्य उनकी उदासीनता दिखाने में ही है ॥२७३॥

संगत्याग का कारण बताते हैं :—

सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ।२७४।

अन्वय–हि लोके संगी बाध्यते निःसंगः सुखं अश्नुते। तेन सुखं इच्छता संगः सर्वदा परित्याज्यः।

अर्थ–लोक में संग करने वाले बन्धन में फंसे दीखते हैं और निःसंग आनन्द करता देखा गया है--इसलिए जो सदा सुख चाहता है उसे संग का परित्याग कर देना चाहिये ॥२७४॥

यदि यह कहो कि केवल मानस संग को ही त्याज्य मानो तो अन्तःसंग से शून्य और बाहरसे व्यवहारमें आसक्त जनों को लोग मूर्ख आदि क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं :—

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथाऽन्यथा ।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते ॥

अन्वय–मूढः शास्त्रहृदयं अज्ञात्वा अन्यथा अन्यथा वक्ति, मूर्खाणां निर्णयः तु आस्ताम्, अस्मत्सिद्धान्तः उच्यते ।

अर्थ–मूर्ख लोग शास्त्र के रहस्य को जाने बिना कुछ का कुछ कहते रहते हैं--उनके निर्णय को रहने दो; हम अपना सिद्धान्त बताते हैं । अभिप्राय यह है कि ज्ञानी को मूढ बताना तो मूर्खों का निर्णय है—उनकी बातों को जाने दो ॥२७५॥

शास्त्र का सिद्धान्त क्या है ? यह बताते हैं :—

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित् ॥

अन्वय–वैराग्यबोधोपरमाः ते परस्परं सहायाः प्रायेण सह वर्त्तन्ते क्वचित् क्वचित्; वियुज्यन्ते ।

अर्थ–वैराग्य, बोध और उपरति ये तीन परस्पर सहायक हैं; ये तीनों प्रायः एक साथ रहते हैं; कहीं-कहीं अलग भी हो जाते हैं ।*॥२७६॥

---

*शुक और वामदेव सरीखे प्रतिबन्धक कर्मरहित अनुकूल देशकालादियुक्त निवृत्ति वाले पुरुषोंमें तो ये तीनों प्रायः साथ साथ रहते हैं । और प्रतिबंधक-

ये तीनों यदि साथ साथ ही रहते हैं तो कहीं परस्पर अभिन्न तो नहीं हैं ?

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ।२७७।

अन्वय—हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नानि; शास्त्रार्थं प्रविविच्यता एषां असंकरः यथावत् अवगन्तव्यः ।

अर्थ—इन वैराग्य आदि के हेतु, स्वरूप और कार्य (फल) भिन्न-भिन्न हैं ; (इसलिए ये तीनों एक नहीं हैं) । शास्त्रार्थ का विवेक करने वाले को चाहिए कि वह इनके भेद (असंकर) को भली भांति समझले ।।२७७।।

वैराग्य के हेतु, स्वरूप और फल का वर्णन करते हैं :—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनत ।।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ।।

अन्वय—दोषदृष्टिः च जिहासा भोगेषु पुनः अदीनता, अमी त्रयः अपि वैराग्यस्य असाधारणहेत्वाद्याः ।

अर्थ—(विषयों में) दोषदृष्टि उनके त्याग की इच्छा और भोगों के प्रति दीनता का न रहना—ये तीनों वैराग्य के क्रमशः असाधारण कारण, स्वरूप और फल हैं× ।।२७८।।

कर्मसहित और प्रतिकूलदेशकालादियुक्त शास्त्रीय एवं लौकिक व्यवहारमें प्रवृत्ति रखने वाले पुरुषों में कहीं-कहीं परस्पर वियुक्त भी रहते हैं ।

×जन्म, मरण, बुढापा और व्याधि इनके कारण विषयोंमें दुःख और दोष

तत्वबोध के हेतु आदि का वर्णन करते हैं:—

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७६॥

अन्वय–श्रवणादित्रयं तद्वत् तत्वमिथ्याविवेचनं पुनः ग्रन्थेः अनुदयः एते त्रयः बोधस्य मताः ।

अर्थ–'श्रवण आदि तीन' तत्त्वज्ञान के हेतु; 'तत्त्व और मिथ्या का विवेक' तत्वज्ञान का स्वरूप और ग्रन्थिका पुनः उदय न होना' तत्वज्ञान का फल हैं ।

यहां श्रवणादि तीन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितव्यः" इस प्रकार श्रुति ने श्रवणादि को आत्मदर्शनका साधन बताया है। तत्त्व और मिथ्या के विवेचन का अर्थ कूटस्थ और अहंकारादिकों का भेद-ज्ञान है--यही तत्त्वज्ञान है। अन्योन्याध्यास की अनुत्पत्ति ही ग्रन्थि का अनुदय है–यह तत्वज्ञान का फल है ।×॥२७६॥

का बार-बार दर्शन (शास्त्र और अपने अनुभव के आधार पर आलोचना) करना दोषदृष्टि है। दोषदृष्टि से विवेकी पुण्यशील पुरुष तीव्र वैराग्य, मोक्ष की इच्छा और उनका सिद्धि की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार दोषदृष्टि वैराग्य का हेतु है ।

त्याग की इच्छा अथवा इच्छारहित होना वैराग्य का स्वरूप है । यह अनेक प्रकार का बताया गया है ।

अपने प्रयत्न के बिना, प्रारब्धवश प्राप्त धनादि विषयों को पुनः इष्ट बुद्धि से ग्रहण न करना ही अदीनता है; यही वैराग्य का फल है ।

× जैसे सूर्यदर्शनका साक्षात् हेतु आंख है ऐसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के

उपरति के हेतु आदि का वर्णन करते हैं:—

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

मुखसे सुने 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही साक्षात् ज्ञानके हेतु हैं परन्तु असम्भावना विपरीतभावनारूप प्रतिबन्ध को हटाने वाले होनेसे श्रवण आदि भी ज्ञान के हेतु हैं। (२) यद्यपि ब्रह्म-आत्मा के अभेद के निश्चय को तत्त्वबोध का स्वरूप कहा है, फिर भी, कूटस्थ और अहंकारादि का भेद-ज्ञानरूप ग्रन्थिभेद भी उससे भिन्न नहीं है। क्योंकि 'देहेन्द्रिय आदि से पृथक् मैं स्वप्रकाश असंग साक्षी चिद्रूप ब्रह्म हूँ' और 'प्रतीयमान भी यह प्रपंच मिथ्या है'—इस प्रकार की, संशय और विपरीतभावनासे रहित जो दृढ़ निश्चयरूप चित्तवृत्ति है वह तत्त्व और मिथ्या का विवेचनरूप परिपक्वनिष्ठा है। यही ब्रह्मात्मा का अभेद-निश्चय रूप तत्वबोध का स्वरूप है। (३) यों तो तत्वबोध का फल मोक्ष अर्थात् जन्मादि कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति और परमानन्दस्वरूपब्रह्म की प्राप्ति है; ग्रन्थिका पुनः अनुदय तत्वबोध का फल नहीं है। तथापि, अविद्या अन्योन्याध्यास की हेतु है और अन्योन्याध्यास जन्मादि अनर्थों का हेतु है। अन्योन्याध्यास की निवृत्ति अविद्या की निवृत्ति से ही होती है तथा अविद्या की निवृत्ति कूटस्थ और अहंकारादि के भेद-ज्ञान बिना नहीं होती; अतएव अविद्या की निवृत्ति का हेतु ग्रन्थिभेद अर्थात् तत्व और मिथ्या का विवेचन ही है। वह अविद्या की निवृत्ति जब तक दृढ़ नहीं होती तब तक अन्योन्याध्यास-रूप ग्रन्थि बार-बार उदय होती रहती है: ग्रन्थि के अनुदय से जन्म आदि अनर्थों की निवृत्ति होती है। बोध-रूप राजा अविद्या, उसके कार्य अध्यास, और अध्यास के कार्य जन्मादि को एक साथ ही निगलता है। यह कार्य-सहित अविद्या की निवृत्ति अधिष्ठान-रूप ही है: इसलिए ग्रन्थि का पुनः अनुदय ही मोक्ष है। वही तत्वबोध का फल है।

अन्वय—यमादिः, च धीनिरोधः, व्यवहारस्य संक्षयः, उपरतेः हेत्वाद्याः स्युः इति असंकर ईरितः।

अर्थ—यमादि अष्टांगयोग उपरति का हेतु है। बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोधरूप योग उपरति का स्वरूप है। और लौकिक-वैदिक व्यवहारों का सम्यक्क्षय अथवा विस्मरण उपरति का फल है।

यहां यमादि अष्टांग, यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और सविकल्पसमाधि—ये आठ हैं।

सविकल्प,निर्विकल्प समाधि के फलस्वरूप जो प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांच वृत्तियों का निरोध हो जाना है वही उपरति का स्वरूप है।

इस प्रकार एक साथ रहने वाले वैराग्य, तत्त्वबोध और उपरति इन तीनों का भेद यहां दर्शा दिया गया है ॥२८०॥

इन तीनों में से कौन मुख्य है ? यह बताते हैं—

तत्वबोधः प्रधानं स्यात्साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः।
बोधोपकारिणावेयौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१॥

अन्वय—तत्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः। वैराग्योपरमौ एतौ उभौ बोधोपकारिणौ।

अर्थ—तत्त्वबोध इन तीनों में प्रधान है क्योंकि वह साक्षात् मोक्ष का दाता है (श्रुति में--"तमेव विदित्वऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेयऽनाय" कहकर तत्वबोध को ही साक्षात् मोक्षदाता बताया है) वैराग्य और उपरम दोनों तत्वबोध के साधन हैं श्रुति कहती हैः—

'ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (लोकोंको कर्मरचित जानकर ब्रह्म होनेकी इच्छा वाला मुमुक्षु ब्राह्मण वैराग्यको धारण करता है।) और 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् शांतो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वास्मन्येवात्मानं पश्येत्' (प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को जानने के लिए मुमुक्षु गुरु के समीप जावे और शान्त, दान्त, उपरत और तितक्षु होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे); इन श्रुतियों से वैराग्य और उपरति तत्त्वबोध के साधन ज्ञात होते हैं।।२८१।।

वैराग्यादि के एक साथ रहने या न रहनेके कारणका वर्णन करते हैं :—

त्रयोरप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम्।
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ।।२८२।।

अन्वय—त्रयः अपि अत्यन्तपक्वाः चेत् महतः तपसः फलम्। दुरितेन क्वचित् किंचित् कदाचित् प्रतिबध्यते।

अर्थ—यदि तीनों अत्यन्त परिपक्व हों तो वह उनका परिपक्व होना महान् तप का फल है और पापकर्म के कारण किसी-किसी में कुछ का कभी-कभी प्रतिबन्ध हो जाता है।

अनेक जन्मों में कमाये हुए पुण्यों के परिपाक से ये तीनों इकट्ठे हो पाते हैं अन्यथा तो प्रतिबन्धक पाप के अनुसार किसी पुरुष में तथा कालविशेष में इन तीनों में किसी एक या दो का तिरोधान रहता है।।२८२।।

इनमें से भी यदि तत्त्वबोध रुक जाय तो मोक्ष नहीं होता !

वैराग्योपरती पूर्णौ बोधस्तु प्रतिबध्यते।

यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥

अन्वय–यस्य वैराग्योपरती पूर्णे, बोधः तु प्रतिबध्यते तस्य मोक्षः न अस्ति। तपोबलात् पुण्यलोकः।

अर्थ–जिसको वैराग्य और उपरति तो पूर्ण हो चुके हों परन्तु आत्मबोध न हुआ हो, उसका मोक्ष नहीं होता। हां, वैराग्यादि के सम्पादन से उसे पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। इसलिए वैराग्यादि का सम्पादन व्यर्थ नहीं होता। भगवद्गीता अध्याय ६ श्लोक ४१में कहा भी है:--प्राप्य पुण्यकृतान् लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' जिस व्यक्ति को बोध के साधन वैराग्योपरति, तो प्राप्त हैं पर बोध नहीं हुआ है उसे योगभ्रष्ट कहते हैं। योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकों में बहुत वर्षों तक निवास कर लौट कर श्रीमानों के घर मे जन्म लेता है ॥२८३॥

जब तक वैराग्य और उपरति न हों तब तक जीवन्मुक्ति का सुख नहीं मिलता।

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा।
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥

अन्वय–बोधे पूर्णे तदन्यौ द्वौ यदा प्रतिबद्धौ तदा मोक्षः विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति।

अर्थ–बोध पूर्ण हो जाने पर यदि अन्य दोनों–वैराग्य और उपरति–रुक जावें तो मोक्ष तो निश्चित है* परन्तु दृष्टि-दुःख नष्ट+

---

* ज्ञान से बन्ध की कारणभूत अविद्या के निवृत्त हो जाने से और पुनः अविद्या की उत्पत्ति होना असम्भव होने के कारण मोक्ष तो अवश्य होता है।

+ क्रम से वासनाक्षय और मनोनाश के कारण वैराग्य और उपशम के न

नहीं होता अर्थात् जीवन्मुक्ति का सुख सिद्ध नहीं होता ॥२८४॥

अब इनकी सीमा बतलाते हैं :—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥
सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ॥२८६॥

अन्वय–ब्रह्मलोकतृणीकारः वैराग्यस्यावधिः मतः । देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते । सुप्तिवत् विस्मृतिः उपरमस्य सीमा भवेत् हि । अनया दिशा अवान्तरं तारतम्यं विनिश्चेयम् ।

अर्थ–ब्रह्मलोक को भी तिनके समान, तुच्छ, जान लेना वैराग्य की अवधि मानी गई है। अज्ञानी लोग देह को आत्मा जितनी दृढता से समझते हैं, उतनी ही दृढता से परब्रह्म को आत्मा समझलेने पर बोध की समाप्ति होती है । सुषुप्ति जैसी विस्मृति हो जाना उपरति की सीमा है । इसी प्रकार इनका अवान्तर न्यूनाधिक भाव अपनी-अपनी बुद्धि से निश्चय कर लेना चाहिए ॥२८६॥

यदि कहो कि तत्त्वज्ञानी भी राग आदि के कारण उच्च और नीच होते हैं तो; ज्ञान का मुक्तिका निश्चित साधन होंना सन्दिग्ध है; सो ठीक नहीं है क्योंकि-

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।

होने से रजोतम की अधिकता रहती है और शुद्ध सत्व गुण तिरोहित रहता है; इसलिए इस लोक में होने वाले, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों से जन्य, विक्षेपरूप दृष्टदुःख की निवृत्ति नहीं होती । हां, बोध हो जानेके कारण जन्मान्तर असम्भव हो जाता है । इसलिए परलोक-सम्बन्धी आगामी दुःखका तो अभाव ही रहता है ।

वर्तनं, तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥

अन्वय—आरब्धकर्मनानात्वात् बुद्धानां अन्यथा अन्यथा वर्तनं, तेन पण्डितैः शास्त्रार्थे न भ्रमितव्यम् ।

अर्थ—प्रारब्ध कर्मों के विविध होने से, ज्ञानी लोगों के आचरण भी विविध होते हैं। पण्डित लोग उनके आचरणों की विविधता को देखकर शास्त्र के अर्थ के विषय में भ्रम में न पड़ें ।

जैसे व्याधि आदि प्रारब्ध कर्म के फल होते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञानियों के राग आदि भी प्रारब्ध कर्म के ही फल हैं; वे मुक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हो सकते ॥२८७॥

तब क्या निश्चय करना चाहिए ? यह बताते हैं:—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥

अन्वय—ते स्वस्वकर्मानुसारेण यथा तथा वर्तन्तां; सर्वबोधः अविशिष्टः मुक्तिः, समा; इति स्थितिः ।

अर्थ—वे ज्ञानी अपने अपने कर्मों के अनुसार जैसा व्यवहार करते हैं करें—उन सबको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप मे जो ज्ञान होता है वह किसी का किसी से विशेष नहीं—एक जैसा है और निरवद्य ब्रह्मरूप से स्थिति के रूप में जो मुक्ति है वह भी सब ज्ञानियों की एक-समान है। यही शास्त्र की मर्यादा है ॥२८८॥

इस प्रकरण का तात्पर्य संक्षेप से दर्शाते हैं:—

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।

मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

अन्वय-मायया जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रं इव अर्पितम्। तत् उपेक्ष्य चैतन्ये एव परिशेष्यताम्।

अर्थ-माया ने जगत् रूपी चित्र को, वस्त्र पर खिंचे चित्र की भान्ति, अपने आत्मचैतन्य के ऊपर खींचा हुआ है; उस जगत्-रूप चित्र की उपेक्षा करके अपने आत्म-चैतन्य को ही शेष रखो—आत्म-चैतन्य को उसके शुद्ध-रूप में समझ लो ॥२८९॥

इस ग्रन्थाभ्यास के फल को दिखाते हुए चित्रदीप-प्रकरण की समाप्ति करते हैं:—

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ॥२९०॥

अन्वय-ये बुधाः इमं चित्रदीपं नित्यं अनुसंदधते, ते जगच्चित्रं पश्यन्तः अपि पूर्ववत् न मुह्यन्ति।

अर्थ-जो शुद्धबुद्धि मुमुक्षु इस चित्रदीप प्रकरणका नित्य विचार करते रहते हैं, इसे नहीं भुलाते; वे जगत्-रूप चित्र को देखते हुए भी इतने मोह को प्राप्त नहीं होते जितने कि पहले होते रहे थे।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के षष्ठ प्रकरण-चित्रदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्त्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त।

—०—

अथ तृप्तिदीपः—७

भाषाकारकृतमंगलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसंतापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥१॥
अज्ञानवारणव्रातसुनिवारणकारिणे ।
महावाक्यरवेणैव बापवे गुरवे नमः ॥२॥
श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
कुर्वेहं तृप्तिदीपस्य व्याख्यां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥३॥

'तृप्तिदीप' नामक प्रकरणका आरम्भ करते हुए श्रीभारतीतीर्थ व्याख्यान-योग्य श्रुति को आदि में पढ़ते हैं : इस प्रकरण में इस श्रुति की ही व्याख्याकी की गई है । व्याख्येय श्रुति इस प्रकार है :—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥
अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

अन्वय—"पूरुषः आत्मानं 'अयं अस्मि' इति विजानीयात् चेत्; किं इच्छन् कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत् ?" अत्र अस्याः श्रुतेः अभिप्रायः सम्यक् विचार्यते । तेन जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा विशदायते ।

अर्थ—यदि जीव आत्मा को 'यह मैं हूं' इस प्रकार जान ले तो किस भोग्य विषय को चाहता हुआ और भोक्ता के किस भोग के लिए शरीर के पीछे दुःख उठाता फिरे ? आत्मज्ञान से ही सब काम-

नाओं के शान्त हो जाने पर फिर क्यों जन्म लेता फिरे ?॥१॥ इस प्रकरण में इस श्रुति का अभिप्राय भले प्रकार विचारा जा रहा है; इस विचार से जीवन्मुक्त की श्रुतिप्रसिद्ध तृप्ति स्पष्ट की जा रही है।

व्याख्यान के पांच लक्षण हैं— १. पदच्छेद २. पदार्थ का कथन ३. विग्रह ४. वाक्य योजना और ५. शंकासमाधान। यहां उक्तश्रुतिमें आये 'पूरुष' शब्द का अर्थ बताने से पहले सृष्टि का संक्षेप से वर्णन करते हैं :—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥६॥

अन्वय—आभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतत्वतः जीवेशौ कल्पितौ एव। ताभ्यां सर्वं कल्पितम्।

अर्थ—"माया अभास से जीव और ईश्वर का निर्माण करती है" श्रुति में यह वर्णन है; अतएव जीव और ईश्वर माया के कल्पित ही हैं, और उन दोनों ने सारे जगत् की कल्पना की है। (माया और उस द्वारा जीव-ईश्वर के निर्माण का वर्णन तत्वविवेक प्रकरण के १५–१६–१७ श्लोकों में कर चुके हैं)॥३॥

जीव और ईश्वर में से किसने कितनी सृष्टिरचना की है ? इसका विवरण देते हैं :—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

अन्वय—ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः।

अर्थ–ईक्षण (तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति) से लेकर प्रवेश (अनेन जीवेनात्मानमनुप्रविश्य) तक की सृष्टि को ईश्वर ने बनाया तथा जाग्रत् से लेकर मोक्षपर्यन्त संसार को जीव ने बनाया।

जीव ही अपने आपको जागता, स्वप्न देखता या मुक्त होता हुआ मानता है। श्रुति में इसका वर्णन इस प्रकार है:–

> स एष मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
> स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥
> स्वप्नेऽपि जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोके।
> सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥२॥
> पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।
> पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥३॥
> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
> तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥४॥

अर्थात् यह चारों ओर से माया से मोहित हुआ, शरीर को 'मैं' मानता हुआ, सब कर्मों को करता है। जाग्रत् अवस्था में वही जीव स्त्री, अन्न-पान आदि विविध भोगों में तृप्ति अनुभव करता है ॥१॥ स्वप्न में भी वह जीव अपनी माया से कल्पित लोक में सुखदुःख का भोक्ता बनाता है और सुषुप्ति में सब के विलीन होने पर अज्ञान से आवृत हो सुख भोगता है ॥२॥ पुनः जन्मान्तर में किये कर्मों के योग से ही वही जीव स्वप्न अथवा जाग्रत् अवस्था में पहुँच जाता है। जो जीव जाग्रदादि तीन अवस्थाओं अथवा शरीररूप पुरियों में क्रीड़ा करता है उसी से सकल विचित्र मनोमय जगत् बना है ॥५॥ जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपंच को जो

प्रकाशित करता है, वह, ब्रह्म मैं हूं ऐसा जानकर सब बन्धनों से मुक्त होता है ।।४।।

इस प्रकार 'पूरुष' शब्द के अर्थ के ज्ञान में उपयोगी सृष्टि का वर्णन कर अब 'पूरुष' शब्द का अर्थ कहते हैं:—

श्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः ।
अन्योन्याध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ।।५।।

अन्वय—कूटस्थासंगचिद्वपुः भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा अन्योन्याध्यासतः असंगधीस्थजीवः अत्र पूरुषः ।

अर्थ—जो तत्त्व, कूटस्थ (अविकारी), असङ्ग और चित्स्वरूप है तथा देह-इन्द्रिय आदि के अध्यास-रूप भ्रम का अधिष्ठान-रूप परमात्मा है, वह, यद्यपि असंग है तो भी, अन्योन्याध्यास से अर्थात् आचार्य-निरूपित तादात्म्याध्यास से (एक दूसरे के स्वरूप को और धर्मों के एक दूसरे में मानकर सब व्यवहारों का भागी होता है—यही आचार्यनिरूपित तादात्म्याध्यास है) असंगधी में स्थित हुआ—सच्चे सम्बन्ध से शून्य-बुद्धि में अपने रूप से रहता हुआ--जीव ही यहां इस श्रुति में 'पूरुष' अथवा पुरुष कहा गया है । 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' अर्थात् 'यह पुरुष ही सब पुरियों, देहों, में शयन करता है इसलिए 'पुरुष' कहलाता है' यह श्रुति में वर्णित है । और पुरुष को ही पूरुष कहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीव बना हुआ 'पुरुष' कहलाता है ।।५।।

यदि कहो कि पुरुष शब्द से केवल चिदाभास-रूप जीव का ही ग्रहण क्यों नहीं करते ? साथमें अधिष्ठान-भूत कूटस्थ चैतन्य के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हैं :—

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ।६॥

अन्वय–साधिष्ठानः जीवः विमोक्षादौ अधिक्रियते, न तु केवलः । क्व अपि निरधिष्ठानविभ्रान्तेः असिद्धितः ।

अर्थ—अधिष्ठान अर्थात् कूटस्थ चैतन्य सहित ही चिदाभास जीव को मोक्षादि के साधनों के अनुष्ठान का अधिकार होता है केवल चिदाभास को यह अधिकार नहीं होता । क्योंकि बिना अधिष्ठान (आरोप्य पदार्थ) की भ्रान्ति कहीं देखने में नहीं आती ।

अधिष्ठानसहित जीव का ही संसार से अन्वय है–यह दो श्लोकों में दिखाते हैं :—

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

अन्वय–जीवः यदा अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशं अवलम्बते तदा 'अहं संसारी' इति एवं अभिमन्यते ।

अर्थ–जीव जब अधिष्ठानांशसहित (कूटस्थ सहित) भ्रमांश का अवलम्बन करता है अर्थात् चिदाभास सहित शरीरों को अपने स्वरूप से स्वीकार करता है, तब 'मैं संसारी हूं' यह मानने लगता है ॥७॥

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसंगोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

अन्वय–यदा भ्रमांशस्य तिरस्कारात् अधिष्ठानप्रधानता, तदा 'अहं चिदात्मा असंगः अस्मि' इति बुध्यते ।

अर्थ–और जब फिर वह भ्रमांश (दोनों देहों सहित चिदाभास) का तिरस्कार कर देता है अर्थात् मिथ्या समझकर उसकी अपेक्षा नहीं करता और अधिष्ठान-रूप कूटस्थ की प्रधानता (स्वस्वरूपता) को स्वीकार कर लेता है तब 'मैं चिदात्मा हूँ' ऐसा जान लेता है ।

अभिप्राय यह है कि जीव जब दोनों देहों सहित चिदाभास की उपेक्षा कर अधिष्ठान-भूत कूटस्थ रूप हो जता है, आत्म-स्थिति में आ जाता है तब उसे, असंग चिदात्मा होने का ज्ञान होता है ॥८॥

असंगचेतन कूटस्थ तो 'अहं' प्रत्यय का विषय नहीं है; फिर तुम्हारा उपरोक्त कथन कैसे संगत है ? इसका उत्तर देते हैं —

नासंगेऽहंकृतियु‍र्क्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधाऽहमः ॥६॥

अन्वय–असंगे अहंकृतिः न युक्ता, कथं 'अस्मि' इति चेत् ? शृणु; एकः मुख्यः द्वौ अमुख्यौ इति अहमः त्रिविधः अर्थः ।

अर्थ—क्योंकि असंग (चिदात्मा) में अहंकार का होना ठीक नहीं है इसलिए वह यह क्योंकर जान सकता है कि 'मैं हूँ' ? इस

प्रश्न का उत्तर सुनो--एक मुख्य और दो अमुख्य--इस प्रकार अहं के तीन अर्थ होते हैं। अर्थात् शब्द की मुख्य शब्दशक्तिसे चाहे आत्मा अहं प्रत्यय का विषय नहीं है परन्तु लक्षणावृत्ति से वह अहं प्रत्यय का विषय है ॥६॥

'अहं' के मुख्य अर्थों का वर्णन करते हैं:–

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

अन्वय–कूटस्थाभासयोः वपुः अन्योन्याध्यासरूपेण एकीभूय मुख्यः भवेत्, तत्र मूढैः प्रयुज्यते ।

अर्थ–कूटस्थ और चिदाभास का स्वरूप जब अन्योन्याध्यास से एक हो जाता है तब यही एक हुआ स्वरूप 'अहं' शब्द का वाच्य अर्थ है। इसको अहं का मुख्य अर्थ इसलिए कहते हैं कि जिनको इनके मिले-जुले स्वरूप का ज्ञान नहीं है वे मूढ लोग इसी अर्थ में अहं शब्द का प्रयोग किया करते हैं ॥१०॥

अब अमुख्य अर्थों को दर्शाते हैं:–

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

अन्वय–पृथक् आभासकूटस्थौ अमुख्यौ; तत्त्ववित् तत्र अहं शब्दं लोके च वैदिके पर्यायेण प्रयुङ्क्ते ।

अर्थ–आभास और कूटस्थ, 'अहं' शब्द के दो पृथक्-पृथक् अमुख्य अर्थात् लक्ष्य अर्थ हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञानी लोग इन दोनों

अर्थों में, लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में पर्याय से 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ यह है कि चिदाभास और कूटस्थ के अविविक्त रूप को सब अज्ञानी व्यवहार में लाते हैं; वह उसका वाच्य अर्थ है। और कूटस्थ एवं चिदाभास के विवेचित रूप को कुछ तत्ववित् ही कभी विचार के समय में ही व्यवहार में लाते हैं; अतएव वे उसके अमुख्य अर्थ हैं ॥११॥

'पर्याय से प्रयोग' को दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं :—

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२॥
असंगोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

अन्वय–बुधः 'अहं गच्छामि' इत्यादिके लौकिकव्यहारे कूटस्थात् चिदाभासं विविच्य तं एव विवक्षति। अयं बुधः शास्त्रीयदृष्टितः केवले कूटस्थे 'अहं असंगः अहं चिदात्मा' इति अहं शब्दं प्रयुङ्क्ते।

अर्थ–विद्वान् 'मैं जाता हूँ' इत्यादि लौकिक व्यवहारों में चिदाभास को कूटस्थ से पृथक् जानकर ही उस केवल चिदाभास को ही 'अहं' शब्द से कहना चाहता है ॥१२॥ और यही विद्वान् शास्त्र को ध्यान में रखकर चिदाभास से पृथक् जाने हुए केवल कूटस्थ में 'मैं असंग हूँ' 'मैं चिदात्मा हूँ' इस प्रकार लक्षणा से 'अहं' शब्द का प्रयोग करता है—इस प्रकार लक्षणा से चिदात्मा भी 'अहं'

शब्द का अर्थ हो जाता है और अहं प्रतीति का विषय हो जाने से 'मैं असंग हूं' यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१३॥

चिदाभास को 'मैं कूटस्थ हूं' यह ज्ञान कैसे होगा ? इस शंका का वर्णन तथा उसका समाधान करते हैं :—

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ।१४।
नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥

अन्वय—ज्ञानिताऽज्ञानिते तु आत्माभासस्य एव, न च आत्मनः । तथा च आभासः 'कूटस्थः अस्मि' इति कथं बुध्यताम् ? (समाधान) अयं दोषः न, चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् । आभासत्वस्य मिथ्यात्वावशेषणात् ।

अर्थ—ज्ञानित्व और अज्ञानित्व तो, दोनों ही, आत्माभास को ही होते हैं आत्मा को नहीं-[आत्मा को अज्ञाननिवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती : कूटस्थ यह नहीं जानता कि मैं कूटस्थ हूँ] अब सिद्धांती यह बताये कि चिदाभास यह कैसे जाने कि 'मैं कूटस्थ हूं' ? ॥१४॥

समाधान—यह शंका निर्मूल है क्योंकि चिदाभास कूटस्थरूप मुख्यस्वभाव वाला ही है : वह कूटस्थ से भिन्न तत्त्व नहीं है। कारण यह है कि आभासत्व तो मिथ्या है अतएव कूटस्थता ही शेष रह जाती है। जैसे दर्पण में प्रतीयमान मुखाभास का वास्तविकरूप ग्रीवा पर लगा हुआ मुख ही है। ऐसे ही इसे भी जानो।

कूटस्थोस्मीति बोधोपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत्।
न हि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

अन्वय—'कूटस्थः अस्मि' इति बोधः अपि मिथ्या चेत् ? न इति को वदेत् ? हि रज्जुसर्पविसर्पणम् सत्यतया न अभीष्टम् ।

अर्थ—(शंका) चिदाभास मिथ्या है तो चिदाभास का आश्रित 'मैं कूटस्थ हूं' ज्ञान भी तो मिथ्या होगा ? (समाधान) ठीक है; इस का निषेध कौन करता है ? कूटस्थ के अतिरिक्त सभी कुछ तो मिथ्या है ! यह बात ऐसी है कि जैसे रज्जु में कल्पित सर्प की गति को भी हम सत्य मानते हों ॥१६॥

मिथ्याबोध से संसार की निवृत्ति कैसे होती है ?

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥

अन्वय—तादृशेन बोधेन अपि संसारः निवर्तते हि। हि यक्षानुरूपः बलिः इति लौकिकाः जनाः आहुः ।

अर्थ—मिथ्याबोध से भी संसार की निवृत्ति हो जाती है--संसार भी तो मिथ्या है न ? लोक में भी तो कहते हैं कि 'जैसा यक्ष वैसी उसकी बलि !' जब संसार मिथ्या है तो वह मिथ्याबोध से ही मर जायगा ॥१७॥

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थो विविच्य तम्।
कूटस्थोमीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥

अन्वय–तस्मात् सः कूटस्थः आभासपुरुषः तं विविच्य 'कूटस्थः अस्मि' इति विज्ञातुं अर्हति--इति श्रुतिः अभ्यधात्।

अर्थ–क्योंकि कूटस्थ ही चिदाभास का अपना स्वरूप है, इसलिये पुरुष शब्द का वाच्य कूटस्थसहित चिदाभास, कूटस्थ को अपने से पृथक् जानकर 'मैं कूटस्थ हूँ' ऐसा, लक्षणा से, जान सकता है। इसी अभिप्राय से "श्रुति में 'अस्मि' यह पद कहा है ।।१८।।

'पुरुषोऽस्मि' इन दो पदों का अभिप्राय बताकर 'अयं' पद का अभिप्राय कहते हैं :–

असंदिग्धविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते।
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ।।१९।।

अन्वय–देहात्मनि असंदिग्धाविपर्यस्तबोधः ईक्ष्यते। अत्र तद्वत् इति निर्णेतुं 'अयं' इयि अभिधीयते।

अर्थ–जैसे इस प्रसिद्ध देहरूप आत्मा में संशयविपर्ययरहित 'मैं यह हूँ' ऐसा बोध सबको होता है वैसा ही दृढज्ञान प्रत्यागात्मा में मुक्ति के लिए कर लेना चाहिए; इस बातका निर्णय करने के लिए श्रुति में 'अयं' पद कहा है ।।१९।।

इस प्रकार का दृढ़ज्ञान मोक्ष का साधन है–इसको श्री शंकराचार्य के वाक्य से प्रमाणित करते हैं :—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।२०।।

अन्वय–देहात्मज्ञानवत् आत्मनि एव देहात्मज्ञानबाधकं ज्ञानं यस्य भवेत्, सः न इच्छन् अपि मुच्यते।

अर्थ–जैसा 'मैं हूँ' यह दृढ़ज्ञान देहरूप आत्मा में होता है वैसा ही का दृढ, प्रत्यागात्मा में—'देह आत्मा है' इसका बाधक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान जिसको हो जाय–वह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है क्योंकि संसार का हेतुभूत अज्ञान तो उसका ज्ञान से, निवृत्त ही हो चुका है ॥२०॥

'अयम्' के 'प्रत्यक्ष' अर्थ से कोई हानि नही !

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

अन्वय–अयं इति अपरोक्षत्वं उच्यते चेत् ? तत् उच्यताम्; यतः स्वयंप्रकाशचैतन्यं सदा अपरोक्षम् ।

अर्थ—यदि कहो कि 'अयं' (यह) पद तो, 'यह घड़ा है' आदि पदों में जैसे अपने निर्दिष्ट पद की अपरोक्षता को बताता है वैसे ही इस श्रुति में भी इसका अर्थं अपरोक्षत्व ही किया जाना चाहिए । (समाधान) ठीक है, मान लो; क्योंकि स्वयंप्रकाश चैतन्य सदा प्रत्यक्ष ही रहता है । उसको प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं है । वह आवरणकर्ता के अभाव के कारण नित्य अपरोक्ष है+ ॥२१॥

+यदि चैतन्य का आवरण मानोगे तो प्रकाशक के अभाव के कारण संसार की अप्रतीति हो हो जायगी और यदि उसका आवरण नहीं है ऐसा मानें तो आचार्यों ने अज्ञानी को 'मैं अज्ञानी हूँ और ब्रह्म को नहीं जानता' इस अनुभव के अनुसार ब्रह्म के आश्रित और ब्रह्म को आच्छादित करने वाला होने के कारण जो 'स्वाश्रयस्वविषय बताया है वह कथन सिद्ध नही होता : इसलिए सामान्य-

नित्य-अपरोक्ष चेतन, परोक्षापरोक्ष और ज्ञानाज्ञानविषय, दोनों हैं :—

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥२२॥

अन्वय–परोक्षं च अपरोक्षं, ज्ञानं अज्ञानं, इति, अदः द्वयं यथा दशमे नित्यापरोक्षरूपे अपि स्यात् ।

अर्थ—स्वप्रकाशचित्रूप होने से आत्मा को नित्य अपरोक्ष माना है; परन्तु उसे यदि 'अयम्' पदप्रयोग के बल से अपरोक्ष मानोगे तो परोक्ष भी मानना होगा : तथा १४वें श्लोक में उसे ज्ञान और अज्ञान का विषय बताया है; ये दोनों युगल उस नित्य अपरोक्ष आत्मा में भी, दसवें मनुष्य की भान्ति सिद्ध हो सकते हैं ॥२२॥

दशम पुरुष की 'अज्ञानावस्था' का वर्णन करते हैं :—

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोपि तान्नव ॥२३॥

अन्वय–नवसंख्याहृतज्ञानः दशमः तदा तान् नव वीक्ष्यमाणः अपि विभ्रमात् 'दशमः अस्मि' इति न वेत्ति ।

अर्थ–परिगणनीय पुरुषोंकी 'नौ' संख्या से जिसका विवेक लुप्त हो गया है ऐसा यह दसवां पुरुष परिगणनीय नौ पुरुषों को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी भ्रान्ति से, गिननेवाले-अपने आपको नहीं जानता कि 'मैं दसवाँ हूँ' ॥२३॥

अंशकी प्रतीति और विशेष अंश की अप्रतीति स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार विरोध नहीं होता ।

दशम के अज्ञान के कार्य, आवरण, का स्पष्टीकरण

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

अन्वय—तदा त्वं दशमं 'दशमः न भाति न अस्ति' इति मत्वा वक्ति। तत् अज्ञानकृतं आवरणं विदुः।

अर्थ—अज्ञान काल में वह दशम पुरुष स्वयं दशम होते हुए भी जो यह कह बैठता है कि 'दशम मुझे प्रतीत नहीं होता, दशम नहीं है' उसके इस व्यवहार का कारण, अज्ञान का कार्य आवरण ही है ॥२४॥

दशम के अज्ञान के ही कार्यविशेष विक्षेप का स्पष्टीकरण

नद्यां ममार दशम इतिशोचन्प्ररोदिती।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥२५॥

अन्वय—'नद्यां दशमः ममार' इति शोचन् प्ररोदिति; रोदनादिं बुधाः अज्ञानकृतं विक्षेपं विदुः।

अर्थ—'नदी में दसवां मर गया' इस प्रकार शोक करके जो रोता है, उस रोदन आदि को बुद्धिमान् अज्ञान का किया हुआ 'विक्षेप' कहते हैं ॥२५॥

दशम की असत्वांशनिवर्तक परोक्षज्ञानावस्था का स्पष्टीकरण

न मृतो दशमोस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

अन्वय—तदा 'दशमः न मृतः, अस्ति, इति आप्तवचनं श्रुत्वा स्वर्गादि-

लोकवत् परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति ।

अर्थ–उस समय, 'दशम मरा नहीं है'– यथार्थवादी का यह वचन सुनकर वह दशम पुरुष परोक्षरूप (शास्त्रवचन से स्वीकार किये हुए) स्वर्ग आदि के समान दसवें पुरुष को जान जाता है ।

दशम के आभनांशनिवर्तक अपरोक्षज्ञान का स्पष्टीकरण

त्वमेव दशमोसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

अन्वय–गणयित्वा तं 'त्वं एव दशमः असि' इति प्रदर्शितः अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यति एव, न रोदिति ।

अर्थ–उसके गिने हुए नौ पुरुषों के साथ उसको भी गिनकर 'तू ही दसवां है' ऐसे जब आप्तपुरुष दिखाता है, तब, 'मैं दसवां हूँ' यह अपरोक्षरूप से जानकर वह हर्षित हो उठता है--फिर रोना छोड़ देता है ॥२७॥

दशम में वर्णित ये सात अवस्थाएं चिदात्मा में भी समझो

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

अन्वय–अज्ञानवृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः शोकापगमः इति एते चिदात्मनि योजनीयाः ।

अर्थ–अज्ञान, आवरण, विक्षेप (शोक,भ्रान्ति), परोक्ष तथा अपरोक्षरूप दो प्रकार का ज्ञान, तृप्ति और शोकनिवृत्ति ये जो सात अवस्थाएं दृष्टान्तभूत दसवें पुरुष में दिखाई हैं, वे सातों दार्ष्टान्तिक चिदात्मा में भी लगालो ॥२८॥

चिदात्मा में उन सात अवस्थाओं का वर्णन चार श्लोकों से करते हैं :-

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

अन्वय-अयं चिदाभासः संसारासक्तचित्तः सन् कदाचन स्वयत्त्वं स्वयं प्रकाशकूटस्थं न एव वेत्ति ।

अर्थ-यह चिदाभास, संसार अर्थात् विषयसम्पादन आदि के ध्यान में मस्त होकर, श्रुतिविचार से पहले कभी अपने भी स्व-रूप-स्वप्रकाशचेतनरूप कूटस्थ प्रात्यगात्मा को नहीं जानता; उसका यह न जानना ही अज्ञान है ॥२९॥

न भाति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः। ।
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

अन्वय-प्रसंगतः 'कूटस्थः न अस्ति न भाति' इति वक्ति 'अहं कर्ता अहं भोक्ता' इति विक्षेपं प्रतिपद्यते ।

अर्थ--चिदात्मा का प्रसंग चलने पर 'कूटस्थ है ही नहीं, प्रतीत नहीं होता' यह कहना अज्ञान का किया आवरण है । और 'कूटस्थ की असत्ता तथा अप्रतीति के कथन की भान्ति ही, "मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ," इस प्रकार कर्तृत्व आदि का जो अपने में आरोप करता है--इस आरोप का हेतु जो स्थूलसूक्ष्मरूप दोनों देहों से युक्त चिदाभास है वही विक्षेप है ॥३०॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥

अन्वय–आदौ वार्तया 'कूटस्थः' अस्ति इति परोक्षं वेत्ति। पश्चात् विचारतः 'कूटस्थ एव अस्मि' इति एवं वेत्ति।

अर्थ–बातचीत में दूसरे अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु से समझाया हुआ, 'कूटस्थ' है यह जानता है--यही उसका परोक्ष ज्ञान है। और पीछे विचार से--श्रवणादि के परिपाक के कारण—'ब्रह्माभिन्न--प्रत्यगात्मारूप कूटस्थ मैं ही हूँ" ऐसा जान लेता है--यही उसका अपरोक्ष ज्ञान है ॥३१॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

अन्वय–कर्ता, भोक्ता इति-एवं-आदि शोकजातं प्रमुञ्चति। कृत्यं कृतं, प्रापणीयं प्राप्त इति एव तुष्यति।

अर्थ–निर्विकार असंग आत्मा के ज्ञान के पश्चात् कर्तृत्व आदि शोकों को छोड़ देता है--यह शोकनाश है। फिर मैंने जो कुछ करना था कर लिया, पाना था पा लिया इस प्रकार का संतोष (हर्ष) उसको हो जाता है, यही तृप्ति है ॥३२॥

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥३३॥
सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः।

अन्वय–अज्ञानं, आवृतिः, तदवत् विक्षेपः, च परोक्षधीः, अपरोक्ष-

मतिः शोकमोक्षः निरंकुशा तृप्तिः ॥३३॥ इमाः सप्तावस्थाः चिदाभासस्य सन्ति। तासु इमौ बन्धमोक्षौ स्थितौ,। तत्र तिस्रः बन्धकृतः स्मृताः।

अर्थ–अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनिवृत्ति और निरंकुश तृप्ति–ये सातों अवस्थायें चिदाभास की ही हैं, कूटस्थ की नहीं हैं; कूटस्थ की मानोगे तो उसका निर्विकार होना कैसे घटेगा ? इन सात अवस्थाओं का यहां लिखने का फल यह जताना है कि ये सातों अवस्थायें बन्ध-मोक्ष की कारण हैं—इसीलिए कहते हैं कि इन सातों अवस्थाओं में ही बन्ध और मोक्ष समा जाते हैं। इनमें से पहली तीन, (अज्ञान आवरण और विक्षेप) बन्धन करनेवाली हैं (शेष चार मोक्ष की अवस्थाएं हैं)

प्रत्येक का कार्य दिखाकर इनकी बन्धनकारिता स्पष्ट करने के लिए पहले 'अज्ञान' का स्वरूप दिखाते हैं :—

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

अन्वय–विचारप्रागभावेन युक्तं उदासीनव्यवहारस्य कारणं 'न जानामि' इति अज्ञानं ईरितम्।

अर्थ–जिसके साथ आत्मा के विचार का प्रागभाव लगा हुआ है, जो तूष्णींभावरूप उदासीन व्यवहार (कथन और प्रतीति) का कारण है और 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार अनुभूत होता है वह अज्ञान है ॥३५॥

आमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ।

विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

अन्वय—अमार्गेण विचार्य अथ 'असौ न अस्ति, न भाति' इति विपरीतव्याहृतिः आवृतेः कार्यं इष्यते।

अर्थ—इसके पश्चात् (शास्त्रोक्तप्रकार को छोड़कर) अमार्ग (केवल तर्क) से विचार करके, 'कूटस्थ है ही नहीं, न यह प्रतीत ही होता है' ऐसा जो विपरीत व्यवहार करने लगना है वह 'आवरण का कार्य' माना जाता है ॥३६॥

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः।

कर्त्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ॥

अन्वय—देहद्वयचिदाभासरूपः विक्षेपः ईरितः। बन्धकः संसाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः अस्य।

अर्थ—स्थूल सूक्ष्म दोनों देहों सहित चिदाभास का नाम ही 'विक्षेप' है। बन्धका हेतु, संसार नाम का जो कर्तृत्व-प्रमातृत्व आदिरूप सम्पूर्ण शोक है वह सब इस चिदाभास का कार्य अर्थात् किया हुआ है ॥३७॥

परन्तु ये सात अवस्थायें चिदाभासमें कैसे सम्भव हैं ? अज्ञान और आवरण तो विक्षेप की उत्पत्तिसे पहले ही स्थित हैं और चिदाभास विक्षेप के अन्तर्गत है इसलिए चिदाभास की ये अवस्थाएं नहीं हो सकतीं ? इसका समाधान करते हैं :—

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात्प्राक्प्रसिध्यतः।

यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥३८॥

अन्वय—यद्यपि अज्ञानं च आवृतिः एते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः,

अथापि ते अवस्थे विक्षेपस्य एव, आत्मनः न ।

अर्थ–यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनों अवस्थायें विक्षेप से पूर्व स्थित हैं तो भी आत्मा की अवस्थायें नहीं हैं, क्योंकि असग होने के कारण आत्मा की कोई अवस्था नहीं होगी, अतएव ये अवस्थायें चिदाभास की ही हैं--ऐसा मानना चाहिए ॥३८॥

यदि कहो कि विक्षेप तो तब था ही नही ; फिर इनको विक्षेप की अवस्था कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं :—

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९॥

अन्वय–विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वम् अपि विक्षेपसंस्कृतिः अस्ति एव; ततः तयोः तदवस्थात्वमविरुद्धम् ।

अर्थ–विक्षेपोत्पत्ति से पहले भी विक्षेप का संस्कार तो विद्यमान था ही; इसलिए उनका विक्षेप की अवस्थारूप से वर्णन असिद्ध नहीं है ॥३९॥

यदि यह कहो कि अज्ञान और आवरण को, अप्रसिद्ध संस्कारके सहारे, चिदाभासकी अवस्था मानने की अपेक्षा अधिष्ठानरूपमें प्रसिद्ध ब्रह्म की अवस्था मानना अधिक अच्छा है ; इसका उत्तर देते हैं :—

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥

अन्वय–'ब्रह्मणि आरोपितत्वेन इमे ब्रह्मावस्थे' इति न शंकनीयम्; सर्वासां ब्रह्मणि एव अधिरोपणात् ।

अर्थ–ब्रह्म में आरोपित होने से ये, अज्ञान और आवरण, दोनों, ब्रह्म की अवस्थाएं हैं; ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यों तो सभी अवस्थाएं ब्रह्म में आरोपित हैं ॥४०॥

परन्तु विक्षेप की उत्पत्ति के पश्चात् की अवस्थायें तो जीव के आश्रित ही अनुभव होती हैं ? इस शंका का वर्णन कर उसका समाधान करते हैं :—

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ॥
तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

अन्वय–'अहं संसारी, अहं विबुद्धः, निःशोकः; तुष्टः इति अपि उत्तरावस्थाः जीवगाः भान्ति, न ब्रह्मगाः । यदि तर्हि 'अहं अज्ञः ब्रह्मसत्वभाने मद्दृष्टितः न हि' इति पूर्वे अवस्थे च जीवगे भासेते ।

अर्थ–'मैं संसारी (कर्तृत्व आदि धर्मवाला) हूँ; विबुद्ध (तत्व-साक्षात्कारवान्) हूँ; निःशोक (कर्तृत्व आदि शोकों से रहित) हूँ और तुष्ट हूँ--अज्ञान एवं आवरण से पिछली ये सब अवस्थाएं जीवाश्रित अनुभूत होती हैं, ब्रह्माश्रित नहीं ? ॥४१॥ (समाधान) तब तो, '-मैं अज्ञ हूँ, ब्रह्म की सत्ता और प्रतीति मेरे अनुभव से है ही नहीं' ये अज्ञान और आवरण की, विक्षेप की पूर्ववर्ती अवस्थाएं भी तो निश्चित रूप से जीवाश्रित ही प्रतीति होती हैं ! इसलिए इन्हें विक्षेप की ही अवस्थाएं मानना चाहिए ॥४२॥

फिर पूर्वाचार्यों ने ब्रह्म को अज्ञानाश्रय क्यों कहा ?

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ।

जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

अन्वय–अधिष्ठानतया अज्ञानस्य आश्रयः ब्रह्म इति जगुः अज्ञानाभिमानित्वात् जीवावस्थात्वं अवादिषम् ।

अर्थ–अज्ञान का अधिष्ठान मानकर ही पूर्वाचार्यों ने ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है--ऐसा कहा है । और हमने, अज्ञान का अभिमानी होने से उस अज्ञान को जीव की अवस्था कहा है ॥४३॥

पिछली चार अवस्थाओं में से दो कैसे मुक्ति की हेतु हैं ? यह दिखाते हैं :—

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

अन्वय–ज्ञानद्वयेन अस्मिन् अज्ञाने नष्टे तत्कृता न भाति' 'न अस्ति' इति एषा द्विविधा आवृतिः अपि च विनश्यति ।

अर्थ–परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों ज्ञानों से आवरण के कारणभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उस अज्ञान के कार्यभूत, 'नहीं प्रतीत होता, नहीं है' इस व्यवहार के कारणभूत दोनों आवरण भी नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्षज्ञान नाम की दोनों अवस्थायें मुक्तिके कारण बन जाती हैं ॥४४॥

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥४५॥

अन्वय–परोक्षज्ञानतः असत्वावृतिहेतुता नश्येत्; अपरोक्षज्ञाननाश्या हि अभानावृतिहेतुता ।

अर्थ–('कूटस्थ है' इस रूपवाले) परोक्षज्ञान से असत्वापादक

(कूटस्थ नहीं है इस रूप वाले) आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता है और अपरोक्षज्ञान से, 'कूटस्थ प्रतीत नहीं होता'--इस रूप वाले अभानापादक आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता है ॥४५॥

ज्ञान की फलरूप दो अवस्थाओं में से प्रथमावस्था का वर्णन

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥

अन्वय–अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् कर्तृत्वाद्यखिलः संसाराख्यः शोकः निवर्तते ।

अर्थ–अभानावरण के हट जाने पर भ्रान्ति से प्रतीयमान जीव-स्वरूप आरोप भी नहीं रहता-इस आरोप के निवृत्त हो जाने पर जीवभाव के कारण बना हुआ कर्ता-भोक्ता-प्रमाता-रूपी संसार नाम का सब शोक भी नष्ट हो जाता है ॥४६॥

अपरोक्ष ज्ञान की फल निरंकुशतृप्तिरूप अवस्था का वर्णन

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरकुंशा भवेत् तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥

अन्वय–सर्वसंसारे निवृत्तेनित्यमुक्तत्वभासनात् पुनः शोकासमुदभ-वात् निरंकुशा तृप्तिः भवेत् ।

अर्थ–समस्त संसार के निवृत्त हो जाने पर आत्मा के नित्य-मुक्त होने की प्रतीति होने लगती है; अतएव पुनः शोक उत्पन्न नहीं होता और निर्मर्याद तृप्ति प्राप्त हो जाती है ॥४७॥

सात अवस्थाओं का यह निरूपण 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इस श्रुति के

व्याख्यान के अन्तर्गत ही है, प्रकरणविरुद्ध नहीं; यह दर्शाते हुए उक्त श्रुति में इन अवस्थाओं का उल्लेख दिखाते हैं :-

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥

अन्वय-'आत्मनं चेत्' इति श्रुतिः अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्याख्ये उभे इमे अवस्थे जीवगे ब्रूते ।

अर्थ-प्रकरणगत व्याख्येय उक्त श्रुति, अपरोक्ष ज्ञान तथा शोक-निवृत्ति नामक इन दोनों अवस्थाओं को जीवों की अवस्था बताती है ॥४८॥

'अयं' पद से आत्मा को अपरोक्ष कहा, फिर वह परोक्षज्ञान का विषय कैसे होगा ? यह बताने के लिए अपरोक्षज्ञान के भेद बताते हैं :-

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येवं तदीक्षणात् ॥४९॥

अन्वय-'अयं' इति अपरोक्षत्वं उक्तं तत् द्विविधं भवेत् । विषय-स्वप्रकाशत्वात् धिया अपि एवं तदीक्षणात् ।

अर्थ-२१वें श्लोक में 'अयं' पद से जो आत्मा का अपरोक्षत्व कहा है वह दो प्रकार का है । प्रथम तो यह कि वह विषय--चिद्रूप आत्मा -स्वप्रकाश है; अपनी प्रतीति के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता । द्वितीय यह कि बुद्धि से भी उसका वह रूप--स्वप्रकाशत्व-देख लिया गया है । अर्थात् विषय (यहां आत्मा) और विषयी (यहां, बुद्धिवृत्ति) के भेद से अपरोक्षत्व दो प्रकार का

है ॥४९॥

अपरोक्षत्व दो प्रकार का हो तो हो; इससे वह परोक्षज्ञान का विषय कैसे हो गया ? इसका उत्तर देते हैं :—

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥

अन्वय–परोक्षज्ञानकाले अपि विषयस्वप्रकाशता समा; ब्रह्म स्वप्रकाशं अस्ति इति एवं विबोधनात् ।

अर्थ–अपरोक्ष ज्ञान के समय की भान्ति परोक्षज्ञान के समय भी ब्रह्म नामक विषय स्वप्रकाश ही रहता है, क्योंकि परोक्षज्ञान के समय भी यही ज्ञान होता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश है ॥५०॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयक ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है ?

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

अन्वय–'अहं ब्रह्म' इति अनुल्लिख्य 'ब्रह्म अस्ति' इति एवं उल्लिखेत्; परोक्षज्ञानं एतत् भ्रान्तं न बाधानिरूपणात् ।

अर्थ–जिसमें 'मैं ब्रह्म हूँ' कथन तो न हो, केवल 'ब्रह्म है' इतना उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान है । और वह भ्रान्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का बाधानिरूपण त्रिकाल में भी नहीं कर सकते; 'ब्रह्म है' इस ज्ञान की बाधा कभी नहीं होती ॥५१॥

ब्रह्म के परोक्षज्ञान को भ्रान्ति चार प्रकार से माना जा सकता है:–१. बोध योग्य होने से २. ब्रह्मके आकारका प्रत्यक्ष न होने से ३. अपरोक्षरूप से ग्रहण

करने योग्य विषय (ब्रह्म) का परोक्षरूप से ग्रहण करने से और ४. प्रत्यक् अंशका ग्रहण न होने से। इनमें से 'बाधायोग्य होनेसे' इस प्रथम विकल्प का विचार यहां आरम्भ हुआ है। इसी को स्पष्ट करते हैं :—

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत्स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम्।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥

अन्वय—'ब्रह्म न अस्ति' इति मानं चेत् स्यात् तदा बाध्येत; एवं प्रबलं मानं ध्रुवं न पश्यामः। अतः न बाध्यते।

अर्थ—'ब्रह्म नहीं है' ऐसा सिद्ध करने वाला प्रमाण होता तो निश्चय ही परोक्षज्ञान की बाधा होजाती, परन्तु ऐसा प्रबल प्रमाण हमें नहीं मिलता, इसलिए 'ब्रह्म है' इस परोक्षज्ञान की बाधा नहीं होती ॥५२॥

व्यक्ति अर्थात् ब्रह्मके आकार का उल्लेख न होने से परोक्षज्ञान को भ्रान्ति मानना भी ठीक नहीं है! कहते हैं :—

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि भ्रान्तिः
स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥५३॥

अन्वय—व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात् स्वर्गधीः अपि भ्रान्तिः स्यात्।

अर्थ—यदि ब्रह्म की व्यक्ति (आकार) के अविषय करने मात्र से परोक्षज्ञान को भ्रान्ति मानो तो व्यक्ति के ज्ञान न होने तथा सामान्यरूप से ज्ञान होने से 'स्वर्ग है' यह ज्ञान भी तो भ्रम कहलायेगा? अतएव व्यक्ति का अग्रहण हेतु अतिप्रसक्त है ॥५३॥

तृतीयविकल्प का निराकरण करते हैं :-

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ॥५४॥

अन्वय-अपरोक्षत्वयोग्यस्य परोक्षमतिः भ्रमः न, परोक्षं इति अनुल्लेखनात्, अर्थात् पारोक्ष्यसम्भवात् ।

अर्थ-प्रत्यक्ष से जानने योग्य (यहां प्रत्यगभिन्न ब्रह्म) का पहले परोक्ष से जान लेना भ्रम नहीं है क्योंकि यह (ब्रह्म) परोक्ष है ऐसा ज्ञान नहीं होता फिर भी वह परोक्ष है क्योंकि "यह ब्रह्म है" इस प्रकार का ब्रह्म के आकार का ज्ञान न होने से वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही कहलाता है ॥५४॥

चतुर्थविकल्प के विषय में शंका और समाधान

अंशाग्रहीतेर्भ्रान्तिश्चेद्घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

अन्वय-अंशाग्रहीतेः भ्रान्तिः चेत्, घटज्ञानं भ्रमः भवेत् । व्यावर्त्यांशविभेदतः निरंशस्यापि सांशत्वम् ।

अर्थ-यदि अंशके अग्रहणसे परोक्ष ज्ञान को भ्रान्ति मानो अर्थात् ब्रह्मांश के ग्रहणके साथ साथ पृथक् अंशके अग्रहण से ही उसको भ्रम मानो तो घटज्ञान को भी भ्रम मानना पड़ेगा । यदि कहो कि घट तो सावयव है उसके किसी एक अंश के ग्रहण के साथ-साथ कुछ अंशों का अग्रहण सम्भव है--ब्रह्म तो निरवयव है अतएव उसके किसी एक अंश का ग्रहण किसी का अग्रहण सम्भव नहीं है ?

इसका उत्तर देते हैं कि-यद्यपि ब्रह्म निरवयव है परन्तु व्यावर्त्य-अंशरूपी उपाधि के भिन्न होने से वह निरवयव (निरंश) भी सावयव (सांश) मान लिया जाता है ॥५५॥

व्यावर्तांशों की विभिन्नता दिखलाते हैं :—

असत्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

अन्वय—परोक्षज्ञानतः असत्वांशः निवर्त्तेत तथा अपरोक्षधिया कृता अभानांशनिवृत्तिः ।

अर्थ—परोक्षज्ञान से तो असद्भावोपसम्पादक अज्ञानांश (असत्वांश) की निवृत्ति होती है और अपरोक्षज्ञान से अप्रतीति के सम्पादक अज्ञानांश (अभानांश) की निवृत्ति होती है ॥५६॥

जिस परोक्षज्ञानका विषय अपरोक्षतासे ग्रहणयोग्य है, वह भ्रम नहीं होता इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

दशमोस्तीत्यविभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

अन्वय—'दशमः अस्ति' इति परोक्षज्ञानं अविभ्रान्तं ईक्ष्यते, तद्वत् 'ब्रह्म अस्ति' इति अपि स्यात् ! अज्ञानावरणं समम् ।

अर्थ—यथार्थवादी आप्तपुरुष के वाक्य से उत्पन्न 'दशम है' यह परोक्षज्ञान जैसे अभ्रान्त है, वैसे ही 'ब्रह्म है' इस वाक्य से जन्य ज्ञान भी ऐसा ही होगा । दोनों में अज्ञानकृत असत्वावरणांश समान है ॥५७॥

वाक्य से परोक्षज्ञान तो अपरोक्षज्ञान किससे ? यह बताते हैं :—

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते।
व्यक्तिरुल्लिख्यते, यद्वद् दशमस्तत्वमसीत्यतः ॥

अन्वय—'आत्मा ब्रह्म' इति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते व्यक्तिः उल्लिख्यते; यद्वत् 'दशमः त्वं असि' इति अतः।

अर्थ—'अयं आत्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का भलीभान्ति विचार कर लेने पर पहले 'ब्रह्म है' इस रूप में परोक्ष रूप से जाने हुए ब्रह्म का व्यक्तित्व, अर्थात् अन्तरात्मा से अभिन्नपना, प्रत्यक्ष हो जाता है।+जैसे 'दशम तू है' इस वाक्य से *व्यक्ति अर्थात् "दशम"—दशम को अपने आप में दशमपना--प्रत्यक्ष हो जाता है ॥५८॥

विचारसहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान के प्रकार को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते।

+वेदान्त महावाक्यरूप शब्द ही ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण है, तथा निदिध्यासनरूप प्रसंख्यानसे जन्य एकाग्रमन उसका सहकारी है। संक्षेपशारीरिककार के मतसे महावाक्य ही अपरोक्षज्ञान हेतु है किन्तु अन्य वेदान्तग्रन्थकार विचारसहित महावाक्यको अपरोक्षज्ञान का हेतु मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचर प्रमाज्ञान का करण महावाक्यरूपशब्द प्रमाण है और उस प्रमाण से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है यह कहना उचित है।

*दशमका ज्ञान शब्दप्रमाणसे जन्य है ; नेत्र और मन उसके सहकारी हैं। क्योंकि दशम शरीररूप है वह नेत्र के अतिरिक्त दूसरी किसी इन्द्रिय से तो प्रत्यक्ष हो सकता नहीं। और आंखमींच कर बैठे पुरुषको भी 'तू दशम है' इस वाक्य को सुनकर दशम का ज्ञान हो जाता है अतएव दशम का ज्ञान आंख से भी नहीं होता। मन में तो बाह्यपदार्थ के ज्ञान का सामर्थ्य ही नहीं है।

गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥५६॥

अन्वय–'दशमः कः ?' इति प्रश्ने 'त्वं एव' इति निराकृते स्वेन सह गणयित्वा स्वं एव दशमं स्मरेत् ।

अर्थ–'हैं' करके बताया दशम कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'तू ही दशम है' आप्त पुरुष द्वारा यह कहने पर, अपने सहित दूसरे ६ पुरुषों को गिनकर, स्मरण कर अपने आपको ही दशम मान लेता है : इस प्रकार विचार सहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥५६॥

फिर 'मैं दशम हूँ' यह ज्ञान विपरीतभावना आदि से खण्डित नहीं होता

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६०॥

अन्वय–अस्य "दशमः अस्मि" इति वाक्योत्था धीः न विहन्यते; आदिमध्यावसानेषु नवत्वस्य संशयः न ।

अर्थ–इस दशम पुरुष का "तू ही दशम है" इस गिनती आदि रूप विचार के सहित वाक्य से उत्पन्न हुआ 'मैं दशम हूँ' यह ज्ञान नष्ट नहीं होता अर्थात् किसी भी ज्ञान से खण्डित नहीं होता और फिर गिनती की क्रिया में उन नौ के आदि, मध्य या अन्त में कहीं भी दशम को रख कर गिनती करने पर दशम के विषय में कभी भी 'मैं दशम हूं या नहीं' यह संशय नहीं होता । अतएव यह बुद्धि दृढ अपरोक्षरूप है ॥६०॥

उपरोक्त सब को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं :—

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।

गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवक्याद् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥

अन्वय–'सत् एव' इत्यादिवाक्येन परोक्षतः ब्रह्मसत्त्वं गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्यात् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ।

अर्थ–"यह जगत् पहले एक ही अद्वितीय सत् था"--इत्यादि वाक्य से पहले ब्रह्म की सत्ता का परोक्षज्ञान से निश्चय करके, और फिर जीव रूप से प्रवेश आदि युक्तियों के पर्यालोचन द्वारा उसके प्रत्यक्-रूप की सम्भावना करके, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूं' इस रूप में साक्षात् करे ।

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

अन्वय–इयं स्वस्य ब्रह्मत्वधीः आदिमध्यावसानेषु न एव व्यभिचरेत् तस्मात् आपरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ।

अर्थ–यह अपनी आत्मबुद्धि, (पांचों कोशों के) आदि, मध्य या अन्त में--कहीं भी--आत्मा का व्यवहार करने पर विपरीत नहीं होती अर्थात् अन्यथा नहीं होती । इसलिए इस बुद्धि की अपरोक्षता निश्चित है ॥६२॥

उक्त प्रकार अपरोक्षज्ञान होने में श्रुति का प्रमाण है !

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

अन्वय--भृगुः पुरा जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन पारोक्ष्येण-गृहीत्वा अथ विचारात् व्यक्तिं ऐक्षत् ।

अर्थ—वरुण नामक ऋषि के पुत्र भृगु ने पहले—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते······(तै० ३–१) इस वाक्य से सुने जगत् के जन्म आदि के कारणत्व आदि लक्षण से जगत् के कारण ब्रह्म को परोक्षरूप से जानकर पीछे विचार से, अन्नमयादि कोशों के विचार से व्यक्ति अर्थात् प्रत्यगात्मा-रूपी ब्रह्म का साक्षात्कार किया था। अतएव तैत्तिरीय श्रुति के वाक्य से सिद्ध होता है कि विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥६३॥

परन्तु इस प्रकरण में तो 'त्वं ब्रह्मासि' आदि उपदेश वाक्य नहीं हैं तो फिर भृगु को आत्म-साक्षात्कार कैसे हुआ ?

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचारस्थलमुक्तवान् ॥६४॥

अन्वय—यद्यपि अत्र भृगोः पिता 'त्वं असि इति वाक्यं न ऊचे, तथापि 'अन्नं प्राण' इति विचारस्थलं उक्तवान् ।

अर्थ—यद्यपि इस प्रकरण में भृगु के पिता ने 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा कोई उपदेश नहीं दिया तथापि 'अन्न' प्राण' आदि आत्म-साक्षात्कार के हेतु विचार के योग्य स्थलों का निर्देश कर दिया था।

अन्नमय आदि कोशों के विचार से तो प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार ही सम्भव है, फिर ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हुआ ? कहते हैं :—

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५॥

अन्वय—अन्नप्राणादिकोशेषु पुनः पुनः सुविचार्य आनन्दव्यक्ति

ईक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्म अपि अयूयुजत् ।

अर्थ–अन्न, प्राण आदि कोशों के विचार से वहां आनन्दरूप आत्मा को साक्षात् देखकर, 'आनन्द से ये भूत पैदा होते हैं' आदिवाक्यों में बताये ब्रह्म के लक्षणों को, पीछे, प्रत्यक् में भी भृगु ने लगा लिया था ।।६५।।

प्रत्यगात्मा और ब्रह्म में भेद भी नहीं है, क्योंकि,

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥६६॥

अन्वय–'सत्यं ज्ञानं च अनन्तं' इति एवं ब्रह्म स्वलक्षणं उक्त्वा कोशेषु गुहाहितत्वेन एतत् प्रदर्शितम् ।

अर्थ–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै०२-२] इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप*लक्षण बताकर यो वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्'--(मुण्ड २–१–१०) इस वाक्य में उसी को पांचों कोशों रूपी गुहा में छिपा बैठा हुआ बताया है। इस प्रकार उपनिषदों ने ब्रह्म को ही प्रत्यगात्मा बताया है ।।६६।।

---

*असम्भव, अव्याप्ति और अति-व्याप्ति-इन तीनों दोषों से रहित असाधारण धर्म (एकवर्ति धर्म) को लक्षण कहते हैं। वह दो प्रकार का है--१. तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। जो लक्षण कभी ही रहता हो और व्यावर्त्तक हो वह तटस्थ है–जैसे काकयुक्त देवदत्त का घर' में काकयुक्त लक्षण। ऐसे ही 'जिससे यह भूत उत्पन्न हुए' आदि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं। जो सर्वदा रहे और व्यावर्त्तक हो, वह स्वरूप लक्षण है। जैसे 'श्वेत रंग युक्त देवदत्त का गृह इसमें 'श्वेत रंग युक्त' लक्षण है। ऐसे ही सत्यज्ञानादिरूप ब्रह्म का लक्षण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

छान्दोग्य श्रुति में भी, परोक्षज्ञानपूर्वक विचार से साक्षात्कार होना वर्णित है—

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

अन्वय—इन्द्रः यः आत्मा इत्यादि लक्षणात् पारोक्ष्येण विबुध्य अपरोक्षीकर्तुं इच्छन् चतुर्वारं गुरुं ययौ ।

अर्थ—छान्दोग्य के वर्णन के अनुसार देवराज इन्द्र, 'य आत्माऽपहतपाप्मा०' (छा० ८-७-१) इत्यादि वाक्य में बताये लक्षण से आत्मा को पहले परोक्षरूप से जान कर, (विचारों से तीनों शरीरों का निराकरण कर) आत्मा का अपरोक्षज्ञान करने की इच्छा से, चार बार गुरु के पास गया था ॥६७॥

ऐतरेय श्रुति में भी ऐसा वर्णन है :—

आत्मा वाइदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

अन्वय—'आत्मा वा इदं' इत्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितं, अध्यारोपावादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ।

अर्थ—ऐतरेय में 'आत्मा व इदं' इत्यादि वाक्यों में पहले परोक्ष ब्रह्म का कथन किया; फिर अध्यारोप और अपवाद के द्वारा प्रज्ञान अर्थात् प्रत्यगात्मारूप ब्रह्म को दिखाया गया है ।

ऐतरेय उपनिषद् में आत्मा वा इदमग्रआसीत्' इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण वर्णन किया है—फिर 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' से लेकर 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः'

इस वाक्यपर्यन्त वाक्यों से परमात्मा में जगत् के अध्यारोप के प्रकार को बताकर 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत् किमिहान्यं वावदिषत्' इस वाक्य से उस आरोप का निषेध कह कर 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततम् पश्यत् इदमदर्शम्' इससे प्रत्यगात्मा को ब्रह्मरूप कहा है। फिर 'पुरुषे ह वा' इत्यादि वाक्य से ज्ञान के साधन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए गर्भवास आदि दुःखों को दिखाकर 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' इत्यादि वाक्य से विचार के द्वारा "तत्-त्वं" पदार्थों का शोधन करते हुए प्रज्ञानं ब्रह्म' इस श्रुतिसे प्रज्ञानरूप आत्मा की ब्रह्मरूपता प्रदर्शित की है ॥६८॥

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

अन्वय–सर्वत्र एव अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीः भवेत् महावाक्यविचारात् अपरोक्षधीः।

अर्थ– इस प्रकार सभी श्रुतियों में अवान्तर वाक्य से तो ब्रह्म का परोक्षज्ञान होता है और महावाक्यों के विचार से अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥६९॥

महावाक्यों के विचार से अपरोक्षज्ञान होता है—इसमें प्रमाण

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम्।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥७०

अन्वय–वाक्यवृत्तौ 'ब्रह्मापरोक्ष्यसिध्यर्थं महावाक्यं' इति ईरितम् अतः ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिः न हि।

अर्थ—वाक्यवृत्ति में उसके रचियता श्रीशंकराचार्य ने--'अपरोक्षता की सिद्धि के लिए महावाक्य हैं'--ऐसा कहा है; अतएव महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान होता है यह निर्विवाद है ॥७०॥

'वाक्यवृत्ति' में अपरोक्षज्ञान का उपपादन निम्न प्रकार किया है :—

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१॥

अन्वय—यः अन्तकरणसंभिन्नबोधः अस्मतप्रत्ययशब्दयोः आलम्बनतया भाति, सः त्वंपदाभिधः।

अर्थ—जो अन्तःकरणोपाधि बोध (चिदात्मा) 'मैं' इस ज्ञान और 'अहं' इस शब्द के विषयरूप में प्रतीत होता है, वह बोध 'त्वं' पद का वाच्यार्थ है ॥७१॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥७२॥

अन्वय—मायोपाधिः जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः पारोक्ष्यशबलः; सत्याद्यात्मकः तत्पदाभिधः।

अर्थ—माया उपाधिवाला, जगत् का कारण (निमित्त और उपादान) सर्वज्ञता आदि लक्षण वाला, परोक्षतारूप धर्म विशिष्ट (इन तटस्थलक्षणों वाला) और जो सत्य आदि स्वरूपवाला अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप (यह स्वरूपलक्षण है) है, वह 'तत्' पद का वाच्यार्थ है ॥७२॥

पदार्थज्ञान के पश्चात् वाक्यार्थ जानने के लिए लक्षणावृत्तिका आश्रय आवश्यक

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३॥

अन्वय—प्रत्यक्परोक्षता सद्वितीयत्वपूर्णता एकस्य यतः विरुध्येते तस्मात् लक्षणा संप्रवर्तते ।

अर्थ—क्योंकि एक ही वस्तु 'प्रत्यक्' भी हो तथा 'परोक्ष' भी हो; वही वस्तु सद्वितीय (परिच्छिन्न) भी हो तथा पूर्ण भी हो--ये दोनों बातें क्योंकि विरुद्ध हैं, इसलिए वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है ॥७३॥

वह लक्षणा कहां किस प्रकार की है ? यह बताते हैं :—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

अन्वय—तत्त्वमसि-आदि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा; सोऽयं इत्यादि वाक्यस्थपदयोरिव अपरा न

अर्थ—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में वह लक्षणा भागलक्षणा, भागत्यागलक्षणा, मानी गई है । 'सोऽयं' इत्यादि वाक्यों में स्थित दोनों पदों की न्याईं और कोई लक्षणा, जहत् या अजहत् लक्षणा, नहीं मानी गई है ।

'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में जैसे भागत्यागलक्षणा मानी गई वैसे ही 'तत् त्वं आदि वाक्यों में भी भागत्यागलक्षणा ही है ॥७४॥

'गामानय' वाक्य की भान्ति 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी लक्षणा के

बिना ही बोध क्यों नहीं होता ?

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

अन्वय–अत्र संसर्गः वा विशिष्टः वा वाक्यार्थः संमतः न, अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः विदुषां मतः ।

अर्थ–जैसे 'गौ को ले आ' आदि वाक्यों में गौ आदि पदों से याद दिलाये परस्पर आकांक्षा* आदि वाले पदार्थों का परस्पर संसर्ग (अन्वय) हो जाना वाक्यार्थ+ है अथवा 'नीला तथा बहुत

---

*आकांक्षा, योग्यता, तात्पर्य का ज्ञान और आसत्ति का ज्ञान–इनके बिना वाक्यार्थ का बोध नहीं होता ।

+लौकिक वैदिक शब्दों का जैसा संसर्ग (सम्बन्ध) रूप वाक्यार्थ (गौ; को ले आ) आदि वाक्यों में होता है, वैसा महावाक्यों का अर्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि 'तत्-त्वमसि' में यदि 'तत्' का सम्बन्धी 'त्वं' को मानेंगे तो पुरुष की असंगता नहीं रहेगी ।

फिर, 'नीला, बहुत सुगन्धवाला कमल' इस वाक्य में जैसे 'नीलरंगविशिष्ट, बहुत संगन्धवाला कमल है' यह वाक्यार्थ विशिष्ट रूप है, वैसा भी महावाक्य का अर्थ सम्भव नहीं है । क्योंकि यदि 'त्वं' पदार्थ विशेषण वाला 'तत्' पदार्थ या 'तत्' पदार्थ-विशेषण वाला 'त्वं' पदार्थ मानेंगे तो एक ही को सर्वज्ञता व अल्पज्ञता आदि धर्म-युक्त मानना पड़ेगा जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है । फिर श्रुतियों में ब्रह्म को सर्व-धर्म-रहित, निर्गुण, सजातीय-विजातीय-भेद-रहित सिद्ध किया है ।

अतएव लक्षणा से अखण्ड-एकरसतारूप ही महावाक्य का अर्थ विद्वानों ने स्वीकार किया है ।

सुगन्धित कमल' इत्यादि वाक्यों में नीलापन आदि धर्मविशिष्ट कमल' यह वाक्यार्थ माना जाता है-वैसे 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्यों में संसर्ग और विशिष्ट में से किसी को भी वाक्यार्थ नहीं माना जाता। अपितु विद्वान् जन, अखण्ड-एक-रस (स्वगत आदि त्रिविधभेद-रहित वस्तुमात्ररूप) पदार्थ को वाक्यार्थ मानते हैं; इस-लिए लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है ॥७५॥

अखण्डैकरसवाक्य का अर्थ स्पष्ट करते हैं :-

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥७६॥

अन्वय-यः प्रत्यग्बोधः आभाति सः अद्वयानन्दलक्षणः च अद्व-यानन्दरूपः प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ।

अर्थ-लोगों को जो प्रत्यक् बोध--(सर्वान्तर चिदात्मा) अपनी बुद्धि आदियों का साक्षी होकर प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय आ-नन्दरूप परमात्मा है। और जो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा बताया जाता है वह चिदेकरस प्रत्यक् आत्मा ही है ॥७६॥

अखण्डार्थ बोध का परिणाम

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७७॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥७८॥

अन्वय—इत्थं अन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः यदा भवेत् तदा, एव त्वमर्थस्य अब्रह्मत्वं व्यावर्येत हि ॥७७॥ च तदर्थस्य पारोक्ष्यम्। यदि यदि एवं, ततः किम् ? शृणु, पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधः अवतिष्ठते।

अर्थ—जब किसी को इस प्रकार परस्पर तादात्म्य का ज्ञान हो जाता है, तब, एक तो, 'त्वं' के अर्थ में प्रत्यगात्मा की भ्रांति से जो अब्रह्मता आगई थी वह दूर हो जाती है और दूसरे, 'तत्' पद के अर्थ में जो परोक्षता आगई थी (ब्रह्म जो परोक्षज्ञान का विषय हो गया था) वह उसी क्षण नष्ट हो जाती है।

ऐसा होने पर फिर क्या होता है? सुनो; जो अबतक प्रत्यग्-बोध था, वही अब पूर्णानन्द बन जाता है ॥७७,७८॥

फिर भी जो लोग आगम को परोक्षनुभव का ही साधन कहते हुए महा-वाक्य की अपरोक्षज्ञान की जनकता में सन्देह करते हैं—उनकी हंसी उड़ाते हुए कहते हैं :—

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥

अन्वय—एवं सति यैः महावाक्यात् परोक्षज्ञानं ईर्यते, तेषां शास्त्र-सिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम्!

अर्थ—फिर भी जो यही कहते रहते हैं कि महावाक्य से परोक्ष-ज्ञान ही होता है उनका, शास्त्रसिद्धान्तों का, ज्ञान तो बहुत बढ़िया है! क्या कहने! ॥७९॥

'वाक्य परोक्षज्ञान का जनक है' इसमें अनुमान प्रमाण भी नहीं बनता

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धांतो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः।

स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०॥

अन्वय–शास्त्रस्य सिद्धान्तः आस्तां युक्त्या स्वर्गादिवाक्यवत् वाक्यात् परोक्षधीः ; न एवं दशमे व्यभिचारतः ।

अर्थ–शास्त्र के सिद्धान्त को जाने दो, युक्ति (अनुमान) से, स्वर्गादि वाक्य की भान्ति, वाक्य से परोक्षज्ञान होना सिद्ध होता है। [यहां अनुमान इस प्रकार होगा--विवाद का विषय वाक्य परोक्षज्ञान का जनक होने योग्य है; क्योंकि वाक्य है : जैसे स्वर्गादिक का प्रतिपादक वाक्य स्वर्गादि के परोक्षज्ञान का जनक है।] इस शंका का समाधान निम्न है:—यह हेतु ठीक नहीं है क्यों कि 'तू दशम है' यह भी वाक्य है और अपरोक्ष-ज्ञान का जनक है। अतएव सब वाक्य परोक्षज्ञान के ही जनक नहीं हैं। अतएव हेतु अनैकान्तिक है* ॥८०॥

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१॥

अन्वय–'स्वतः अपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वं अभिवाञ्छतः सिद्धापरोक्षत्वं नश्येत्' इति युक्तिः महती अहो !

अर्थ–'फिर जो जीव अभीतक स्वतः अपरोक्ष था वह जब ब्रह्म-भाव को चाहने लगा तो उसकी पहले ही सिद्ध अपरोक्षता भी

*शब्द का यह स्वभाव है कि सान्तराय वस्तु का शब्द से परोक्षज्ञान ही होता है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं। अन्तरायरहित वस्तु का परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

जाती रही !' यह तो तुम्हारी युक्ति बड़ी भारी है !! ॥८१॥

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

अन्वय—'वृद्धि इष्टवतः मूलं अपि नष्टम्' इति ईदृशं वचनं त्वत्प्रसादतः सार्थं सम्पन्नम् ।

अर्थ—'ब्याज चाहने वाले का मूलधन भी हाथ से गया' यह लौकिककथन तो तुम्हारे जैसे की कृपा से ही सार्थक हुआ है ॥८२॥

वादी की एक शंका और समाधान

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥
नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्त्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

अन्वय—अन्तकरणसंभिन्नबोधः जीवः उपाधिसद्भावात् अपरोक्षतां अर्हति । ब्रह्म तु अनुपाधितः न । एवं न, ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः, यावत् विदेहकैवल्यं उपाधेः अनिवारणात् ।

अर्थ—(शंका) अन्तःकरण से मिश्रितबोध, जिसे जीव कहते हैं, अन्तःकरणोपाधि होने से प्रत्यक्ष होने योग्य है; परन्तु निरुपाधिक होने से ब्रह्म का प्रत्यक्षज्ञान कैसे हो सकता है ? (समाधान) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जीवको, जो ब्रह्मरूपताका बोध है वह भी सोपाधिकवस्तुविषयक ही है; इसलिए उसके ज्ञानका विषय ब्रह्म भी सोपाधिक ही है; (उपाधि के बिना ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता) । जब तक

किसी की विदेहमुक्ति नहीं होती तब तक उपाधि का निवारण नहीं होता ॥८४॥

फिर क्या जीव और ब्रह्म की दो विभिन्न उपधियां हैं ?

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५॥

अन्वय–जीवभावस्य च ब्रह्मतायाः उपाधिः अन्तकरणसाहित्य-राहित्याभ्यां विशिष्यते, अन्यथा न ।

अर्थ–जीवत्व और ब्रह्मत्व की उपाधियां क्रमशः अन्तःकरण-साहित्य और अन्तःकरणराहित्य ही हैं । अन्तःकरणसाहित्य तत्त्व को 'जीव' और अन्तःकरण से रहित हुए तत्त्व को 'ब्रह्म कहते हैं' ।

अन्तःकरणसाहित्य तो भावरूप है वह उपाधि हो सकती है, परन्तु अभाव रूप अन्तःकरणसाहित्यको उपाधि क्यों कर कह सकते हैं ? इसका उत्तर देते हैं–

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

अन्वय–विधिः यथा उपाधिः स्यात् तथा प्रतिषेधः न किम् ? सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते ।

अर्थ–जिस प्रकार विधि अर्थात् भावरूप, अन्तःकरण का सम्बन्ध उपाधि हो सकती है उसी प्रकार निषेध अर्थात् अभावरूप, अन्तःकरण का वियोग भी*उपाधि क्यों न होगी ? भाव और अभा-

---

*अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन स्वामी ने उपाधि का लक्षण 'यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता' अर्थात् 'कार्य की अवधिपर्यन्त टिकनेवाले भेद की हेतु' किया है; वह लक्षण अन्तःकरणसाहित्य और अन्तःकरणराहित्य दोनों में घटता है ।

वरूप जो थोड़ा सा अवान्तर भेद दिखाई देता है वह अकिंचित्कर है-जैसे सोने और लोहे की सांकलों में सोने और लोहे की भिन्नता के होते हुए भी शृङ्खलापन (पुरुष के गमन की विरोधकता) तो कहीं नहीं जाता ॥८६॥

विधि-निषेध दोनों ही ब्रह्मबोध के उपाय हैं-यह आचार्यों का मत है-

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

अन्वय-'अतद्व्यावृत्तिरूपेण च साक्षात् विधिमुखेन द्विधा वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्यात्' इति आचार्यभाषितम् ।

अर्थ-एक अतद्व्यावृत्तिरूप से, दूसरे साक्षात् विधिमुख से; इस प्रकार दो प्रकार से वेदान्तों की प्रवृत्ति, ब्रह्म प्रतिपादन की शैली है-यह आचार्य का कहना है ।

'तत्' शब्द से ब्रह्म और "अतत्" से ब्रह्म भिन्न अज्ञान आदि प्रपंच लिया जाता है । 'नेति-नेति' कहकर प्रपंचका निषेध करना ब्रह्म-ज्ञान का अतद्व्यावृत्तिरूप एक उपाय है और 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर साक्षात् वाचक शब्दों से ब्रह्म का प्रतिपादन करना दूसरा उपाय है ॥८७॥

निषेधमुख से ब्रह्मबोध मानने में एक शंका और उसका समाधान

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

अन्वय-अहमर्थपरित्यागात् 'अहं ब्रह्म' इति धीः कुतः ? एवं न हि भागलक्षणाया अंशस्य त्यागः उदितः ।

अर्थ--(शंका) 'अहं' शब्द के अर्थ कूटस्थ का भी त्याग हो जायगा तो "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान (समानाधिकरणरूप से) कैसे होगा ? (समाधान) यह बात नहीं है--यहां 'अहं' शब्द के सारे अर्थ का त्याग नहीं है । भागत्यागलक्षणा से केवल एक अंश-जड़ांश-का त्याग कहा है, कूटस्थ का नहीं; कूटस्थ विशिष्ट जीव को नहीं छोड़ा है ॥८८॥

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥८६॥

अन्वय--अन्तःकरणसंत्यागात् अवशिष्टे चिदात्मनि साक्षिणि "अहं ब्रह्म" इति वाक्येन ब्रह्मत्वं ईक्ष्यते ।

अर्थ--अन्तःकरणविशिष्ट चेतन जीव में से जाड्यांश अन्तःकरणरूप उपाधि को छोड़ देने पर शेष रहे चिदात्मारूपसाक्षी में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में ब्रह्मत्व का दर्शन होता है ॥८६॥

केवल प्रत्यक्आत्मा स्वप्रकाश है तो भी बुद्धि का विषय है :—

स्वप्रकाशोऽपिसाक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥

अन्वय--साक्षी स्वप्रकाशः अपि अन्यवत् धीवृत्या एव व्याप्यते; फलव्याप्यत्वं एव अस्य शास्त्रकृद्भिः निवारितम् ।

अर्थ--वह साक्षी स्वयंप्रकाश है तो भी अन्य घटादियों के समान बुद्धिवृत्तियों से व्याप्त होता ही है--'मैं स्वप्रकाश हूं' इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति सम्भव है ही । इस आत्मा की फलव्यापकता का ही शास्त्रकारों ने निषेध किया है ।

फल का अर्थ है वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास; प्रत्यगात्मा में

उस चिदाभास की व्याप्यता (विषयता) का ही निषेध पूर्वाचार्यों ने किया है; क्योंकि प्रत्यगात्मा स्वयं स्फुरणशील (स्वयंप्रकाश) है। इसमें बुद्धिवृत्ति की व्याप्यता का निषेध आचार्यों ने नहीं किया है।

आत्मा में फलव्याप्ति के अभाव को दिखाने के लिए अनात्म घटादिकी वृत्ति और फल की व्याप्ति दिखाते हैं :–

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥

अन्वय–बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वौ अपि घटं व्याप्नुतः तत्र धिया अज्ञानं नश्येत्, आभासेन घटः स्फुरेत्।

अर्थ–(घट प्रतीति के समय) बुद्धि और उसमें पड़ा हुआ चिदाभास, दोनों, घट को व्याप्त किया करते हैं। इसके दो फल होते हैं–१. बुद्धिवृत्तिसे तो अज्ञान नष्ट हो जाता है और २. चिदाभाससे घट की स्फूर्ति होती है; जड़-रूप घट का स्वतःस्फुरण नहीं हो सकता।

परन्तु आत्मा में अनात्मा घट-आदि से कुछ विलक्षणता है :—

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२॥

अन्वय–ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता। स्वयंस्फुरणरूपत्वात् आभासः न उपयुज्यते।

अर्थ–प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की एकता को अज्ञान ने आवृत किया हुआ था–उस अज्ञान को नष्ट करने के लिए वृत्ति द्वारा ब्रह्म की व्याप्ति अपेक्षित होती है। [महावाक्य से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म

हूं' इस रूप की बुद्धि-वृत्ति द्वारा ब्रह्म की विषयता अपेक्षित होती है] परन्तु आत्मा के स्वयं स्फुरण रूप होने के कारण उसका स्फुरण कराने के लिए चिदाभास की अपेक्षा नहीं रहती। [अतएव चिदाभास भले ही ब्रह्म से युक्त हो जाता हो तो भी प्रत्यक्-अभिन्न ब्रह्म के स्फुरण में उसका कोई उपयोग नहीं होता।]॥९२॥

पूर्वोक्त को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

चक्षुर्दीपापेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥९३॥

अन्वय—यथा घटादिदर्शने चक्षुर्दीपौ अपेक्ष्येते, दीपदर्शने न; किन्तु एकं चक्षुः अपेक्ष्यते।

अर्थ-जैसे अंधेरे में रखे घटादि को देखने के लिए आंख और दिया दोनों चाहिएं; और दीपक को देखने के लिए दोनों की नहीं, केवल आंख की आवश्यकता होती है। अर्थात् घटादि के प्रति आवरण निवृत्ति और स्फुरण के लिए वृत्ति और चिदाभास दोनों अपेक्षित हैं परन्तु ब्रह्म के प्रति अज्ञान के नाशार्थं वृत्ति व्याप्ति ही अपेक्षित है ॥९३॥

यदि कहो बुद्धि और उसकी वृत्तियां चिदाभास से विशिष्ट स्वभाववाली हैं इसलिए घटादि के समान ब्रह्म में भी बलात् फलव्याप्ति हो जायगी ? इसका उत्तर देते हैं :

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम्।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ॥९४॥

अन्वय–असौ चिदाभासः स्थितः अपि ब्रह्मणि एकीभवेत् ब्रह्मणि घटादिवत् परं अतिशयं फलं तु न कुर्यात् ।

अर्थ–यद्यपि घटाकार-वृत्ति की भान्ति ब्रह्म को गोचर करने वाली वृत्तियों में भी चिदाभास विद्यमान है तथापि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं प्रतीत होता–ब्रह्म के साथ एक होकर रहता है। वह प्रचण्ड धूप में रखे दीप के प्रकाश की भांति उससे मिल जुल जाता है। इसलिए वह चिदाभास, ब्रह्म में, घटादि की भान्ति स्फुरण रूप अतिशय फल को उत्पन्न नहीं करता ॥९४॥

ब्रह्म में वृत्ति-व्याप्ति के होते हुए भी फल-व्याप्ति नहीं है इसमें प्रमाण

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

अन्वय–'अप्रमेयं च अनादिं' इति अत्र श्रुत्या इदं ईरितम् । 'मनसा एव इदं आप्तव्यं' इति धीव्याप्तता श्रुता ।

अर्थ–'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितं । अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः' अमृत-बिन्दु उपनिषद् के इस मन्त्र में 'अप्रमेय' कहकर ब्रह्म की फल-व्याप्ति-हीनता सूचित की है। [उसमें फल की व्याप्ति नहीं है इसीलिए वह अप्रमेय है।] तथा 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन' कठोपनिषद् के इस मन्त्र में ब्रह्म की वृत्ति-विषयता का वर्णन है ॥९५॥

'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इत्यादि मन्त्र में जीव की जो दो अवस्थायें बतला आए है, उनमें से अपरोक्षज्ञान कितने अंश से है ? यह बतलाते हैं :–

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।

ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥

अन्वय–ब्रह्मात्मव्यक्ति उल्लिख्य यः बोधः सः 'अयं अस्मि' इति 'आत्मानं विजानीयात् चेत्' वाक्यतः अभिधीयते ।

अर्थ–प्रत्यगात्मा के स्वरूप को सत्यादि लक्षण वाले ब्रह्म से अभिन्न जानकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में जो बोध होता है, उसी का कथन 'आत्मानं चेद् विजानीयात्' इस श्रुति में किया गया है ॥९६॥

यदि महावाक्यों के विचार से एक ही बार में अपरोक्ष-ज्ञान हो जाय तो फिर श्रवण आदि की पुनः पुनः आवृत्ति की क्या आवश्यकता है ?

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥९७॥

अन्वय–अत्र महावाक्यात् अपरोक्षः बोधः अस्तु; तथापि न असौ दृढः । आचार्यैः पुनः श्रवणादीनां ईरणात् ।

अर्थ–महावाक्यों से एक बार सुनकर विचार करने पर ब्रह्मात्मता के विषय में अपरोक्षज्ञान तो हो जाता है पर वह दृढ़ नहीं होता । इसीलिए श्री शंकराचार्य ने वाक्यार्थज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् भी ज्ञान की दृढ़ता के लिए श्रवण आदि की आवृत्ति का विधान किया है ॥९७॥

उपरोक्त विषयक वाक्यों को उद्धृत करते हैं :—

अहंब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्येसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

अन्वय–'अहं ब्रह्म' इति वाक्यार्थबोधः यावत् दृढीभवेत् तावत्,

शमादिसहितः श्रवणादिकं अभ्यसेत्।

अर्थ—आचार्य ने कहा है कि जब तक 'मैं ब्रह्म हूं' इस वाक्यार्थ का ज्ञान दृढ़ न हो तब तक शमादि से युक्त रहकर श्रवण, मनन आदि का अभ्यास करे ॥९८॥

ज्ञान की अदृढ़ता के कारण बताते हैं :—

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

अन्वय—हि श्रुत्यनेकता, च अर्थस्य असम्भाव्यत्वं, विपरीता भावना—आदार्ढ्यस्य हेतवः बाढं सन्ति।

अर्थ—श्रुतियों की अनेकता, अर्थ का असम्भव प्रतीत होना और विपरीत भावना—शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अदृढता के, ये तीन कारण सर्वथा हैं ही।

श्रुतियों की विविधता (प्रथम हेतु) प्रमाणगत संशय की जनक है। अर्थ अर्थात् अखण्डैकरस अद्वितीय ब्रह्म का अलौकिकता के कारण असम्भावितपना (दूसरा हेतु) प्रमेयगत संशय की विषयता है। कर्तृत्व आदि का अभिमान ही विपरीत भावना है जो अदृढ़ता का तीसरा हेतु है ॥९९॥

श्रुतियों के नाना होने से उत्पन्न हुई अदृढता की निवृत्ति के लिए श्रवण आदि की पुनरावृत्ति आवश्यक है :—

शाखाभेदात्कामभेदात् श्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा।
एवमत्रापि मा शंकीत्यतःश्रवणमाचरेत् ॥१००॥

अन्वय–शाखाभेदात् कामभेदात् अन्यथा अन्यथा कर्म श्रुतं एवं अत्र अपि मा आशंकि, इति अतः श्रवणं आचरेत् ।

अर्थ–शाखाभेद और इच्छा-भेद से भिन्न-भिन्न कर्मों का विधान श्रुति में किया गया है; ऐसा ही कोई भेद यहां उपनिषदों में भी प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय में है–ऐसी शंका के निवारण के लिए बार बार श्रवण की आवृत्ति करे ।

ऋग्वेद का वेत्ता होत्र यजुर्वेद-वेत्ता अध्वर्यव और समावेद का गायक उद्गीथ कर्म करता है–यह शाखा-भेद से कर्म का भेद है । वृष्टि की इच्छा से कारीरीयाग (प्रजा से कर लेकर किया गया अथवा वंश वृक्ष के अंकुर-रूप करीरों का होम होता है) और आयु की इच्छा से शतकृष्णलयाग (सोने के १०० पासों का दान) किया जाता है ॥१००॥

श्रवण का लक्षण करते हैं :—

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ।१०१।

अन्वय–आदिमध्यावसानतः अशेषाणां वेदान्तानां ब्रह्मात्मनि एव तात्पर्यं इति धीः श्रवणं भवेत् ।

अर्थ–आदि, मध्य और अन्त; कहीं से भी विचार करने पर सब वेदान्तों (उपनिषदों) का तात्पर्य ब्रह्म को प्रत्यगात्मा बताना ही है—ऐसे निश्चय को श्रवण कहते हैं ॥१०१॥

तात्पर्य के निर्णायक लिंग, ६ हैं:–१.उपक्रम और उपसंहार की एकता, २.अभ्यास ३. अपूर्वता, ४. फल ५. अर्थवाद और ६.

उपपत्ति। वैदिक वाक्यों का तात्पर्य इन्हीं से ज्ञात होता है।

श्रवण तथा मनन का निरूपण कहां किया गया है ?

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२॥

अन्वय--एतत् समन्वायाध्याये सूक्तम्। धीस्वास्थ्यकारिभिः तर्कैः अर्थस्य सम्भावना द्वितीयाध्याये ईरिता।

अर्थ—व्यास मुनि आदि*ने समन्वयाध्याय में इस श्रवण का भलीभांति वर्णन किया है। और बुद्धि को स्थिरता करने वाले तर्कों से अर्थ की सम्भावितता के अनुसंधान रूप मनन का दूसरे अध्याय में निरूपण किया है।

प्रमेयगत संदेहों को मिटाकर बुद्धिके स्वरूपमें एकाग्रता उत्पन्न करना 'धीस्वास्थ्य' है। अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियां ही यहां तर्क है जिनसे ब्रह्मात्मा की एकतारूप अर्थ की सम्भावना का अनुसन्धान अर्थात् मनन किया जाता है ॥१०२॥

विपरीतभावना और उसकी निवृत्ति के उपाय का वर्णन

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात्।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥
विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

---

*'व्यास आदि' इस पद में आदि से आनन्दगिरि आदि व्याख्याताओं का ग्रहण है। सब मिलाकर प्रमेय ग्रन्थों की संख्या २०३४०० है।

अन्वय–बहुजन्मदृढाभ्यासात् क्षणात् पुनः पुनः देहादिषु आत्मधीः उदेति, एवं जगत् सत्यत्वधीः अपि। इयं विपरीता भावना; सा ऐकाग्र्यात् निवर्तते। एतत् तत्वोपदेशात् प्राक् एव उपासनात् भवति।

अर्थ–बहुत जन्मों के दृढ़ अभ्यास के कारण क्षण-क्षण में बार बार देहादियों में आत्मबुद्धि उदित हो जाती है और इसी प्रकार जगत् को सत्य समझने का विचार भी पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करता है। इसी को 'विपरीत भावना' कहते हैं। यह विपरीत भावना चित्त की एकाग्रता से निवृत्त होती है। और एकाग्रता ब्रह्मतत्त्व के उपदेश से पहले भी सगुण ब्रह्म की उपसना से प्राप्त हो जाती है ॥१०३-१०४॥

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद् ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥

अन्वय–अतः एव अत्र ब्रह्मशास्त्रे अपि उपास्तयः चिंतिताः। प्राक् अनभ्यासिनः पश्चात् ब्रह्माभ्यासेन तत् भवेत्।

अर्थ–इसीलिए (कि विपरीत भावनाकी निवर्तक एकाग्रता उपासना से ही होती है) ब्रह्मशास्त्र में भी उपासना का विचार किया है। और जिसने पहले उपासना नहीं की उसको भी पीछे ब्रह्म के अभ्यास से वह एकाग्रता प्राप्त हो जाती है ॥१०५॥

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

अन्वय–तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योऽन्यं तत्प्रबोधनं च एतदेकपरत्वं बुधाः ब्रह्माभ्यासं विदुः।

अर्थ—ब्रह्म का ही चिन्तन, उसका ही कथन और परस्पर उस को ही समझाना; इस प्रकार एकमात्र उसमें ही तत्पर रहना बुद्धिमानों ने ब्रह्माभ्यास बताया है ॥१०६॥

एकमात्र ब्रह्म के प्रति तत्परता का निम्न श्रुति ने भी विधान किया है :–

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

अन्वय—धीरः ब्राह्मणः तं एव विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत । बहून्-शब्दान् न अनुध्यायात्, हि तत् वाचो विग्लापनम् ।

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि साधन-सम्पन्न धीर मुमुक्षु ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस प्रत्यगात्मा-रूप परमात्मा को ही संशयादि रहित ढंग से जानकर, ब्रह्मात्मा की एकता के ज्ञान की एक धारा-रूप एकाग्रता को सम्पादित करे। अनात्मा को विषय करने वाले बहुत से शब्दों का स्मरण और कीर्तन न करे। क्यों कि अनात्म-गोचर शब्दों के स्मरण और कथन से तो मन और वाणी को व्यर्थ ही श्रम होता है ॥१०७॥

भगवद्-गीता (९-२२) में भी एकाग्रता का विधान है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अन्वय—ये जनाः अनन्याः मां चिन्तयन्तः पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां अहं योगक्षेमं वहामि ।

अर्थ—जो जन 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार ज्ञान के कारण मुझ

से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही मुझको विचारते हुए सारे समय मेरे रूप में ही रहते हैं, जो कि सदा मुझमें चित्त लगाए रहते हैं, (अपने आत्मरूप से विचार्यमाण) मैं स्वयं उनके योगक्षेम अर्थात् अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा-रूप योग-क्षेम का सम्पादन करता रहता हूं ।।१०८।।

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ।।

अन्वय--इति श्रुतिस्मृती विपरीतायाः भावनायाः क्षयाय हि आत्मनि नित्यं धियः एकाग्रतां विधत्तः ।

अर्थ--ऊपर वर्णित श्रुति और स्मृतियां विपरीत भावनाकी निवृत्ति के लिए चित्त की एकाग्रता का विधान करती हैं ।।१०९।।

विपरीत भावना का लक्षण

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ।।११०।।

अन्वय--यत् यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वा अन्यथात्वधीः विपरीता भावना स्यात्, तथा पित्रादौ अरिधीः ।

अर्थ--जो (सीप आदि) जैसा है, उसके उस (शुक्ति आदि) रूप को छोड़कर अन्यथा (रजतआदि) समझलेना ही विपरीत भावना है। (अर्थात् 'अतत्' को 'तत्' समझलेना) । जैसे किसी दुष्ट पुत्र की अपने पिता में शत्रु बुद्धि हो जाना ।।११०।।

इस लक्षण को प्रसंग में घटाते हैं :—

आत्मा देहादिभिन्नोयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ॥१११॥

अन्वय—अयं आत्मा देहादिभिन्नः च इदं जगत् मिथ्या, तयोः देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीः विपर्ययभावना ।

अर्थ—यह आत्मा वस्तुतः देहादि से भिन्न है और यह संसार मिथ्या है । ऐसा होने पर भी उन दोनों को क्रमशः देहादि समझना और सत्य समझना विपरीत भावना है ॥११२॥

तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम् ।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोनिशम् ॥

अन्वय—सा तत्वभावनया नश्येत्, अतः आत्मनः देहातिरिक्ततां तद्वत् जगतः मिथ्यात्वं अनिशं भावयेत् ।

अर्थ—क्योंकि वह विपरीत भावना तत्त्वभावना से नष्ट हो जाती है इसलिए साधक को चाहिए कि वह आत्मा की देहादि से भिन्नता और जगत् के मिथ्यात्व की दिन रात भावना किया करे ।

क्या इस भावना को जपादि की भान्ति नियम से करना चाहिए ?

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्मभेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्था ॥
अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद्भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥

अन्वय—अत्र आत्मभेदधीः च जगन्मिथ्यात्वधीः मन्त्रजपवत् किं वा मूर्तिध्यानवत् उत अन्यथा व्यावर्त्या स्यात् ?॥११३॥ अन्यथा इति विजानीहि; दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत्; बुभुक्षुः कश्चित् क्वचित् जपवत् नियतः न भुङ्क्ते ।

अर्थ—(प्रश्न) क्या आत्मा के देहादि से भिन्न होने के ज्ञान को और जगत् के मिथ्यात्व के अनुसन्धान को मन्त्रजप की भांति अथवा देवता के ध्यानादि की भांति नियम से करना चाहिए या नियम के बिना भी (लौकिक व्यवहार की भांति) किया जा सकता है ?

(उत्तर) नियम के बिना ही करना चाहिए; क्योंकि यह विषय तो प्रत्यक्ष फलवान् होता है। जैसे भोजनार्थी कोई भी पुरुष जप करने वाले की भान्ति नियम से नहीं खाता-जैसे भी उसकी क्षुधा की पीड़ा शान्त हो सकतीहो वैसे ही वह भोजन करता है ॥११३-११४॥

अश्नाति वा नवाश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयान्यथा ।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

अन्वय—अश्नाति वा न वा अश्नाति वा अन्यथा स्वेच्छया भुङ्क्ते; येन केन प्रकारेण क्षुधां अपनिनीषति ।

अर्थ—भूखा मनुष्य (अन्न हो तो कभी) खाता है, नहीं हो तो नहीं खाता (भूख भुला देने वाले कामों में समय काट देता है); कैसे ही, बैठता चलता-फिरता स्वेच्छा से भोजन करता है; वह जिस किसी भी प्रकार से भूख को मिटा देना चाहता है : बात यह है कि भोजन भूख की निवृत्तिरूप दृष्ट फल के लिए ही हैं और नियम परलोक के लिए होते हैं ॥११५॥

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।

अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥११९॥

अन्वय-नियमेन जपं कुर्यात्, अकृतौ प्रत्यवायतः। अन्यथाकरणे स्वरवर्णातिपर्ययात् अनर्थः।

अर्थ-परन्तु जप को तो नियम से ही करे; न करने से पाप चढ़ता है। और उलटपुलट करने से तो स्वर और वर्ण के उलट-पुलट जाने से अनर्थ हो जाता है।

कहा है कि 'मंत्रहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थ-माह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।', उदात्तनुदात्तस्वरित आदि स्वर अथवा अक्षर से हीन मन्त्र अशुद्ध उच्चारण के कारण वांछित अर्थ को नहीं बताता और इसलिये वाणीरूप वज्र बन कर यमजान को नष्ट कर देता है जैसे इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर स्वर के अपराध से मारा गया। अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्तविधिके बिना किया गया जप अनर्थकारी होता है। 'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व' मन्त्र में त्वष्टा द्वारा 'इन्द्र का शत्रु' इस षष्ठी तत्पुरुष के स्वर के स्थान पर 'इन्द्र ही शत्रु' इस कर्मधारय का स्वर उच्चारण करने से इन्द्र की वृद्धि हुई, वृत्रासुर की नहीं ॥११९॥

क्षुधा के समान विपरीतभावना भी प्रत्यक्ष दुःख देनेवाली है!

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः॥

अन्वय-क्षुधा इव विरीता भावना च दृष्टबाधाकृत्; केन अपि उपायेन जेया; अत्र अनुष्ठितेः क्रमः न अस्ति।

अर्थ–क्षुधा की भान्ति विपरीत भावना भी प्रत्यक्ष दुःख देने वाली है : (यह बात अनुभव सिद्ध है ही) उसको किसी प्रकार जीतना है। अतएव उसके जीतने के लिये अनुष्ठान का कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता ॥११७॥

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ताकथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८॥

अन्वय–उपायः तच्चिन्ताकथनादिकः पूर्व एव उक्तः एतदेकपरत्वे अपि ध्यानवत् निर्बन्धः न हि ।

अर्थ–विपरीत भावना का निवर्तक उपाय, ब्रह्म की ही चिन्ता उसी का कथनादि पहले ही १०३वें श्लोक में कह दिया है। उसमें ब्रह्म के प्रति एकपरता होने पर भी ध्यान की भान्ति कोई नियम का बन्धन नहीं है। जप की भान्ति पूर्वाभिमुख बैठने आदि का नियम तो है ही नहीं, मूर्ति आदि के ध्यान की भान्ति कोई कठिन नियम भी नहीं है ॥११८॥

ध्यान का स्वरूप बताते हैं :—

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यमन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥

अन्वय–धियः मूर्तिप्रत्ययसांतत्यं अन्यानंतरितं ध्यानम् । तत्र चंचलात्मनः मनसः अतिनिर्बंधः ।

अर्थ–बुद्धिका, मूर्तिप्रतीति का जो निरन्तर विजातीय प्रतीति के व्यवधान से रहित, प्रवाह से बहना है, वह ध्यान कहलाता

है। [सदा घूमते रहने वाले हाथी-घोड़े आदि को किसी स्तम्भ में बांधकर जैसे घेर लिया जाता है ऐसे ही] इस ध्यान में ही चंचलात्मा मन का पूरापूरा बन्धन होता है ॥११६॥

मन की चंचलता में गीता का प्रमाण कहते हैं :-

चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

अन्वय--कृष्ण हि मनः चंचलं प्रमाथि वलवत् दृढं अहं तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये।

अर्थ-हे कृष्ण ! क्योंकि यह मन चंचल और पुरुष को खूब व्याकुल करता है, बलवान् (निग्रह करने योग्य) और दृढ़ अर्थात् सत् एव असत् में आसक्त है इसलिए मैं उसका निग्रह वायु के निग्रह के समान अति कठिन मानता हूँ ॥१२०॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरोरून्मूलनादपि ।
अपि वह्नयशनात्साधो ! विषमश्चित्तनिग्रहः ॥

अन्वय-साधो ! अब्धिपानात् अपि, महतः सुमेरोः उन्मूलनात् अपि वन्हयशनात् अपि चित्तनिग्रहः विषमः।

अअर्थ-योगवाशिष्ठ में भी कहा है-कि हे साधो रामजी ! मन को वश में करना समुद्रको पीने, महान् सुमेरुपर्वत को उखाड़ने और अग्निभक्षण से भी अधिक कठिन है ॥१२१॥

विपरीतभावना के निवर्तक निदिध्यासन (ब्रह्माभ्यास) की ध्यान से विशेषता बतलाते हैं :-

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत् ।

किंत्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

अन्वय—कथनादौ शृङ्खलाबद्धदेहवत् निर्बन्धः न किन्तु अनन्तेहितासाद्यैः धियः नाटचवत् विनोदः ।

अर्थ—इस ब्रह्माभ्यास में कथन और चिन्तन आदि का ऐसा बन्धन नहीं है जैसे सांकल से बन्धे देह का होता है; इसके विपरीत इससे अनन्त इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा बुद्धि का ऐसा ही विनोद होता है जैसा कि किसी नाटक को देखने से होता है ।

इतिहास आदि से एकाग्रता भी भग नहीं होती क्योंकि,

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३॥

अन्वय—'आत्मा चित् एव, जगत् मिथ्या' इति अत्र पर्यवासनतः इतिहासादिभिः निदिध्यासनविक्षेपः न भवेत् ।

अर्थ—'आत्मा चेतनमात्र है, देहादिक रूप नहीं; जगत् मिथ्या है'' इतिहास आदि का केवलमात्र यही तात्पर्य है, इस कारण एकपरता के वाच्य निदिध्यासन का भङ्ग नहीं होता ॥१२३॥

तो क्या खेती-व्यापार आदि से भी विक्षेप नहीं होता ? होता है; क्यों ?

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥

अन्वय—कृषिवाणिज्यसेवादौ च काव्यतर्कादिकेषु प्रवृत्या धीः विक्षिप्यते; तैः तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ।

अर्थ—खेती, व्यापार, नौकरी, काव्य तथा तर्कादि में प्रवृत्ति हो

जाने के कारण बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है; क्योंकि उनसे (उनको करते हुए) तत्त्व की स्मृति असम्भव है ॥१२४॥

यों तो फिर भोजनादि भी त्याज्य होना चाहिए ? नहीं, क्योंकि,

अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ।१२५।

अन्वय—अनुसंदधता एव अत्र भोजनादौ प्रवर्तितुं शक्यते, अत्यन्तविक्षेपाभावात् पुनः आशु स्मृतेः ।

अर्थ—ब्रह्म विचार का अनुसन्धान (तत्त्वस्मरण) करता हुआ साधक भोजनादि में प्रवृत्त हो ही सकता है, क्योंकि भोजनादि में प्रवृत्ति से अत्यन्त विक्षेप नहीं होता : इसका कारण यह है कि फिर से शीघ्र ही तत्त्व का स्मरण हो जाता है ॥१२५॥

अस्तु, विक्षेप न हो तो भी, तत्त्वविस्मृति से पुरुषार्थहानि सम्भव ही है ? उत्तर देते हैं:-

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ।

अन्वय—तत्त्वविस्मृतिमात्रात् अनर्थः न, किन्तु विपर्ययात्, झटिति स्मरतः विपर्येतुं कालः न अस्ति ।

अर्थ—केवल तत्त्व (चिदात्मा रूप तत्त्व की देहादिक से भिन्नता और जगत् का मिथ्यापन) की विस्मृति से अनर्थ (पुरुषार्थ की हानि) नहीं होता; हां विपरीत ज्ञान से अनर्थ होता है। भोजनादि के समय तो, झट से स्मरण करने वाले मुमुक्षु को विपर्यय होने का अवसर

ही नहीं मिलता ॥१२३॥

क्या तर्कादि के अभ्यासी को तत्वस्मरण नहीं हो सकता ? नहीं ।

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

अन्वय–अन्याभ्यासशालिनः तत्वस्मृतेः अवसरः न अस्ति प्रत्युत अभ्यासघातित्वात् बलात् तत्वं उपेक्ष्यते ।

अर्थ–न्यायशास्त्र आदि तर्कशास्त्र का अभ्यास करने वाले पुरुष कोतत्त्वस्मृति का अवसर नहीं मिलता प्रत्युत ऐसे अभ्यास तत्त्वाभ्यास के विरोधी होते हैं, इस कारण, तत्व-स्मरण हो जाने पर भी वह बलात् विस्मृत हो जाता है ॥१२७॥

तत्वाभ्यासविरोधी तर्कादि की त्याज्यता में प्रमाण देते हैं:–

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
इति श्रुतं तथाऽयन्त्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥

अन्वय–'तं एव एकं विजानीथ हि अन्याः वाचः विमुंचथ' इति श्रुतम् । तथा 'अन्यत्र वाचः विग्लापनं तु' इति ।

अर्थ–'उस ही अकेले को ही जानो अन्य वाणियों को छोड़ दो' यह भी श्रुति में कहा है तथा यह भी कहा है कि 'बहुत शब्दों का ध्यान न करे : वह तो वाणी का व्यर्थ परिश्रम ही है ।' [यहां तमैवैकं विजानीथ आत्मामन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः [मुण्ड० २५-२) और 'नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृह० ४-४-२१) इन वाक्यों का भावार्थ दिया गया है ।]

आहारादि की भान्ति अन्य शास्त्रों के अभ्यास में भी आग्रह निर्मूल है !

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥

अन्वय–आहारादि त्यजन् न एव जीवेत्, शास्त्रान्तरं त्यजन् किं न जीवसि ? येन एवं अत्र दुराग्रहं करोषि ?

अर्थ–आहारादि को छोड़ने से तो मनुष्य जीवित नहीं रहता; तो क्या अन्य शास्त्रों को छोड़कर भी मर जायगा, जो तू उनमें ऐसा हठ करता है ? ॥१२९॥

जनक की भान्ति दृढ़ बोध हो तो कुछ भी करो !

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०॥

अन्वय–जनकादेः राज्यं कथं इति चेत् ? दृढबोधतः । तव अपि तथा चेत् तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ।

अर्थ–फिर जनकादि तत्त्ववेताओं की राज्यपालनादि में प्रवृत्ति क्यों हुई ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनकी यह प्रवृत्ति उनके दृढ बोध के कारण बाधक नहीं है । यदि तुझ तर्कादि के अभ्यासी का भी इतना ही दृढ बोध है तो तू चाहे तर्कशास्त्र पढ़ या खेती कर; तत्वज्ञान में बाधा नहीं होगी ।।१३०।।

संसार को असार जानकर भी जनकादि तत्त्ववेत्ता संसार में क्यों प्रवृत्त होते हैं ?

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥

अन्वय—मिथ्यात्ववासनादाढर्च्ये प्रारब्धक्षयकांक्षया अक्लिश्यन्तः स्वस्वकर्मानुसारतः प्रवर्तन्ते ।

अर्थ—संसार के मिथ्यापन की वासना के दृढ़ हो जाने पर तत्त्वज्ञानी, प्रारब्ध के क्षय की इच्छा से, बिना किसी खेद के, अपने अपने कर्मों के अनुसार संसार में प्रवृत्त रहते हैं ॥१३१॥

यों तो ज्ञानी लोग अनाचार भी करने लगें तो क्या हानि है ?

अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥

अन्वय—स्वकर्मवशवर्तिनाम् अतिप्रसंगः मा शंक्यः; वा अस्तु, कः अत्र कर्म वारयितुं शक्येत ? वद ।

अर्थ—(शंका) यों तो अपने-अपने कर्म के वशवर्ती होकर ज्ञानी लोग अति प्रसंग (मल-भक्षणादि अनाचार) भी करेंगे ? (समाधान) यदि ऐसा हो, तो, हो; तीव्र प्रारब्ध को कौन रोक सकता है ?

प्रारब्ध-कर्म का भोग ज्ञानी और अज्ञानी में समान है तो फिर दोनों में भेद क्या है ?

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥

अन्वय—ज्ञानिनः अज्ञानिनः प्रारब्धकर्मणी अत्र समे; ज्ञानिनः धैर्यात् क्लेशः न; मूढः अधैर्यतः क्लिश्यति ।

अर्थ—ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के प्रारब्ध कर्म संसार में समान हैं; भेद इतना है कि ज्ञानी को धैर्य के कारण दुःख नहीं होता और अज्ञानी अधीरता के कारण दुःख मानता है ॥१३२॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं:—

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥

अन्वय—मार्गे गन्त्रोः द्वयोः श्रान्तौ समायां अपि, अदूरतां जानन् धैर्यात् द्रुतं गच्छेत् अन्यः दीनधीः तिष्ठति ।

अर्थ—मार्ग चलने वाले दो यात्रियों को थकावट समान होने पर भी, उनमें से गन्तव्यस्थान की समीपता को जानने वाला मनुष्य तो धीरता से शीघ्र चलता है और दूसरा, समीपता को न जानने वाला, दीनबुद्धि हो वहीं बैठ जाता है ॥१३४॥

इस प्रकार सिद्ध किये 'आत्मानं चेद् विजानीयात्' मंत्र के पूर्वार्ध के भावभूत अपरोक्ष ज्ञान को दुहराते हुए शोक निवृत्तिरूप फल का विधान करने वाले उत्तरार्ध का अर्थ व भावार्थ कहते हैं:—

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

अन्वय—सम्यक्साक्षात्कृतात्मधीः अविपर्ययबाधितः किम् इच्छन् कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत् ।

अर्थ—आत्मा का भली भान्ति साक्षात् करने वाली बुद्धि वाला और देहादि में आत्मभाव की बुद्धिरूप विपर्यय से बाधित न होने वाला, इन्हीं दोनों कारणों से [उपर्युक्त दोनों विशेषण कारण का भी संकेत करने से हेतुगर्भ विशेषण हैं] किस भोग्य की इच्छा करके और किस भोक्ता के भोग के लिए शरीर के कारण दुःख उठाये ?

१३५ श्लोक में वर्णित उपरोक्त मन्त्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य कहते हैं:—

जगन्मिथ्यात्वधीभावादिप्तौ काम्यकामुकौ।
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

अन्वय—जगन्मिथ्यात्वधीभावात् काम्यकामुकौ आक्षिप्तौ; तयोरभावे निःस्नेहदीपवत् संतापः शमयेत्।

अर्थ—जगत् के मिथ्या होने की बुद्धि उत्पन्न हो जाने के कारण काम्य और कामुक दोनों का ही निराकरण हो गया और उन दोनों के न रहने पर, तेल रहित दीये की भान्ति सन्ताप स्वयं ही मिट जाता है॥१३६॥

काम्य (भोग्य) के अभाव में कामना के अभाव का दृष्टान्त देते हैं:—

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ॥
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निम् ॥

अन्वय—ऐन्द्रजालिकनिर्मिते गन्धर्वपत्तने किंचित् जानन् न कामयते, किन्तु इदं हसन् जिहासति।

अर्थ—मायावीरचित गन्धर्वनगर में स्थित किसी भी वस्तु को, 'यह मायावीरचित है' ऐसा जानता हुआ पुरुष, नहीं चाहता यही नहीं, अपितु, 'मिथ्या है' यह जानता हुआ उसे छोड़ना चाहता है।

इसको दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं:—

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान्।
नानुरज्यति किंत्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति ॥

अन्वय—एवं आपातरमणीयेषु भोगेषु विचारवान् न अनुरज्यति

किन्तु एतान् दोषदृष्ट्या जिहासति।

अर्थ—इसी प्रकार केवलमात्र सुन्दर प्रतीत होने वाले स्रक्-चन्दनादि विषयों में, उनकी आपातरमणीयता को समझने वाला पुरुष, आसक्ति नहीं करता, अपितु, दोष देखकर उन्हें छोड़ना चाहता है।

विषयों के दोषों का वर्णन

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्क्लेशकारिणः॥

अन्वय—अर्थानां अर्जने क्लेशः तथा एव परिपालने, नाशे दुःखं, व्यये दुःखं, क्लेशकारिणः अर्थान् धिक्।

अर्थ—धन और धन से साध्य विषय जो अर्थ हैं उनका सम्पादन करने में दुःख होता है; उनकी रक्षा में, नष्ट होने पर और खर्च करने में भी दुःख है। इसलिए ऐसे क्लेशकारी अर्थों को धिक्कार है॥१३९॥

जैसे अनेक मल्लों में से प्रधान मल्ल की पराजय से सब पराजित माने जाते हैं ऐसे ही शब्दादि पांचों विषयों की प्राप्ति के कारण प्रधान-विषय भूत स्त्री में अशोभनतारूप दोष दिखाते हैं:—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनं
एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक्प्रपञ्चिताः।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति॥१४१॥

अन्वय-स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः मांसपांचालिकायाः स्त्रियाः यंत्रलोले अंगपंजरे किं शोभनं इव ? ॥१४०॥ एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः तानि अनिशं विमृशन् कथं दुःखेषु मज्जति !

अर्थ-नाड़ियों, हड्डियों और मांस के लोथड़ों वाली, मांस की पुतली, स्त्री के, यन्त्र के समान चंचल, शरीर रूप पिंजरे में शोभा-वाली भला क्या वस्तु है ? कुछ भी नहीं है ॥१४०॥ इन और इसी प्रकार त्वचा, मांस, रक्त, अश्रुजल आदि के दोषों को शास्त्र में भली प्रकार दिखाया है : उन दोनों का दिन-रात विमर्श करने वाला साधक दुःखों में कैसे फंसेगा ? ॥१४१॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नमूढस्तज्जिघत्सति ॥

अन्वय-क्षुधया पीडचमानः अपि विषं अत्तुं न इच्छति । अमूढः मिष्टान्नध्वस्ततृट् जानन् न जिघत्सति ।

अर्थ-क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति भी विष खाना नहीं चाहता तो फिर जो स्वयं विवेकी है और मिठाई खाने से जिसकी तृष्णा नष्ट हो चुकी है वह तो विष को विष जानकर ही खाना नहीं चाहता ।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥

अन्वय-यदि प्रारब्धकर्मप्राबल्यात् भोगेषु इच्छा भवेत्, तदा अपि एषः विष्टिगृहीतवत् क्लिश्यन् एव भुङ्क्ते ।

अर्थ-यदि प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से ज्ञानी को भोगों की इच्छा हो भी जाय तो बेगार में पकड़े हुए पुरुष की भांति

क्लेश मानता हुआ ही वह उन विषयों को भोगा करता है ॥१४६॥

यह बात लोक में स्पष्ट ही दीख पड़ती है :—

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति संततम् ॥

अन्वय—श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः बुधाः भुंजानाः अपि 'अद्य अपि नः कर्म न छिन्नं' इति संततं क्लिश्यन्ति ।

अर्थ—लोक में देखते हैं कि जो श्रद्धालु गृहस्थ ज्ञानी होते हैं वे भोगों को भोगते हुए भी 'आज तक भी हमारे कर्मों का नाश नहीं हुआ' यह सोचकर दुःखी होते रहते हैं ॥१४४॥

परन्तु उनका यह अनुताप तो अनुचित है, क्योंकि यों तो उनका तत्त्वज्ञान ही व्यर्थ हो जायगा ? इस आशंका का उत्तर देते हैं:—

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥

अन्वय—अयं क्लेशः संसारतापः न किन्तु अत्र विरक्तता । हि सांसारिकः तापः भ्रान्तिज्ञाननिदानः स्मृतः ।

अर्थ—यह अनुताप रूप क्लेश सांसारिक दुःख नहीं है अपितु इस संसार के प्रति विरक्तता है । क्योंकि आचार्यों ने सांसारिक ताप को भ्रान्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ माना है और यह तो विवेक-ज्ञान से उत्पन्न है; अतएव सांसारिक दुःख नहीं है ॥१४५॥

ज्ञानी का क्लेश विवेकमूलक ही है; क्योंकि,

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।

अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥

अन्वय—विवेकेन परिविलश्यन् अल्पभोगेन तृप्यति, अन्यथा अनन्तभोगे अपि कर्हिचित् न एव तृप्यति ।

अर्थ—विवेक से परिविलष्ट हो रहा (ज्ञानी) तो थोड़े से भोग से तृप्त (संतुष्ट) हो जाता है और जिसका क्लेश विवेक-जन्य नहीं होता वह अनन्त भोग भोग लेने पर भी तृप्त नहीं होता। [यह क्लेश कामनाओं का निवर्तक है इस कारण विवेकमूलक है।]

विवेकी-वत् अविवेकी भी तो भोगोंसे तृप्त हो सकता है, तो फिर विवेक व्यर्थ ही होगा ? इस आशंका के उत्तर में श्रुति का प्रमाण देते हैं कि भोग तृप्ति के हेतु नहीं हैं:—

न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥

अन्वय—कामः कामानां उपभोगेन जातु न शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मा इव भूयः एव अभिवर्धते ।

अर्थ—भोग की इच्छारूप काम, विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होता; अपितु घृत से अग्नि की भान्ति अधिकाधिक बढ़ता ही है ॥१४७॥

विवेकमूलक भोग तृप्ति का हेतु है, यह अनुभव सिद्ध ही है :

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥

अन्वअ—परिज्ञाय उपभुक्तः भोगः तुष्टये हि भवति । विज्ञाय सेवितः

चोरः मैत्रीं एति; चोरतां न ।

अर्थ—'यह भोग इतना है और इतने परिश्रम से मिलता है' यह जानकर भोगा हुआ भोग सन्तोष उत्पन्न करता है। (सहकारी के वश होने पर विपरीत कार्य होता देखा गया है) 'देखो 'यह चोर' है यह जानकर सेवित चोर उसका मित्र हो जाता है, चोर नहीं रहता। भोगों से तृष्णा की वृद्धि होती है, ठीक है; परन्तु विवेक साथी पाकर वह भोग तुष्टि कराने लगता है ॥१४८॥

कामनाओं का रागी मन थोड़े भोग से कैसे सन्तुष्ट होने लगता है ?

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद् बहु मन्यते ।१४९।

अन्वय—निगृहीतस्य मनसः अल्पकः अपि यः लीलाभोगः अलब्धविस्तारं तं एव क्लिष्टत्वात् बहुमन्यते ।

अर्थ—योगाभ्यास से वश में किये मन को जो थोड़ा सा भी लीलानुभव मिल जाता है, वह उसी संक्षिप्त भोग को, भोगों के क्लेशयुक्त होनेके कारण, बहुत मानता है। [जैसे रात्रिमें मनुष्योंका आनाजाना घट जाता है वैसे ही निदिध्यासन से परिपक्व हुए अन्तः-करण के धर्मरूप से उत्पन्न कामादियों का विक्षेप अल्प ही होता है क्योंकि कामादि का उपादान, मन, शिथिल पड़ जाता है : इसलिये ज्ञानवान् का मन अल्प भोग से ही संतुष्ट हो जाता है ॥१४९॥

उपरोक्त कथन का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं:—

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।

परैर्ना बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

अन्वय-बद्धमुक्तः महीपालः ग्राममात्रेण तुष्यति; परैः अबद्धः, न आक्रांतः राष्ट्रं बहु न मन्तते ।

अर्थ-बन्दी जीवन से मुक्त हुआ राजा एक गांव से ही सन्तुष्ट हो जाता है; परन्तु जिस राजा का कभी बन्धन नहीं हुआ तथा जिस पर कभी आक्रमण न हुआ हो वह, शत्रु राजा के दिये सारे राष्ट्र को भी थोड़ा समझता है ॥१५०॥

तीन प्रकार का प्रारब्ध होता है ।

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥
नैषदोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥

अन्वय-दोषदर्शनलक्षणे विवेके जाग्रति सति आरब्धकर्म अपि भोगेच्छां कथं जनयिष्यति ? ॥१५१॥ एषः दोषः न, यतः प्रारब्धं अनेकविधं ईक्ष्यते; इच्छा, अनिच्छा च परेच्छा प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ।

अर्थ-(शंका) दोषदर्शनरूप विवेक के जागते हुए प्रारब्ध कर्म भी भोग की इच्छा को कैसे उत्पन्न करेगा ? क्योंकि विवेकज्ञान तो इच्छा का विरोधी है ! (समाधान) यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि प्रारब्ध कई प्रकार का है अतएव दोष दृष्टि के होते भी इच्छा की उत्पत्ति सम्भव है । इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा-ये तीन प्रकार का प्रारब्ध माना जाता है ॥१५१-१५२॥

इच्छा-प्रारब्ध का वर्णन

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्तएव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥

अन्वय—अपथ्यसेविनः चोराः राजदाररताः अपि स्वानर्थं जानंतः इव आरब्धकर्मतः इच्छंति ।

अर्थ—अपथ्यसेवी, चोर और राजा की स्त्रियों में अनुरक्ति करने वाले लोग अपने-अपने अनर्थों को जानते हुए भी; प्रारब्ध कर्म के प्रभाव में आकर उन-उन अनर्थों को चाहते हैं। यह इच्छाजनक प्रारब्ध इच्छा-प्रारब्ध है ॥१५३॥

अपथ्यसेवा आदि इच्छायें प्रारब्ध की फल हैं—यह कैसे जाना ?

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

अन्वय—च अत्र एतत् ईश्वरेण अपि वारयितुं न शक्यते: यतः ईश्वरः एव गीतायां अर्जुनं प्रति आह। ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते, भूतानि प्रकृतिं यान्ति, निग्रहः किं करिष्यति ।

अर्थ—इस लोक में अपथ्यसेवन आदि को ईश्वर भी नहीं रोक सकता क्योंकि ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण जी ने यही बात गीता में अर्जुन से कही थी। गीता (अ० ३श्लोक ३३) का भाव यह है कि विवेकी पुरुष को भी अपनी प्रकृति के पीछे-पीछे चलना पड़ता है। [प्रकृति

का अर्थ है इस जन्ममें प्रकट हुए, पूर्वजन्मकृतधर्माधर्मादि संस्कार ।]
जब ज्ञानवान् को भी पूर्व संस्कारों के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तब मूर्ख का तो कहना ही क्या ! अतएव सब प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुयायी हैं : यदि मैं या कोई दूसरा, प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के निरोध का प्रयत्न करे तो उससे क्या लाभ होगा ? कुछ भी नहीं ॥१५४-१५५॥

प्रारब्ध को मिटाया जा सकता तो ?

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ॥१५६॥

अन्वय–अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारः यदि भवेत् तदा नलराम-युधिष्ठिराः दुःखैः न लिप्येरन् ।

अर्थ–अवश्य होने वाले दुःखों की निवृत्ति का यदि कोई उपाय होता तो, नल-राम-युधिष्ठर आदि दुःखग्रस्त क्यों होते ? ॥१५६॥

यदि ईश्वर भी प्रारब्ध को नहीं मिटा सकता तो वह ईश्वर कैसा ?

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥

अन्वय–तावता ईशस्य ईश्वरत्वं च न हीयते; यतः एषां अवश्यं-भाविता अपि ईश्वरेण निर्मिता ।

अर्थ–प्रारब्ध का निवारण न करने मात्र से ईश्वर की ईश्वरता में कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि दुःखादि की अपरिहार्यता भी तो ईश्वर ने ही बनाई है ॥१५६॥

भगवद्गीता में अनिच्छ प्रारब्ध का प्रश्नोत्तररूप से वर्णन

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥
अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

अन्वय—च 'अनिच्छापूर्वकं प्रारब्धं अस्ति' इति एतत् अर्जुनकृष्णयोः प्रश्नोत्तराभ्यां एव गम्यते, तत् शृणु ॥१५८॥ अथ वार्ष्णेय अयं पूरुषः केन प्रयुक्तः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव पापं चरति ? ॥१५९॥ एषः रजोगुणसमुद्भवः कामः क्रोधः महाशनः महापाप्मा इह एनं वैरिणं विद्धि ।

अर्थ—'अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध' है यह बात अर्जुन और श्रीकृष्ण के प्रश्नोत्तर से मालूम होती है; अब उसी को सुनो। अर्जुन पूछता है—हे कृष्ण ! यह पुरुष किसकी प्रेरणा से, न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भान्ति, पापकर्म कर बैठता है ? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—पुरुष का यह प्रवर्तक रजोगुण से उत्पन्न 'काम' है; यही काम 'क्रोध' में बदल जाता है-इसकी विषयों की भूख बहुत बड़ी है; यह बड़े-बड़े पापों का कारण होने से बड़ा पापी है। अतएव इस संसार में इस काम को (जो कभी-कभी क्रोध का रूप धारण कर लेता है) अपना महान् शत्रु समझो। अभिप्राय यह है कि जब

प्रारब्धवश रजोगुण बढ़ता है तो काम क्रोध उत्पन्न हो जाता है और वह मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कर देता है :—यहां प्रवृत्ति का मूल कारण इच्छा नहीं है; इसलिए इसको "अनिच्छा प्रारब्ध" कहा है ॥१५८-१५६-१६०॥

अनिच्छाप्रारब्ध की प्रवर्तकता के उपादक वाक्य को पढते हैं:—

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोपि तत् ॥

अन्वय—कौंतेय ! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः यत् कर्तुम् न इच्छसि तत् अपि मोहात् अवशः करिष्यसि ।

अर्थ—हे अर्जुन ! अपने आप किये हुए अपने प्रारब्ध से बन्धा हुआ तू, जो नहीं भी करना चाहता उसे भी अविवेक से अवश होकर करेगा ही ; भावार्थ यह है कि अनिच्छाप्रारब्ध को भी मानना पड़ता है ॥१६१॥

परेच्छाप्रारब्ध

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।
सुखदुःखे भजन्त्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१६२॥

अन्वय—अनिच्छन्तः न, च इच्छन्तः न, परदाक्षिण्यसंयुताः सुख-दुःखे भजन्ति; एतत् परेच्छापूर्वकर्म हि ।

अर्थ—न तो अनिच्छा से ही और न इच्छा से ही, अपितु, दूसरों की प्रसन्नता के विचार में फंसकर ही कुछ लोग सुख-दुःख भोगते हैं : यह सुखादि भोग देने वाला परेच्छापूर्वक प्रारब्ध, 'परेच्छा-

प्रारब्ध' नाम से प्रसिद्ध है। [दोष देख लेने पर भी यह प्रारब्ध हटता नहीं है; अतएव इसमें इच्छा उत्पन्न करने की जो शक्ति है वह अपरिहार्य है।] ॥१६२॥

यदि तत्त्वज्ञानी की भी 'इच्छा' बनी ही रहती है, ऐसा मानोगे तो ?

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते।
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥

अन्वय—तर्हि 'किम् इच्छन्' इति एवं इच्छा कथं निषिध्यते ? इच्छानिषेधः न किन्तु इच्छाबाधः; भर्जितबीजवत्।

अर्थ—(शंका) तो फिर 'किम् इच्छन्' इत्यादि श्रुति में इच्छा-निषेध का वर्णन क्यों है ? (समाधान) वहां इच्छा का निषेध नहीं किया, इच्छाबाध कहा है अर्थात् यह कहा गया है कि इच्छाके होते हुए भी वह समर्थप्रवृत्ति जनक नहीं रहती। जैसे स्वरूप से विद्यमा भी भूना हुआ बीज, उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जाता है।

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥

अन्वय—भर्जितानि तु बीजानि सन्ति च अकार्यकराणि; तथा विद्वदिच्छा इष्टव्या असत्त्वबोधात् कार्यकृत् न।

अर्थ—जैसे भूने हुए बीज, स्वरूप से विद्यमान रहते भी अंकुरोत्पत्ति आदि कार्य नहीं करते; ऐसे ही, ज्ञानी की इच्छा स्वयं विद्यमान रहती हुई भी, इच्छा के विषयभूत पदार्थों को मिथ्या समझ लेने से, उनके मिथ्या ज्ञान से बाधित होकर, कारगर, व्यसनादि

कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहती ॥१६४॥

और फिर विवेकी की इच्छा सर्वथा निष्फल भी नहीं जाती

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५॥

अन्वय--दग्धबीजं अरोहे अपि भक्षणाय उपयुज्यते । विद्वदिच्छा अपि अल्पभोगं कुर्यात्, बहुव्यसनं न ।

अर्थ--भुना हुआ बीज अंकुरित तो नहीं होता पर खाने के काम में आ जाता है, ऐसे ही विवेकी की इच्छा भी थोड़ा सा भोग तो देती ही है--वह बहुत से व्यसन उत्पन्न नहीं करती । ['व्यसनंविपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपज़े' इस वचन के अनुसार आपद्, भ्रंश, आदि दशप्रकार के कामज-दोष, और आठ प्रकार के क्रोधजन्यदोष, सब व्यसन कहलाते हैं ।] ॥१६५॥

कर्म व्यसन उत्पन्न नहीं करता अपितु विषय की सत्यता की भ्रान्ति व्यसन उत्पन्न करती है :—

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥

अन्वय--प्रारब्धं कर्म भोगेन चरितार्थत्वात् हीयते भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या तत्र व्यसनं जायते ।

अर्थ--प्रारब्ध-कर्म तो, भोग से चरितार्थ हो जाने के कारण, भोग देते ही नष्ट हो जाता है; [वह तो केवल-मात्र भोग का हेतु है अतएव व्यसन का उत्पादक नहीं होता ।] परन्तु भोक्तव्य पदार्थों

के सत्य होने की भ्रान्ति से विषय में व्यसन उत्पन्न हो जाता है ॥

व्यसन में फंसाने वाले भ्रमका स्वरूप

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः

अन्वय–'अयं भोगः मा विनश्यतु, उत्तरोत्तरं वर्धताम्, विघ्नाः मा प्रतिबध्नन्तु, अस्मात् धन्यः अस्मि' इति भ्रमः ।

अर्थ–'यह भोग कभी नष्ट न हो, अपितु आगे-आगे बढ़ता जाय, विघ्न इस भोग में रुकावट न डालें, मैं इस भोग से धन्य हूं' अज्ञानी का भ्रम इस रूप का होता है, इस भ्रम से ही व्यसन होता है ॥१६७॥

व्यसन के हेतु भ्रम के निवारण का उपाय

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ।१६८।

अन्वय–यत् अभावि तत् भावि न, भावि चेत् तत् अन्यथा न इति चिंताविषघ्नः अयं बोधः भ्रमनिवर्तकः ।

अर्थ–जो नहीं होना, वह कभी नहीं होगा, और जो होना है वह कभी टलेगा नहीं–इस प्रकार का, चिन्ता-रूप विष को नष्ट कर देने वाला, बोध ही इस पूर्वोक्त भ्रम को हटा देता है । ['मेरा कल्याण कब होगा, अनिष्ट कब दूर होगा' आदि चिन्तायें विष की भांति चिन्ता करने वाले को मारने वाली होती हैं—उन्हें ही यहां 'चिन्ताविष' कहा है ।] ॥१६८॥

ज्ञानी और अज्ञानी समान-रूप से भोगी हैं फिर भी भ्रान्त व्यसन में फंसता है, ज्ञानी नहीं:–

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान् ।
अशक्यार्थस्यसंकल्पाद्भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥
मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वास्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥

अन्वय–भोगे समे अपि भ्रांतः व्यसनं गच्छेत्, बुद्धवान् न । अशक्यार्थस्य संकल्पात् भ्रान्तस्य बहु व्यसनम् ॥ भोगस्य मायामयत्वं बुध्वा आस्थां उपसंहरन्, भुञ्जानः अपि संकल्पं न कुरुते; व्यसनं कुतः ॥

अर्थ–भोग के समान होने पर भी भ्रान्त व्यसन में फंसता है, ज्ञानी नहीं । क्योंकि भ्रान्त पुरुष अशक्य बातों का संकल्प करता रहता है--उससे उसको बहुतसा व्यसन भी हो जाता है । विवेकी पुरुष भोगों को मायामय (मिथ्या) जानकर, उनके प्रति अपनी आस्था (आसक्ति) को हटा लेता है : इसलिए भोगों को भोगता हुआ भी वह संकल्प (असम्भव कल्पनाएं) नहीं करता : तो उसे फिर व्यसन क्यों हो ? ॥१६९-१७०॥

मिथ्या जानता हुआ भी ज्ञानी उन्हें तात्कालिक सुख का हेतु तो समझता ही है; फिर उनसे उसकीआसक्ति कैसे हट सकती है ?

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन्कथं तत्रानुरज्यति ॥१७१॥

अन्वय—जगत् स्वप्नेन्द्रजालसदृशं अचिन्त्यरचनात्मकं दृष्टनष्टं पश्यन् तत्र कथं अनुरज्यति ?

अर्थ—इस जगत् को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान; अनिर्वचनीय और देखते ही नष्ट से जाने वाला जानकर, दोषदर्शी विवेकी, भला इससे प्रीति क्योंकर करेगा ? ॥१७१॥

जगत् को स्वप्न या इन्द्रजाल सदृश जानने का उपाय

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन्स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥१७२॥
चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥१७३॥

अन्वय—स्व स्वप्नं आपरोक्ष्येण दृष्ट्वा स्वजागरं पश्यन् अप्रमत्तः सन् उभौ अनुदिनं मुहुः चिंतयेत् । तयोः सर्वसाम्यं चिरं अनुसंधाय जागरे सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य पूर्ववत् न अनुरज्यते ।

अर्थ—अपने स्वप्न को अपरोक्ष देखकर तथा अपने जागरण को भी (पीछे से) अनुभव करे; फिर सावधान होकर स्वप्न और जागरण दोनों को प्रतिदिन (प्रतिक्षण) सोचा करे कि ये दोनों ही एक जैसे हैं--जागरण भी स्वप्न की भांति तात्कालिक भोग ही देता है । स्वप्न और जागरण की आपसी पूरी समता को [दोनों प्रतीतिकाल में भोग देते हैं, परिणाम में नीरस और विनाशी हैं] चिरकाल तक अपने मन में दृढ़ करके, जाग्रत् को भी जब सत्य समझना छोड़ देता है तब, पहले की भांति (जब कि वह जगत् को सत्य समझता था, तब की भान्ति) जाग्रत् वस्तुओं में भी अनुरक्त नहीं होता ॥१७२-१७३॥

'मिथ्याज्ञान हो जाने पर भी भोग रहे' यह कैसे सम्भव है, क्योंकि भोग विषय की सत्यता के ज्ञान पर ही तो निर्भर है ? उत्तर देते हैं कि भोग विषय की सत्यता पर निर्भर नहीं है :—

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥

अन्वय–'इदं द्वैतं, अचिन्त्यरचनात्वतः इन्द्रजालं' इति अविस्मरतः प्रारब्धभोगतः का वा हानिः ?

अर्थ–'यह द्वैत (समस्तभोग्य पदार्थ) अनिर्वचनीय होने के कारण इन्द्रजालतुल्य, मिथ्या है, इस बात को कभी न भूलने वाले ज्ञानी पुरुष के प्रारब्धभोग से, उसकी "जगत् को मिथ्या समझने की विचारधारा" को क्या हानि पहुँचेगी ? भोग और मिथ्यात्वानुसंधान दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न जो हैं ॥१७४॥

इनकी विभिन्नविषयता को स्पष्ट करते हैं :—

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥

अन्वय–तत्वविद्यायाः इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ निर्बन्धः; प्रारब्धस्य जीवस्य सुःखदुःखयो भोगे आग्रहः ।

अर्थ–तत्त्वज्ञान का तो इतना ही आग्रह है कि यह स्मरण रहे कि संसार इन्द्रजाल की भान्ति मिथ्या है; भोगविनाश उसका कोई लक्ष्य नहीं है । प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य है जीवों को सुख-दुःख का भोग देना; भोग्य विषय की सत्यता सिद्ध करना प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य नहीं है ॥१७५॥

अनुमान से उपरोक्त कथन की स्थापना करते हैं :—

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥१७६॥

अन्वय–विद्यारब्धे न विरुध्येते, भिन्नविषयत्वतः, जानद्भिः अपि ऐन्द्रजालविनोदः खलु दृश्यते ।

अर्थ–विद्या और प्रारब्ध कर्म का परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के विषय पृथक्-पृथक् हैं; अनुभव किये भिन्न विषय वाले रूपज्ञान और रसज्ञान की भान्ति+। दृष्टान्त देते हैं कि जो लोग समझते हैं कि यह इन्द्रजाल है वे भी इन्द्रजाल के तमाशे को देखते ही हैं। अतएव स्पष्ट ही है कि भोग्य का मिथ्यात्वज्ञान, भोग का बाधक नहीं होता ॥१७६॥

प्रारब्ध विद्या का विरोधी नहीं है।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥

अन्वय–प्रारब्धं जगत्सत्यत्वं आपाद्य यदि भोजयेत् तदा विद्यायाः विरोधि, भोगमात्रात् सत्यता न ।

+खांडका रूप श्वेत और रस मधुर है; इन दोनों के ज्ञान विभिन्न वस्तुओं (यहां गुणों) के ज्ञान हैं इसलिए आपस में विरोधी नहीं हैं। ऐसे ही मिथ्यात्वज्ञान का विषय (लक्ष्य) तो मिथ्यात्व का न भूलना है और प्रारब्ध का विषय (लक्ष्य) सुखदुःख देना है–दोनों में कोई विरोधनहीं है । अपितु ज्ञान निष्कामकर्म से उत्पन्न है और प्रारब्ध, देहादि की स्थिति का हेतु, सकामकर्म ही है। अतएव दोनों का भतीजे-चचाका सम्बन्ध होने से परस्पर स्नेह ही मानना चाहिए ।

अर्थ–यदि 'प्रारब्धकर्म भोग्यविषयों की अबाध्यता का प्रतिपादन करके ही सुख-दुःख देता है' ऐसा माना जाय तभी वह विद्या का विरोधी माना जायगा परन्तु यह ऐसा नहीं करता, यह तो केवल भोग ही देता है, इसलिए विद्या का विरोधी नहीं है। तथाच कोई पदार्थ भोग दे देने मात्र से सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि; 'विवादास्पद जगत् सत्य है, भोग्य होने से' इस अनुमान को पूरा करने के लिए कोई दृष्टान्त ही नहीं मिल सकता॥१७७॥

यों तो 'भोग मिथ्यापदार्थों से ही होता है' इसका भी तो कोई दृष्टान्त नहीं है ? उत्तर देते हैं:—

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम्॥१७८॥

अन्वय–कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः अनूनः भोगः जायते। एवं असत्यैः जाग्रद्वस्तुभिः अपि भोगः इष्यताम्।

अर्थ–जैसे कल्पित वस्तुओं से स्वप्न में पूरा भोग मिल जाता है ऐसे ही (इस दृष्टान्त से) जाग्रत् समय की असत्य वस्तुओं से ही जाग्रत् में भोग होता है–ऐसा स्वीकार कर लो॥१७८॥

और न विद्या ही प्रारब्ध की विरोधिनी है !

यदि विद्यापह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः।१७९।

अन्वय–विद्या यदि जगत् अपह्नुवीत तदा प्रारब्धघातिनी स्यात्। मायात्वबोधेन तदपह्नवः न।

अर्थ—विद्या यदि भोग्य पदार्थों को छिपा ले, 'यह चान्दी नहीं है' इस निषेधक ज्ञान की भान्ति, प्रतीयमान भोग्य पदार्थों के स्वरूप को छिपादे तब, वह प्रारब्ध को नष्ट करने वाली कही जा सकती है क्योंकि वह प्रारब्धकर्म के भोग, 'सुख-दुःखानुभव' के साधनभूत जगत् के स्वरूप को नष्ट नहीं करती, इसलिए, वह प्रारब्धकर्म-विरोधिनी भी नहीं है। किन्तु जगत् को माया (मिथ्या) समझलेने मात्र से जगत् का विलय (विनाश) नहीं होता। इन्द्रजाल आदि में भी स्वरूप के विलय हुए बिना ही मिथ्यात्वज्ञान होता है ॥१७९॥

इसको अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा।१८०।

अन्वय—लोकाः तत् अनपह्नुत्य 'इदं तु इन्द्रजालं' इति जानन्ति एव। तथा भोगं अनपह्नुत्य मायात्वधीः।

अर्थ—लोग उस इन्द्रजाल के स्वरूप को न हटा कर भी तो जान लेते हैं कि यह इन्द्रजाल है। ऐसे ही भोग्यपदार्थ को नष्ट किये बिना भी जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है ॥१८०॥

तत्वज्ञानी के भोग के विषय में एक शंका

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन कम्।
किं जिघ्रेत्किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहुघोषितम् ॥
तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥

अन्वय–यत्र तु जगत् अस्य स्वात्मा तत्र कः केन कं पश्येत् ? किं जिघ्रेत्, किं वा वदेत् ? इति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ।। तेन द्वैतं अपह्नुत्य विद्या उदेति च अन्यथा न; तथा च विदुषः भोगः कथं स्यात् ? इति चेत् ? शृणु :—

अर्थ–(शंका) "जब इस ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है तब कौन देखने वाला ? कौन नेत्रादि इन्द्रिय साधन? कौन देखने- सूंघने या बोलने योग्य विषय रह जाता है ? कुछ भी नहीं ।" श्रुतियों में इस प्रकार का वर्णन कई स्थानों पर है ।।१८१।। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि द्वैत का अपह्नव करके ही विद्या उत्पन्न होती है--ऐसी अवस्था में विद्वान् को भोग कैसे होगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं:–।।१८२।।

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।
उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ।।

अन्वय–श्रुतिः तु सुषुप्तिविषया वा मुक्तिविषया इति 'स्वाप्ययसंपत्योः' इति सूत्रे अतिस्फुटं हि उक्तम् ।

अर्थ–'उपरोक्त अभिप्राय की श्रुति सुषुप्ति अथवा मुक्तिके विषय में है' यह बात "स्वाप्ययसंपत्योः" सूत्र में स्पष्टरूप से कही है ।

"स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हीति" (ब्रह्मसूत्र ४-१६-१६) इस सूत्रमें 'यत्र त्वस्य (बृ०४-५-१५) को उद्धृत कर स्पष्ट ही समझाया है कि यह उद्धृत श्रुति या तो 'स्वाप्यय' अपना ध्वंस अर्थात् सुषुप्ति का वर्णन कर रही है या मुक्ति का : अर्थात् केवल इन दोनों अवस्थाओं में ही, इस विशेष ज्ञान का अभाव बताया है। यह

श्रुति विद्या से जगत् के अपह्नव होजाने की बात नहीं कहती ।

यदि ऐसा न मानो तो ?

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥१८४॥

अन्वय—अन्यथा याज्ञवल्क्यादेः आचार्यत्वं न सम्भवेत्; द्वैतदृष्टौ अविद्वत्ता, द्वैतादृष्टौ वाक् न वदेत्

अर्थ—यदि इस श्रुति को उक्त वेदान्तसूत्र के अनुसार सुषुप्ति और मुक्ति विषयक ही न मानोगे तो याज्ञवाल्क्य आदि ब्रह्मविद्या के आचार्य न हो सकेंगे : क्योंकि यदि मानो कि वे द्वैत को देख रहे हैं तो अद्वैत के न होने से आचार्य नहीं होंगे और यदि कहो कि द्वैत को नहीं देख रहे हैं तो बोधयोग्य शिष्यों की भी प्रतीति नहीं होगी तो फिर उपदेश के लिए वाणी कैसे प्रवृत्त होगी ? इस प्रकार विद्यासम्प्रदाय का भी नाश हो जायगा ॥१८४॥

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥

अन्वय—निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः सा एव अपरोक्ष-विद्या इति चेत् तथा सुषुप्तिः किं न ?

अर्थ—(शंका) याज्ञवल्क्यादि आचार्यों का ज्ञान आचार्यत्व की दशा में विद्या भले ही हो, अपरोक्षज्ञान नहीं है क्योंकि उस समय द्वैत की प्रतीति हो रही होती है : हां निर्विकल्प समाधि में द्वैत की प्रतीति न होने के कारण वह विद्या अपरोक्ष ज्ञान है। (समाधान) यदि यह ठीक है तो फिर सुषुप्ति में भी द्वैतकी अप्रतीति

है तो सुषुप्ति भी अपरोक्षज्ञान क्यों न होगा। अर्थात् सुषुप्ति में भी द्वैतादर्शन हेतु के अतिव्याप्त होने से उपरोक्त कथन ठीक नहीं है ॥

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥

अन्वय-- सुप्तौ आत्मतत्त्वं न जानाति यदि, तदा 'आत्मधीः एव विद्या, द्वैतस्मृतिः न' इति त्वया वाच्यम्।

अर्थ–(वादी) सुषुप्ति में द्वैतदर्शन तो नहीं है पर आत्मतत्त्व का ज्ञान भी तो नहीं है, इसलिए सुषुप्ति को अपरोक्ष ज्ञान नहीं कहते (सिद्धान्ती) तब तो यह कहो कि "आत्मज्ञान ही विद्या हुई, द्वैतदर्शन के अभाव का नाम विद्या नहीं है।" ॥१८६॥

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥

अन्वय–उभयं मिलितं विद्या यदि, तर्हि घटादयः अर्धविद्याभाजिनः स्युः; सकलद्वैतविस्मृतेः।

अर्थ–(वादी) यदि द्वैतादर्शन और आत्मज्ञान दोनों मिल कर ही विद्या होते हैं! (सिद्धांती) तब तो, द्वैतादर्शन को भी यदि विद्या का एक भाग मानोगे तो, घटादि जड़ भी अर्धविद्या वाले सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि उनको द्वैत की पूरी विस्मृति है ॥१८७॥

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः।
तव विद्या तथा न स्याद् घटादीनां यथा दृढा ॥

अन्वय–मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः घटादीनां यथा

विद्या दृढा तथा तव न स्यात् ।

अर्थ–और फिर तो, जितनी दृढ द्वैत विस्मृति घटादियों की है उतनी दृढ द्वैतविस्मृति समाधिस्थ पुरुषोंकी भी न होगी क्योंकि समाधिस्थ पुरुष को भी मच्छर ध्वनि आदि विविध विक्षेपों की बहुलता होती ही है ॥१८८॥

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्धि त्वं यथासुखम् ॥

अन्वय–आत्मधीः एव विद्या इति यदि, तर्हि सुखीभव । दुष्टचित्तं निरुन्ध्यात् चेत् त्वं यथा सुखं निरुन्धि !

अर्थ–(वादी) तब तो आत्मज्ञानको ही विद्या मानो! (सिद्धान्ती) ठीक है–सुखी होओ । (वादी) आत्मज्ञान विद्या है, मानलिया, परन्तु विक्षेपादि से दुष्ट चित्त को आत्मज्ञान हो ही नहीं हो सकता : तो फिर दोषनिवृत्ति के लिए चित्तवृत्तिका निरोध करना पड़ेगा ? (सिद्धान्ती) ठीक है; करलो ॥१८९॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥

अन्वय–तत् इष्टम् एष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् । इच्छन् अपि अज्ञवत् न इच्छेत् हि किं इच्छन् इति श्रुतम् ।

अर्थ–चित्तका निरोध हमें भी इष्ट ही है । क्योंकि चित्तदोष के हटने पर ही अद्वितीयात्मज्ञान के लिए अभीष्ट, जगत का मिथ्यात्व, भलीभान्ति दीख पड़ता है । इसीलिए 'इच्छा करता हुआ भी यह

मूढ़ की भान्ति इच्छा नहीं करता' इस अभिप्राय से श्रुति में "किं इच्छन् कस्य कामाय" इत्यादि वाक्य है ॥१६०॥

उक्त प्रकार से अभिप्रायवर्णन का कारण यह है

रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१६१॥

अन्वय—एवं सति रागः अबोधस्य लिंगं बुधे रागादयः सन्तु; इति शास्त्रद्वयं अविरोधतः सार्थम् ।

अर्थ—ऐसा होने पर ही, अर्थात् तत्वज्ञानी को दृढ राग नहीं होता इसीलिए, "रागः अबोधस्य लिंगम्" और बुधे रागादयः सन्तु" ये दोनों शास्त्रवचन परस्पर अविरोधी सिद्ध हो सकते हैं ।

शास्त्र का एकवचन है--'रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः' । अर्थात् 'चित्त की विहार भूमिरूपी विषयों में राग होना ही अबोध का चिन्ह❁है; जिस वृक्ष की खोह में आग लगी हो उसमें हरियाली कहां से आवेगी+ ?

❁जैसे घुंआ अग्निज्ञान का लिंग है, वैसे ही, विषयों में अनुराग का होना अज्ञानज्ञान का चिह्न है । अनुमान इस प्रकार होगा :—यह पुरुष अज्ञानी है; रागवान् होने से; अन्य अज्ञानी का भान्ति ।

+यदि किसी कारण किसी वृक्ष की खोह में आग लग जाय तो जैसे वह हरा नहीं रहता वैसे ही, अज्ञान के कारण अनुकूलज्ञानके साधक भेदज्ञानद्वारा उत्पन्न रागरूप भीतरी आग वाला पुरुष, बहुत से कामों में फंस जाता है; अतएव शांति को प्राप्त नहीं करता । वह विक्षेप की ज्वालाओं से जलता हीं रहता है ।

इस वचन से ज्ञानी में राग का निषेध किया है। दूसरा वचन है—'शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात् तावताऽपि, ते रागादयः सन्तु कामं न तदभावोऽपराध्यते।' अर्थात् शास्त्र के अर्थ को समाप्त समाप्त कर लेने के कारण, असंगाद्वितीयआत्मा के ज्ञानमात्र से भी ज्ञानी की मुक्ति हो ही जायगी और मन के धर्म रागादि चाहे जितने रहें; उनके होने से कोई हानि नहीं।' इन दोनों वचनों में से पहला तो दृढराग का निषेध करता है और दूसरा अदृढरागरूप रागाभास को × ज्ञानी में होना स्वीकार करता है। इस प्रकार दोनों का विरोध दूर हो जाता है ॥१६१॥

× स्थूल अन्तःकरणरूप उपादान का सम्बन्ध भी हो और अनुकूल पदार्थ-रूप निमित्त के सम्बन्धसे निरन्तर राग न हो उसे अदृढ़राग कहते हैं-यही ज्ञानी का लक्षण है। इस लक्षण को भली भान्ति समझने के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ ध्यान देने योग्य है :—(क) अन्तःकरण का सम्बन्ध होते हुए भी अज्ञानी में राग का अभाव नहीं है। (ख) सुषुप्ति में राग का अभाव है पर अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं है। (ग) फिर सुषुप्ति में राग के अभाव के साथ-साथ, सूक्ष्म (संस्काररूप) अन्तःकरण का सम्बन्ध है, स्थूल अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं है (घ) कभी उद्योग के समय, अज्ञानी को भी स्थूलान्तःकरण के सम्बन्ध के साथ-साथ राग का अभाव है, परन्तु वहां अनुकूलपदार्थ की स्मृति या सन्निधि नहीं है। (ङ) स्थूलान्तःकरण के और अनुकूल वस्तु के सम्बन्ध के साथ-साथ कभी अविचारदशा में राग ज्ञानी को भी हो जाता है परन्तु वह निरन्तर नहीं होता। (च) स्थूलान्तःकरण और अनुकूलपदार्थका स्मृति सम्बन्ध होते हुए रागका अभाव तो उपासकादि शुद्ध चित्तवाले अज्ञानी में भी दिखाई देता है परन्तु उसमें राग का अभाव बाहिर से होता है; भीतरसे सूक्ष्मरागका अभाव नहीं होता। अतएव ऊपर जो अदृढराग बताया है वही ज्ञानी का निर्दोष लक्षण है। संक्षेप में दृढ-राग के अभाववाला ज्ञानी होता है।

'कस्य कामाय' के अभिप्राय को कहते हैं:—

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् ।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥

अन्वय–जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासंगत्वस्य समीक्षणात् भोक्त्रभावविवक्षयया 'कस्य कामाय' इति वचः ।

अर्थ–जैसे जगत् के मिथ्यात्वज्ञान से वास्तविक भोग्य के अभाव की विवक्षा से 'किं इच्छन्' वाक्य कहा है वैसे ही, आत्मा की असंगता की समीक्षा से वास्तविक भोक्ता के अभाव की विवक्षा से 'कस्य कामाय' यह वाक्य श्रुति में कहा गया है ॥१६२॥

(शंका) 'आत्मा भोक्ता नहीं है' यह तो तभी कहोगे जब उसमें आसक्ति होना सम्भव हो : वह तो असंग है फिर आसक्ति कहां से होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आत्मा में आसक्ति का होना अनुभवसिद्ध है और यह बात भी श्रुति में प्रतिपादित है:–

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥

अन्वय–पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय न इच्छति, किन्तु आत्मभोगार्थम्' इति श्रुतो बहु उद्घोषितम् ।

अर्थ–'पति, स्त्री आदि किसी को भी इच्छा उन-उनके भोग के लिए नहीं अपितु अपने ही भोगके लिए करता है' यह बात श्रुति में खूब घोषणा पूर्वक कही गई है । "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" से लेकर "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" तक याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी पत्नी को यही बताया है कि पति स्त्री आदि सारा

जगत् आत्मा का ही भोग-साधन है। इसलिए "आत्मा भोक्ता है" यह बात सिद्ध होती है ॥१६३॥

'परन्तु वस्तुतः आत्मा भोक्ता नहीं है' यह दिखाने के लिए उस विषय में शंका करते हैं :—

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥

अन्वय—किं कूटस्थः अथवा चिदाभासः किं वा उभयात्मकः भोक्ता ? तत्र कूटस्थः असंगत्वात् भोक्तृतां न व्रजेत् ।

अर्थ—क्या भोक्ता कूटस्थ है अथवा चिदाभास या आत्मा दोनों ही रूपों में भोक्ता है ? इन विकल्पों में से कूटस्थ तो असंग होने से भोक्ता बन नहीं सकता।

'असंगत्व और भोक्तृत्व' दोनों एक साथ नहीं रह सकते !

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१६५॥

अन्वय—सुखदुःखाभिमानाख्यः विकारः भोगः उच्यते। कूटस्थः च विकारी च इति एतत् कथं न व्याहतम् ।

अर्थ—सुख-दुःख का अभिमान रूप विकार ही भोग कहलाता है। इसलिए "कूटस्थ है साथ ही विकारी है' यह कथन परस्पर विरुद्ध ही तो है; फिर असंग कूटस्थ, सुख-दुःख आदि का अभिमानी विकारी कैसे हो सकता है ? ॥१६५॥

अच्छा तो विकारी चिदाभास को ही भोक्ता मान लो ; उत्तर देते हैं :—

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि।

निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति ॥

अन्वय–आभासे विकारिबुद्ध्यधीनत्वात् विकृतौ अपि हि निरधिष्ठान-विभ्रान्तिः केवला न तिष्ठति ।

अर्थ–चिदाभास विकारी बुद्धि के अधीन होने से ही विकारी है परन्तु स्वयं विकारी होने पर भी चिदाभास (भ्रान्ति) की अधिष्ठान के बिना सत्ता नहीं है; अतएव केवल चिदाभास का भोक्ता होना सम्भव नहीं है ॥१९६॥

इसलिए अन्तमें तीसरा पक्ष "कूटस्थ चिदाभास दोनों ही भोक्ता हैं" यही ठीक है !

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१९७॥

अन्वय–अतः लोके उभयात्मकः एव भोक्ता निगद्यते । तादृक् आत्मनं आरभ्य श्रुतौ कूटस्थः शेषितः ।

अर्थ—इसलिए व्यवहार में उभयात्मक अर्थात् साधिष्ठान चिदाभास ही भोक्ता है–यह कहा जाता है । [परमार्थ दृष्टि से तो उसकी उभयात्मकता ही सिद्ध नहीं है ।

यदि कहो कि 'असंगोऽह्यं पुरुषः' इत्यादि श्रुति-वाक्यों में जिस को असंग कहा है उसी को 'यो ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि में बुद्धि साक्षी कहा है । अतएव भोक्ता के दोनों स्वरूप पारमार्थिक ही हैं, तो यह शंका निर्मूल है, क्योंकि यहाँ श्रुति का यह अभिप्राय नहीं है । श्रुति में तो, वैसे अर्थात् बुद्धि उपाधि वाले भोक्ता आत्मा से आरम्भ कर अन्त में बुद्धि आदि को कल्पना के अधिष्ठान-भूत

चिदात्मा कूटस्थ को ही शेष रखा है तथा बुद्धि आदि सब अनात्म-पदार्थों का निषेध कर दिया है। इस प्रकार श्रुति में केललमात्र कूटस्थ को ही सत्यरूप माना है ॥१९७॥

बृहदारण्यक के उसी वाक्य का संक्षिप्त अर्थ दिखाते हैं:—

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥१९८॥

अन्वय–'कतमः आत्मा' इयि उक्ते याज्ञवल्क्यः तं विबोधयन् विज्ञानमयं आरभ्य असंगं परि अशेषयत् ।

अर्थ–राजा जनक के इस प्रश्न के उत्तर में कि 'आत्मा कौन सा है ?' याज्ञवल्क्य ऋषि ने, उसे समझाते हुए 'यह विज्ञानमय, जो प्राणों में है, आत्मा है' इस वाक्य में विज्ञानमय को आत्मा बताना आरम्भ करके, पर साथ-साथ सबका खण्डन करके, अन्त में 'असंगोऽह्ययं पुरुषः' 'यह असंग ही आत्मा है' कहकर असंग कूटस्थ को ही परिशेष से आत्मा बताया है ॥१९८॥

ऐतरेयादि अन्य श्रुतियों में भी इसी प्रकार वर्णन है:——

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

अन्वय–'कः अयं आत्मा' इति एवमादौ श्रुतौ आत्मविचारतः सर्वत्र उभयात्मकं आरभ्य कूटस्थः शेष्यते ।

अर्थ–'कोऽयमात्मा इति वयमुपास्महे कतरः सः आत्मा' इत्यादि (ऐतरेय ५.१) उपनिषदों में आत्मा का विचार करते हुए सर्वत्र यह

शैली है कि उभयात्मक अर्थात् अन्तःकरणोपाधिक आत्मासे आरम्भ करके, अन्त में प्रज्ञानमात्र कूटस्थ को शेष रखा है। इस प्रकार युक्ति और श्रुतियों का सार यह है कि उभयात्मक भोक्ता तो मिथ्या है और पारमार्थिक असंग कूटस्थ, भोक्ता नहीं है।

(प्रश्न) यदि भोक्ता मिथ्या है तो प्राणी उसे सत्य क्योंकर समझने लगते हैं?

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥

अन्वय–आत्मा अविवेकतः कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन् अध्यस्य भोक्तृतां तात्त्विकीं मत्वा कदाचित् न जिहासति।

अर्थ–(उत्तर) आत्मा जो लोक में भोक्ता के नाम से प्रसिद्ध है, अविवेक से, अपने कूटस्थ रूप में निष्ठ सत्यता का, अपने आप में अध्यास करके उस सत्यता के द्वारा अपने भोक्तापन को भी सत्य मानकर कभी भी भोगों को नहीं छोड़ना चाहता ॥२००॥

'आत्मनस्तु कामाय' इत्यादि श्रुति में जो भोग्य को आत्माके लिए ही बताया है वह लोकप्रसिद्ध उभयात्मक भोक्ता आत्मा के लिए ही है, कूटस्थ आत्मा के लिए नहीं :–

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥

अन्वय–भोक्ता स्वस्य एव भोगाय पतिजायादिकं इच्छति, एषः लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यक् अनूदितः।

अर्थ—लोकप्रसिद्ध भोक्ता अपने ही भोग के लिए पति या

पत्नी आदि भोग-सामग्री को चाहता है, इस लौकिक वृत्तान्त का ही उक्त श्रुति ने, केवल अनुवाद कर दिया है, किसी दूसरी अलौकिक बात का प्रतिपादन यहां नहीं किया गया है ॥२०१॥

इस अनुवाद का प्रयोजन बताते हैं :—

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

अन्वय—भोग्यानां भोक्तृशेषत्वात् भोग्येषु मा अनुरज्यतां, प्रधाने भोक्तरि एव, अतः तं अनुरागं विधित्सति ।

अर्थ—पति-पत्नी आदि सब भोग्य तो भोक्ता के भोग के उपकरण हैं, इसलिए अमुख्य भोग्यों में अनुराग नहीं करना चाहिए अपितु प्रधान भोक्ता में अनुराग करना चाहिए—इस विधान को ही श्रुति कहना चाहती है ॥२०२॥

भोग्यों के प्रति प्रेम को छोड़ते हुए, आत्मा के प्रति प्रेम करना चाहिए ; इस विषय में ईश्वर के प्रति प्रार्थना सम्बन्धी पुराणवचन को उद्धृत करते हैं:—

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥

अन्वय—अविवेकिनां विषयेषु अनपायिनी या प्रीतिः, माप ! सा त्वां अनुस्मरतः मे हृदयात् सर्पतु ।

यद्वा—अविवेकिनां विषयेषु अनपायिनी या प्रीतिः, सा त्वां अनुस्मरतः मे हृदयात् मा अपसर्पतु ।

अर्थ—"अज्ञानियों को विषयों में जो दृढ भक्ति होती है, हे लक्ष्मी-

पति ! तेरा सदा चिन्तन करने से, मेरे हृदय से वह विषय-प्रीति, निकल कर भाग जाय अर्थात् मेरा मन विषय-प्रीति को छोड़ कर सदा तुझ में ही लगा रहे ।"

अथवा–अविवेकियों की विषयों में जैसी दृढ आसक्ति है वैसी आसक्ति तेरा स्मरण करते हुए मेरे मन से, निकल कर न जाय अर्थात् मेरे मन में तेरे प्रति वैसी ही दृढ भक्ति सदा बनी रहे ।"

इथि न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४॥

अन्वय–इति न्यायेन सर्वस्मात् भोग्यजातात् विरक्तधीः तां प्रीतिं भोक्तरि उपसंहृत्य एनं बुभुत्सते ।

अर्थ–इस पुराणोक्तन्याय से पति-पत्नी आदि भोग्यमात्र से विरक्त हुआ पुरुष; उस भोग्यविषयक प्रीति को भोक्ता आत्मा में ही समेट कर इस भोक्ता को जानने की अभिलाषा करता है ॥२०४॥

आत्मा में सकल प्रेम समेट लेने का फल बताते हैं:—

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५॥

अन्वय–पामरः स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु यथा अप्रमत्तः; तद्वत् भोक्तरि न प्रमाद्यति ।

अर्थ–जैसे पामर (अविवेकी) माला, चन्दन, पत्नी, वस्त्र और सुवर्ण आदि भोग्य पदार्थों की उपेक्षा नही करता; इनके अर्जन-रक्षणादि में सदा सावधान रहता है ऐसे ही (मुमुक्षु) भोक्ता, आत्मा

के प्रति कभी प्रमाद नहीं करता, उसका सदा चिन्तन करता रहता है ॥२०५॥

आत्मा के प्रति प्रमाद के अभाव को अनेक दृष्टांतों से स्पष्ट करते हैं:—

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥
जपयागोपासानादि कुरुते श्रद्धया यथा ।
स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षुया ॥
चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात्स्वं मुमुक्षया ॥

अन्वय—यथा विजिगीषुः निरन्तरं काव्यनाटकतर्कादिक अभ्यस्यति, तद्वत् मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥ तथा स्वर्गादिवाञ्छया जपयागोपसनादि श्रद्धया कुरुते तद्वत् मुमुक्षुः स्वे श्रद्दध्यात् ॥ योगी अणिमादिप्रेप्सया महायासेन चित्तैकाग्र्य साधयेत् एवं मुमुक्षया स्वं विविच्यात् ।

अर्थ—जैसे शास्त्रार्थ में प्रतिवादी को जीतना चाहने वाला, निरन्तर काव्य नाटक न्याय-शास्त्र आदि का अभ्यास करता रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षु भी सदा अपनी आत्मा का विचार करे ॥ जैसे स्वर्ग आदि की कामना वाला, जप-यज्ञ-उपासना आदि को श्रद्धा से करता है वैसे ही मुक्ति की इच्छा से अपने, श्रुतिप्रतिपादित आत्मा में विश्वास करे, विश्वास से आत्मा का विचार करे ॥ योगी, अणिमा आदि सिद्धियों की इच्छा से, बड़े परिश्रम से चित्त की एकाग्रता को सिद्ध करता है वैसे ही मोक्ष की इच्छा से

अपने आत्मा को देहादि से पृथक् करने जाने ॥२०६-२०७-२०८॥

अभ्यास से विवेक खूब मंज जाता है :—

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥

अन्वय—यथा तेषां अभ्यासपाटवात् कौशलानि विवर्धन्ते तद्वत् अस्य अपि अभ्यासात् विवेकः विशदायते ।

अर्थ—जैसे उन शास्त्राभ्यासी, सकामी और योगी पुरुषों की, अभ्यास की दृढता से अपने-अपने विषय में कुशलता बढ़ जाती है; ऐसे ही, अभ्यास से मुमुक्षु का, देहादि से आत्मा का भेद ज्ञानरूप विवेक खूब मंज जाता है ॥२०९॥

विवेक के मंजने का क्या फल होता है ?

विविचता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥

अन्वय—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भोक्तृतत्त्वं विविचता जाग्रदादिषु साक्षिणि असंगता अध्यवसीयते ।

अर्थ—पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक से भोक्ता के पारमार्थिकस्वरूप तत्त्व का विवेचन करने वाले अर्थात् जड़पदार्थों से भोक्ता को पृथक् निश्चय कर लेने वाले मुमुक्षु को जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में साक्षी (कूटस्थ) की असंगता का निश्चय हो जाता है ॥२१०॥

साक्षी की असंगता के साधक अन्वय व्यतिरेकों को स्पष्ट करते हैं :—

यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।

तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

अन्वय–जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु यत्र यत् द्रष्ट्रा दृश्यते, तत् तत्र एव, इतरत्र न, इति अनुभूतिः संमता हि।

अर्थ–जाग्रत् आदि अवस्थाओं में से जिसमें जो स्थूल-सूक्ष्म और आनन्दरूप त्रिविध भोग्य साक्षी को अनुभव होता है वह दृश्य (भोग्य) उस ही एक अवस्था में रहता है दूसरी अवस्था में वह दृश्य दिखाई नहीं पड़ता; [पर इन तीनों में अनुगत इनका द्रष्टा सबसे पृथक् रहता हैं।] यह अनुभव सर्व-सम्मत अनुभव है ॥२११॥

साक्षी की असंगता में श्रुतिप्रमाण उपस्थित करते हैं :—

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत्।
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ॥

अन्वय–स तत्र यत् किंचित् ईक्षते तेन अनन्वागतः भवेत्। पुण्यं पापं दृष्ट्वा एव, इति एवं श्रुतिषु डिंडिमः।

अर्थ–"वह आत्मा उस अवस्था में जिस भोग्य को देखता है उसके साथ अनुगत नहीं होता"–उससे सम्बद्ध नहीं होता अपितु उन दृश्यों को उसी अवस्था में छोड़कर अकेला ही दूसरी अवस्था में पहुंच जाता है" "पुण्य अर्थात् पुण्य के फल सुख को या पाप के फल दुःख को केवल देखकर ही साथ में लिये बिना चला जाता है" श्रुति में यह बात डंके की चोट से कही गई है।

यहां प्रसंगागत श्रुतियां निम्न प्रकार हैं:–"स यत् तत्र किं चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेनभवत्यसंगोह्ययं पुरुषः" स वा एष एतस्मिन् सम्प्र-

सादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियो-योन्यां द्रवति" (बृ० ४-३-१५) ॥२१२॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥२१२॥

अन्वय—यत् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं प्रकाशते, 'तत् ब्रह्म अहं' इति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।

अर्थ—जो सत्यज्ञानानन्दरूप ब्रह्म, साक्षिरूप से स्थित हुआ, जाग्रदादि रूप जगत् को प्रकाशित करता है, वह ब्रह्म मैं हूँ; चिदाभासादि रूप मैं नहीं हूं—ऐसा निश्चय श्रुति और अनुभव से करके प्रमाता-कर्त्ता-भोक्ता आदि समस्त बन्धनों से पूरी तरह छूट जाता है ॥२१३॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥११४॥

अन्वय—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु एकः एव आत्मा मन्तव्यः । स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनः जन्म न विद्यते ।

अर्थ—जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा मानना चाहिए : इस प्रकार विवेक-ज्ञान से आत्मा को तीनों अवस्थाओं से विविक्त पहचान लेने वाले आत्मा का इस देह को छूटने पर दूसरा जन्म (शरीरान्तर प्राप्ति) नहीं होता ॥११४॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।

अन्वय–त्रिषु धामसु यत् भोग्यं यत् भोक्ता च भोगः भवेत्, तेभ्यः विलक्षणः चिन्मात्रः साक्षी सदाशिवः अहम्।

अर्थ–जाग्रत् आदि तीनों धामों में जो स्थूल-सूक्ष्म-आनन्दरूप तीन प्रकार का भोग्य है और जो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नाम के भोक्ता हैं और इनमें जो नाना भोग होते हैं—उन धाम आदि सबसे विलक्षण जो एक चिन्मात्र सदा कल्याणस्वरूप अथवा निरतिशय आनन्दरूप होने से सर्वदा शोभायमान साक्षी परमात्मा है, वही मैं हूं ॥२१५॥

इस प्रकार विवेक द्वारा आत्मतत्व असंग है ऐसा तो निश्चय हो गया–फिर भोक्ता कौन है ?

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥

अन्वय–एवं तत्वे विवेचिते विज्ञानमयशब्दितः विकरी यः चिदाभासः तस्य भोक्तृत्वं शिष्यते।

अर्थ–इस प्रकार आत्मतत्व की विवेचना करके जब आत्मा को असंग जान लिया जाता है तब विज्ञानमय कहाने वाला और विकारी चिदाभास ही भोक्ता रह जाता है ॥२१६॥

यदि कहो कि 'कस्य कामाय' की व्याख्या करते हुए पहले (१९२वें श्लोक में) जो यह कह आये हैं कि उक्त वचन भोक्ता के अभाव को बताता है सो अब चिदाभास को भोक्ता कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि वह वचन तो पारमार्थिक भोक्ता के अभाव को कहता है—भोक्ता चिदाभास तो मिथ्या ही है :—

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि।

इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः ॥२१७॥

अन्वय—अयं चिदाभासः मायिकः श्रुतेः अनुभवात् अपि। यतः जगत् इन्द्रजालं प्रोक्तं तदन्तःपाती अयम्।

अर्थ—यह चिदाभास मिथ्या है; "जीवेशावाभासेन करोति" इस श्रुति से और द्रष्टा-दर्शन-दृश्यों में से एक रूप में अनुभव होने से भी। क्यों कि जगत् को विद्वान् इन्द्रजाल अर्थात् मिथ्या मानते हैं और चिदाभास उसके अन्तर्गत है। इसलिये भी यह चिदाभास मिथ्या है॥२१७॥

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते।
एतादृशं स्वस्वभावं विविक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

अन्वय—हि अस्य विलयः अपि सुप्त्यादौ साक्षिणा अनुभूयते; स्वस्वभावं एतादृशं पुनः पुनः विविनक्ति।

अर्थ—क्योंकि इस चिदाभास का विनाश भी सुषुप्ति-मूर्छा आदि में साक्षी द्वारा अनुभूत होता है; इसलिए भी यह चिदाभास मिथ्या है। जब यह मिथ्या ज्ञात हो जाता है तब यह अपने मिथ्यात्व स्वभाव का बार-बार विवेक करने लगता है॥२१८॥

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति।
मुमुर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति।

अन्वय—विविच्य नाशं निश्चित्य पुनः भोगं न वाञ्छति; मुमूर्षुः भूमौ शायितः कः विवाहं अभिवाञ्छति।

अर्थ—विवेचन करते-करते अपने नाश का निश्चय हो जाने

पर फिर वह भोगों की इच्छा करना छोड़ देता है। जिस मुमूर्षु को खाट से उतार कर भूमि पर सुला दिया गया हो भला वह विवाह कब चाहता है ॥२१९॥

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहऽमिति पूर्ववत्।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥

अन्वय—च पूर्ववत् अहं भोक्ता इति व्यवहर्तुं जिह्रेति; छिन्ननासः इव ह्रीतः क्लिश्यन् प्रारब्धं अश्नुते।

अर्थ--फिर पहले की भांति "मैं भोक्ता हूं"--इस व्यवहार में भी उसे लज्जा होती है। (ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त) वह नकटे की भांति लज्जित हो, अभीतक मेरा कर्म नष्ट न हुआ इस बात से दुःख मानता हुआ, प्रारब्ध के कर्म के फल का भोग करता है ॥२२०॥

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

अन्वय—यदा अयं स्वस्य अपि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेति तदा एतत् साक्षिणि आरोपयेत् इति वृथा कथा का इव।

अर्थ—'जब यह ज्ञानी चिदाभास अपने आपको भोक्ता मानने में ही लजाने लगता है तब अपने भोक्तापन को भी साक्षी पर लादने लगेगा'! ऐसी व्यर्थ (अर्थशून्य) कथा (शंका) नहीं करनी चाहिए॥ २२१॥

इसीलिए श्रुति में भी कहा है :—

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशङ्कया।

कस्य कामकायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ।२२२।

अन्वय–इति अभिप्रेत्य 'कस्य कामाय इति' भोक्तारं अविशंकया आक्षिपति । ततः शरीरानुज्वरः नहि ।

अर्थ–'कूटस्थ या चिदाभास में से कोई भी पारमार्थिक भोक्ता नहीं है' इसी अभिप्राय से ही तो 'कस्य कामाय' इस श्रुति से, भोक्ता का, निःशंकभाव से निराकरण किया है । इसी कारण तत्व-ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीर कष्ट नहीं होता ।।२२२।।

शरीर और शरीर ज्वर

स्थूलं सूक्ष्म कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥

अन्वय–स्थूलं सूक्ष्मं च कारणं त्रिविधं शरीरं स्मृतं, तत्र तत्र उचितः त्रिविधः ज्वरः अवश्यम् ।

अर्थ–स्थूल, सूक्ष्म और कारण–तीन प्रकार का शरीर है : उस-उस शरीर में उचित तीन प्रकार का संताप अवश्य हुआ करता है ।।

स्थूल शरीर के ज्वर

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ।।२२४।।

अन्वय–तनौ कोटिशः वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः तथा दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभंगादयः ।

अर्थ–स्थूल शरीर में (होने वाले) वात- पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले करोड़ों रोग और दुर्गन्ध, कुरूपता, जलन, चोट

आदि अनेक ज्वर (उपद्रव) स्थूल शरीर के ज्वर हैं ।।२२४।।

सूक्ष्म शरीर के ज्वर

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्याः लिङ्गदेहगाः ।
ज्वरा द्वयेपि बाधन्ते प्राप्त्याप्राप्त्या नरं क्रमात् ।।

अन्वय—कामक्रोधादयः शांतिदान्त्याद्याः लिंगदेहगाः द्वये अपि ज्वराः क्रमात् प्राप्त्या अप्राप्त्या नरं बाधते ।

अर्थ—काम-क्रोध आदि और शम-दम आदि सूक्ष्मशरीर-गत ज्वर हैं । ये दो भान्ति के ज्वर क्रमशः प्राप्त होने और न होने से मनुष्य को दुःखी करते हैं* ।।२२५।।

कारणशरीरगत ज्वर का छान्दोग्य श्रुति में वर्णन

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ।।

अन्वयः—कारणे आत्मा स्वं च परं न वेत्ति च विनष्टः इव च आगामिदुःखबीजं इति इन्द्रेण दर्शितम् ।

अर्थ—कारण शरीर में (पहुँचने पर) आत्मा अपने आपको

---

*अज्ञानी पुरुष को; काम-क्रोधादि शरीर में रहते जैसे तंग करते हैं वैसे ही 'मुझे सज्जन पुरुष की न्याई शांति प्राप्ति नहीं हुई' आदि रूप में शम-दम आदि भी उसे सन्तप्त करते हैं । इसीलिए दोनों को समान-रूप से ज्वर कहा है । ज्ञानी पुरुष तो गीता के अनुसार गुणातीत है इसीलिए सात्विक आदि वृत्तियों की अनात्मता को भली भान्ति समझता है अतएव प्रकाश (सत्वगुण का कार्य), प्रवृत्ति (रजोगुण का कार्य) और मोह (तमोगुण का कार्य) में से किसी से न डरता है न उन्हें चाहता ही है; अतएव उसे देहज्वर नहीं सताते ।

और दूसरे को नहीं जानता; वह (अज्ञान से) विनष्ट हुआ--सा हो जाता है और यह अवस्था आगामी दुःखों का कारण भी होती है। इन्द्र शिष्य ने प्रजापति गुरु को यही बतलाया था : यही कारण-शरीर का ज्वर है। यह वर्णन छान्दोग्य ८-११-२ में आया है।

ये त्रिविध ज्वर अपरिहार्य हैं :—

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

अन्वय–त्रिषु शरीरेषु एते ज्वराः स्वाभाविकाः मताः। ज्वरैः वियोगे तु तानि शरीराणि न आसते एव।

अर्थ–तीनों शरीरों में ये ज्वर स्वभाव से रहते हैं; क्योंकि ज्वरों से इन शरीरों का वियोग होने पर ये शरीर ही नहीं रहते। शरीरों के साथ उत्पन्न होने से और इनके वियोग से शरीरों के न रहने के कारण ज्वर शरीरों में स्वाभाविक हैं--यह मानना पड़ता है ॥२२७॥

तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योपीति दृश्यताम् ॥

अन्वय–यथा तन्तोः पटः वियुज्येत, बालेभ्यः कम्बलः, मृदः घटः तथा ज्वरेभ्यः देहः अपि इति दृश्यताम्।

अर्थ–जैसे तन्तुओं से वियुक्त होने पर वस्त्र, बालों से वियुक्त होने पर कम्बल और मिट्टी से वियुक्त होने पर घड़ा नहीं रहता वैसे ही ज्वरों से वियुक्त होने पर देह भी नहीं रहते--यह स्पष्ट है ॥

चिदाभास में ज्वर का अभाव

चिदाभासे स्वतः कोपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥

अन्वय–चिदाभासे स्वतः कः अपि ज्वरः न अस्ति; यतः चितः प्रकाशैकस्वभावत्वं एव दृष्टं च इतरत् न ।

अर्थ–चिदाभास में स्वतः (तीनों शरीरों) से विद्यमान सम्बन्ध के बिना) कोई ज्वर नहीं होता, क्योंकि चित् को तो एकमात्र प्रकाश स्वभाव वाला ही विद्वानों ने अनुभव किया है ॥२२९॥

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

अन्वय–चिदाभासे अपि ज्वराः असंभाव्याः, साक्षिणि का कथा ? एवं अपि चिदाभासः हि अविद्यया एकतां मेने ।

अर्थ–और जब चिदाभास में ही ज्वरों का होना असम्भव है तब में साक्षी ज्वरों की होने की तो बात ही क्या है ? परन्तु ऐसा होने पर भी चिदाभास अपनी अविद्या के कारण उन शरीरों से अपनी एकता को मान लेता है और इस प्रकार शरीरों के ज्वरों से अपने आप को सन्तप्त मान बैठता है ॥२३०॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥

अन्वय–स्वेन उपेते वपुस्त्रये साक्षिसत्यत्वं अध्यस्य तत् सर्वं स्वस्य वास्तवं इति मन्यते ।

अर्थ–चिदाभास अपने सहित तीनों शरीरों में साक्षिगत सत्यता का अभ्यास करके उन ज्वरसहित तीनों शरीरों को अपना वास्तविक रूप समझ बैठता है ।।२३१।।

एतस्मिन्भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ॥

अन्वय–अयं एतस्मिन् भ्रान्तिकाले शरीरेषु ज्वरत्सु अथ स्वयं एव ज्वरामि इति हि मन्यते । कुटुम्बिवत् ।

अर्थ–यह चिदाभास इस भ्रान्तिकाल में जब शरीरों को सन्ताप होता है तब उस ज्वर को अपने आपमें आरोपित कर 'मैं ही सन्तप्त हो रहा हूँ'--ऐसा समझता रहता है । जैसे पुत्रादि के दुःख से कुटुम्बी दुःखी होने लगते हैं ।।२३२।।

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥२३३॥

अन्वय–यथा पुरुषः पुत्रदारेषु तप्यत्सु 'तपामि' इति वृथा मन्यते, तद्वत् आभासः अभिमन्यते ।

अर्थ–जैसे गृहस्थ मनुष्य पुत्र स्त्री आदि के दुःखी होने पर 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा व्यर्थ में ही मानने लगता है; ऐसे ही चिदाभास भी व्यर्थ ही, मैं दुःखी हूँ ऐसा समझने लगता है ।।२३३।।

परन्तु विवेकावस्था में ऐसा दुःख नहीं होता :–

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ।२३४।

अन्वय–विविच्य, भ्रान्तिं उज्झित्वा, स्वं अपि अगणयन्, सदा साक्षिणं चिन्तयन्, कस्मात् शरीरं अनुसंज्वरेत् ?

अर्थ–चिदाभास, कूटस्थ, अपने और शरीरों के भेदों को जानकर, 'यह सब मैं ही हूँ' इस भ्रान्ति को छोड़कर तथा अपने को आभास रूप जानने से अपने आप को कुछ न गिनता हुआ, सदा साक्षी का ही विचार करता हुआ इस ज्वर वाले शरीर के पीछे क्यों दुःखी होता फिरेगा ? इस स्थिति में वह फिर दुःखी नहीं होता ॥२३४॥

भ्रान्तिज्ञान और तत्वज्ञान, ज्वर और ज्वराभाव के कारण हैं :–

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ।२३५।

अन्वय–अयथार्थवस्तुसर्पादिज्ञानं पलायने हेतुः; रज्जुज्ञाने अहि-धीध्वस्तौ कृतं अपि अनुशोचति ।

अर्थ–अयथार्थ वस्तु, रज्जु आदि में कल्पित सर्प आदि (स्थाणु में कल्पित चोर) का ज्ञान पलायन का कारण होता है; अर्थात् यहां रज्जु में सर्प आदि भ्रान्ति ज्ञान में पलायन रूप दुःख का कारण हुआ है । परन्तु रज्जु के ज्ञान होने पर, सर्प आदि की बुद्धि हट जाने पर, अपने किये पलायन आदि पर भी पश्चात्ताप करता है । अर्थात् तत्वज्ञान के पश्चात् दुःख तो होता ही नहीं, पिछले किए दुःख का पश्चात्ताप भी होने लगता है ॥२३५॥

'साक्षी का सदा चिन्तन करे' इस उक्ति को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।

क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥

अन्वय–मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तत्वसिद्धये साक्षिणं आत्मानं क्षमापयन् इव शरणं गतः ।

अर्थ–लोक में जैसे कोई झूठा दोष लगाने वाला उस दोष के प्रायश्चित्त रूप में अभियुक्त से बार-बार क्षमा मांगता है वैसे ही यह चिदाभास, साक्षी आत्मा पर लगाये भोक्तृत्वादि मिथ्या अभियोग के प्रायश्चित्त करने के लिये साक्षी आत्मा की शरण में पहुँचता है–अर्थात् मैं सच्चिदानन्द हूँ ऐसे कहने लगता है ।।२३६।।

'साक्षिपरायणता' को एक दूसरे दृष्टान्त मे स्पष्ट करते हैं :–

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥

अन्वय–यथा आवृत्तपापनुत्यर्थं स्नानादि आवर्त्यते, ध्यानं आवर्त्तयन् इव सदा साक्षिपरायणः ।

अर्थ–जैसे बार-बार पाप करने वाला पुरुष बार-बार स्नानादि रूप प्रायश्चित्त करता है वैसे ही यह चिदाभास भी देर तक किये, साक्षी में संसारीपन आदि के आरोपण के अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए, बार-बार ध्यान करता हुआ-सा, सदा साक्षिपरायण रहने लगता है ।।२३७।।

अब, अपने कर्तृत्व आदि में उसकी अपनी लज्जा को दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं :–

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥

अन्वय—उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते तथा आभासः जानतः अग्रे स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।

अर्थ—जैसे गुप्तांग में कोढ रोगवाली वेश्या विलास में लज्जा मानती है, वैसे ही यह चिदाभास ज्ञानी के सन्मुख अपनी ख्याति को रोकता हुआ लजाता है—वह अपने आपको 'मैं' कहने में लज्जा अनुभव करता है ॥२३८॥

तीनों शरीरों में पृथक् जाने हुए चिदाभास को, पुनः उनके तादात्म्य की भ्रान्ति नहीं होती—इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः

अन्वय—म्लेच्छैः गृहीतः ब्राह्मणः प्रायश्चित्तं चरन् म्लेच्छैः न एव संकीर्यते; तथा आभासः शरीरकैः ।

अर्थ—जैसे म्लेच्छों से पकड़ा हुआ ब्राह्मण प्रायश्चित्त करने के पश्चात् फिर म्लेच्छों में नहीं मिलता; वैसे ही चिदाभास उक्त प्रायश्चित्त करने के पश्चात् फिर से शरीरों के साथ तादात्म्याभास या संकरता को प्राप्त नहीं होता ॥२३९॥

चिदाभास केवल प्रायश्चित के लिए ही नहीं अपितु, एक महान् प्रयोजन के लिए भी साक्षी की शरण में जाता है : इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :—

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकर्य्ययम् ॥

अन्वय—यौवराज्ये स्थितः राजपुत्रः साम्राज्यवांछया राजानुकारी भवति; तथा अयं साक्ष्यनुकारी ।

अर्थ–जैसे युवराज बनाया हुआ राजपुत्र साम्राज्यपाने की इच्छा से राजा का अनुकरण किया करता है; वैसे ही यह चिदाभास ब्रह्मभावरूप आत्मसाम्राज्य की इच्छा से सदा साक्षी का अनुसरण करने लगता है ॥२४०॥

साक्षी का अनुकरण करने के फल को श्रुति से प्रतिपादित करते हैं :–

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥

अन्वय–'यः ब्रह्म वेदब्रह्म एव भवति' इति श्रुतिः श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति च इतरत् न ।

अर्थ–'जो ब्रह्म को जानता है वह निश्चय से ब्रह्म ही हो जाता है' इस अभिप्राय की श्रुति को सुनकर, उस ब्रह्म में एकनिष्ठ होकर उस ब्रह्म को ही जानता है अन्य को नहीं । अर्थात् साक्षी के अनुसररण का फल ब्रह्मज्ञान है ।

'स यो ह वै एतत् परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । नास्याब्रह्मवित् कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं ग्रहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' इसश्लोक में उद्धृत यह श्रुति ब्रह्मभावादि को साक्ष्यनुसरण का फल बता रही है ।,२४२॥

परन्तु चिदाभास ब्रह्म हो जाने से अपना विनाश क्यो चाहेगा ?

देवत्वकामा ह्यग्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥

अन्वय–यथा देवत्वकामाः हि अग्न्यादौ प्रविशन्ति, तथा साक्षित्वेन अवशेषाय सः स्वविनाशं वांछति ।

अर्थ—जैसे लोकमें देवत्वकी चाहसे लोग अग्निप्रवेश आदि काम कर जाते हैं; इसी प्रकार साक्षी रूप में स्थिति रूप महान् फल की प्राप्ति के लिए, चिदाभास अपने विनाश तक को भी चाहने लगता है* ॥२४२॥

जब तत्त्वज्ञान से आभासत्व दूर हो गया तो फिर तत्त्वज्ञानी को जीव कैसे कहेंगे ?

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३॥

अन्वय—यावत् स्वदेहदाहं सः नरत्वं न एव मुंचति; यावदारब्धदेहं स्यात् तावत् आभासत्वविमोचनं न ।

अर्थ—जैसे अग्नि आदि में प्रविष्ट मनुष्य, अपने देह के विनाश हो जाने तक, मनुष्य ही कहलाता है; ऐसे ही जब तक प्रारब्धकर्म का देह है, प्रारब्धकर्म का क्षय नहीं होता, तब तक उसे चिदाभास कहा ही जाता है ॥२४३॥

---

*(शंका) देवभाव को चाहने वाले पुरुष अग्नि आदि में प्रविष्ट हो स्थूल देह का विनाश ही करना चाहते हैं, वे अपने जीवत्व का तो नाश नहीं चाहते इसलिए उनकी तो देवभावकी प्राप्ति सम्भव है, परन्तु चिदाभास जब अपने विनाश को चाहता है तो फिर उसके नष्ट हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति किसको होगी ?

(समाधान) यहां कूटस्थविशिष्टबुद्धि में पड़े प्रतिबिम्बरूप चिदाभास को ही जीव कहा है, उसको ही बन्धमोक्ष का अधिकार है, इसलिए ब्रह्मज्ञान द्वारा बुद्धिसहित चिदाभास और जीवत्व का विनाश हो जाने पर भी, अवशिष्ट कूटस्थ को ब्रह्मभाव की प्राप्ति सम्भव है ।

जब भोक्ता आदि रूप भ्रमोत्पादक अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब पुनः भोग क्योंकर प्राप्त होते हैं और फिर से 'मैं मर्त्य हूं' यह विपरीत प्रतीति कैसे होने लगती है ? इसका समाधान दृष्टान्त से करते हैं :–

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगीभवेत् ॥

अन्वय–रज्जुज्ञाने अपि कंपादिः शनैः एव उपशाम्यति; पुनः मंदान्धिकारे क्षिप्ता सा रज्जु : उरगीभवेत् ।

अर्थ–जैसे रज्जु का ज्ञान हो जाने पर भी सर्पभय से उत्पन्न कंपकंपी आदि कुछ समय पश्चात् ही हटते हैं : और कम अन्धेरे में फैंकी हुई वह रस्सी फिर भी सांप लगने लग सकती है:—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥

अन्वय–एवं आरब्धभोगः अपि शनैः शाम्यति, हठात् न; भोगकाले कदाचित् तु 'अहं मर्त्यः' इति भासते ।

अर्थ–ऐसे ही प्रारब्धभोग भी धीरे-धीरे निवृत्त होता है, वह जबर्दस्ती नहीं हटता। भोगकाल में कभी-कभी 'मैं मनुष्य हूं' ऐसी प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति ज्ञान होते ही नष्ट नहीं हो जाती।।२४५।।

तो क्या 'मैं मनुष्य हूं' इस प्रतीति के समय उसका तत्त्वज्ञान नष्ट हो जाता है?

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किंतु वस्तुस्थितिः खलु ॥

अन्वय—एतावंता अपराधेन तत्वज्ञानं न विनश्यति। इदं जीवन्मुक्तिव्रतं न, किन्तु वस्तुस्थितिः खलु।

अर्थ—'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिरूप छोटे से अपराधसे आगमप्रमाणित तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता। क्योंकि यह जीवन्मुक्ति का व्रत नहीं है, अपितु वस्तुस्थिति है। मर्त्यबुद्धि को हटा देना, नियम से अनुष्ठेय जीवन्मुक्तिव्रत नहीं है किन्तु सम्यक्ज्ञान से भ्रान्तिज्ञान की निवृत्तिमात्र है। यदि विपरीत भावना कभी आयेगी भी तो उसे तत्वज्ञान दूर कर देगा* ॥२४६॥

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुध्वा न रोदिति।

---

*जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प भ्रान्ति का बाध होने पर भी, सर्पज्ञानजन्य कम्प आदि की विलम्ब से निवृत्ति होती है, वैसे ही प्रत्यक् अभिन्न अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से अहंकारादि जगत् भ्रान्ति का बाध होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग प्रारब्ध के अन्त में ही निवृत्त होता है, किसी दूसरे साधन से निवृत्त नहीं होता है; तथा च मन्द अन्धकार, में फेंकी रज्जु में फिर सर्प की प्रतीति होने लगती है ऐसे ही भोगकाल में कभी-कभी 'मैं मनुष्य हूं' ऐसी प्रतीत होने लगती है। इसको बाधितानुवृत्ति कहते हैं। यहां मिथ्यात्वनिश्चय बाध और प्रपंच बाधित है; उस बाधित का प्रारब्धपर्यन्त स्थित रहना ही बाधितानुवृत्ति है।

यद्यपि उपादान अज्ञान के हट जाने पर उसके कार्य, प्रपंच की स्थिति अयुक्त है तथापि जैसे व्याघ्र समझकर; गाय पर फेंके बाण का वेग, पीछे गाय को पहचान लेने और पश्चात्ताप से धनुष समेत शेष सब बाणों को नष्टकर देने पर भी शान्त नहीं होता, वह जहां तक जा सकता है वहां जाकर ही रुकता है; ऐसे ही अज्ञान और क्रियमाण तथा संचित कर्मों का ज्ञान से नाश कर देने पर भी मुक्त बाण रूप प्रारब्ध कर्म के वेगरूप कार्य की अनुवृत्ति होती है।

शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ।।

अन्वय–दशमः अपि शिरस्ताडं रुदन् बुध्वा न रोदिति, शिरोव्रणं तु शनैः मासेन शम्यति, तदा नो ।

अर्थ–दशम भी जो अब तक सिर धुनकर रो रहा था, 'तू दशम है' इस वाक्य से, ज्ञान होते ही, तुरन्त रोना बन्द कर देता है; परन्तु सिर पीटने से सिर में हुआ घाव तो महीनों में जाकर अच्छा होता है; उसी समय अच्छा नहीं होता ।।२४७।।

तत्वज्ञान के पश्चात् भी यदि संसार की अनुवृत्ति होती है तब तो जीवन्मुक्ति के लिए पुरुषार्थ ही क्यो करे ? इसका समाधान दृष्टान्त देकर करते हैं :–

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ।।

अन्वय–दशमामृतिलाभेन जातः हर्षः व्रणव्यथां तिरोधत्ते, तथा मुक्ति-लाभः प्रारब्धदुःखिताम् ।

अर्थ–जैसे, दशम के न मरने के लाभ को सुनकर उत्पन्न हुआ हर्ष घाव की पीड़ा को भुला देता है, ऐसे ही जीवन्मुक्ति का लाभ भी प्रारब्ध से मिलने वाली दुःख की स्थिति को छिपा देता है। इसीलिए संसार की अनुवृत्ति चाहे हो तो भी जीवन्मुक्ति के लिए पुरुषार्थ करना लाभदायक तो है ही ।।२४८।।

जीवन्मुक्ति वृत नहीं है, इसलिए :—

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ।।

अन्वय—व्रताभावात् यदा अध्यासः तदा भूयः विविच्यतां, यथा रससेवी दिने भूयः भूयः भुंक्ते तथा ।

अर्थ--जीवन्मुक्ति कोई व्रत नहीं है [देखो श्लोक २४६] इस कारण जब अध्यास हो तभी फिर विवेक करे; जैसे पारा, हर्ताल, तांबा आदि रसोंका औषधि-रूपसे सेवन करने वाला मनुष्य एक ही दिन में, क्षुधा की पीड़ा को हटाने के लिए बार बार भोजन करता है, वैसे ही अध्यास की निवृत्ति के लिए ज्ञानी को बार बार देहादि से अपना भेद ज्ञान-रूप विवेक करना चाहिए* ॥२४९॥

'ज्ञान से जो प्रारब्धका कर्मफल नहीं हटता है, वह भोग से हटता है' दृष्टान्त से इसे समझाते हैं :—

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

अन्वय—यथा अयं दशमः औषधेन स्वं व्रणं शमयति तथा भोगेन एतत् प्रारब्धं शमयित्वा मुच्यते ।

अर्थ—जिस प्रकार दशम पुरुष औषधि से अपने व्रण को अच्छा कर लेता है ऐसे ही भोग से प्रारब्ध को शान्त कर लेने पर ही मुक्त होता है+ ॥२५०॥

---

*एकादशी का व्रत अन्नकण से भंग हो जाता है परन्तु ऐसे ही जीवन्मुक्ति व्रत अध्यास से भंग नहीं होता, हां ज्ञानी को अध्यासजन्य दृष्ट-दुःखरूप विक्षेप को हटाने के लिए बार-बार ब्रह्म का विचार करना चाहिए ।

+जैसे दशम-पुरुष का व्रत ताडन निमित्तसे उत्पन्न होता है ऐसे ही प्रारब्ध निमित्त से उत्पन्न शरीररूपी व्रण है, औषधिलेप के स्थान पर अन्न, प्रक्षालन के स्थान पर जल, पट्टी बांधने के रूप में वस्त्र का योग है । इस प्रकार अन्न, जल, वस्त्र आदि द्वारा प्रारब्ध की निवृत्ति करके ही ज्ञानी विदेह-मुक्त होता है ।

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ॥

अन्वय–'किम् इच्छन्' इति वाक्योक्तः शोकमोक्षः उदीरितः एषा आभासस्य षष्ठी अवस्था; हि तृप्तिः तु सप्तमी।

अर्थ–यहां तक 'किमिच्छन् कस्य कामाय' (बृ०४-४-१२) इस वाक्य में वर्णित शोकमोक्ष अवस्था की व्याख्या की-यह चिदाभास की छठी अवस्था है; यह 'तृप्ति' सातवीं अवस्था है ॥२५१॥

अपरोक्षज्ञानजन्य तृप्ति की निरंकुशता

साङ्कुशाःविषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति।२५२।

अन्वय–विषयैः तृप्तिः सांकुशा, इयं तृप्तिः निरङ्कुशा; कृतं कृत्यं, प्रापणीयं प्राप्तं इति एव तृप्यति।

अर्थ–विषयों से मिलने वाली तृप्ति; दूसरे विषय की कामना से कुंठित होने के कारण, परिमित-तृप्ति है, परन्तु यह अपरोक्ष-ज्ञान-जन्य तृप्ति अपरिमित है। क्योंकि 'जो कुछ करना था कर लिया, जो कुछ मुझे पाना था, पा लिया' यही तो इस तृप्ति का रूप है ॥२५२॥

इस तृप्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हैं :–

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम्। २५३।

अन्वय– अस्य पुरा ऐहिकामुष्मिकव्रातसिध्यै च मुक्तेः सिद्धये बहु

कृत्यं अभूत्; तत्सर्वं अधुना कृतम् ।

अर्थ—इस ज्ञानी को, तत्वज्ञान होने से पहले, इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोगों की सिद्धि और मोक्षसिद्धि के लिए बहुत से कर्तव्य करने थे वे सब अब ज्ञानोदय के पश्चात् किये हुए के समान ही हो गये । [ज्ञानोदय से पहले वांछित पदार्थों की प्राप्ति, प्रतिकूल विषयों की निवृत्ति, खेती व्यापार आदि, स्वर्ग आदि के लिऐ यागोपसनादि तथा मोक्ष के साधनज्ञान की सिद्धि के लिए श्रवणादि कर्त्तव्य जो करने थे, वे सब ज्ञानोदय हो जाने पर सांसारिकफलों की इच्छा न रहने के कारण तथा ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार हो जाने के कारण, किये से हो गये : अब कुछ करना शेष नहीं रहा ।] ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४॥

अन्वय—अयं तत् एतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् अनुसंदधत् एव एवं नित्यशः तृप्यति ।

अर्थ—यह ज्ञानी इस अपनी ब्रह्मभावरूपी कृतकृत्यता को, कृतकृत्यताविरोधी बातों के साथ-साथ स्मरण करता हुआ, आगे कहे प्रकार से नित्य तृप्त होने लगता है ॥२५४॥

इस तृप्ति के प्रकार की विस्तार से व्याख्या करते हैं :—

दुःखिनोऽज्ञा संसरन्तु कामंपुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥

अन्वय—दुःखिनः अज्ञाः पुत्राद्यपेक्षया कामं संसरन्तु; परमानन्दपूर्णः

अहं किमिच्छया संसरामि ।

अर्थ–दुःखी अज्ञानी लोग, पुत्र आदि की अपेक्षा से सांसारिक व्यवहार में चाहे फंसे रहें, परन्तु परमानन्द से परिपूर्ण मैं भला किस इच्छा से सांसारिक व्यवहार में उलझा रहूँ ?

अनुतिष्ठन्ते कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥

अन्वय–परलोकयियासवः कर्माणि अनुतिष्ठन्तु, सर्वलोकात्मकः कस्मात् किं कथं अनुतिष्ठामि ।

अर्थ–परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञादि शुभ-कर्म करें, परन्तु सर्वलोक बना हुआ मैं भला उन कर्मों को क्यों करूं ? कैसे करूं ?

परार्थ के लिए भी ज्ञानी की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ; यह बताते हैं :—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥

अन्वय–ये तत्र अधिकारिणः ते शास्त्राणि व्याचक्षतां वा वेदान् अध्यापयन्तु; मे तु अक्रियत्वतः अधिकारः न ।

अर्थ–जो आचार्य परार्थ के अधिकारी हैं वे भले ही शास्त्रों की व्याख्या करें या वेद पढ़ावें; मैं तो अब 'अक्रिय' हूँ, इस कारण मेरा इन कामों में अधिकार ही नहीं है ॥२५७॥

यदि 'अक्रिय' हो तो फिर भिक्षाऽऽहरण आदि कार्य कैसे होते हैं ? :—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।

द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥

अन्वय–निद्राभिक्षे स्नानशौचे न इच्छामि च न करोमि; द्रष्टारः कल्पयन्ति चेत् ? अन्यकल्पनात् मे किं स्यात् ?

अर्थ–निद्रा, भिक्षा, स्नान और शौच आदि कर्मों को मैं चिदाभास न तो चाहता ही हूँ, न करता ही हूँ; यदि देखने वाले कल्पना से इनको मेरे काम मानते हैं तो मानें; उनके मानने से मेरा क्या बने या बिगड़ेगा ? ॥२५८॥

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥२५९॥

अन्वय–गुंजापुंजादि अन्यारोपितवह्निना न दह्येत, एवं अन्यारोपितसंसारधर्मान् अहं न भजे ।

अर्थ–जैसे लाल होने से अग्नि सदृश रत्ती आदि, वानरादि अन्यों से अग्नि समझी हुई भी, दाह उत्पन्न नहीं करती, ऐसे ही दूसरों से आरोपित सांसारिक धर्मों को मैं नहीं अपनाता ।

ज्ञानी को तो श्रवणादि भी कर्त्तव्य नहीं है :–

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥२६०॥

अन्वय–अज्ञाततत्वाः ते शृण्वन्तु अहं जानन् कस्मात् शृणोमि ? संशयापन्नाः मन्यंतां अहं असंशयः न मन्ये ।

अर्थ–तत्व के अज्ञानी मुमुक्षु भले ही श्रवण करें, मैं ज्ञाता श्रवणादि क्यों करूं ? तत्व के स्वरूप के प्रति संशयालु भले ही मनन

करें, मैं तो संशय-रहित हूँ। इसलिए मनन नहीं करता।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ।२६१।

अन्वय—विपर्यस्तः निदिध्यासेत्, अहं देहात्मत्वविपर्यासं कदाचित् न भजामि; अविपर्ययात् किं ध्यानम् ?

अर्थ—जिसको विपरीत भावना हो, वह निदिध्यासन करे—"मुझे तो अब कभी देह को आत्मा मानने का विपर्यास नहीं होता"; जब विपर्यय ही नहीं है तो ध्यान की क्या आवश्यकता है ? ॥२६१॥

जब विपर्यय नहीं है तो 'मैं मनुष्य हूँ' यह व्यवहार कैसे होता है ?

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोवकल्पते ॥२६२॥

अन्वय—अहं मनुष्यः इत्यादि व्यवहारः अमुं विपर्यासं विना अपि चिराभ्यस्तवासनातः अवकल्पते।

अर्थ—'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि व्यवहार इस विपर्यय के बिना भी अनादिकालाभ्यस्त वासनावश चलता ही रहता है ॥२६२॥

और यह व्यवहार प्रारब्धक्षय होने पर ही निवृत्त होता है :—

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥

अन्वय—प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारः निवर्त्तते; कर्माक्षये तु असौ ध्यानसहस्रतः न एव शाम्येत्।

अर्थ—प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर ही व्यवहार निवृत्त होता

है; कर्मक्षय हुए बिना तो, हजारों बार ध्यान करने पर भी व्यवहार निवृत्त नहीं होता ॥२६३॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते।
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥

अन्वय–व्यवहृतेः विरलत्वं इष्टं चेत्, ते ध्यानं अस्तु; अहं व्यवहृतिं अबाधिकां पश्यन् कुतः ध्यायामि।

अर्थ–व्यवहार की विरलता (कमी) के लिए यदि ध्यान करना है तो ध्यान करो; मैं तो व्यवहार को अबाधक देखता हूँ तो ध्यान क्यों करूं ? ॥२६५॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥

अन्वय–यस्मात् मे विक्षेपः न अस्ति ततः मम समाधिः न। विक्षेपः वा समाधिः वा विकारिणः मनसः स्यात्।

अर्थ–क्योंकि मुझे विक्षेप नहीं होता इसलिए मुझे समाधि की भी आवश्यकता नहीं होती। विक्षेप और समाधि दोनों विकारी मन के ही धर्म हैं ॥२६४॥

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥

अन्वय–नित्यानुभवरूपस्य मे कः वा अनुभवः पृथक्। 'कृत्यं कृतं, प्रापणीयं प्राप्तं' इति एव निश्चयः।

अर्थ–उत्पत्तिविनाशरहित मुझे नित्यानुभवस्वरूप से भिन्न

पृथक् अनुभव कौनसा है ? इसीलिए समाधि का फलरूप अनुभव भी मुझे सम्पादन नहीं करना है। मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है कि जो कुछ करना था, कर लिया; जो कुछ पाना था, सो पा लिया+ ॥२६६॥

+ज्ञानी को कर्म किस हेतु करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में दो पक्ष सम्भव हैं :—(१) स्वार्थ के लिए अथवा (२) परार्थ के लिए। स्वार्थपक्ष के भी दो पक्ष हैं—(१) इहलोक सम्बन्धी फल के लिए अथवा (२) परलोक सम्बन्धी फल के लिए ? इहलोकसम्बन्धी फल के भी तीन विकल्प हैं :—(१) शरीर रक्षार्थ (२) पुत्रशिष्यादि परिग्रह की रक्षार्थ अथवा (३) विलासार्थ।

(१) शरीररक्षार्थ विद्वान् कर्म नहीं कर सकता क्योंकि भागवत के अनुसार शरीररक्षा तो प्रारब्ध के अधीन है। (२) परिग्रह की रक्षार्थ भी विद्वान् कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो पुत्र, वित्त और लोक इन तीनों एषणाओं से ऊपर उठ चुका होता है। (३) सबको आत्मा ही देखने वाला विद्वान् अन्य-स्थान पर रति प्राप्त ही क्यों कर करेगा ? इसलिए विलासार्थ वह कर्म नहीं कर सकता।

परलोकसम्बन्धी फल में तीन पक्ष सम्भव हैं-(१) स्वर्ग (२) अपवर्ग (३) आत्मा की शुद्धि। (१) स्वर्गके लिए वह क्यों कर्म करेगा ? उसके तो यहां ही सब काम नष्ट हो चुके हैं। (२) वह जीवन्मुक्त है तो मोक्षके लिए भी वह कर्म न करेगा। (३) आत्मशुद्धि में तीन पक्ष सम्भव हैं—(१) शरीरशुद्धि (२) चित्तशुद्धि और (३) आत्मा की शुद्धि। इनमें से शरीरशुद्धि तो कर्म से असम्भव ही है–शरीर में मल-मांस और अस्थियां जो हैं। (२) ज्ञान जब शुद्धचित्त वाले को ही होता है तो चित्तशुद्धि की विद्वान् को आवश्यकता ही नहीं है। (३) शुद्ध, निरवयव, अविषय आत्मा की शुद्धि की तो कल्पना भी नहीं हो सकती।

कृतकृत्य हुए ज्ञानी का आचरण : प्रारब्धवश अनियताचरण

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
समाकुर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥२६७॥

अन्वय—लौकिकः शास्त्रीयः वा अन्यथा अपि वा व्यवहारः अकर्तुः अलेपस्य मम यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम्।

अर्थ—भिक्षा आदि लौकिक, जप-समाधि आदि शास्त्रीय, तथा हिंसा आदि प्रतिषिद्ध अन्य व्यवहार भी कर्ता-भोक्ता आदि रूप से अलेप मेरा, प्रारब्ध के अनुकूल चलता रहे तो चले : क्यों कि तीव्र प्रारब्ध, भोग के बिना निवृत्त नहीं होता।

फिर भी शास्त्रोक्त मार्ग मे व्यवहार श्रेष्ठ है !

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।

अब यदि परार्थकर्म मानें तो वह ज्ञानी या तो अपरोक्षज्ञानी संन्यासी होगा या गृहस्थ। इनमें से संन्यासी तो यों ही कर्म और उनके साधनों का त्याग किए रहता है। प्रवृत्तिके छःओं कारणों का, ब्रह्मात्मा की एकता को जानने वाले में सर्वथा अभाव ही होता है। गृहस्थ को जब ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो वह याज्ञवल्क्य आदि की भांति तीन एषणाओं से ऊपर उठ जायगा।

'अपरोक्षज्ञानीको लोकसंग्रहार्थ कर्म करना पड़ता है' यह मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा ज्ञानी या तो सिद्ध होगा या साधक। सिद्ध की दृष्टि में तो सारा संसार ही मुक्त है; वह लोकसंग्रह किसके लिए करेगा? 'साधक मुमुक्षु को लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिए' ऐसा कोई श्रुतिविधान नहीं हैं। अपितु यही कहा है कि मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठा रखनी चाहिए। उसे तो समाधि से ही अवकाश नहीं मिल सकता। इसलिए आभासरूप आत्मज्ञानवान् परोक्षज्ञानी ही लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है; सिद्ध और साधक मुमुक्षु नहीं।

शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥

अन्वय—अथवा अहं कृतकृत्यः अपि लोकानुग्रहकाम्यया शास्त्रीयेण मार्गेण एव वर्ते; मम का क्षतिः ?

अर्थ—अथवा कृत-कृत्य भी मैं प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही चलता हूं : मेरी इसमें कोई हानि नहीं है।

शास्त्रीय मार्ग से चलना स्वीकार करने पर उससे विकार न होगा ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥

अन्वय—वपुः देवार्चनशौचभिक्षादौ वर्ततां, वाक् तारं जपतु तद्वत् आम्नायमस्तकं पठतु ॥ धीः विष्णुं ध्यायतु, यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयतां; साक्षी अहं अत्र किंचित् अपि न कुर्वे न अपि कारये ॥

अर्थ—शरीर देव-पूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि कुछ भी करे; वाणी प्रणव का जप करे अथवा वेदान्त-शास्त्र को पढ़े। मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय। मैं साक्षी तो यहाँ न कुछ करता हूँ न कुछ करवाता हूँ। अतएव शास्त्रीय मार्ग पर चलने का अभिमान और उससे विकार मुझे नहीं हो सकता॥

इसका फल यह है कि

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥

अन्वय-एवं पूर्वापरसमुद्रवत् विभिन्नविषयत्वेन मम च कर्मिणः कलहः कुत्र सम्भवेत् ?

अर्थ-इस अवस्था में पृथक्-पृथक् स्थानों में स्थित पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के समान ज्ञानी और कर्मी भिन्नविषय वाले होने से, मुझ ज्ञानी और कर्मी का परस्पर विवाद कैसे सम्भव है ?

ज्ञानी और कर्मी की भिन्नविषयता को स्पष्ट करते हैं :—

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणी ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥

अन्वय-कर्मिणः वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः साक्षिणि तु न, ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धः इतरत्र न हि ।

अर्थ-कर्मी का तो शरीर, वाणी और बुद्धि में निर्बन्ध है, साग्रह निश्चय है; साक्षी में उसका कोई निर्बन्ध नहीं है तथा साक्षी का निर्बन्ध साक्षी के अलेप होने में है—शरीरादियों में उसका कोई निर्बन्ध नहीं है । इस प्रकार दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है । ज्ञानी का क्षेत्र आत्मा और कर्मी का क्षेत्र अनात्म-पदार्थ हैं । २७२।

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥

अन्वय-एवं च अन्योऽन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिरौ इव विवदेताम्' तौ विलोक्य बुद्धिमन्तः हसंति एव ।

अर्थ-इस प्रकार एक दूसरे की बात को न जानने वाले ज्ञानी और कर्मी यदि विवाद करते हैं तो बहरों के समान झगड़ते हैं; बुद्धिमान् उनको देखकर हंसते ही हैं ॥२७३॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित्।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥

अन्वय–यं साक्षिणं कर्मी न विजानाति तस्य ब्रह्मत्वं तत्ववित् बुध्यतां, तत्र कर्मिणः किं विहीयते ?

अर्थ–कर्मी जिस साक्षीतत्त्व को नहीं पहचानता, उसकी ब्रह्मता को तत्त्वज्ञानी जानले तो इसमें कर्मी की क्या हानि है ? उस के कर्मानुष्ठान में इससे कोई रुकावट नहीं होती ॥२७४॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥

अन्वय–ज्ञानिना अनृतबुद्धितः देहवाग्बुद्धयः त्यक्ताः, कर्मी आभिः प्रवर्तयतु अत्र ज्ञानिनः किं हीयते ?

अर्थ–मिथ्या जानकर ज्ञानी ने देह, वाणी और बुद्धि को छोड़ दिया; कर्मी इनसे यदि कर्मों में प्रवृत्त होता है तो इससे ज्ञानी का क्या बिगड़ता है ? इस प्रकार ज्ञानी और कर्मी का विवाद विषय-रहित है : इसको देखकर सबका हंसना ठीक ही है ॥२७५॥

ज्ञानी को न प्रवृत्ति से लाभ है न निवृत्ति से :—

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सायां तथेतरा ॥२७६॥

अन्वय–प्रवृत्तिः न उपयुक्ता इति चेत् निवृत्तिः क्व उपयुज्यते ? बोधहेतुः निवृत्तिः चेत् ? तथा बुभुत्सायां इतरा ॥

अर्थ—ज्ञानी के लिए प्रवृत्ति का कोई उपयोग नहीं है, ऐसा

कहने वाले वादी से यह तो पूछो कि ज्ञानी के लिए निवृत्ति का ही क्या प्रयोजन है! यदि कहो कि निवृत्ति तो बोध की हेतु है; तो इस प्रकार तो शुभकर्मों में प्रवृत्ति भी चित्तशुद्धि और वैराग्य के द्वारा स्वरूप की जिज्ञासा का हेतु है; अतएव ज्ञानीके लिए उपयोगी है* ।

---

*ज्ञान और कर्म का एक समसमुच्चय होता है और दूसरा क्रमसमुच्चय । ज्ञान और कर्म दोनों को मोक्ष का साधन जानकर दोनों का एक साथ अनुष्ठान समसमुच्चय और प्रथम कर्मानुष्ठान तथा पीछे से सर्वकर्मसन्यास अर्थात् ज्ञान के साधन श्रवणादि का अनुष्ठान क्रमसमुच्चय कहलाता है । श्रुति-स्मृतियों में इसी क्रमसमुच्चय को मोक्ष का साधन बताया है । भाष्यकारने अनेक स्थलों में समसमुच्चय का खण्डन किया है । भाष्यकार का सिद्धान्त यह है कि मोक्ष का साक्षात् साधन कर्म नहीं; किन्तु ज्ञान है; और कर्म, साक्षात् अथवा जिज्ञासा द्वारा ज्ञान का साधन है । वाचस्पति कर्म को जिज्ञासा का साधन मानते हैं, कर्म का साक्षात् साधन नहीं मानते ; क्योंकि नहीं तो ज्ञान की उत्पत्तिपर्यन्त कर्मों का अनुष्ठान मानना होगा तो फिर साधनसहित कर्मत्यागरूप संन्यास कैसे सिद्ध होगा ?

विवरणकार कर्म को, ज्ञान का साधन मानते हैं, जिज्ञासा का नहीं । उनके मत में वैराग्य सहित तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने तक कर्म करना चाहिए, उसके पश्चात् उसका संन्यास करना चाहिए । जिज्ञासापर्यन्त किए कर्म से अपूर्व (पुण्यरूप संस्कार) उत्पन्न होता है जो ज्ञानोदय तक रहकर पीछे नष्ट हो जाता है । इस कारण जिज्ञासा-पर्यन्त किया हुआ कर्म अपूर्व द्वारा ज्ञान का साधन है : इस प्रकार संन्यास की सिद्धि भी हो जाती है ।

कुछ आचार्य यह मानते हैं कि वर्णमात्र के धर्म नहीं अपितु आश्रम के कर्म ही ज्ञान में उपयोगी है ।

कल्पतरुकार का मत है कि सब नित्यकर्म, क्योंकि निष्काम कर्म हैं अतएव वे ही ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप की निवृत्ति द्वारा ज्ञान के साधक हैं ; काम्य-

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७॥

अन्वय–बुद्धः न बुभुत्सेत चेत् ? असौ पुनः बुध्यते अपि न। बोधः अबाधात् अनुवर्तेत, अन्यसाधनात् तु न ।

अर्थ–यदि कहो कि ज्ञानी को ज्ञानेच्छा होगी ही नहीं तो फिर यह कहना चाहिए कि उस ज्ञानी को दुबारा बोध भी तो नहीं होता अर्थात् ज्ञानेच्छा न होने से यदि ज्ञानी के लिए प्रवृत्ति अनुपयोगिनी है तो उसके लिए दुबारा बोध न होने के कारण निवृत्ति का भी तो कोई उपयोग नहीं है । महावाक्य के प्रमाण से उत्पन्न बोध तो किसी बलवान् प्रमाण से बाधित नहीं होता, इसलिए ही, वह तो अनुवृत्त रहता है : वह किसी अन्य साधन से अनुवृत्त नहीं होता। इसीलिए एक बार उत्पन्न बोध को स्थिर रखने के लिए संसार-निवृत्ति आदि किसी भी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रहती। बोध की स्थिरता अबोध पर निर्भर है; निवृत्ति पर नहीं ॥२७७॥

अविद्या या उसके कार्य कर्तृत्वाध्याससे तो कहीं ज्ञान बाधित नहीं होगा ?

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।

कर्म नहीं ।

संक्षेपशारीरिककर्त्ता का मत है कि काम्य हों या नित्य, सब शुभ कर्म विद्या में उपयोगी हैं। इस प्रकार विभिन्न मत हैं ।

परन्तु 'तीव्र जिज्ञासा पर्यन्त सब शुभ कर्म कर्तव्य हैं, पीछे नहीं,' यह बात आचार्य मानते हैं । इस प्रकार प्रवृत्ति (कर्मानुष्ठान), जिज्ञासा में उपयोगी है।

पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥

अन्वय–न अविद्या न तत्कार्यं अपि बोधं बाधितुं अर्हति । यतः ते उभे पुरा एव तत्त्वबोधेन बाधिते ।

अर्थ–अविद्या अथवा उसका कार्य भी बोध की बाधा नहीं कर सकते, क्योंकि उन दोनों को तो पहले ही तत्त्वबोध ने नष्ट कर दिया था ॥२७८॥

प्रतीयमान भी अविद्याकार्य बोधका बाधक नहीं हो सकता :—

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥

अन्वय–बाधितं अक्षैः दृश्यतां तेन बाधः न दृश्यते । जीवन् आखुः मार्जारं न हन्ति, मृतः कथं हन्यात् ?

अर्थ–बाधित अविद्या का कार्य, चाहे इन्द्रियों से प्रतीत होता रहे, परन्तु उससे से बोध का बाध नहीं होता : जैसे जीता हुआ ही चूहा जब बिल्ली को नहीं मार सकता तो वह मरा हुआ क्या मारेगा ? ॥२७९॥

द्वैतदर्शन भले ही हो, पर तत्त्वबोध नहीं टलता :—

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥

अन्वय–यः पाशुपतास्त्रेण विद्धः अपि न ममार चेत्, निष्फलेषु-वितुन्नांगः नंक्ष्यति, इति अत्र का प्रमा ?

अर्थ–जो शक्तिशाली पुरुष, पाशुपतास्त्र जैसे अस्त्र से बिंधकर

भी नहीं मरा, फिर वह लौहबाण से रहित धनुष से सताने पर ही मर जायगा--इसमें क्या प्रमाण है ? ॥२८०॥

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ।

अन्वय–आदौ चित्रैः स्वकार्यैः जृम्भमाणया अविद्यया बोधः युध्वा अजयत्; सः सुदृढः अद्य कथं बाध्यताम् ?

अर्थ–विद्याभ्यास के समय से विविध प्रमातृत्व आदि कार्यों से बढ़ी हुई अविद्या से लड़भिड़कर भी जिस बोधने उस अविद्या को जीत लिया है वह, अभ्यासकुशलता से सुदृढ होकर अब अविद्या के हट जाने पर, अविद्या के कार्य अध्यास से, जिसकी जड़ ही कट चुकी है, भला किस प्रकार रुकेगा ? ॥२८१॥

इसी बात को रूपक से स्पष्ट करते हैं :—

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥

अन्वय–बोधेन मारिताः अज्ञानतत्कर्यशवाः तिष्ठन्तु, तैः बोधसम्राजः भीतिः न, प्रत्युत तस्य कीर्तिः ।

अर्थ–बोध के मारे हुए ज्ञान और अज्ञान के कार्यों के मुर्दे भले ही पड़े रहें; उनसे बोधरूपी सम्राट् को क्या डर है ? इससे उसका यश है कि देखो ये बोध के मारे हुए पड़े हैं ॥२८२॥

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥

अन्वय—यं एवं अतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते, अस्य देहादिगतया प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या किम् ?

अर्थ—जो पुरुष ऐसे शूरवीर, अविद्या और उसके कार्यके घातक, ब्रह्मात्मा के एकत्वज्ञानरूप बोध से कभी वियुक्त नहीं होता उसको देहादि की प्रवृत्ति या निवृत्ति से क्या हानिलाभ है ? कुछ भी नहीं ।

तो बोधहीन ही कर्म क्यों करे ? करे तो कैसे करे ?

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वा वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥

अन्वय—बोधहीनस्य सर्वथा प्रवृत्तौ आग्रहः न्याय्यः, यतः नृभिः स्वर्गाय वा अपवर्गाय वा यतितव्यम् ।

अर्थ—बोधहीनका यज्ञ, श्रवण आदि प्रवृत्तियोंमें आग्रह करना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि मनुष्यों को स्वर्ग या मुक्तिके लिए यत्न करना ही चाहिए ॥२८४॥

जब ज्ञानी कर्मिष्ठों में बसे तो उसका कैसा व्यवहार हो ?

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥

अन्वय—विद्वान् तादृशां मध्ये तिष्ठेत् चेत् तदनुरोधतः कायेन मनसा वाचा अखिलाः क्रियाः करोति एव ।

अर्थ—विद्वान् यदि वैसे कर्मियों के बीच रहे तो उनके अनुसार शरीर, मन और वाणी आदि से सब क्रियाएं करे ही; न कि उन कर्मियों को उन्हें करने का निषेध करे ॥२८५॥

और यदि विद्वान् जिज्ञासुओं के मध्य में बसे तो ?

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥

अन्वय–पुनः एषः बुभुत्सूनां मध्ये यदा तिष्ठेत् तदा एषां बोधाय सर्वाः क्रियाः दूषयन् स्वयं त्यजतु ।

अर्थ—यह विद्वान् जब जिज्ञासुओं के बीच रहे तो इनके बोधार्थ सब क्रियाओं के गुप्त दूषण बताये और स्वयं भी उनको छोड़ दे ॥

इसका कारण यह है कि,

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

अन्वय–अविद्वदनुसारेण बुद्धस्य वृत्तिः युज्यते, यतः स्तनन्धया-स ारेण तत्पिता वर्तते ।

अर्थ— अज्ञानी के अनुसार ज्ञानी का व्यवहार होना चाहिए, क्यों कि ज्ञानी कृपालु है और अज्ञानी दया के पात्र हैं । देखते हैं कि दूध पीते बच्चे के अनुसार ही उसके पिता का व्यवहार होता है ॥२८७॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥

अन्वय–बालेन स्वपिता अधिक्षिप्तः वा ताडितः तदा न क्लिश्नाति न कुप्येत प्रत्युय बालं लालयेत् ।

अर्थ–दूधपीता बच्चा जब अपने पिता को बुरा-भला कहता

है या मार बैठता है तो उसका पिता न तो दुःख मानता है और न क्रोध ही करता है, अपितु, वह बालक को प्यार करता है ।।२८८।।

उपरोक्त दृष्टन्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं :—

निन्दितः स्तूयमानो वा विज्ञानज्ञैर्न निन्दिति ।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाचरेत् ॥

अन्वय—विद्वान् अज्ञै निन्दितः वा स्तूयमानः, न निन्दति, न स्तौति; किन्तु तेषां यथाबोधः स्यात् तथा आचरेत् ।

अर्थ—विद्वान् अज्ञानी पुरुषों से निन्दा या स्तुति पाकर भी स्वयं न तो निन्दा करता है न ही स्तुति । अपितु उनको जिस काम से बोध हो जाय वह काम करता है ।।२८९।।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥

अन्वय—अयं अत्रयेन नटनेन बुध्यते तत् कार्यं एव । तद्विदः अत्र अज्ञप्रबोधात् अन्यत् कार्यं न एव अस्ति ।

अर्थ--इस अज्ञानी को इस लोक में जिस आचरण से तत्त्वबोध हो, वह आचरण ज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानी का, अज्ञानी को बोध देने के अतिरिक्त और कुछ कर्त्तव्य नहीं है । [अतएव ज्ञानी को चाहिए कि वह अज्ञानी का अनुसरण करके उसे तत्त्वबोध कराये; उसकी भान्ति काम करने लगना इष्ट नहीं है ।] ।।२९०।।

तात्पर्य यह है कि

कतकृत्यता तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।

तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योहं ब्रह्मनन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥

अन्वयः–असौ कृतकृत्यतया तृप्तः पुनः प्राप्तप्राप्यतया तृप्यन् स्वमनसा निरन्तरं एव मन्यते नित्यं स्वं आत्मनं अंजसा वेद्मि; अहं धन्यः अहं धन्यः । ब्रह्मानन्दः मे स्पष्टं विभाति । अहं धन्यः अहं धन्यः ॥

अर्थ–वह विद्वान् पूर्वोक्त प्रकार से अपनी कृतकृत्यता से संतुष्ट हो कर और वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्तप्राप्तव्यता से भी तृप्त हुआ, यही मानता है कि मैं अपने देशाद्यनवच्छिन्नप्रत्यगात्मारूप को साक्षात् जानता हूँ इसलिए मैं कृतार्थ हूं । और आत्मज्ञान का लाभ, ब्रह्मनाम का आनन्द मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, इसलिए, आत्मज्ञान के फलस्वरूपसम्पूर्ण इष्ट के मिल जाने के कारण, मैं धन्य हूं ।

धन्योहं धन्योहं दुखं सांसारिकं न वीक्षेद्य ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।।

अन्वय–अद्य सांसारिकं दुःखं न वोक्ष्ये; अहं धन्यः अहं धन्यः । स्वस्य अज्ञानं क्व अपि पलायितम् । अहं धन्यः ।

अर्थ–अब मुझे सांसारिक दुःख या दुःखरूप संसार नहीं दीख पड़ता इसलिए मैं धन्य हूँ । मेरा अज्ञान अर्थात् कर्मवासनाओं का समूह न जाने कहां भाग गया है–नष्ट हो गया है ; इसलिए मैं धन्य हूं ॥

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।

धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥

अर्थ– आज मुझे कुछ कर्तव्य नहीं रहा; 'मैं धन्य हूँ' मुझे जो कुछ प्राप्तव्य था वह मुझे मिल गया; मैं धन्य हूं ।।२६४।।

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥

अर्थ–मैं धन्य हूँ; आज मेरी तृप्ति के समान लोक में तृप्ति कहां है ? और क्या कहूं ? बस, मैं धन्य हूं, धन्य हूं, बार बार धन्य हूं ।।२६५।।

तृप्तिके कारणभूत पुण्यसमूहके फल का स्मरण करके भी ज्ञानी तृप्त होता है :—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्व पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ।।२६६॥

अर्थ–धन्य है मेरा पुण्य ! जिसका ऐसा दृढ फल हुआ और इस पुण्य के सम्पादक हम भी महान् हैं !! ।।२६६।।

सम्यकज्ञान के साधक शास्त्र और उसके उपदेशकर्ता आचार्य का स्मरण कर सन्तोष व्यक्त करते हैं :—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥

यह शास्त्र अद्भुत है ! शास्त्र अद्भुत हैं; शास्त्र और गुरु से मिला ज्ञान भी अद्भुत है और ज्ञानप्राप्ति का सुख भी अद्भुत है !!

अन्त में ग्रन्थाभ्यास का फल बताते हैं :—

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥

अन्वय—ये बुधाः इमं तृप्तिदीपं नित्यं अनुसंदधते, ते ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तः निरन्तरं तृप्यन्ति ।

अर्थ—जो बुद्धिमान् इस 'तृप्तिदीप' प्रकरणका नित्यविचार करते हैं, ब्रह्मानन्द में स्नान करते हुए, नित्यतृप्त रहते हैं ॥२९८॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके सप्तम प्रकरण-तृप्तिदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।

—o—

अथ कूटस्थदीप-प्रकरण-८

मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।

कुर्वे कूटस्थदीपस्य टीकां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥

मुमुक्षु का मोक्षसाधन ब्रह्मात्मैक्यज्ञान, 'त्वं' पदार्थ के शोधन से जन्य है। वही 'त्वं' पदार्थका शोधन इस प्रकरण का उद्देश्य है। यहां आरम्भ में आचार्य ने दृष्टान्त देकर 'त्वं' पद के क्रमशः लक्ष्य और वाच्य, कूटस्थ और जीव का भेद समझाया है —

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१॥

अन्वय—खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् कूटस्थ-भासितः देहः धीस्थजीवेन भास्यते ।

अर्थ—आकाशस्थ प्रसिद्ध सूर्य से प्रकाशित भित्ति पर पड़ी हुई, दर्पणगतसूर्य से प्रतिक्षिप्त, दीप्ति की भान्ति कूटस्थ से प्रकाशित यह देह, पुनः, बुद्धिस्थचिदाभास से भासित हुआ करता है। अर्थात् जैसे भित्ति पर एक प्रकाशक सूर्य का सामान्यप्रकाश है और दूसरा दर्पण से प्रतिक्षिप्त, दर्पण-सूर्य का विशेष प्रकाश होता है; ऐसे ही, अविकारी चैतन्य से सामान्यतया प्रकाशित देह, बुद्धिस्थचिदाभास-रूप जीव से विशेषतया प्रकाशित हुआ करता है। देह के सामान्य और विशेष प्रकाशक दो चैतन्य हैं ॥१॥

भित्ति पर पड़ी दो प्रकार की दीप्तियों का विश्लेषण

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ।
इतरा व्यज्यते तासामभावेपि प्रकाशते ॥२॥

अन्वय—अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु इतरा व्यज्यते; तासां अभावे अपि प्रकाशते ।

अर्थ—भित्ति पर पड़े अनेक दर्पणों से प्रतिक्षिप्त, मण्डलाकार विशेषप्रकाशों के (आन्तर स्थानों) या मध्य में दूसरा आकाशादित्य का सामान्य प्रकाश स्पष्ट दीख पड़ता है : वह प्रकाश दर्पणादि के हटा लेने पर उन दर्पणों से प्रतिक्षिप्त प्रकाशों के अभाव में, भित्ति पर स्वयं प्रकाश करता है ॥२॥

उपरोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं :—

चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ ।
संधिं धियामभावं च भासयन्प्रविविच्यताम् ॥३॥

अन्वय—तथा चिदाभासविशिष्टानां अनेकधियां संधिं च धियां अभावं भासयन् असौ प्रविविच्यताम् ।

अर्थ—उपरोक्त दृष्टान्त की भान्ति, चित्प्रतिबिम्ब से युक्त, अनेक, घटज्ञानादि शब्दों से वाच्य, बुद्धि वृत्तियों की सन्धि को, जाग्रत आदि अवस्थाओं में; और उनके अभाव को सुषुप्ति आदि में, प्रकाशित करते कूटस्थ को उन वृत्तियों से भिन्न समझलेना चाहिए ॥३॥

देह के बाहर भी चिदाभास और ब्रह्म पृथक् पृथक् हैं :—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥४॥

अन्वय—घटैकाकारधीस्था चित् घटं एव अवभासयेत्। घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येन अवभासते।

अर्थ—एक घट के आकार वाली बुद्धि में वर्तमान चिदाभास, 'यह घट है'' इस रूप में घट को प्रकाशित करता है; परन्तु उस घट का जो, 'घट जान लिया' इस व्यवहार का हेतु घटज्ञातता नाम का धर्म है, वह धर्म तो, घट-कल्पना के अधिष्ठानसाधनभूत ब्रह्मचैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होता है ॥४॥

जब ज्ञातताभासक चैतन्य से घट की प्रतीति सम्भव है तो बुद्धि का क्या काम है?

अज्ञातत्वेन ज्ञातोयं घटो बुद्ध्यु दयात्पुरा।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५॥

अन्वय—बुध्युदयात् पुरा अयं घटः ब्रह्मणा एव अज्ञातत्वेन ज्ञातः उपरिष्टात् तु, ज्ञातत्वेन इति असौ भिदा।

अर्थ—घटाकार हुई बुद्धि के उदय से पूर्व, इस घट को 'मैं घट नहीं जानता हूँ' इस प्रकार अज्ञातरूप में ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है और बुद्धि के उदय के पश्चात् 'मैं घट को जानता हूं' इस प्रकार से ज्ञातरूप में इस घट को वही ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है। बुद्धि के होने और न होने में इतना ही भेद है। [बुद्धि के अनुदय तक घट में अज्ञातता रहती है; उसके उदय होने पर अज्ञातता नष्ट होकर ज्ञातता प्रतीत होने लगती है।] ॥५॥

एक ही घट के 'ज्ञातता और अज्ञातता' दो रूप कैसे सम्भव हैं यह बताने के लिए पहले ज्ञातता एवं अज्ञातता के निमित्त, ज्ञान एवं अज्ञान का स्वरूप

दिखाते हैं :-

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत् ।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ॥

अन्वय–लोहांतकुंतवत् चिदाभासान्तधीवृत्तिः ज्ञानं जाड्यं अज्ञानं एताभ्यां व्याप्तः कुंभः द्विधा उच्यते ।

अर्थ–भाले की नोक पर लोह के समान, चित्प्रतिबिम्ब को अग्रभागमें रखने वाली बुद्धि-वृत्ति 'ज्ञान' कहलाती है । और 'जड़ता' का नाम 'अज्ञान' है; इन दोनों से क्रमशः व्याप्त घट दो प्रकार का कहा है ॥६॥

पर, ज्ञात-कुम्भ भी ब्रह्म चैतन्य से क्यों भासित होता ? वह तो ज्ञात ही है । उत्तर देते हैं :-

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम् ।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७॥

अन्वय–अज्ञातः ब्रह्मणा भास्यः तथा ज्ञातः कुंभः न किम् ? ज्ञातत्वजननेन एव चिदाभासपरिक्षयः ।

अर्थ–जैसे अज्ञात कुम्भ ब्रह्म से प्रकाश्य है वैसे ही ज्ञात कुम्भ भी क्यों न ब्रह्म से प्रकाश्य हो; क्योंकि चिदाभास तो ज्ञातता उत्पन्न करके ही कृतार्थ हो जाता है । जैसे अज्ञान, अज्ञातता को उत्पन्न करके कृतार्थ हो जाता है वैसे ही ज्ञान (चिदाभास) भी ज्ञातता उत्पन्न कर उपक्षीण हो जाता है : और ज्ञातघट भी, अज्ञातघट की भान्ति ब्रह्म से भासमान होता है ॥७॥

जैसे अज्ञातता की उत्पत्ति के लिए अज्ञान पर्याप्त है ऐसे ही ज्ञातता की उत्पत्ति के लिए बुद्धि ही पर्याप्त है, फिर चिदाभास का क्या प्रयोजन है ?

बताते हैं –

आभासहीनया बुध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥८॥

अन्वय–आभासहीनया बुध्या ज्ञातत्वं न एव जन्यते, तादृग्बुद्धेः विकारिणः मृदादेः कः विशेषः स्यात् ?

अर्थ–आभासरहित बुद्धि से ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि ऐसी बुद्धि और विकारी मिट्टी आदि में क्या भेद है--कुछ भी नहीं है । चिदाभास रहित बुद्धि घट आदि के समान अप्रकाश-रूप है, इसलिए ज्ञातता को उत्पन्न नहीं कर सकती ॥८॥

इसी को दृष्टान्त से समझाते हैं :–

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥९॥

अन्वय–कुत्रचित् मृदालिप्तः कुम्भ :ज्ञातः इति न उच्यते; तथा धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं न इष्यते ।

अर्थ--जैसे लोक में कहीं भी; श्वेत-काली मिट्टी से लिपे-पुते घट को 'यह ज्ञात है' ऐसा कोई नहीं कहता, ऐसे ही चिदाभास से रहित, केवल बुद्धि से व्याप्त घट को भी ज्ञात नहीं मानते ॥

तात्पर्य यह है कि,

ज्ञातत्वं नामकुम्भेतश्चिदाभासफलोदयः ।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि तत्त्वतः ॥१०॥

अन्वय–अतः कुम्भे चिदाभासफलोदयः ज्ञातत्वं नाम । ब्रह्मचैतन्यं

फलं न; मानात् प्राक् अपि सत्वतः ॥

अर्थ—क्योंकि केवल बुद्धि ज्ञातता-जनन में असमर्थ है, इसलिए घट में चिदाभास रूप फल की उत्पति होना ही ज्ञातता है; और ब्रह्मचैतन्य को फल नहीं मान सकते, क्योंकि वह तो प्रमाण-प्रवृत्ति से पहले ही विद्यमान है और घटादि स्फुरण-रूप फल, नियम से उसके पश्चात् होता है* ॥१०॥

'परागर्थप्रमेयेषु' सुरेश्वराचार्य के इस वार्तिक का क्या अभिप्राय है ? :-

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११॥
इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।

---

*जैसे टंकी में भरा पानी छिद्र द्वारा निकलकर नाली के आकार में हो, खेत में जा उसके आकार का हो जाता है; ऐसे ही देह में स्थित अन्तःकरण, इन्द्रियों के छिद्रों से निकलकर, (खेत स्थानीय) घटादि विषयों के आकार का हो जाता है। यहां, अवच्छेदवाद की रीति से, चार प्रकार का चेतन है :- (१) अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन 'प्रमाण चेतन' है; (२) इन्द्रिय से लेकर विषय पर्यन्त विद्यमान वृत्ति से विशिष्ट चेतन 'प्रमाण चेतन' है; (३) घटादि अवच्छिन्न चेतन जब अज्ञात होता है तब 'विषयचेतन' और 'प्रमेय' चेतन होता है और (४) जब वह ज्ञात होता है तब उसको 'फलचेतन'; 'प्रमिति चेतन' और 'प्रमाचेतन' कहते हैं। आभासवाद की रीति से चिदाभास सहित अन्तः-करण विशिष्टचेतन, प्रमाताचेतन, साभासवृत्ति विशिष्ट चेतन, प्रमाणचेतन; घटादि-अवच्छिन्न चेतन विषयचेतन अथवा प्रमेयचेतन; और वृत्ति के सम्बन्ध से, घटादि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब (आभास) है, वह फलचेतन है; घटादि-अवच्छिन्न-ब्रह्मचेतन फल नहीं है।

ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥१२॥

अन्वय—पर गर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता सवित् सा एव इह वेदान्तोक्तिप्रमाणतः मेयः अर्थः। इति वार्तिककारेण चित्साहश्यं विवक्षितम्, यतः ब्रह्मचित्फलयोः भेदः साहस्र्यां विश्रुतः ॥

अर्थ—पराक् अर्थात् बाह्य घटादि पदार्थ जब प्रमेय अर्थात् प्रमाणों के विषय बनते हैं तब जो ज्ञान (संवित्), प्रमाण का फल माना जाता है, वही ज्ञान (संवित्), इस वेदान्तशास्त्र में वेदान्त-वाक्यरूपी प्रमाणों से जानने योग्य पदार्थ है। इस प्रकार कह कर वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने ब्रह्मचैतन्य सदृश चिदाभास को प्रमाण का फल माना है :श्रीसुरेश्वराचार्य का यही अभिप्राय है, यह इस बात से सिद्ध है कि उनके गुरु श्री शंकराचार्य ने उपदेश साहस्री ग्रन्थ में ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद कहा है ॥११-१२॥

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे।
तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥१३॥

अन्वय—तस्मात् घटे उदितः आभासः ज्ञातत्वं जनयेत्; तत् पुनः अज्ञातत्ववत् ब्रह्मणा एव भास्यं हि।

अर्थ—क्योंकि ब्रह्मचित् और चिदाभास का भेद सिद्ध हो चुका, इसलिए घट में उत्पन्न चिदाभास उसमें ज्ञातता को उत्पन्न करता है और वह ज्ञातता अज्ञातता की भान्ति ब्रह्म से ही भासित होती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥१३॥

ब्रह्मचित् और आभास विषयभेद से भिन्न हैं :—

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिदा।

कुम्भमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥

अन्वय–धीवृत्याभासकुम्भानां समूहः चिता भास्यते । कुम्भमात्र-फलत्वात् आभासतः सः एकः स्फुरेत् ।

अर्थ–इन्द्रिय द्वारा निर्मल बुद्धिवृत्ति, चिदाभास और घट ये तीनों ब्रह्मचैतन्य से प्रकाशित होते हैं । और क्योंकि चिदाभास अकेले घट में रहने वाला फल है, इस कारण उस आभास से घट अकेला ही स्फुरित हो सकता है ॥१४॥

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥१५॥

अन्वय–अतः कुम्भ. ज्ञातत्वेन द्विगुणं चैतन्यं स्फुरति यथोदितं । एतत् अन्ये अनुव्यवसायाख्यं आहुः ।

अर्थ–इसलिए घट में ज्ञातता होते ही दुगना चैतन्य प्रतीत होने लगता है । दूसरे अर्थात् नैय्यायिक उपरोक्त घट की ज्ञातताके अव-भासक ब्रह्मचैतन्य को अनुव्यवसाय नाम का ज्ञान मानते हैं । [ज्ञान के ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय ज्ञान है ।] ॥१५॥

व्यवहारभेद से भी चिदाभास और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं :—

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

अन्वय–'अयं घटः' इति असौ उक्तिः आभासस्य प्रसादतः; 'विज्ञातः घटः' इति उक्तिः ब्रह्मानुग्रहतः भवेत् ।

अर्थ–'यह घट है' यह व्यवहार तो अभ्यास की सहायता से

होता है और 'घट को जान लिया' यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से होता है ॥१६॥

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

अन्वय–देहात् बहिः आभासब्रह्मणी यद्वत् विवेचिते, तद्वत् वपुषि अपि आभासकूटस्थौ विविच्येताम् ।

अर्थ–देह से बाहर जैसे चिदाभास और ब्रह्म का विवेचन किया वैसे ही देह के भीतर भी चिदाभास और कूटस्थ का विवेक करना चाहिए ॥१७॥

जब कि, देह से बाहर चिदाभास द्वारा व्याप्य घटाकारवृत्ति की भाँति, देह के भीतर कोई विषयगोचरवृत्ति नहीं है, तब उसमें व्यापक चिदाभास की कल्पना क्योंकर होगी ? उत्तर देते हैं :—

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकेषु च ।
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥१८॥

अन्वय – यथा तप्ते लोहे वह्निः संव्याप्य वर्तते तथा अहंवृत्तौ च कामक्रोधादिकेषु चिदाभासः ।

अर्थ–जैसे तपे लोहे में अग्नि व्याप्त रहती है वैसे ही, अहं-वृत्ति में और कामक्रोधादि वृत्तियों में चिदाभास व्याप्त रहता है ।

उक्त अर्थ को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥१९॥

अन्वय–तप्तं लोहं स्वमात्रं भासयेत् अन्यत् कदाचन न, एवं आभाससहिताः वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ।

अर्थ–जैसे, तपा लोहा केवल अपने आपको ही प्रकाशित करता है, दूसरी किसी वस्तु को कभी प्रकाशित नहीं करता; ऐसे ही चिदाभाससहित अहमादि वृत्तियां+अपनी अपनी प्रकाशक हैं ॥१६॥

वृत्तियों का अभावकाल कौन है ? बताते हैं :-

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥२०॥

अन्वय–क्रमात् विच्छिद्य विच्छिद्य अखिलाः वृत्तयः जायन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु सर्वाः अपि विलीयन्ते ।

अर्थ–जाग्रत् और स्वप्न में सब वृत्तियां क्रमशः रुक रुककर उत्पन्न होती हैं और सुषुप्ति, मूर्छा तथा समाधि में सभी वृत्तियां विलीन हो जाती हैं ॥२०॥

वृत्तियों के अभाव के साक्षीरूप में कूटस्थ का ज्ञान

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ।

+सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि अन्तःकरण के परिणामों को अनेक स्थलों पर वृत्ति माना है, इसलिए स्थूल बुद्धि अधिकारियों को सुगमता से समझानेके लिए ग्रन्थकार ने भी अन्तःकरण के परिणाममात्र में वृत्तिशब्द का व्यवहार किया है । इसलिए अहमादि वृत्तियां अन्य विषय की प्रकाशक नहीं हैं । वस्तुतः तो तत्वानुसंधान आदि ग्रन्थों में प्रकाशक माया और अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहा है और वृत्तिप्रभाकर में अस्मिव्यवहारके हेतु अविद्या और अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहा है, इसलिए माया और अन्तःकरण का ज्ञानरूप परिणाम ही वृत्ति शब्द का अर्थ है, परिणाममात्र नहीं ।

निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१॥

अन्वय–अखिलवृत्तीनां सन्धयः च अभावाः येन निर्विकारेण अवभासिताः असौ कूटस्थः इति च उच्यते ।

अर्थ–सब वृत्तियों की सन्धियां (जब तक वृत्ति नष्ट होकर दूसरी उत्पन्न होने को होती है) तथा अभाव जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं उसको कूटस्थ कहते हैं। अर्थात् कूटस्थ का ज्ञान वृत्यभाव के साक्षी के रूप में संभव है।

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथाऽन्तरे ।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥२२॥

अन्वय–बाह्ये घटे यथा द्विगुणचैतन्यं तथा आन्तरे वृत्तिषु अपि। ततः संधितः तत्र वैशद्यं अधिकम् ।

अर्थ–बाह्य घट में जैसे दुगना चैतन्य (पूर्व प्रतिपादित) है इसी प्रकार भीतरी अहंकारादि वृत्तियों में भी, एक कूटस्थ चैतन्य और दूसरा वृत्तियों का अवभासक चिदाभास चैतन्य–दुगना चैतन्य है। क्योंकि द्विगुण चैतन्य है, इसीलिये वृत्तियों में सन्धियों से अधिक स्पष्टता पायी जाती है ॥२२॥

वृत्तियों में भी घटादि के समान, ज्ञातता और अज्ञातता का अवभासक कूटस्थ क्यों नहीं मानते ? उत्तर देते हैं :–

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥

अन्वय–घटवत् वृत्तिषु क्वचित् ज्ञातताऽज्ञातते न स्तः। स्वस्य स्वेन

अग्रहीतत्वात् च ताभिः अज्ञाननाशनात् ।

अर्थ—घट की भाँति, वृत्तियोंमें भी कभी ज्ञातता और अज्ञातता नहीं होती; क्योंकि एक तो अपना आपा अपने आप से गृहीत नहीं हुआ करता और दूसरे उनके उत्पन्न होते ही, उनसे अज्ञान का नाश हो जाता है। [ज्ञान की और अज्ञान की व्याप्ति से क्रमशः ज्ञातता (ज्ञान का विषय होना) और अज्ञातता (अज्ञान का विषय होना) उत्पन्न होती हैं। परन्तु वृत्तियां स्वयंप्रकाश हैं इसलिये उन में ज्ञान की व्याप्ति नहीं होती, इसलिए 'ज्ञातता' भी नहीं होती। और ये वृत्तियां उत्पन्न होते ही स्वविषयक अज्ञान को हटा देती हैं, इसलिए अज्ञान की व्याप्ति भी इनमें नहीं रहती और अज्ञातता भी नहीं आती। इस प्रकार कूटस्थ वृत्तिसम्बन्धी ज्ञातता का अवभासक नहीं माना जाता।] ॥२३॥

दोनों चैतन्यो में से एक कूटस्थ क्यों और दूसरा अकूटस्थ क्यो ?

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

अन्वय—द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः तत् अकूटस्थं तु अन्यत् अविकारतः कूटस्थम् ।

अर्थ—दोहरे चैतन्य में से जिस (चिदाभास नामक चैतन्य) के जन्म और नाश होते दीख पड़ते हैं वह तो अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होने से 'कूटस्थ' कहलाता है ॥२४॥

अन्तः करणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ।

कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचर्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

अन्वय–पूर्वाचार्यैः अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादौ सर्वत्र कूटस्थः एव विनिश्चितः ।

अर्थ–पूर्वाचार्यों ने 'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः; आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे' (उपदेशसाहस्री) इत्यादि में, सर्वत्र अनेकप्रकार से उसको कूटस्थ ही निश्चित किया है। यह कूटस्थ कपोलकल्पित नहीं है ॥२५॥

चिदाभास भी कपोलकल्पित नहीं है :–

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२५॥

अन्वय–यथा मुखाभासाश्रयाः एवं आत्माभासाश्रयाः च शास्त्र-युक्तिभ्यां गम्यन्ते इति आभासः च वर्णितः ।

अर्थ–जैसे मुख, मुखाभास अर्थात् मुख का प्रतिबिम्ब और उसका आश्रय दर्पण ये तीन प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसी प्रकार आत्मा कूटस्थ, चिदाभास और अन्तःकरणादि आश्रय से तीनों शास्त्र और युक्ति से जाने जाते हैं।' इस प्रकार उपदेश साहस्री के इस वाक्य में चिदाभास का वर्णन किया गया है ॥२६॥

अवच्छेदवादी+ चिदाभास का खण्डन करता है :–

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

+अवच्छेदवाद में अन्तःकरणविशिष्ट चेतन ही जीव है। अन्तःकरण,

अन्वय–बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थः घटाकाशः इव लोकान्तरगमागमौ कर्तुं शक्तः: आभासेन किं वद ?

अर्थ–बुद्धि से विशिष्ट (अपने में कल्पित बुद्धि से युक्त होने के कारण दूसरे चेतनों से भिन्न हुआ) कूटस्थ रूप जीव ही, घट द्वारा घटाकाश की भान्ति, लोकान्तर में आवागमन कर लेगा; फिर यह बताओ कि चिदाभास को क्यों मानते हो ? ॥२७॥

वादी के उक्त आक्षेप का परिहार

शृणवसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

अन्वय–शृणु हि असंगः परिच्छेदमात्रात् जीवः न भवेत् । अन्यथा घटकुद्याद्यैः अवच्छिन्नस्यं जीवता ।

अर्थ–सुनो; असंग कूटस्थ चेतन, यदि, केवल परिच्छेद, दूसरे चेतनों से व्यावृत होने मात्र, से ही जीव हो जाय तो फिर घट और भित्ति आदि से परिच्छिन्न चेतन को भी जीव मानना पड़ेगा ! वह तुम्हें भी इष्ट नहीं है ॥२८॥

कर्मवश जहां आता जाता है, वहां-वहां चेतन तो पूर्व से ही विद्यमान रहता है; वह चेतन उस अन्तःकरण से विशिष्ट हो संसारी जीव कहलाने लगता है । इस प्रकार अन्तःकरणरूप विशेषण तो संसार है ही, परन्तु कूटस्थ विशेष्य में संसार की भ्रान्तिसे प्रतीति होती है । शास्त्रमें यह नियम भी बताया है कि विशेषण के धर्म का भी विशेष्य में व्यवहार होता है । अतएव अन्तःकरण के धर्म–संसार–का अन्तःकरणविशिष्ट चेतन में व्यवहार होने से अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन, संसारी जीव, कहलाने लगता है । इस प्रकार चिदाभास के बिना सब व्यवहार सम्भव हैं तो चिदाभास की कल्पना में गौरवदोष है ।

भित्ति की अस्वच्छता से इस परिच्छिन्नता में कोई अन्तर नहीं आता !

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।

अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्यं न भवेत्तव ॥

अन्वय-कुड्यसदृशो बुद्धिः न, स्वच्छत्वात् इति चेत् ? तथा अस्तुनाम; स्वाच्छ्येन तव परिच्छेदे किं भवेत् ?

अर्थ-यदि कहो बुद्धि स्वच्छ होने से भित्ति के समान नहीं है ? तो हुआ करे, बुद्धि के स्वच्छ होने से चेतन के परिच्छेद में क्या अन्तर होगा ? कुछ भी नहीं ॥२९॥

उपरोक्त कथन को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :-

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ।

विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

अन्वय-दारुजन्येन वा कांस्यजन्येन प्रस्थेन विक्रेतुः तण्डुलादीनां परिमाणं न विशिष्यते ।

अर्थ-प्रस्थ (एक माप) चाहे लकड़ी का हो या कांसे का बना हो उससे बेचने वाले की; चावल आदि की माप में कोई अन्तर नहीं आता । अर्थात् स्वच्छता-अस्वच्छता से परिच्छेद में कोई न्यूनाधिकता नहीं आसकती ॥३०॥

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते ।

कांस्ये, यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥

अन्वय-यदि कांस्ये परिमाणाविशेषे अपि प्रतिविम्वः विशेष्यते, तदा, बुद्धौ अपि आभासः बलात् भवेत् ।

अर्थ–यदि कहो कि कांसे और लकड़ी के बने प्रस्थों में परिमाण में चाहे कोई विशेषता न हो, परन्तु उसमें चावलों आदिका प्रतिबिम्ब पड़ना रूपी विशेषता तो है ही; तब तो हम कहेंगे कि बुद्धि में भी आभास पड़ेगा ही-वह तुम्हें मानना ही पड़ेगा ॥३१॥

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः ।
बिम्बलक्षणहीनः सन्बिम्बवद्भासते स हि ॥३२॥

अन्वय–ईषद्भासनं आभासः तथाविधः प्रतिबिम्बः हि सः बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवत् भासते ।

अर्थ–थोड़े भास को 'आभास' कहते हैं, वैसा ही प्रतिबिम्ब भी होता है; निश्चय ही वह (प्रतिबिम्ब) बिम्ब के लक्षण से हीन होने पर भी बिम्ब की भान्ति भासा करता है। इसलिए वह बिम्ब का आभास कहा जाता है ॥३२॥

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता ।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः ॥३३॥

अन्वय–एतस्य ससंगत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता; स्फूर्तिरूपत्वं बिम्बवत् भासनं विदुः ।

अर्थ–यह चिदाभास संग और विकार से युक्त होने के कारण बिम्ब के लक्षणों से हीन है; किन्तु इसकी स्फुरणरूपता बिम्ब की भान्ति भासना कहलाती है । [जैसे हेतु के लक्षणों से हीन होते हुए भी जो हेतु की भान्ति भासमान हो उसे हेत्वाभास कहते हैं: ऐसे ही, चिदाभास, चेतनरूप बिम्ब के लक्षण से रहित भी, बिम्ब की भान्ति भासता है इसलिए चिदाभास कहलाता है ।] ॥३३॥

चिदाभास, बुद्धि से पृथक् सत्तावान् है; क्योंकि :—

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक्।
यथा मृदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

अन्वय—यथा मृत् धीभावभावित्वात् आभासः धियः पृथक् न हि अस्ति, अल्पं एव उक्तं, एवं धीः अपि स्वदेहतः।

अर्थ—यदि कहो कि जैसे मिट्टी की सत्ता से ही सत्तावान् घट, मिट्टी से भिन्न नहीं होता, इसी प्रकार बुद्धि की सत्ता से सत्तावान् चिदाभास भी, बुद्धि से भिन्न नहीं होगा ? तो हम कहते हैं कि वह तो तुमने थोड़ा ही कहा, क्योंकि यों तो बुद्धि देह से भी पृथक् सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥३४॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

अन्वय—देहे मृते अपि शास्त्रात् बुद्धिः अस्ति चेत् ? तथा सति बुद्धे अन्यः चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः।

अर्थ—यदि कहो कि "देह के मरने पर भी, बुद्धि है"—यह बात शास्त्रों में कही गई है अर्थात् 'सविज्ञानो भवति' इस शास्त्रवचन से देह से भिन्न बुद्धि का सद्भाव सिद्ध है तो हम कहेंगे कि "बुद्धि से भिन्न चिदाभास है" यह बात प्रवेशश्रुतियों में कही गई है। [जैसे तुम श्रुति के आधार पर बुद्धि को देह से भिन्न मानते हो वैसे ही प्रवेशश्रुतियों के आधार पर बुद्धिसे भिन्न चिदाभासको भी मानो।]

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक्।

आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

अन्वय—धीयुक्तस्य प्रवेशः चेत् ? न, 'धियः पृथक् आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्टः' ऐतरेये इति गीयते ।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि वहां बुद्धियुक्त का ही प्रवेश बताया गया है, सो ठीक नहीं है; क्यों कि 'बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा, पहले प्रवेश का संमल्प कर फिर उसमें प्रविष्ट हुआ' ऐतरेय में यह बात कही गई है । अतएव बुद्धिरूप उपाधि वाले आत्मा का प्रवेश मानना ठीक नहीं; वहां अकेले आत्मा के प्रवेश की बात कही है ॥३६॥

उस श्रुति का तात्पर्य बताते है :—

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

अन्वय—'अयं साक्षदेहं इदं मदृते कथं नु स्यात्' इति ईरणात् मूर्धसीमानं विदार्य प्रविष्टः संहरति ।

अर्थ—यह परमात्मा 'इन्द्रिय और देह समेत वर्तमान यह जड़ समुदाय मुझ चेतन के बिना कैसे रहेगा !' (यह देखने के लिए) तीनों कपालों की सीमाभूत मस्तक की सीवन को (अपनी सन्निधि मात्र से) भेदकर उसमें प्रविष्ट हो जाता है और जाग्रत आदि अवस्थाओं को अनुभव करने लगता है ॥३७॥

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

अन्वय—असंगः कथं प्रविष्टः चेत् ? अस्य सृष्टिः वा कथं वद ? तयोः मायिकत्वं तुल्यं, च तयोः विनाशः समः ।

अर्थ-यदि पूछो 'जब वह असंग है तो देहादि में कैसे प्रविष्ट हो गया ?' तो हमारा प्रश्न है कि असग होते हुए उसने सृष्टि की रचना कैसे की ? तुम्हारा आक्षेप सृष्टि-रचना में भी तुल्य है। यदि कहो कि सृष्टिकर्ता तो मायिक है अतएव वह जगत् रूप से उत्पन्न हो सकता है : इस पर हमारा कथन है कि जैसे सृष्टिकर्ता मायिक है ऐसे प्रवेश-कर्ता भी मायिक है और दोनों का विनाश भी समान है ॥३८॥

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

अन्वय—'एषः भूतेभ्यः समुत्थाय तानि एव अनुविनश्यति' इति विस्पष्टं याज्ञवल्क्यः मैत्रेय्यै हि उवाच ।

अर्थ—यहां 'प्रज्ञाघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति ।' इति श्रुति का निर्देश करते हुए कहते हैं कि 'यह प्रकर्षज्ञानघन आत्मा इन देहादि पंचभूतोंके कार्यादि-रूप उपाधियों से ऊपर उठकर अर्थात् जीवपने के अभिमान को छोड़कर उन देहादि के नष्ट हो जाने के साथ-साथ नष्ट होता है उनके नष्ट होने पर जीवत्वाभिमान को छोड़ देता है याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार मैत्रेयी को सोपाधिक का विनष्ट होना समझाया है ।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

अन्वय–अयं आत्मा अविनाशी इति कूटस्थः प्रविवेचितः। मात्रासंसर्गः इति एवं असंगत्वस्य कीर्तनात्।

अर्थ–'यह आत्मा अविनाशी, अर्थात् अनुच्छित्ति (नाश का अभाव) धर्म वाला है' इस कथन से सोपाधिक जीव से भिन्न कूटस्थ रूप दिखाया है। उसके अविनाशी होने में कारण यह है कि 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' अर्थात् 'मात्रा, देहादि विषय, का संसर्ग कभी नहीं हो पाता' इस श्रुति ने इस आत्मा की असंगता का कीर्तन किया है। आत्मा की असंगता को यहां अविनाशी होने का हेतु बताया गया है ॥४०॥

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किंतु लोकान्तरे गतिः॥

अन्वय–जीवापेतं वाव शरीरं किल म्रियते ; सः न इति अत्र विमोक्षः न। किन्तु लोकान्तरे गतिः।

अर्थ–यदि कहो कि 'जीव से रहित यह शरीर ही मरता है, निश्चय ही जीव नहीं मरता' इस श्रुति में तो औपाधिक जीव को भी अविनाशी माना है ? यह बात ठीक नहीं हैं—इस श्रुति में जीव के मोक्ष का वर्णन नहीं है किन्तु उसको लोकान्तरगति दर्शायी गई है। इस श्रुति का विषय विमोक्ष अर्थात् अत्यन्त विनाश न होना (अविनाशीपना दिखाना) नहीं है अपितु देहान्तरगति ही इसका प्रतिपाद्य है ॥४१॥

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत्।

सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥

अन्वय–विनाशी सः 'अहं ब्रह्म इति न बुध्येत चेत् ? तत् न, सामानाधिकरण्यस्य बाधायां अपि सम्भवात् ।

अर्थ–यदि जीव विनाशी है तो वह 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता का ज्ञान कैसे करेगा ? यह बात नहीं है; क्योंकि सामानाधिकरण्य बाधा में भी होता है ।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार का होता है+यहां मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं है तो न सही, बाधसामानाधिकरण्य तो है। वह अपने जीवभाव की बाधा करके ब्रह्मभाव को समझा सकता है ।

बाधसामाधिकरण्य से वाक्यार्थ के निश्चय के प्रकार को वार्तिककार की रीति से सोदाहरण प्रदर्शित करते हैं :-

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।

+परस्पर अपर्याय, एवं समानविभिक्तिकपदों की एक ही अर्थ में प्रवृत्ति (तात्पर्य) 'सामानाकिरण्य' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है। जिस वस्तु का जिसके साथ सदा सम्बन्ध होता है उनका परस्पर मुख्य सामानाधिकरण्य अथवा अभेदसामानाधिकरण्य होता है। जैसे कि घटाकाश का महाकाश के साथ अथवा कूटस्थ का ब्रह्म के साथ है ।

जिस वस्तु का बाध होकर जिसके साथ अभेद है, उस वस्तु का उसके साथ बाधसामानाधिकरण्य होता है। जैसे, स्थाणु वा प्रतिबिम्ब का बाध होकर पुरुष वा बिम्ब के साथ अभेद होता है अतएव इनका आपस में बाधसामानाधिकरण्य है। इसी प्रकार चिदाभास का भी बाध होकर कूटस्थ के साथ अथवा ब्रह्म के साथ अभेद होता है अतएव चिदाभास का कूटस्थ वा ब्रह्म के साथ बाधसामानाधिकरण्य है ।

ब्रह्मास्मीति धियाप्येषामहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥४३॥

अन्वय–'यः अयं स्थाणुः एषः पुमान्' इति पुंधिया स्थाणुधीः इव 'ब्रह्म अस्मि' इति धिया अपि एषां अहंबुद्धिः निवर्त्यते ।

अर्थ–'जो यह स्थाणु दीख रहा है, यह पुरुष है' इस वाक्य में पुरुषज्ञान से जैसे स्थाणु ज्ञान निवृत्त हो जाता है ऐसे ही "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रतीति से "मैं कर्ता हूं" मैं भोक्ता हूँ' आदि अहं बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥

अन्वय–एवं आचार्यैः नैष्कर्म्यसिद्धौ अपि सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं स्पष्टं ईरितम्; अतः तत् अस्तु ।

अर्थ–पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित रीति से, वार्तिककार आचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में सामानाधिकरण्य-बाध के लिए है' यह स्पष्ट कहा है ; इसलिए, 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य में जो सामानाधिकरण्य है उसे बाधार्थक रहने दो ॥४४॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ॥४५॥

अन्वय–'सर्वं ब्रह्म' इति जगता समानाधिकरण्यवत् 'अहं ब्रह्म' इति जीवेन समानाधिकृतिः भवेत् ।

अर्थ–'यह सारा जगत् ब्रह्म है' इस श्रुति में जैसे बाधा में भी जगत् के साथ सामानाधिकरण्य है, ऐसे ही 'मैं ब्रह्म हूं' वाक्य में

जीव के साथ भी बाधा में भी सामानाधिकरण्य सम्भव है+॥४५॥

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम्।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

अन्वय—विवरणे कूटस्थ विवक्षया सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं प्रयत्नतः निराकृतम्,

अर्थ—विवरणकार ने अपने विवरण ग्रंथ में 'अहं' शब्द से कूटस्थ-कहना चाहकर बाधसामानाधिकरण्य का प्रयत्न-पूर्वक खण्डन किया है ॥४६॥

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम्।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥४७॥

अन्वय—शोधितः त्वं पदार्थः यः कूटस्थः तस्य ब्रह्मरूपतां वक्तुं विवरणे च इतरत्र तथा उक्तम्।

अर्थ—शोधित अर्थात् बुद्धि आदि से विवेचित त्वं पद का लक्ष्यार्थ जो कूटस्थ है उसकी, सत्यादिलक्षण ब्रह्म-रूपता की,

---

+'सब जगत् ब्रह्म है' इस श्रुति में जगत् का ब्रह्म के साथ एकतारूप सामानाधिकरण्य है वहां यदि मुख्य सामानाधिकरण्य मानें तो ब्रह्म में दृश्यता, विनाशिता आदि जगत् के धर्म मानने से अनर्थ होगा। इसलिए जगत् का बाध कर के ब्रह्म के साथ अभेदरूप बाध सामानाधिकरण्य है। जिनके मत में आरोपित का अभाव (निवृत्ति), अधिष्ठान से भिन्न है, उनके मत में यहां 'जगत् के अभाव वाला ब्रह्म है' ऐसा बोध होता है और जिनके मत में आरोपित का अभाव अधिष्ठानरूप है उनके मतसे 'जगत्का अभाव ब्रह्म है' ऐसा बोध होता है। 'मैं ब्रह्म हूं' इस वाक्य में भी इसी प्रकार सामानाधिकरण्य है।

विवक्षा से विवरण आदि ग्रन्थों में बाधसामानाधिकरण्य का निराकरण किया है ॥४७॥

कूटस्थ और ब्रह्म की एकता दिखलाने के लिए कूटस्थ का विवक्षित अर्थ कहते हैं :—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ॥

अन्वय—देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या अधिष्ठानचितिः सा एषा अत्र कूटस्था विवक्षिता ।

अर्थ—देह-इन्द्रिय-मन आदि से युक्त अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म, दोनों-शरीरों से युक्त जीवाभास-चिदाभास-रूप भ्रम का अधिष्ठान चैतन्य ही वेदान्तों में कूटस्थ शब्द का अर्थ कहा गया है ।

ब्रह्मशब्द का अर्थ बताते हैं :—

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९

अन्वय—सर्वस्य जगत्भ्रमस्य अधिष्ठानं यत् त्रय्यन्तेषु ईरितम् । तत् अत्र ब्रह्मशब्दविवक्षितं स्यात् ।

अर्थ—सम्पूर्णजगत् की कल्पना का अधिष्ठान चैतन्य वेदान्तों में ब्रह्म शब्द से विवक्षित है ॥४९॥

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

अन्वय—एतस्मिन् एव चैतन्ये यदा जगत् आरोप्यते, तदा, तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ?

अर्थ—जब एक ही चैतन्य में समस्त जगत् आरोपित है, तब उसी जगत् के एक भाग जीवाभास या चिदाभास का तो कहना ही क्या ? अर्थात् जीव तो स्पष्ट ही आरोपित है; इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ॥५०॥

'तत्' और 'त्वं' पदों का अर्थ (वाच्य) वस्तुतः एक है, परन्तु उसमें औपाधिक भेद है :—

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥

अन्वय—जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तः वस्तुतः चितेः एकता ।

अर्थ—जगत् और जगत् का एकदेश (चिदाभास) इन दो नामों वाले आरोपणीय पदार्थों के भेद से 'तत्' और 'त्वं' पदों के अर्थ (वाच्य) भिन्न-भिन्न हैं—वास्तव में तो यह अर्थ, चिति, एक ही है ॥५१॥

जैसे शुक्ति में आरोपित रजत में, अधिष्ठान शुक्ति का "यह पना" और आरोप्य रजत का 'रजत पन' ये दोनों धर्म प्रतीत होते हैं; और इसलिए रजत आरोपित कहलाती है; ऐसे ही कूटस्थ में आरोपित चिदाभास में भी आरोपित-पना सिद्ध करने के लिए अधिष्ठान और आरोप्य के धर्मों की प्रतीति होनी चाहिए ? चिदाभास में जब वे नहीं है, तो वह क्यों कर आरोपित कहा जाता है ? उत्तर देते हैं :—

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान्स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥

अन्वय–बुद्धिधर्मान् कर्तृत्वादीन् च स्फूर्त्याख्यां आत्मरूपतां दधत् पुरतः विभाति । अतः आभासः भ्रमः भवेत् ।

अर्थ—बुद्धि के धर्मों, कर्तृत्व आदि को और स्फूर्तिनाम के आत्मा के धर्म को धारण करता हुआ यह आभास दीखता है, इसलिए आभास, भ्रम अथवा कल्पित ही है ॥५२॥

इस भ्रम का क्या कारण है ?

का बुद्धिःकोऽयमाभासः को वात्मात्र जगत्कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

अन्वय–"बुद्धिः का ? अयं आभासः कः; वा आत्मा कः ? अत्र जगत् कथं ?" इति अनिर्णयतः मोहः । सः अयं संसारः इष्यते ।

अर्थ—बुद्धि क्या है ? आभास क्या है ? आत्मा कौन है ? इस में जगत् कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का निर्णय न होने के कारण ही भ्रम होता है । यह मोह ही 'संसार' कहाता है । अर्थात् यही मोह सब अनर्थों का मूल है ॥५३॥

भ्रम की निवृत्ति कौन करता है ?

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

अन्वय–बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यः विविनक्ति सः तत्त्ववित् सः एव मुक्तः इति वेदान्तेषु विनिश्चयः ।

अर्थ-जो, बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेचन करता है वही तत्त्वज्ञानी है और वही मुक्त है—ऐसा वेदान्तशास्त्रों का निर्णय है। अर्थात् बुद्धि आदि का विवेक ही भ्रम का निवारक है ॥५४॥

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥

अन्वय-एवं च सति कस्य बन्धः स्यात् इत्यादि कुतर्कजाः विडम्बनाः खण्डनोक्तिप्रकारतः दृढं खण्ड्याः ।

अर्थ-इस प्रकार जब कि 'बन्ध और मोक्ष दोनों अविवेक-मूलक हैं तब फिर अद्वैतवाद में किसका बन्ध या किसका मोक्ष है ?' इत्यादि तार्किकों के किए कुतर्कमूलक व्यङ्गोंका खण्डन श्रीहर्ष मिश्राचार्यकृत "खण्डनखंडखाद्य" नामक ग्रन्थ में बताई रीति से करना चाहिए। [जो परम आस्तिकअधिकारी है, उनको बोध करानें की रीति तो इस पञ्चदशी ग्रन्थ में बताई है परन्तु जो नैय्यायिकों के किए कुतर्कों और व्यङ्गों से संशय में पड़ जाते हैं, उनको 'खण्डनखंडखाद्य' आदि सरीखे ग्रन्थोंमें बताई रीति से बोध कराना चाहिए।] ॥५५॥

इस प्रकार युक्ति और श्रुति से कूटस्थ का बुद्धि आदि से विवेचनकर अब पुराणों में किए हुए विवेचन को दिखाते हैं —

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाज्ञोस्मीत्याभासज्ञानवस्तुनः ॥५६॥

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥
आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना।
सर्वसंबन्धवत्त्वेनसंपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥५८॥

अन्वय–वृत्तेः च वृत्तिप्रागभावस्य बुभुत्सायां तथा ब्रह्म अस्मि इति आभासज्ञानवस्तुनः साक्षितया स्थितः ॥५६॥ असत्यालम्बनत्वेन सत्यः। सर्वजडस्य तु साधकत्वेन चिद्रूपः। सदा प्रेमास्पदत्वतः आनन्दरूपः। सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना सर्वसम्बन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः॥

अर्थ–पुराणों में कहा है कि (कामादि वृत्तियों की उत्पत्ति के समय) यह शिव ही वृत्ति का और उदय से पूर्व उस वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी होकर और स्वरूप को जानने की इच्छा होने पर उसका साक्षी और उस जिज्ञासासे पूर्व "मैं अज्ञानी हूं" इस रूप में अनुभूयमान अज्ञान का साक्षी होकर, स्थित है। और वह शिव, असत्यजगत् के आलम्बन अर्थात् अधिष्ठानरूप में तो "सत्य"; सब जड़ पदार्थों का साधक (अवभासक) होने से 'चिद्रूप'; सदा प्रेम का विषय होने से 'आनन्दरूप' और सब पदार्थों का अवभासकता के कारण सब का सम्बन्धी होने के 'सम्पूर्ण' कहलाता है।

अभिप्राय यह है:–विवाद का विषय शिव वृत्ति आदियोंसे भिन्न है; क्योंकि यह वृत्ति आदियों का साक्षी है: जो भी वृत्ति आदि से भिन्न नहीं है, वह उनका साक्षी भी नहीं है–जैसे वृत्ति आदि स्वयम्। यदि कोई शंका करे कि वृत्ति आदि स्वयं अपने आपसे भिन्न

नहीं हैं, इसलिए अपने साक्षी भी नहीं हैं। इसी प्रकार कूटस्थ भी, वृत्ति आदि से भिन्न नहीं हो यह बात नहीं–इसलिए वृत्ति आदि का साक्षी न हो, यह बात नहीं; अपितु साक्षी ही है। यह व्यतिरेकी अनुमान का प्रकार है।

इसी प्रकार–(१) विवाद का विषय शिव, सत्य है; क्योंकि मिथ्या का अधिष्ठान है, जैसे असत्य रजत की अधिष्ठान शुक्ति। (२) विवाद का विषय शिव चिद्रूप है; क्योंकि जड़मात्र का अवभासक है। जो चिद्रूप नहीं होता वह सर्वजड़ का अवभासक नहीं होता। जैसे घटादि। (३) विवाद का विषय शिव परमानन्दरूप है; क्योंकि सर्वोत्कृष्ट प्रेम का विषय है; जो परम नन्दरूप नहीं होता वह परमप्रेमास्पद भी नहीं होता; जैसे घटादि। (४) विवाद का विषय शिव, परिपूर्ण है, क्योंकि वह आकाश की भान्ति सर्वसम्बन्धी है। [यह अन्तिम अन्वयी अनुमान है : शेष तीनों व्यतिरेकी अनुमान हैं।] शिव का सर्वसम्बन्धीपना सब पदार्थों का अवभासकता के कारण है। विवाद का विषय शिव सब पदार्थों से आध्यासिक सम्बन्धवाला है; क्योंकि सब का प्रकाशक है ॥५८॥

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

अन्वय–इति शैवपुराणेषु जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः कूटस्थः प्रविवेचितः।

अर्थ–इस प्रकार सूतसंहितादि शैव पुराणों में, (शिव को) जीव–ईश्वर–आदि की कल्पना से रहित, केवल (अद्वितीय), स्वयं

प्रकाशचैतन्यरूप शिवनामक कूटस्थ तत्व का विवेचन किया है।

कूटस्थ, जीव, ईश्वराभास से रहित कैसे सिद्ध होता है ? बताते हैं :—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥

अन्वय—'माया आभासेन जीवेशौ करोति' इति श्रुतत्वतः 'जीवेशौ मायिकौ एव। तौ काचकुम्भवत् स्वच्छौ।

अर्थ—'माया आभास के द्वारा 'जीव' 'ईश्वर' को बना लेती है'' श्रुति में यह बताया है ; इसलिए जीव और ईश्वर मायिक और दोनों काचंकुम्भ, की भान्ति स्वच्छ होते हैं : अर्थात् जैसे काचनाम की मिट्टी से बना काचकुम्भ, मिट्टीके घड़ेसे अधिक स्वच्छ होता है ऐसे ही मायाके बने होने पर भी, जीव और ईश्वर, देहादि जड़ों से भिन्न हैं ॥६०॥

परन्तु माया तो, काच और बेकाचके घड़ों की मिट्टियों की भान्ति, दो तरह की नहीं है; इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं :—

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥

अन्वय—अन्नजन्यं मनः यद्वत् स्वच्छं, तथा एव तौ मायिकौ अपि अन्यस्मात् सर्वस्मात् स्वच्छतां गतौ।

अर्थ—देह और मन दोनों अन्न से उत्पन्न हैं, तथापि मन देहसे स्वच्छ होता है। इसी प्रकार जीव' और 'ईश्वर' दोनों मायिक हैं तो भी अन्य सब मायिक पदार्थों से (सारे जगत् से अधिक) स्वच्छ हैं।

जीव और ईश्वर की चेतनता को कैसे जानते हैं ?

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ।
सर्वकल्पनशक्तायां मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

अन्वय–चित्त्वेन एव प्रकाशनात् चिद्रूपत्वं च संभाव्यम् । हि सर्वकल्पनशक्तायाः मायायाः दुष्करं न ।

अर्थ–क्योंकि वे जीव और ईश्वर चिद्रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं इसलिए उनकी चिद्रूपता की (अनुभव से) सम्भावना करो । सब की कल्पना करने में समर्थ माया के लिए भी कुछ दुर्घट नहीं है : उसी ने दोनों मायिकों को चिद्रूप से प्रकाशित कर डाला है ।

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

अन्वय–अस्मन्निद्रा अपि स्वप्नगौ चेतनौ जीवेशौ सृजेत् । महामाया एतौ सृजति इति अत्र ते किं आश्चर्यम् ?

अर्थ–हमारी निद्रा भी जब स्वप्न के जीव और ईश्वर की सृष्टि कर डालती है तो 'महामाया इन चेतन जीवेश्वर को बना लेती है'–इसमें आश्चर्य की क्या बात है ! ॥६३॥

ईश्वर भी मायिक है तो फिर वह भी जीव की भान्ति असर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं :—

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥

अन्वय–च ईशे सर्वज्ञत्वादिकं कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् । या धर्मिणं

कल्पयेत् अस्याः धर्मकल्पने कः भारः ?

अर्थ–और यही महामया ईश्वर में सर्वज्ञता आदि की रचना करके दिखाती है : बात यह है कि जो माया ईश्वररूप धर्मी की कल्पना कर लेती है उसको सर्वज्ञता आदि धर्मों को कल्पना करने में क्या भार लगेगा !! ॥६४॥

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्माऽतिशङ्क्यताम् ।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ॥६५॥

अन्वय–कूटस्थे अपि अतिशंका स्यात् इति चेत् ? मा अतिशंक्यताम् ! हि कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न विद्यते ।

अर्थ–जीव-ईश की भान्ति कूटस्थको भी मायिक मानना उचित नहीं, क्योंकि कूटस्थ को मायिक मानने का कोई प्रमाण नहीं है ।

हां, कूटस्थ की वास्तविकता में सब श्रुतियां प्रमाण हैं :–

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेत्र किंचन ॥६६॥

अन्वय–वेदान्ताः सकलाः अपि अस्य वस्तुत्वं घोषियन्ति । अत्र सपत्नरूपं अन्यत् किंचन न सहन्ते ।

अर्थ–सभी वेदान्तशास्त्र इस कूटस्थ के वास्तविक होने की घोषणा करते हैं । वे इस कूटस्थ की पारमार्थिकता के सम्बन्ध में उसके प्रतिद्वन्द्वी किसी दूसरे पदार्थ को सहन नहीं करते ॥६६॥

परन्तु उपरोक्त तथ्यों की सिद्धि में प्रमाण से ही काम क्यों लेते हो, तर्क क्यों नहीं उपस्थित करते ?

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ।

तेन तार्किकशङ्कानामत्र कोऽवसरो वद ॥६७॥

अन्वय–श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मः तर्कात् किंचन न वच्मि । तेन तार्किकशंकानां अत्र कः अवसरः ? वद ।

अर्थ—हम तो यहां केवल श्रुति के अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं; तर्क के सहारे कुछ नहीं कहते : इस स्थिति में तार्किकों की शङ्काओं को यहां क्या अवसर है ? ॥६७॥

तस्मात्कुतर्कं सत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।

श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥

अर्थ–इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह कुतर्क को छोड़कर श्रुति का आश्रय ले । श्रुतियों में माया जीव--ईश्वर को बनाती है, यह दिखाया ही है ॥६८॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।

जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ॥६९॥

अर्थ–ईक्षेण से लेकर प्रवेश तक की सृष्टि ईश्वरकृत है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, बन्ध तथा मोक्षरूप संसार को जीव ने बनाया है ॥३९॥

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।

भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥७०॥

अन्वय–कूटस्थः असंगः एव, अस्य किंचन अतिशयः न भवति, तेन एवं सर्वदा मनसि विचारयेत् ।

अर्थ–कूटस्थ तो असंग ही है; (जन्म, जरा, रोग आदि से) इसका कभी कुछ अतिशय नहीं होता । इसलिए इन तथ्योंका सदा मन में विचार करे ॥७०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

अन्वय–निरोधः न, च उत्पत्तिः न, बद्धः न, च साधकः न, मुमुक्षुः न, वै मुक्तः न-इति एषा परमार्थता ।

अर्थ–मरण, जन्म, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त-कोई कुछ नहीं है; श्रुति में परमार्थता इतनी ही है ॥७१॥

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥७२॥

अन्वय–अवाङ्मनसगम्यं तं प्रबोधयितुं श्रुतिः सदा जीवं ईशं वा जगत् अपि समाश्रित्य बोधयेत् ।

अर्थ–वाणी और मन से अगम्य उस तत्व को समझाने के लिए, श्रुति, सदा जीव ईश्वर या जगत् का आश्रय लेकर बोध कराती है । जीवेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन श्रुतियों में असंग तत्त्व को समझाने के लिए ही है ॥७२॥

एक ही अद्वैततत्व को समझाने के लिए, श्रुतियों में विवाद क्यों है ?

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।

सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥

अन्वय—'यया यया पुंसां प्रत्यगात्मनि व्युत्पत्तिः भवेत्, सा सा एव प्रक्रिया इह साध्वी स्यात्" इति आचार्यभाषितम् ।

अर्थ—"जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों को ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा का ठीक ज्ञान हो जाय, वही वही प्रक्रिया उसके लिए ठीक है" यह बात सुरेश्वराचार्यने कही है। आत्मतत्व तो एकरूप है : बोध्य और बोध कराने वालों के चित्तोंमें विषमता है; इसलिए बोध कराने की रीति भी भिन्न भिन्न हो जाती है ॥७३॥

और यह विवाद भी श्रुतिके तात्पर्य को न जानने वालों में ही होता है :—

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुध्वा भ्राम्यते जडः ।
विवेकी त्वखिलं बुध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥

अन्वय—जडः अखिलं श्रुतितात्पर्यं अबुध्वा भ्राम्यते । विवेकी तु अखिलं बुध्वा आनन्दवारिधौ तिष्ठति ।

अर्थ—मूर्ख तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को न जानकर भ्रम में पड़ जाता है और विवेकी सम्पूर्ण तात्पर्य को जानकर आनन्द-समुद्र में मग्न रहता है ॥७४॥

विवेकी के निश्चय का स्वरूप

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥

अन्वय—एषः मायमेघः जगन्नीरं यथा तथा वर्षतु, चिदाकाशस्य हानिः न, लाभः न, इति स्थितिः ।

अर्थ–विवेकी का निश्चय है कि मायारूपी मेघ, जगत्‌रूपी जल को, चाहे जैसे बरसाता रहे ः इसके बरसने से चैतन्यरूप आकाश की न कोई हानि है, न लाभ है। यही सच्ची स्थिति है।

ग्रन्थाभ्यास का फल

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरन्तरम्।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥

अन्वय–यः इमं कूटस्थदीपं निरन्तरं अनुसन्धत्ते, असौ स्वयं निरन्तरं कूटस्थरूपेण दीप्यते।

जो सदा इस कूटस्थदीप का विचार करेगा वह सदा स्वयं कूटस्थरूप होकर चमक उठेगा।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके अष्टम प्रकरण कूटस्थदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त।

—०—

ध्यानदीप-प्रकरण*-९

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।

कुर्वे ध्यानदीपस्य टीकां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥

वेदान्तशास्त्र के अनुसार नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधानरूप षट्सम्पत्ति और मोक्षकी तीव्र इच्छा-इन चार साधनों से युक्त और श्रवण-मनन-एवं निदिध्यासन का अनुष्ठान करने वाले मुमुक्षु को 'तत् एवं त्वं' पदों के अर्थ विवेचन द्वारा महावाक्यों के अर्थज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है : परन्तु बुद्धि की मन्दता आदि प्रतिबन्धों के कारण जिसको उपनिषदों के श्रवण से भी अपरोक्षज्ञान न हुआ हो उसको, महावाक्यों के अर्थ को विषय करने वाली यथार्थानुभवरूप अपरोक्षप्रमा कैसे हो ? यह बताते हैं :-

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१॥

अन्वय—संवादिभ्रमवत् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्या अपि मुच्यते, अतः उत्तरे तापनीये अनेकधा उपास्तिः श्रुता ।

अर्थ—जैसे संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को भी अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी अभीष्ट-ब्रह्म-भाव रूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है : इसीलिए तापनीयोपनिषद् में अनेक प्रकार की तत्त्वोपासना+का वर्णन पाया जाता है ॥१॥

---

*ध्यान अर्थात् निर्गुणोपासना, का प्रकाशक होने से यह प्रकरण 'ध्यानदीप' है ।

+जब किसी उपास्यवस्तु के आकार की वृत्ति का ऐसा निरन्तर प्रवाह उत्पन्न

संवादी भ्रम की व्याख्या

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥२॥

अन्वय–मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्या अभिधावतोः मिथ्याज्ञानाविशेषे अपि अर्थक्रियां प्रति विशेषः ।

अर्थ–मणि और दीपक की प्रभाओं को मणि समझकर उनकी ओर दौड़ने वाले दो मनुष्यों के मिथ्याज्ञानमें कोई विशेष (अन्तर) नहीं है—अर्थात् दोनों भ्रम ही हैं परन्तु फिर भी प्रयोजनसिद्धि में विशेषता है ही; मणिप्रभा को मणि समझने वाले को तो मणि मिल ही जाती है। [यहां मणिप्रभा में मणि का भ्रम संवादी भ्रम है ।] ॥२॥

उपरोक्त कथन की व्याख्या तीन श्लोकों में करते हैं :—

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥३॥

हो जाय कि दूसरी वस्तु के आकार की वृत्ति का विघ्न उसमें न पड़ने पावे तो वह उपास्यवस्तु की उपासना या उपासन कहाता है। इसके दो भेद हैं—निर्गुण और सगुण; इनमें से प्रत्येक पुनः प्रतीकरूप और ध्येयके अनुसार भिन्न-भिन्न : इस प्रकार दो प्रकार की है।

और वस्तु में और की बुद्धि करके उपासना करना प्रतीकोपासना है। जैसे शालिग्राम में विष्णु बुद्धि से अथवा नर्मदेश्वर में शंकर-बुद्धि से उपासना प्रतीकोपासना है। उपास्यवस्तु के यथार्थस्वरूप का चिन्तन ध्येयानुसार उपासना है।

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥
न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावतावश्यं लभ्यतैव मणिर्मणेः ॥५॥

अन्वय–अपवरकस्य अन्तः दीपः वर्तते, तत्प्रभा बहिः द्वारि दृश्यते। अथ तद्वत् अन्यत्र मणेः प्रभा दृष्टा॥ प्रभाद्वयं दूरे दृष्ट्वा मणिबुद्ध्या अभिधावतोः द्वयोः अपि प्रभायां मणिबुद्धिः तु मिथ्यज्ञानम्। दीपप्रभां प्रत्यभिधावता मणिः न लभ्यते, मणेः प्रभायां धावता अवश्यं मणिः लभ्यते एव॥

अर्थ–किसी मन्दिर के भीतरी कमरे में दीपक रखा है : उसका प्रकाश बाहर द्वार पर दिखाई दे रहा है; और वह रत्न की भांति गोलाकृति है। इसी प्रकार किसी दूसरे कमरे के भीतर रखी मणि का प्रकाश बाहर द्वार पर दिखाई दे रहा है। ऐसे दो प्रकाशों को दूर से देखकर 'यह मणि है' यह समझते हुए दो पुरुष दौड़े। इन में से दोनों ही को, प्रकाश में मणिबुद्धि मिथ्याज्ञान है। परन्तु इन दोनों में से दीपप्रकाश को रत्न समझकर उस ओर दौड़नेवाले पुरुष को तो रत्न की प्राप्ति होती नहीं, परन्तु जो पुरुष मणि के प्रकाश को मणि समझकर दौड़ा है-उसे फिर भी मणि मिल जाती है॥३-४-५॥

विसंवादी और संवादी भ्रम का स्वरूप

दीपप्रभावमणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।

मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

अर्थ–यहां दीपप्रकाशमें जो मणिकी भ्रान्ति है, वह विसम्वादिभ्रम और मणिप्रकाश में जो मणि-बुद्धि है उसे संवादी भ्रम कहते हैं। [विसंवादिभ्रम अर्थात् विफलभ्रम; कारण कि उससे मणि का लाभ नहीं होता और संवादिभ्रम 'सफलभ्रम' है--क्योंकि इससे मणि का लाभ हो जाता है।]

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में संवादिभ्रम दिखाकर अब अनुमान में संवादिभ्रम का वर्णन करते हैं :–

बाष्पं धूमतया बुध्वा तत्राङ्गारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स सम्वादिभ्रमो मतः ॥७॥

अर्थ–किसी स्थान में स्थित भाप को धुंआ समझकर, उस स्थान के विषय में, 'यह देश अग्निमान् है' ऐसा अनुमान से निश्चय कर, प्रवृत्त पुरुष को यदि दैवयोग से अग्निलाभ हो जाय तो वही भाप दिखाने वाला धूमज्ञान संवादी भ्रम कहलाता है ॥७॥

गोदावर्युदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥

अर्थ–अब आगम में संवादी भ्रम को दिखाते हैं :--गोदावरी के जल को गंगाजल मान कर शुद्धि के लिए अपने देह पर छिड़ककर मनुष्य शुद्ध हो जाता है : यह भी संवादी भ्रम है। गोदावरीका जल भी, यद्यपि, शास्त्र में शुद्धि का हेतु बताया है अतएव उसके प्रोक्षण

से भी शुद्धि तो होती है, तथापि उसमें गंगाजल की बुद्धि भ्रम ही है।

ज्वरेणाप्तः संनिपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन्।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

अन्वय—ज्वरेण सन्निपातं आप्तः भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् मृतः स्वर्गं अवाप्नोति। सः संवादिभ्रमः मतः।

अर्थ—ज्वर के कारण सन्निपात का रोगी हुआ मनुष्य ("यह नारायणस्मरण मेरे लिए स्वर्गप्राप्ति का साधन है" यह न जानता हुआ भी, सन्निपात से हुए भ्रम के वश शिशुपाल आदि साधारण पुरुषों की भान्ति) नारायण का स्मरण करता हुआ, मर कर, स्वर्ग में पहुंच ही जाता है; यह संवादी भ्रम है ॥९॥

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विषय में, पूर्वोक्त न्याय से करोड़ों संवादी भ्रम प्रसिद्ध हैं ॥१०॥

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम्।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥

अन्वय—अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः देवताः कथं स्युः ? वा योषिदादयः अग्नित्वादिधिया कथं उपास्याः ?

अर्थ—यदि संवादिभ्रम को न मानोगे तो, फलसिद्धि के लिए, मिट्टी, काठ और शिला कैसे देवता होंगे ? और स्त्री आदि, अग्नि आदि की बुद्धि से उपास्य कैसे होते ? यहां छान्दोग्योपनिषद के

चतुर्थ अध्याय में वर्णित 'पंचाग्निविद्या' की ओर निर्देश है ॥११॥

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२॥

अन्वय–अयथावस्तुविज्ञानात् ईप्सितं फलं काकतालीयतः लभ्तते । सः अयं संवादिभ्रमः उच्यते ।

अर्थ–जहां शास्त्र से विहित अथवा अविहित विपरीतज्ञान से अभीष्ट फल, दैवात्, प्राप्त हो जाय, वहां संवादी भ्रम माना है ।

अयथार्थवस्तुविषयक ब्रह्मोपासना से मुक्ति का यही प्रकार है :–

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३॥

अन्वय–यथा संवादी स्वयं भ्रमः अपि सम्यक् फलप्रदः तथा ब्रह्मतत्वोपासना अपि मुक्तिफलप्रदा ।

अर्थ–जैसे संवादी अर्थात् सफल प्रवृत्ति का जनक ज्ञान स्वयं भ्रम रूप है तो भी, सम्यक् फल देता है ऐसे ही ब्रह्मतत्व की उपासना भी मुक्तिफल देती है ॥१३॥

परोक्षज्ञान से ब्रह्मोपासना का प्रकार

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

अन्वय–वेदान्तेभ्यः अखंडैकरसात्मकं ब्रह्मतत्वं परोक्षं अवगम्य 'एतत् अहं अस्मि' इति उपासते ।

अर्थ–प्रश्न यह है कि ब्रह्मतत्व को पहले जानकर उपासना

कहते हो या जाने बिना ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होनेसे तो मोक्ष हो जायगा फिर उपासना की क्या आवश्यकता रहेगी ? फिर बिना जाने उपासना कैसे हो सकती है ? बताते हैं :—वेदान्तशास्त्रों से अखंड एकरस ब्रह्मतत्व को परोक्ष जानकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में उपासना की जाती है । अभिप्राय यह है कि मोक्ष का साधन तो ब्रह्मात्मैकता रूप अपरोक्षज्ञान है—वह अभी उत्पन्न नहीं हुआ अतएव शास्त्रसे ब्रह्म का परोक्षज्ञान होने पर उपरोक्त अपरोक्षज्ञान के लिए ब्रह्म की उपासना उचित है ॥१४॥

उपास्य ब्रह्मतत्व के परोक्षज्ञान का स्वरूप बताते हैं :—

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

अन्वय—प्रत्यग्व्यक्ति अनुल्लिख्य शास्त्रात् 'ब्रह्म अस्ति' इति सामान्यज्ञानं अत्र परोक्षधीः; विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।

अर्थ—बुद्धि आदि के साक्षी आनन्दरूप आन्तर आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से विषय न करके, शास्त्र से "ब्रह्म है" ऐसा जो सामान्यज्ञान होता है वह परोक्षज्ञान है । जैसे विष्णु आदि की मूर्ति के प्रतिपादकशास्त्र से विष्णु का परोक्षज्ञान होता है ॥१५॥

विष्णु आदि का मूर्तिज्ञान कैसे परोक्षज्ञान है ?

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६॥

अन्वय—चतुर्भुजाद्यावगतो अपि अक्षैः मूर्ति अनुल्लिखन् परोक्षज्ञानी

एव; तदा विष्णुं न ईक्षते।

अर्थ–शास्त्र से मूर्ति का चतुर्भुजपना आदि ज्ञात हो जाने पर भी, मूर्ति को इन्द्रियों से नहीं देख पाता इसलिए वह मूर्ति का परोक्षज्ञानी ही है : वह उपासना के समय विष्णु को इन्द्रियों से देखता भी तो नहीं है ॥१६॥

और इसको भ्रम भी नहीं कह सकते :—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्यमूर्तेर्विभासनात् ॥१७॥

अन्वय–परोक्षत्वापराधेन अतत्ववेदनं न भवेत् । प्रमाणेन शास्त्रेण एव सत्यमूर्तेः विभासनात् ।

अर्थ–क्योंकि परोक्षता के अपराध से अतत्ववेदन नहीं होता; भ्रान्तिज्ञान का कारण, परोक्षज्ञान नहीं, अपितु विषय का मिथ्या होना है। यहां तो प्रमाणभूत शास्त्र से ही यथार्थभूत मूर्ति का अवभास होता है; अतएव यह परोक्षज्ञान यथार्थ है, भ्रम नहीं।

परन्तु शास्त्र से उत्पन्न हुआ, सच्चिदानन्द व्यक्ति का उल्लेखी, ब्रह्मतत्त्वज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है ?

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेप्यनुल्लिखन् ।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ॥१८॥

अन्वय–शास्त्रात् सच्चिदानन्दरूपस्य भाने अपि प्रत्यंचं साक्षिणं अनुल्लिखन् तत् ब्रह्म तु साक्षात् न वीक्षते।

अर्थ–शास्त्रके प्रमाणसे सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाने पर भी, प्रत्यक् अर्थात् आन्तर साक्षीको विषय न करता हुआ अर्थात्

ब्रह्म के प्रत्यगात्मरूपको न जानता हुआ पुरुष, उस ब्रह्मको साक्षात् नहीं देख पाता ॥१८॥

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥१९॥

अन्वय—शास्त्रोक्तेन एव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् परोक्षं अपि तत् ज्ञानं तत्वज्ञानं, भ्रमः तु न ।

अर्थ—वह पूर्वोक्त परोक्ष ब्रह्मज्ञान शास्त्रोक्त रीति से ही सच्चिदानन्दरूपका निश्चायक होता है; इसलिए परोक्ष है तो भी वह भ्रम नहीं, यथार्थज्ञान अथवा तत्वज्ञान ही है ॥१९॥

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ।
महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

अन्वय—यद्यपि शास्त्रेषु महावाक्यैः ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन एवं वर्णितं तथापि एतत् अविचारिणः दुर्बोधम् ।

अर्थ—यद्यपि वेदान्तों में 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों से ब्रह्म का प्रत्यगात्मारूपसे उपदेश किया है तथापि यह प्रत्यगात्मरूप, 'तत्-त्वं' पदार्थ के विवेक से रहित पुरुष के लिए दुर्बोध है : इसलिए निरे, अर्थात् विचाररहित, वाक्यसे अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

जब, सम्यक्ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के अधीन है, और 'तत्वमसि' आदि प्रमाण और ब्रह्मात्मैक्य वस्तु भी विद्यमान है तब विचार के बिना ब्रह्म का प्रत्यगात्मरूप दुर्बोध क्यों है ? इसलिए कि :—

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ।

ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१॥

अन्वय–देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां पुमान् मंदधीत्वतः हठात् ब्रह्म आत्मत्वेन विज्ञातुं न क्षमते ।

अर्थ–विचार से निवृत्तियोग्य देहादिक में आत्मपन की भ्रांति के विद्यमान रहते, पुरुष मन्दबुद्धि होने के कारण, हठ से ब्रह्म को आत्मा समझने में असमर्थ होता है : उपरोक्त भ्रम की निवृत्ति के लिए विचार करना आश्यक है ॥२१॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।

अपरोक्षाद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

अन्वय–अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयम् ।

अर्थ–क्योंकि अपरोक्षद्वैतज्ञान, परोक्षअद्वैतज्ञान का विरोधी नहीं है इसलिए श्रद्धालुशास्त्रदर्शी पुरुष को ब्रह्म का परोक्षज्ञान होना सुकर है ।+ ॥२२॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।

+नियम यह है कि एकवस्तु को विषय करने वाले भिन्न आकार वाले दो ज्ञान एक अन्तःकरण में नहीं होते : इसलिए एक ही द्वैत अथवा अद्वैत के अपरोक्ष और परोक्षज्ञान के एक अन्तःकरण में होने का विरोध है : परन्तु द्वैत के अपरोक्षज्ञान और अद्वैत के परोक्षज्ञान का विरोध नहीं है । इसलिए उपासक को देहादिद्वैत की अपरोक्षभ्रान्ति के होते हुए भी, अद्वैत ब्रह्म का परोक्षज्ञान होना सम्भव है ।

प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

अर्थ–पत्थर की प्रतिमा में प्रत्यक्ष पाषाण-ज्ञान, ईश्वरता के परोक्षज्ञान को नहीं हटा पाता : भला प्रतिमा आदि में विष्णुत्व मानने में किस को विवाद है ? ॥२३॥

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

अर्थ–इस विषय में अश्रद्धालु अविश्वासी का उदाहरण देना उचित नहीं है क्योंकि वेदोक्तानुष्ठानों में सर्वत्र श्रद्धालु ही अधिकारी है उसी का उदाहरण उचित है ॥२४॥

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

अर्थ–यथार्थवक्ता के एकवारके उपदेश से ही परोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है : विष्णुमूर्ति का उपदेश परोज्ञान के जननमें विचार की अपेक्षा नहीं रखता : वह तो विचार के विना ही परोक्षज्ञान को उत्पन्न कर देता है ॥२५॥

फिर शास्त्रों में विचार क्यों चलता है ? इसका उत्तर देते हैं :–

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥२६॥

अन्वय–अनुष्ठेयाविनिर्णयात् कर्मोपास्ती विचार्येते; बहुशाखा-विप्रकीर्णं निर्णेतुं कः नर. प्रभुः ?

अर्थ—अनुष्ठेय कर्म और उपासनाओं का निर्णय न होने के कारण, उन दोनोंका शास्त्रमें विचार किया गया है। नाना शाखाओं में जहां-तहां बिखरे हुए कर्म और उपासनाओं को एकत्र कर निर्णय करने में आज हम में से कौन मनुष्य समर्थ है ? कोई भी नहीं।

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्तिकः।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७॥

अन्वय—निर्णीतः अर्थः कल्पसूत्रैः ग्रथितः तावता आस्तिकः विचारं विना अपि अंजसा अनुष्ठातुं शक्तः।

अर्थ—परन्तु जो पूर्वाचार्यों से निश्चित किया अनुष्ठान-प्रकार, कल्पसूत्रों ने संग्रह कर दिया है, उसका अनुष्ठान आस्तिक पुरुष बिना विचारे भी कर सकते हैं। [जैमिनीय, आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधायन, कात्यायनीय और वैखानसीय ये छः कल्पसूत्र हैं।]

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८॥

अन्वय—आर्षग्रन्थेषु उपास्तीनां अनुष्ठानं वर्णितं विचाराक्षम-मर्त्याः च तत् गुरोः श्रुत्वा उपासते।

अर्थ—ऋषिकृतग्रन्थों में उपासनाओं का अनुष्ठान है ; इसीलिए स्वयं विचार में असमर्थ पुरुष उस उपासना को गुरुमुख से सुनकर उसका अनुष्ठान कर पाते हैं ॥२८॥

फिर आधुनिक ग्रन्थकर्ता भी वेदवाक्यों का विचार क्यों करते हैं ?:—

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥२९॥

अन्वय—वेदवाक्यानि निर्णेतुं इच्छन् जनः हि मीमासताम्; अनुष्ठान् हि आप्तोपदेशमात्रेण सम्भवेत् ।

अर्थ--वेदवाक्यों का निर्णय करना चाहने वाला विद्वान् जन भले ही विचार करे, परन्तु उपासना का अनुष्ठान तो आप्तपुरुष के उपदेशमात्र से सम्भव है ॥२९॥

परन्तु अपरोक्षज्ञान, विचार के बिना उत्पन्न नहीं होता :—

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित ॥३०॥
परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१॥

अन्वय—एवं नृणां ब्रह्मसाक्षात्कृतिः तु विचारेण विना आप्तो-देशमात्रेण कुत्र चित् न सम्भवति । (कुतः) अश्रद्धा परोक्षज्ञानं प्रतिबध्नाति इतरत् न; अविचारः अपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ।

अर्थ—इस प्रकार मनुष्यों को ब्रह्मका साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) तो, विचार के बिना, केवलमात्र आप्तोपदेश से, कभी सम्भव नहीं है । आप्तोपदेशमात्र से तो उपासनाके अनुष्ठान के विषय में उप-योगी परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है । क्योंकि, अश्रद्धा अर्थात् अवि-श्वास ही, परोक्षज्ञान का प्रतिबन्धक है, अविचार नहीं । (इसलिए अविश्वास के हटते ही एक ही बार के उपदेश से परोक्षज्ञान हो जाता है ।) अपरोक्षज्ञान का प्रतिबन्धक अविचार है । वह अवि-चार तो विचार के बिना हट नहीं सकता ॥३०-३१॥

एक बार विचार से अपरोक्षज्ञान न हो तो, बार-बार विचार करे :—

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।

आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२॥
विचारयन्नामरणं नैवात्मा लभेत चेत् ।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥३३॥
इह वाऽमुत्र विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥

अन्वय—विचार्य अपि ब्रह्मात्मानं आपरोक्ष्येण न वेत्ति चेत् ? आपरोक्ष्यावसानत्वात् भूयः भूयः विचारयेत् ॥ आमरणं विचारयन् आत्मान न लभेत चेत् ? जन्मान्तरे प्रतिबन्धक्षये सति लभेत एव ॥ 'इह वा अमुत्र वा विद्या" इति सूत्रकृता उदितम्; "बहवः शृण्वन्तः अपि यत् अत्र न विद्युः" इति श्रुतिः ॥

अर्थ—'तत्त्वं' पदों के अर्थों का भलीभान्ति विचार करके भी यदि ब्रह्मात्मा की एकता का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता तो, क्योंकि केवल विचार ही अपरोक्षज्ञान का हेतु है, इसलिए बार-बार विचार करे। (बार-बार विचार करते हुए) आमरण विचार करने पर भी यदि आत्मा का ज्ञान न हो तो, जन्मान्तर में प्रतिबन्ध के नष्ट होने पर तो, ज्ञान हो ही जायगा अतएव विचार व्यर्थ न होगा। (हमारा यह कथन प्रमाणके आधार पर है,) क्योंकि ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्रह्म सू० ३—४—५१) सूत्र में+"विचार करने वाले को

+इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कोई भी पुरुष इस दृष्टि से श्रवणादि में प्रवृत्त नहीं होता कि मुझे दूसरे जन्म में ज्ञान प्राप्त हो : उसकी तो यही इच्छा रहती है कि इस जन्म में ही ज्ञान मिले परन्तु प्रसंगागत प्रतिबन्ध के न होने पर ही इस जन्म में ज्ञानोत्पत्ति होती है—यह बात श्रुति—स्मृतियों से स्पष्ट है ।

इस जन्म में या दूसरे जन्म में ब्रह्मज्ञान हो जाता है" यह कहा है। और "प्रतिबन्ध होने पर, बहुत से ब्रह्म को इस जन्म में नहीं जान पाते" यह श्रुति (कठ० २-७) में कहा है ॥३२-३३-३४॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५॥
बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥३६॥

अन्वय–गर्भे एव शयानः सन् वामदेवः पूर्वाभ्यस्तविचारेण अवबुद्धवान्; यद्वत् अध्ययनादिषु ॥ बहुवारं अधीते अपि यदा न आयाति चेत् पुनः दिनान्तरे अनधीत्य एव पूर्वाधीतं पुमान् स्मरेत् ।

अर्थ–'गर्भे नु सन्नन्वेषावेदहं देहानां जनिमानि विश्वा' (ऐतरेय ४-५) इस श्रुति में कहा है कि गर्भवास के दिनों में ही, वामदेव, पूर्वजन्म में अभ्यस्त विचार के प्रभाव से अपरोक्षज्ञानी हो गया था; जैसे अध्ययन आदि में पूर्वाभ्यास से जान जाता है। बहुतवार पढ़ने पर भी जब वेद पाठ उस दिन स्मरण नहीं होता, तो, दूसरे दिन बिना पढ़े हुए पाठ स्मृति में आ जाते हैं। ऐसे ही इस जन्म में अनुत्पन्न ज्ञान, इस जन्म के अभ्यासवश, कालान्तर में उत्पन्न हो जाता है ॥३५–३६॥

कालेन परिपच्यन्ते कृषिदर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

अन्वय–यथा कृषिदर्भादयः कालेन परिपच्यन्ते, तद्वत् आत्मविचारः

अपि शनैः कालेन पच्यते ।

अर्थ–जैसे खेती तथा दर्भ आदि समय पाकर ही पकते हैं, तुरन्त नहीं; ऐसे ही आत्मविचार भी धीरे-धीरे फल देता है ॥३७॥

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः ।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

अन्वय–पुनः पुनः विचारे अपि त्रिविधप्रतिबन्धतः तत्त्वं न वेत्ति ।" इति एतत् वार्तिके सम्यक् ईरितम् ।

अर्थ–"बार-बार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबन्धों के होने से तत्व का साक्षात्कार नहीं होता" यह बात वार्तिककार ने भी भलीभान्ति समझाई है ॥३८॥

वार्तिककार के सन्दर्भ को अब यहां से ४५ वें श्लोक पर्यन्त स्पष्ट करते हैं।

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथ वा ।३९।

अन्वय–कुतः तत् ज्ञानं इति चेत् ? तत् हि बन्धपरिक्षयात् । असौ अपि च भूतः, वा भावी, वा अथवा वर्तते ।

अर्थ–(प्रश्न) वह ज्ञान (जो पहले जन्म में उत्पन्न नहीं हुआ) अब क्यों हुआ ? (उत्तर) प्रतिबन्ध के क्षीण होने से । यह प्रतिबन्ध 'भूत' 'भावी' और 'वर्तमान' भेद से तीन प्रकार का है ।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥४०॥

अन्वय–अतः एव अधीतवेदवेदार्थः अपि न मुच्यते; हि हिरण्य-

निधि दृष्टान्तात् इदं एव दर्शितम् ।

अर्थ–प्रतिबन्ध होने से ही वेदवेदार्थ के ज्ञाता भी मुक्त नहीं हो पाते । हिरण्यनिधि के दृष्टान्त से यही सिद्धांत श्रुतिमें स्पष्ट किया है कि प्रतिबन्ध के होते ज्ञान का उदय नहीं होता । "यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८–३–२) इस श्रुति में दर्शाया है कि भूगर्भ-विद्या को न जानने वाले हिरण्यनिधि के ऊपर चलते-फिरते भी उसे पा नहीं सकते; ऐसे ही ये सारी प्रजाएं ब्रह्म के पास दिन रात जाती हुईं भी (वासनारूप) अनृत से ढकी रहने के कारण ब्रह्म-लोक को नहीं पा सकतीं ॥४०॥

भूत (अतीत) प्रतिबन्ध का उदाहरण

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः ।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥
अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२॥

अन्वय–'अतीतेन अपि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः भिक्षुः तत्त्वं न वेद' इति गाथा लोके प्रगीयते ॥ गुरुः स्नेहं अनुसृत्य महिष्यां तत्वं उक्तवान्, ततः एषः प्रतिबन्धस्य संक्षयात् यथावत् वेद ॥

अर्थ–'अतीतकालके भी महिषी-स्नेह से उत्पन्न प्रतिबन्ध के कारण भिक्षु तत्व को न जान सका' यह कहानी लोकमें प्रसिद्ध है । गाथा यह है कि किसी गृहस्थ को अपनी भैंस के प्रति बहुत स्नेह

था। वह जब संन्यासी हुआ तो वेदान्त का श्रवण करने पर भी उस महिषी-स्नेह से उत्पन्न हुए प्रतिबन्ध के कारण, उसको गुरु की बात समझ में नहीं आई ॥४१॥ जब गुरु ने उस के महिषी-स्नेह का अनुसरण करके उसी महिषी में तत्त्व, महिष्युपाधिक ब्रह्म, का उपदेश दिया, तब, उस महिषीस्नेहरूपी प्रतिबन्ध के हट जाने पर ही, वह यति ठीक-ठीक तत्त्व को जान पाया ॥४२॥

वर्तमान प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

अन्वय–वर्तमानः प्रतिबन्धः विषयासक्तिलक्षणः, प्रज्ञामांद्यं कुतर्कः, च विपर्ययदुराग्रहः।

अर्थ–वर्तमान प्रतिबन्ध का एकरूप तो विषयों में चित्त की आसक्तिका होना है। फिर बुद्धिकी मन्दता, कुतर्क (शुष्क तर्कसे श्रुति का दूसरा ही अर्थ लगाना) और विपरीतज्ञान (आत्मा को कर्ता आदि मानना आदि) में हठ–वर्तमान प्रतिबन्ध के ये चार रूप हैं; इनमें से किसी के भी रहते ज्ञानोदय नहीं होता ॥४३॥

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेस्मिन्प्रतिबन्धेतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

अन्वय–शमाद्यैः च श्रवणाद्यैः तत्र तत्र उचितैः अस्मिन् प्रतिबन्धे क्षयं नीते अतः स्वस्य ब्रह्मत्वं अश्नुते।

अर्थ–शमादि तथा श्रवणादि साधनों में जो जहां उचित हों वहां उससे, इस वर्तमान प्रतिबन्ध को हटा देने पर, इस प्रतिबन्धके

क्षीण होने पर ही, पुरुष प्रत्यगात्मा के ब्रह्मभाव को पा लेता है ।

आगामी (भावी) प्रतिबन्ध का उदाहरण

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

अन्वय—च आगामिप्रतिबन्धः वामदेवे समीरितः । एकेन जन्मना क्षीणः भरतस्य त्रिजन्मभिः ।

अर्थ—आगामी प्रतिबन्ध वामदेव में बताया है । [जन्मान्तर दिखाने वाला प्रारब्धशेष आगामी प्रतिबन्ध कहलाता है । वह भोग के विना निवृत्त नहीं होता ।] वामदेव का आगामी प्रतिबन्ध अथवा प्रारब्धशेष एक जन्म में और भरत का तीन जन्मों (नृप, मृग और जड भरत इन तीन जन्मों) में क्षीण हो पाया था ।

तो क्या प्रारब्ध शेष (भावी प्रतिबन्ध) नियतकाल तक ही रहता है ? नहीं;

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोप्यनर्थकः ॥४६॥

अन्वय—गीतायां योगभ्रष्टस्य प्रतिबन्धक्षयः बहुजन्मनि अतीते प्रोक्तः, विचारः अपि अनर्थकः न ।

अर्थ—गीता में योगभ्रष्ट, अर्थात् तत्व साक्षात्कार होने तक विचार को जारी न रख बीच में छोड़ बैठने वाले पुरुष, के प्रतिबन्ध का विनाश बहुत से जन्म बीतने पर बताया है । परन्तु फिर भी उसका पूर्वजन्म में किया तत्वविचार निष्फल नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबन्ध की निवृत्ति होते ही उसको विचार का फल

अपरोक्षज्ञान के रूप में मिल जायगा+ ॥४६॥

गीता के छठे अध्याय (श्लो० ४१—४५)का अभिप्राय कहते हैं :—

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानात्मतत्त्वविचारतः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोभिजायते ॥४७॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ।४८।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४९॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥५०॥

अन्वय–आत्मतत्त्वविचारतः पुण्यकृतान् लोकान् प्राप्य साभिलाषः शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते ॥ अथवा, निस्पृहः ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात् एव श्रीमतां योगिनां कुले भवति; हि तत् दुर्लभम् ॥ हि तत्र पौर्वदेहिकं तं बुद्धिसंयोगं लभते च ततः भूयः

+बात यह है कि किसी-किसी कर्म के कारण मनुष्य को अनेक जन्म भोगने पड़ते हैं; जैसे ब्रह्महत्यासे कुत्ता, सर्प, भेड़ आदि दस जन्म होते हैं; अथवा कार्तिकपूर्णिमा के दिन किए कार्तिक स्वामी के दर्शन से धनादिविभूतिसम्पन्न सात ब्राह्मण जन्म होते हैं। इस प्रकार अनेक जन्म का हेतु कोई-कोई कर्म प्रारब्धफल का आरम्भक होता है, वही आगामी प्रतिबन्धक है।

इस प्रतिबन्ध के रहने पर श्रवणादि ज्ञानसाधनोंसे भी, ज्ञानोदय नहीं होता। अन्तिम जन्म में ही ज्ञान होता है।

यतते; तस्मात् एतत् दुर्लभम् ।। सः तेन पूर्वाभ्यासेन एव हि अवशः अपि ह्रियते; अनेकजन्मसंसिद्धः ततः परां गतिं याति ।।

अर्थ—योगभ्रष्ट पुरुष आत्मतत्वके विचारके बल से ही, पुण्यकारियों के लोक विशेष, स्वर्ग, को प्राप्त होकर, (वहाँ भोग भोगने के पश्चात् भी यदि) उसकी अभिलाषा बनी रहे तो इस लोक में शुद्ध और श्रीमान् माता-पिता के कुल में जन्म लेता है ।। अथवा स्वयं विरक्त (निस्पृह) हो चुका है तो ब्रह्मतत्व के विचार के प्रभाव से ही धीमान् (आत्मतत्व के निश्चयी) योगियों के कुल में जन्म लेता है; हां, यह योगिकुल में जन्म दुर्लभ है-थोड़े पुण्य से प्राप्त नहीं होता है ।। क्योंकि, योगिकुल में जन्म होने पर, वह योगभ्रष्ट, पहले देहवाले बुद्धिसम्बन्ध को शीघ्र प्राप्त कर लेता है : तत्वविचार करने वाली पहले जन्मवाली बुद्धि उसे शीघ्र मिल जाती है । और वहां वह पहले प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करने लगता है। इस कारण यह, योगिकुल जन्म, दुर्लभ है ।। अधिक प्रयत्न करने का कारण यह है कि वह पूर्वाभ्यास उसको बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेता है और इस प्रकार अभ्यास करने के लिए विवश है । ऐसे अनेक जन्मों में तत्वज्ञानसम्पन्न होकर परमगति-मुक्ति-को प्राप्त कर लेता है ।।४७-५०।।

आगामी प्रतिबन्ध का दूसरा उदाहरण

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां निरुध्य ताम् ।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥

अन्वय—ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां तां निरुध्य यः

आत्मानं विचारयेत् अयं तु न साक्षात् करोति ।

अर्थ–ब्रह्मलोक को पाने की दृढ़ इच्छा होने पर भी, जो, उस इच्छा को रोक कर, आत्मविचार करेगा उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा ।।५१।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ।।

अर्थ–'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मु० ३–२–६) इत्यादि शास्त्र का प्रमाण है कि ऐसा पुरुष पहले ब्रह्मलोक में पहुँच कर, वहां तत्व का साक्षात्कार करता है और कल्पान्त के समय ब्रह्म के साथ मुक्त होता है ।।५२।।

तीव्रपापी के लिए तो विचार भी दुर्लभ है !

केषांचित्स विचारोपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ।५३।

अर्थ–किन्हीं-किन्हीं का तो वह तत्वविचार भी पापकर्म के कारण रुक जाता है ! इसमें प्रमाण 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः (क० २–७) श्रुति है : उसमें बताया है कि परमतत्त्व बहुत से पापियों को सुनने को भी नहीं मिलता ।।५३।।

यदि विचार में असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ करना चाहे तो क्या करे ?

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोनिशम् ।।

अन्वय—अत्यन्तबुद्धिमान्द्यात् वा सामग्र्याः असम्भवात् अपि वा यः विचारं न लभते, सः अनिशं ब्रह्म उपासीत ।

अर्थ—बुद्धि की अत्यन्त मन्दता के कारण, अथवा, सामग्री अर्थात् उपदेष्टा गुरु, अध्यात्मशास्त्र वा देशकालादि के अभाव के कारण, यदि किसीको विचार का अवसर न मिले, तो वह, दिन-रात ब्रह्म की उपासना किया करे ॥५४॥

उपासना निर्गुण की भी सम्भव है :-

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५॥

अन्वय—निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य उपास्तेः असम्भवः न; हि सगुणब्रह्मणि इव अत्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात् ।

अर्थ—निर्गुण ब्रह्मतत्व की उपासना असम्भव हो, यह बात नहीं है; क्योंकि सगुणब्रह्म की भांति निर्गुण ब्रह्ममें भी प्रत्ययावृत्ति अर्थात् वृत्तियोंकी आवृत्तिरूप उपासना सर्वथा सम्भव है ।

ब्रह्म जैसे वेद्य है, वैसे ही उपास्य भी है :—

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न संभवेत् ॥५६॥

अन्वय—अवाङ्मनसगम्यं तत् उपास्यं न इति चेत् ? तदा अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं च न संभवेत् ।

अर्थ—यदि कहो कि निर्गुण होने से ब्रह्म तो वाणी और मन का विषय नहीं इसलिए उपास्य भी नहीं है; तो फिर तो वाणी और मन के अविषय निर्गुणब्रह्म का ज्ञान भी कैसे सम्भव होगा ?

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्योचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥५७॥

अन्वय–वागाद्यगोचराकारं इति एवं यदि असौ वेत्ति, वागाद्यगोचराकारं इति कुतः न उपासीत ?

अर्थ–'ब्रह्म वागादि का विषय नहीं है' यदि इस रूप में उसको जानना सम्भव है तो इसी रूप में उसकी उपासना क्यों सम्भव नहीं ? सम्भव ही है ॥५७॥

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥

अन्वय–उपास्यत्वात् यदि सगुणत्वं, वेद्यत्वतः अपि तत् । लक्षणावृत्या वेद्यं चेत् लक्षणं समुपास्यताम् ।

अर्थ–यदि कहो कि ब्रह्मको उपास्य मानने से उसे सगुण मानना पड़ेगा तो यह दोष तो उसको वेद्य मानने में भी है। फिर यदि कहो कि उसको वेद्य तो लक्षणावृत्ति से मानेंगे : सिद्धान्ती कहता है कि उपासना भी लक्ष्यरूप ब्रह्म की करो ॥५८॥

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ।५९।
विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम् ॥

अन्वय–'त्वं तत् एव ब्रह्म विद्धि, न तु यत् इदं उपासते' इति ब्रह्मणः

उपास्यत्वं निषिद्धं यदि ? 'विदितात् अन्यत् एव' श्रुतिः अस्य वेद्यत्वं न। यथा श्रुत्या एव वेद्यं चेत्, तथा श्रुत्या अपि उपास्यताम् ॥

अर्थ-यदि कहो कि 'तू उसी को ब्रह्म समझ; जिसकी उपासना करते हैं, इसको नहीं' इस आशय की श्रुति (केन १-५) से ब्रह्म की उपास्यता का निषेध हो जाता है ? तो, यों तो, वह ब्रह्म 'वह ब्रह्म विदित से भी अनोखा है' इस आशय की श्रुति (केन १—३) के अनुसार, वेद्य भी नहीं है। तो बात यह हुई कि जैसे श्रुति से ब्रह्म को विदित और अविदित से अनोखा मानते हो वैसे ही श्रुति से ही उसकी उपासना भी कर लो ॥५९-६०॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम्।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेपि तत्समम् ॥६१॥

अन्वय-वेद्यता आवास्तवी चेत् ? उपास्यत्वं किं तथा न ?; वृत्तिव्याप्तिः वेद्यता चेत् ? उपास्यत्वे अपि तत् समम्।

अर्थ-यदि कहो कि ब्रह्म में वेद्यता आवास्तव है तो हम पूछते हैं कि उसमें वैसी ही उपास्यता भी क्यों नहीं है ? फिर यदि कहो कि वेद्यता वृत्ति की विषय है : वेदनपक्षमें वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है तो हम कहेंगे कि उपास्यपक्षमें भी वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है।

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय।
मानाभावो न वाच्योस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥

अन्वय-ते उपास्तौ का भक्तिः चेत् ते कः द्वेषः तत् ईरय। बहुश्रुतिषु दर्शनात् अस्यां मानाभावः न वाच्यः।

अर्थ—यदि पूछो कि तुम्हारी उपासनामें इतनी भक्ति क्यों है तो यह बताओ कि तुम्हारा उपासना से इतना द्वेष क्यों है ? बहुत सी श्रुतियों में उपासना का विधान देखते हैं, इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि निर्गुणोपासना में कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तरस्मिँस्तापनीये शैव्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥६३॥

अर्थ—उत्तरतापनीय; शैव्य प्रश्न (प्रश्नोपनिषद्) कठवल्ली और माण्डूक्य आदि उपनिषदों में सर्वत्र निर्गुणोपासना का विधान है। [तापनीय में "देवाह वै प्रजापति .... आत्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व ।" प्रश्नोपनिषद् के पांचवें प्रश्न में 'यः पुनरेतं" ...... इत्यादि कठवल्लीमें 'सर्वे वेदा' .... आदि; मण्डूक्योपनिषद् में ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वत्र' इसी प्रकार तैत्तिरीय मुण्डकादि में निर्गुणोपासना वर्णन है।] ॥६३॥

निर्गुणोपासना का प्रकार

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

अन्वय—अस्याः अनुष्ठानप्रकारः पंचीकरणे ईरितः; एतत् ज्ञानसाधनं चेत् ? अत्र न इति केन वारितम् ।

अर्थ—निर्गुणोपासनाकी विधि 'पंचीकरण' नामकग्रन्थमें कही गई है। यदि कहो कि इस प्रकार निर्गुणोपासना केवलज्ञान की साधक होगी, मुक्ति का साधन नहीं; तो इसका उत्तर यह है कि

उपासना ज्ञान का साधन हो; हम कब इस बातका निषेध करते हैं ?

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥९५॥

अन्वय–कः अपि एतत् न अनुतिष्ठति इति चेत् ? मा अनुतिष्ठतु; पुरुषस्य अपराधेन किं उपास्तिः प्रदुष्यति ?

अर्थ–(प्रश्न) निर्गुणोपासना तो संसार में कोई करता नहीं ? (उत्तर) न करे ! क्या पुरुष के अपराध से उपासना दूषित हो जायगी ?

प्रमाणसिद्ध का अनुष्ठान न भी हो, तो भी, वह अपरित्याज्य ही है :—

इतोऽत्यतिशयं मत्वा मन्त्रान्वश्यादिकारिणः ।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥

अन्वय–इतः अपि अतिशयं मत्वा मूढाः वश्यादिकारिणः मंत्रान् जपन्तु; तेभ्यः अतिमूढाः कृषिं उपासताम् ।

अर्थ–सगुणोपासना से भी अधिक फल देने वाला मान कर, अज्ञानी जन, वश्य आदि ऐहिकफल देने वाले वशीकरण मंत्रों का भले ही जाप करें और उन से भी अधिक मूढजन खेती आदि कामों में लग जावें, पर मुमुक्षु निर्गुणोपासना को नहीं छोड़ते । [सगुणोपासना बहुत देरमें परलोक फल देती है, तथा वशीकरणमंत्रों से तत्काल ऐहिकफल मिलता है, यह देखकर भी विवेकी सगुणोपासना को नहीं छोड़ते; और मन्त्रानुष्ठान में फलकी अनियमता एवं अनुष्ठानश्रम को देखते हुए जप करने वाले जाप छोड़कर खेती आदि नहीं करने लग जाते : ऐसे ही मुमुक्षु निर्गुणोपासना को नहीं

छोड़ते ।] ॥६६॥

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान्गुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥

अन्वय—मूढाः तिष्ठन्तु, प्रकृता निर्गुणोपास्तिः इर्यते; विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणान् अत्र उपसंहरेत् ।

अर्थ—मूढ़ों की बात जाने दो; अब प्रकृत निर्गुणोपासना का ही कथन करते हैं । निर्गुणोपासना नाम की विद्या, क्योंकि एक ही है; इसलिए भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित, उपास्य के सब गुणों को यहां उपासना में एकत्र कर, उपासना, करनी चाहिए । वेदान्त (३—३—१) का सूत्र 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' यह बताता है कि सब उपनिषदों से प्रतीयमान (उक्त) जो विज्ञान (उपासनाएं) हैं वे सब एकरूप हैं, कारण कि उनमें आज्ञा आदि एक ही हैं । उपसंहार का अर्थ है, ब्रह्म के वाचक आनन्द आदि पदों का एक वाक्यरूप में उच्चारण । जैसे यदि चार पुरुष एक-एक हजार रुपये लेकर, मिलकर व्यापार करें तो पूछने पर प्रत्येक यही कहेगा कि वह चारहजार रुपयेसे व्यापार कर रहा है; ऐसे ही भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित उपास्य के गुणों, साधनों, वा विशेषणों का एक बुद्धि में आरोहण करना गुणोपसंहारन्याय कहलाता है : इसी न्याय से यह उपसंहार सम्भव है ॥६७॥

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
आन्दादय इत्यस्मिन्सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥६८॥

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति ॥

अन्वय—आनन्दादेः विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः 'आनन्दादयः' इति अस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता । तथा अस्थूलादेः निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः 'अक्षरधियां तु' इति अस्मिन् सूत्रे व्यासेन उक्ता ।

अर्थ—ये उपास्य के गुण या धर्म, विधेय (विधिवाक्यबोधित) और निषेध्य (निषेधवाक्यबोधित) भेद से दो प्रकार के हैं । इन में से जो, 'आनन्द, विज्ञान, नित्य, शुद्ध' आदि विधेय गुण हैं उनके उपसंहार का विधान 'आनन्दादय प्रधानस्य' (वेदांत ३-३-११) इस सूत्र में व्यासदेव ने किया है । तथा ब्रह्म स्थूल नहीं है, अणु-रूप नहीं है, ह्रस्व नहीं है आदि निषेध्य गुणों के उपसंहार का विधान 'अक्षरधियां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदनवत्तदुक्तम्' (वे० ३–३–३३) इस अधिकरण सूत्र में किया है ।

अभिप्राय है कि प्रथमसूत्र में तो यह बताया है कि प्रधान ब्रह्मतत्त्व के समस्त संभाव्यधर्मों का उपसंहार सर्वत्र कर लेना चाहिए और दूसरे सूत्र में यह बतलाया है कि विशेषनिराकरणरूपी ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार तथा ब्रह्म प्रतिपादन सर्वत्र समान होने से भिन्न-भिन्न प्रकरणों में बिखरी हुई, अक्षर ब्रह्म में द्वैत का निषेध करने वाली समस्त बुद्धियों का सब निषेधों में उपसंहार कर लेना चाहिए ॥६९॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥

अर्थ—गुणों का उपसंहार निर्गुण-उपासना का विरोधी है;

इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म की विद्या में गुणों का उपसंहार होना ही उचित नहीं है।' यह आक्षेप तो व्यासदेव पर ही होना चाहिए, मुझ पर नहीं। मैंने तो व्यासोक्त उपसंहार को दुहरा दिया है ॥७०॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

अन्वय—हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनां अनुदाहृतेः निर्गुणत्वं अविरुद्धम्' इति चेत् ? त्वया तुष्यताम् ।

अर्थ—'सोने की बनी मूछों वाला सूर्य' इस प्रकार गुणविशिष्ट मूर्तियों का कथन न करने से निर्गुणता का कोई विरोध नहीं होता—यदि यह मान कर कहो कि यह तो निर्गुणोपासना ही है—तब तो ठीक है : तू सन्तोषकर क्योंकि तुझे तत्वज्ञान हो गया।७१।

'आनन्दादि धर्म उपास्य के भीतर प्रविष्ट न भी हों तो भी सगुणोपासना उचित ही है; लक्षकगुणों से लक्षित ब्रह्म उपास्य है :—

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तःप्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥७२॥

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्मात्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोहमस्मीत्येवमुपासते ॥७३॥

अन्वय—गुणानां लक्षकत्वेन तत्त्वे अन्तःप्रवेशनं न इति चेत् ? अस्तु एवं एव, ब्रह्मतत्त्वं उपास्यताम् ॥ अत्र अखण्डैकरसः आत्मा आनन्दादिभिः च अस्थूलादिभिः लक्षितः 'सः अहं अस्मि' इति एवं उपासते ।

अर्थ—(प्रश्न) गुण क्योंकि लक्षक हैं अतएव उनका लक्ष्यब्रह्म में प्रवेश नहीं है ?" (उत्तर) हम भी ऐसा ही मानते हैं। ऐसा ही

अर्थात् लक्ष्यभूत ही ब्रह्मतत्त्व उपास्य है ।। उपासना की रीति यह है कि इन श्रुतियों में अखण्डैकरस जो आत्मा आनन्दमयत्व आदि एवं अस्थूलता आदि गुणों से लक्षित किया, मुमुक्षुजन उसी की 'मैं वही हूँ' इस रूप में उपासना करते हैं ।।७३।।

ज्ञान और उपासना का भेद

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

अन्वय–बोधोपास्त्योः कः विशेषः इति चेत् ? उच्यते शृणु–बोधः वस्तुतन्त्रः भवेत्; उपासनं कर्तृतन्त्रम् ।

अर्थ–(प्रश्न) ज्ञान और उपसनामें क्या अन्तर है ? (उत्तर) सुनो; ज्ञान तो ज्ञेय वस्तु के अधीन होता है और उपासना कर्ताके अधीन होता है ।।७४।।

ज्ञान के हेतु, स्वरूप और फल

विचाराज्जायते बोधोनिच्छा यं न निवर्तयेत् ॥
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥
तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

अन्वय–विचारात् बोधः जायते, यं अनिच्छा न निवर्तयेत् । स्वोत्पत्ति मात्रात् संसारे अखिलसत्यतां दहति ।। तावता कृतकृत्यः सन् नित्यतृप्तिं उपागतः जीवन्मुक्तिं अनुप्राप्य प्रारब्धक्षयं इक्षते ।

अर्थ–वस्तुतत्व के विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है; ज्ञान को, 'मुझे ज्ञान न हो' यह अनिच्छा भी रोक नहीं सकती । उत्पन्न होते

ही वह ज्ञान, जगत् की सारी सत्यता को नष्ट कर देता है। इस ज्ञानमात्र से कृतकृत्य हुआ, सर्वाधिक सुख को प्राप्त हुआ विवेकी, जीवन्मुक्तिका लाभकर, प्रारब्धक्षयकी प्रतीक्षा करने लगता है।

ज्ञान से दूसरी विशेषता दिखाने के लिए उपासना का स्वरूप दिखाते हैं :–

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन्।
चिन्तयेत्प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः ॥७७॥

अन्वय–श्रद्धालुः आप्तोदेशं विश्वस्य अविचारयन् अन्यैः प्रत्ययैः अनन्तरितवृत्तिभिः चिंतयेत्।

अर्थ–गुरु के उपास्य-प्रतिपादक वाक्य में विश्वास करके, स्वयं उस विषय में कुछ भी न विचार करता हुआ, अपने उपास्यतत्व के चिन्तन में अन्य, विजातीय घटादिविषयकविचारों को न आने दे कर, निरन्तर उपास्यका चिन्तन करे : यही उपसना का स्वरूप है।

कब तक उपासना करे ?

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥

अर्थ–जब तक चिन्त्य के स्वरूप का अभिमान, उपासक न हो जाय, तब तक, चिन्तन करता रह कर, और पीछे से, मरण पर्यन्त इसी धारणा को बनाये रखे ॥७८॥

उसासक के उपास्यस्वरूपाभिमान का उदाहरण

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया।

संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

अन्वय—संवर्गविद्यया युतः ब्रह्मचारी भिक्षमाणः संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा हि अभिक्षत ।

अर्थ—संवर्ग+गुणविशिष्ट प्राण के उपासक ब्रह्मचारीने अपने आपको अपने चित्त में संवर्गरूप मानकर भिक्षा की थी ।

यह गाथा छान्दोग्योपनिषद् (४–३) में है। संवर्गोपासक ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए अभिप्रतारी राजा के समीप गया। उसको ब्रह्मवित् होने का अभिमान था। भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी ने कहा—'एक (प्राणरूप) प्रजापति है; वह अग्नि तथा वाग् आदि को अपने में लीन कर लेता है; वह सब लोकों का रक्षक है: उस प्रजापति को अविवेकी मर्त्य नहीं जानते। उसके खाने के लिए ही यह अन्न बनता है। उसके लिए तुमने अन्न नहीं दिया……………" इत्यादि। इस प्रकार उस ब्रह्मचारी ने अपने उपास्यप्राण को अपने से अभिन्न मानकर भिक्षा मांगी। इस प्रकार उपास्य वस्तु की स्वरूपता का अभिमान उपासना की अवधि है।

उपासना सदा करनी चाहिए क्योंकि

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥

अन्वय—उपास्तिः पुरुषस्य इच्छया कर्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम् शक्या; अतः प्रत्ययसंततिं नित्यं कुर्यात् ।

+अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को, अधिदैवरूप (समष्टिरूप) वायु प्रलय-समय में विलीन (संवर्जन) करता है; इसलिए वायु को संवर्ग कहते हैं। और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन को अध्यात्म (व्यष्टि) वायु, सुषुप्तिकाल में विलीन करता है—इसलिए भी वायु संवर्ग कहलाता है।

अर्थ—उपासना को पुरुष अपनी इच्छानुसार कर सकता है; न चाहे तो न भी करे, या उल्ट-पुलटकर सकता है। इसीलिए (इच्छाधीन होने से) उपासना नित्य करे ॥८०॥

स्वप्न में भी उपास्यचिन्ता करने लगे :—

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्ने ऽधिवासतः।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ।८१।

अन्वय—अप्रमत्तः वेदाध्यायी जपिता अधिवासतः तु स्वप्ने हि अधीते जपति एव। तथा ध्याता अपि वासयेत्।

अर्थ—जैसे सदा सावधान वेदाध्यायी और जपकर्ता, वासनायुक्त हुआ, स्वप्न में भी पढ़ता और जप करता है : ऐसे ही ध्यान करने वाला उपासक भी वासना को दृढ़ करे और उसके कारण स्वप्नमें भी ध्यान करे ॥८१॥

स्वप्न में भी ध्यान रहने का कारण बताते हैं :—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ।८२॥

अर्थ—उपास्य से भिन्न वस्तु के आकार वाली वृत्तिरूप विरोधी विचार को छोड़कर निरन्तर भावना करते-करते, संस्कार की दृढ़ता से स्वप्न आदि में भी ध्यान (भावना) होने लगता है ॥८२॥

प्रारब्ध-कर्मवश विषयभोग के रहते, ध्यान कैसे जमेगा ? :—

भुञ्जानोपि निजारब्धमास्थातिशयतोनिशम्।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा॥

अन्वय—निजारब्धं भुञ्जानः अपि आस्थातिशयतः अनिशं ध्यातुं शक्तः, संदेहः न; यथा विषयव्यसनी ।

अर्थ—अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ भी, उपास्य के प्रति श्रद्धा की अधिकता के कारण, निरन्तर उपासना करनेमें समर्थ हो सकता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है । जैसे कि विषयों का व्यसनी ॥८३॥

"जैसे विषयों का व्यसनी" दृष्टान्त की व्याख्या करते हैं :—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥८४॥
परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥
गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

अन्वय—परव्यसनिनी नारी गृहकर्मणि व्यग्रा अपि अन्तः तत् एव परसंगरसायनं आस्वादयति ॥ परसंगं स्वादयन्त्या अपि तत् कर्म कुंठीभवेत् अपि तु एतत् आपातेन एव वर्तते ॥ यथा गृहकृत्यव्यसनिनी तत् सम्यक् करोति; तद्वत् परव्यसनिनी सर्वथा न करोति एव ॥

अर्थ—परपुरुष में आसक्त नारी घर के (झाड़ना, बुहारना आदि) कामों में लगी रह कर भी, परपुरुष के संगरूप औषध का स्वाद मन में ही मन में लेती रहती है । परपुरुषसंग का स्वाद लेते हुए भी उसका घर का कर्म कुंठित नहीं होता—वह ऊपरी मन से चलता ही रहता है । अर्थात् जैसे घर के कामों में व्यसन रखने

वाली उनको भली भान्ति करती है वैसे, वह परसंग-व्यसनिनी नारी कभी भी नहीं करती ॥८४-८५-८६॥

दार्ष्टान्त में उक्त दृष्टान्त को घटाते हैं :—

एवं ध्यानैकनिष्ठोपि लेशाल्लौकिकमाचरेत् ।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

अर्थ—इसी प्रकार ध्याननिष्ठ पुरुष भी आंशिकरूप में, थोड़ा बहुत लौकिक कर्मों को करता रहता है। परन्तु तत्वज्ञानी तो, लौकिकव्यवहार और तत्वज्ञान के परस्पर विरोधी न होने के कारण, लौकिकव्यवहार को भी भलीभान्ति निभाता रहता है+ ॥८७॥

+इस प्रकरण में ज्ञान और उपासना में अन्तर बताया है। ज्ञान वस्तु के अधीन है : भ्रमज्ञान अयथार्थ वस्तुके और प्रमाज्ञान, प्रमेय एवं प्रमाणके अधीन रहता है। कोई भी ज्ञान, शास्त्रविधान, पुरुषों की इच्छा, उसके हठ और विश्वास के पीछे नहीं चलता। 'आत्मा वा अरे मन्तव्यः' आदि श्रुतियां ज्ञान का विधान नहीं करतीं अपितु पुरुष की प्रवृत्ति के लिए, आत्मज्ञानसम्पादन की योग्यता को जताती हैं। जिज्ञासारूप इच्छा भी, प्रमाण के बिना ज्ञानोत्पादन नहीं करतीं; अतएव घटनिर्माण के प्रति, कुलालपत्नी की न्याईं अन्यथासिद्ध है। श्रवणादि प्रयत्न का हेतु हठ; श्रवणादि का ही कारण है, ज्ञान का कारण नहीं। और गुरुवेदान्तवाक्यों में श्रद्धारूप विश्वास भी श्रवण में ही उपयोगी है, बोध का कारण नहीं। वह परोक्षज्ञानका कारण अवश्य है परन्तु अपरोक्षज्ञान का नहीं। क्योंकि विचार के बिना विश्वासमात्र से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान, प्रमेय और प्रमाण के ही अधीन है।

परन्तु उपासना तो, (१) विधि (२) कर्ता की इच्छा (३) हठ और (४) विश्वास के अधीन है। क्योंकि (१) शास्त्रविधि के अनुसार

तत्वज्ञान और लौकिकव्यवहार का अविरोध कैसे है ?

मायामयः प्रपञ्चोयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।

इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८॥

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम् ॥

नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव काङ्क्षति ।

अन्वय—'अयं प्रपञ्चः मायामयः आत्मा चैतन्यरूपधृक्' इति बोधे लौकिकव्यवहारिणः कः विरोधः ? व्यवहृतिः प्रपञ्चस्य वस्तुतां न अपेक्षते, आत्मजाड्यं अपि न; किन्तु एषा साधनानि एव कांक्षति ॥

अर्थ—"यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है और आत्मा चैतन्यरूप वाला है" जब तत्वज्ञानी को ऐसा ज्ञान है तब उसके लोक-व्यवहार में विरोध क्योंकर सम्भव है ? बात यह है कि लोक-व्यवहार के लिए न तो जगत् की सत्यता अपेक्षित है, न आत्मा की जड़ता; व्यवहार के लिए साधनों का होना आवश्यक है ।

जब मन आदि साधन विद्यमान हैं तो, व्यवहार क्यों न होगा ?

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ।

तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ।९०।

की हुई उपासना ही फल देती है । मनगढन्त उपासना से उचित फल नहीं मिलता । (२) उपासना की कर्ता की इच्छा के अधीनता तो स्पष्ट ही है । (३) बहिर्मुख को उपासनाके लिए हठ का आश्रय लेना ही पड़ता है । (४) विष्णु के चतुर्भुज आदि चिह्न न होने पर भी शालिग्राम को विष्णु समझकर उपासना करना विश्वास के अधीन है !!

अर्थ—मन, वाणी, शरीर और इनसे बाह्य घर, खेत आदि पदार्थ व्यवहार के साधन हैं। तत्वज्ञानी इनका निवारण करता नहीं; तो फिर व्यवहार क्यों न होगा ? होगा ही ॥९०॥

पर तत्ववेत्ता को भी चित्त का निवारण करना तो आवश्यक है ? नहीं :—

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्यातासौ न तु तत्त्ववित्।
न बुद्धिमर्दयन्दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥९१॥

अन्वय–चित्तं उपमृद्नाति चेत् ? असौ ध्याता, तत्त्ववित् तु न। घटतत्वस्य वेदिता बुद्धि अर्दयन् न दृष्टः।

अर्थ–जो चित्त को रोकता है, वह ध्याता' (उपासक) है, तत्व-ज्ञानी नहीं। घट के स्वरूप का ज्ञाता; कोई, क्या बुद्धि का निरोध करता हुआ देखा है ? ॥९१॥

ब्रह्म तो घट से भी अधिक स्पष्ट है ! इसलिए चित्तनिरोध कैसा ?

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा।
स्वप्रकाशोयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

अर्थ—एक वार के ज्ञान से ही जब परप्रकाश्य घट सदा प्रतीत होता रहता है तब स्वप्रकाशरूप यह आत्मा, जो घटसे कहीं अधिक स्पष्ट है, घट की भान्ति, सदा नहीं भासता ? भासता ही है। अत-एव आत्मा के ज्ञान में चित्तनिरोध की आवश्यकता नहीं है।

ठीक है, ब्रह्मस्वप्रकाश है; परन्तु तत्वज्ञान तो, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस आकार वाली बुद्धिवृत्ति को हीं होता है और वह क्षणिक है इसलिए उसको ब्रह्म में बार बार ठहराना पड़ता है ; इसीलिए चित्तनिरोधकी आवश्यकता है; उत्तर देते हैं :-

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९३॥

अर्थ–(प्रश्न) ब्रह्मके स्वप्रकाश होने पर भी तत्त्वज्ञान तो ब्रह्म-गोचर बुद्धि ही है, और वह क्षणभंगुर है, इसलिए उसको बार-बार ब्रह्म में ठहराने की आवश्कता है। (उत्तर) यह आक्षेप तो घटा-दियों में भी वैसा ही है। घटादि में भी बुद्धि को बार-बार लगाते रहना आवश्यक हो जायगा।

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥
निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥

अन्वय–घटदौ निश्चिते यदा बुद्धिः नश्यति एव, तदा इष्टः घटः नेतुं शक्यः इतिचेत् ? आत्मनि समम् । हि तत्त्ववित् सकृत् आत्मानं निश्चित्य यदा एव तं वक्तुं, मन्तुं तथा ध्यातुं शकनोति ॥

अर्थ–(प्रश्न) घटादिका निश्चय हो जाने पर जब बुद्धि अर्थात् घटाकारवृत्ति नष्ट हो जाती है (क्षणिक होने से), तब भी इष्ट घट को दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं–उसमें चित्त को स्थिर रखने की आवंश्यता नहीं होती ? (उत्तर) यही बात आत्मामें भी समान है। उसमें भी चित्त को स्थिर रखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञानी जब एकबार आत्मा को निश्चय करके जान लेता

है, तब पीछे जब भी वह चाहता है तभी उस आत्मा का कथन, मनन या ध्यान कर सकता है ॥९४-९५॥

उपासक इव ध्यायंल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥

अन्वय–उपासकः इव ध्यायन् यदि लौकिकं विस्मरेत्, विस्मरति एव; सा विस्मृतिः ध्यानात्, वेदनात् न ।

अर्थ–यदि तत्वज्ञानी, उपासक के समान, ध्यान करता-करता लौकिक, अर्थात् जगदनुसंधानको भूलता है तो, उसका यह विस्मरण ध्यान की प्रबलता से है; ज्ञान से नहीं ॥९६॥

तत्वज्ञानी को मोक्ष के लिए, ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है :—

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥

अन्वय–ध्यानं तु एतस्य ऐच्छिकं, वेदनात् मुक्तिसिद्धितः; ज्ञानात् एव तु कैवल्यं' इति शास्त्रेषु डिंडिमः ।

अर्थ–ध्यान तो तत्वज्ञानीका ऐच्छिक व्यापार है; क्योंकि मुक्ति तो इसे ज्ञानसे प्राप्त हो जाती है : मुक्ति अकेले ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है—यह शास्त्रों की घोषणा है ॥९७॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥९८॥

अर्थ–'तत्वज्ञानी यदि ध्यान नहीं करेगा तो बाहर प्रवृत्ति करेगा ?' इसका उत्तर यह है कि वह बेशक बाहर प्रवृत्त हो; इसकी

प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है ॥६८॥

अतिप्रसङ्ग इति चेत्प्रसंगं तावदीरय ।
प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥६९॥

अर्थ–(प्रश्न) तत्वज्ञानीकी बहिःप्रवृत्तिको स्वीकार करने में तो 'अतिप्रसंग' हो जायगा ? (उत्तर) तुम पहले प्रसंग की व्याख्या तो करो ! प्रसंग का निरूपण ही नहीं हो सकता । (प्रश्न) प्रसंग दुर्निरूप्य नहीं है : विधिशास्त्र (उपलक्षण से निषेधशास्त्र भी) ही तो प्रसंग है ! (उत्तर) यदि यही प्रसंग है तो वह तो तत्वज्ञानी के लिए होता ही नहीं ! वह तो अज्ञजन के लिए ही है ॥६९॥

विधि-निषेधशास्त्र अज्ञानी के लिए ही है; यह दर्शाते हैं :—

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००॥

अर्थ–ब्राह्मणादि वर्ण, गृहस्थादि आश्रम, बाल्य-युवा आदि आयु और स्थिति की दशारूप अवस्थाओं का अभिमान जिस पुरुष को है, उसके लिए ही शास्त्र के सब विधि और निषेध हैं ॥१००॥

ज्ञानी का निश्चय इस सम्बन्ध में कैसा है ?

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥

अन्वय–"देहे मायया परिकल्पिताः वर्णाश्रमादयः बोधरूपस्य आत्मनः न" इति एवं तस्य विनिश्चयः ।

अर्थ–तत्वज्ञानी देहधारी है तो भी "देह में माया से कल्पित जो वर्ण आश्रम आदि हैं, वे मुझ बोधरूप आत्माके धर्म नहीं हैं" ऐसा उसका निश्चय होता है : इसलिए उसे वर्णाश्रम आदि का अभिमान नहीं होता ॥१०१॥

शास्त्र भी यही बताता है कि तत्वज्ञानी को कोई कर्त्तव्य+ नहीं है :—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२॥

अन्वय–हृदयेन अस्तसर्वास्थः उत्तमाशयः मुक्तः एव; समाधि अथ कर्माणि मा करोतु वा करोतु ।

अर्थ–जिस पुरुष ने हृदय से सब आसक्तियों को छोड़ दिया है; और इस कारण जो निर्मल ज्ञान वाला है, वह महापुरुष मुक्त ही है; समाधि और कर्मों को चाहे न करे या करे ही ॥१०२॥

यही बात औरों ने भी कही है :

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ।१०३।

अन्वय–यस्य मनः निर्वासनं तस्य नैष्कर्म्येण न अर्थः; तस्य कर्मभिः अर्थः न अस्ति; समाधानजप्यभ्यां न ।

अर्थ–जिसका मन वासनाओं से रहित हो गया है, उसे न तो

+"अमुक काम का करने से ही मुझे स्वर्ग या मोक्षफल मिलेगा, नहीं करूंगा तो नहीं मिलेगा" ऐसा सोचकर जो काम किया जाता है, वह 'कर्त्तव्य' कहलाता है; इस विचार के बिना जो क्रिया की जाती है उसे कर्त्तव्य नहीं कहते।

कर्म के त्याग की आवश्यकता है न कर्म करते रहने की : न उसे समाधि से प्रयोजन है न जप से ही कुछ प्रयोजन है ॥१०३॥

यथार्थज्ञानी को तो कोई वासना ही नहीं रहती :—

आत्मासङ्गस्ततोन्यत्स्यान्द्रिजालं हि मायिकम् ।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥१०४॥

अर्थ—"आत्मा असंग अर्थात् सजातीयविजातीयस्वगतभेद से रहित है—उससे भिन्न सब कुछ इन्द्रजालरूप जगत् मिथ्या है' ऐसा दृढ निर्णय कर चुकने के पश्चात् मन में वासना + ही कैसे होगी ? जब वासना ही नहीं तो उसको हटाने के लिए ध्यान की भी आवश्यकता नहीं ॥१०४॥

+दृढभावनावश, पूर्वापर का विचार छोड़कर, पदार्थ का ग्रहण वासना है; इसी को अभिनिवेश कहते हैं । यह वासना दो प्रकार की हैं :–(१) अशुद्ध और (२) शुद्ध । अशुद्ध अथवा मलिन वासना चार प्रकार की है :–(१) पंच-कोश और चिदात्मा के भेदके आवरक अज्ञान से घनरूप (ठोस) बनी हुई और घन अहंकार से युक्त, जन्ममरणकी हेतु, वासना मलिनवासना एक है । इसी प्रकार (२) लोकवासना (३) शास्त्रवासना और (४) देह वासनाएं हैं इनके भी फिर अनेक भेद हैं । ये चारों प्रकार की वासनाए निवारण करने योग्य हैं ।

तत्ववेत्ता को, आत्मा के असंग होने और उमसे भिन्न सब अनात्मवस्तुओं के मिथ्या होने का निश्चय है; इसलिए अनात्म पदार्थों में उसका कोई अभिनिवेश नहीं है; इसीलिए पूर्वापर के विचारका त्याग भी नहीं है । अतएव उसमें मलिन-वासना नहीं होती । देहनिर्वाहार्थ शुद्धवासना है तो वह, ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने के कारण, घनीभूत नहीं होती इसलिए मलिन भी नहीं होती । यह शुद्धवासना जन्मान्तर की हेतु भी नहीं है : दग्धबीज की भान्ति है : इससे

एवं नास्ति प्रसङ्गोपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसञ्जनम् ॥

अन्वय–एवं अस्य प्रसंगः अपि न अस्ति, कुतः अति प्रसंजनम् ? यस्य प्रसंगः तस्य एव अतिप्रसंजनं शंक्येत ।

अर्थ–इस प्रकार जब ज्ञानी को प्रसंग (प्रसक्ति) ही नहीं है तो अतिप्रसंग कहां से होगा ? जिसको प्रसंग होता है उसी को अति प्रसंग हो सकता है ॥१०५॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यते ऽतिप्रसञ्जनम् ।
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥

अन्वय–विध्यभावात् बालस्य अतिप्रसंजनं न दृश्यते; विध्यभावे समे सति अस्य कुतः अतिप्रसंगः स्यात् ।

अर्थ–लोक में देखते हैं कि बालक के लिए विधिशास्त्ररूप प्रसंग नहीं होता; इसलिए उसको अतिप्रसंग भी नहीं होता । ज्ञानी के लिए भी विधिशास्त्र नहीं है, अतएव वह बालक के समान है, तो इस ज्ञानी को अतिप्रसंग कहां से होगा ? ॥१०६॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।

ज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान होता है, इसलिए इसे ज्ञातज्ञेयवासना भी कहते हैं । यद्यपि यह प्रारब्धभोगपर्यन्त रहती है तथापि यह फल से 'अवासना ही है' इस प्रकार सम्यक् ज्ञानी का मन वासनारहित कहलाता है ।

वासना का विस्तृत विवेचन श्री विद्यारण्यस्वामी के 'जीवन्मुक्ति विवेक' ग्रन्थ में देखना चाहिए ।

अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वेस्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७॥

अन्वय–बालः किंचित् न वेत्ति चेत् ? तत्त्ववित् सर्वं वेत्ति एव। अल्पज्ञस्य एव सर्वे विधयः स्युः, अन्ययोः द्वयोः न।

अर्थ–यदि कहो कि बालक तो कुछ नहीं जानता इसलिए उस के लिए विधि नहीं है; तो, हम कहेंगे कि तत्त्ववेत्ता सब कुछ जानता है, इसलिए उसके लिए विधिशास्त्र नहीं है। बात यह है कि सब विधियां अल्पज्ञपुरुष के लिए ही हैं–अज्ञ या सर्वज्ञ के लिए कोई विधि नहीं है ॥१०७॥

शापादिसामर्थ्य ज्ञान का नहीं, तप का फल है :—

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८॥
व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात्।
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

अन्वय–यस्य शापानुग्रहसामर्थ्यं असौ तत्त्ववित् यदि ? तत् न; यतः शापादिसामर्थ्यं तपसः फलं स्यात् ॥ व्यासादेः अपि तपसः बलात् सामर्थ्यं दृश्यते, शापादिकारणात् अन्यत् तपः ज्ञानस्य कारणम् ॥

अर्थ–(प्रश्न) क्या जिसमें शाप देने अथवा अनुग्रह करने की शक्ति हो वही तत्वज्ञानी है ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि, शापादिसामर्थ्य तो तप का फल है, ज्ञानका नहीं ॥ व्यासादियों में जो शापादि सामर्थ्य था, वह भी उनका तपोबल था ; शापादि के जनक तप से भिन्न दूसरा तप ज्ञानका कारण होता है : 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इस श्रुति में ज्ञान के कारण दूसरे तप का निर्देश है ॥१०८-१०९॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

अन्वय–यस्य द्वयं अस्ति तस्य एव सामर्थ्यज्ञानयोः जनिः; तत् एकैकं तु कुर्वन् एकैकं फलं लभते ।

अर्थ–जिसने दोनों प्रकार के तप किए हैं, उसमें सामर्थ्य और ज्ञान दोनों हैं; जो एक-एक तप करेगा, उसे एक ही एक फल मिलेगा ॥११०॥

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिर्विधिविवर्जितः ।
निन्द्यते तत्तपोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः ॥

अन्वय–सामर्थ्यहीनः यतिः विधिवर्जितः निंद्यः चेत् ? अन्यैः भोगलम्पटैः तत्तपः अपि अनिशं निंद्यते ।

अर्थ–यदि नियम से शापादि सामर्थ्य से सर्वथा हीन संन्यासी को, विधिरहित होने के कारण, कर्मिष्ठ पुरुष निंदा करते हैं तो दूसरे विषयलोलुप उस कर्मानुष्ठानरूप तप को भी तो दिनरात निंदा करते हैं ! ॥१११॥

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥~~११४~~॥ ११२॥

अन्वय–यदि ऐते भोगतुष्टये भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुः वैराग्यभरमन्थरं ऐतेषां यतित्वं अहो !

अर्थ–यदि संन्यासी भोग की तुष्टि के लिए ही भिक्षा, वस्त्र आदि धारण करने लगेंगे, तब तो वैराग्य के बोझ से बोझल यतिपना ही क्या हुआ ? ॥११२॥

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥

अन्वय—मूढाः वर्णाश्रमपरान् निंदन्तु इति उच्यते यदि ? देहात्ममतयः आश्रममानिनः बुद्धं निन्दन्तु ।

अर्थ—यदि कहो कि विषयलम्पट मूढ वर्णाश्रमधर्म को पालने वाले कर्मियों की निन्दा करो : इससे उनका कुछ नहीं बिगड़ता; तो हम कहेंगे कि देहादि को आत्मा मानने वाले कर्मी, ज्ञानी की भले ही निन्दा करें : इससे ज्ञानी कोई हानि नहीं होती ॥११३॥

इस प्रकार प्रासंगिक का वर्णन कर, पुनः प्रकरणगत कहते हैं :—

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥

अन्वय—तत् इत्थं तत्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ज्ञानिना लौकिकं राज्यादि सम्यक् आचरितुं शक्यम् ।

अर्थ—उक्त रीति से तत्वज्ञान हो जाने पर, लौकिकव्यवहार के साधन मन आदि का विनाश न होने के कारण, तत्वज्ञानी, लौकिक राज्य आदि व्यवहारों को भली भान्ति कर सकता है ॥११४॥

तत्वज्ञानी, भले ही व्यवहार करना न चाहे :—

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि मास्तु तत् ।
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥

अर्थ—लौकिक व्यवहारों को मिथ्या समझ लेने के कारण, उन में ज्ञानी की इच्छा ही न होगी ? ठीक है, मत हो : वह प्रारब्धा-

नुसार चाहे ध्यान करे अथवा व्यवहार में लग जाय ॥११५॥.

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥

अर्थ—परन्तु उपासकको तो मरणपर्यन्त सदा ध्यान में लगे रहना चाहिए; क्योंकि उसकी ब्रह्मता तो ध्यान से ही सम्पादित होती है : प्रमाण से नहीं । अतएव जैसे ध्यान से सम्पादित सगुणोपासक की विष्णुता पारमार्थिक नहीं है वैसे ही निर्गुणोपासक की यह ब्रह्मता भी पारमार्थिक नहीं है ॥११६॥

ध्यानोपादनकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७॥

अर्थ—जिस वस्तु का, ध्यान सम्पादक होता है, वह वस्तु ध्यान के न रहने पर लुप्त हो जाती है : परन्तु वास्तविक ब्रह्मता तो ज्ञापकज्ञान के अभाव में भी लीन नहीं होती ॥११७॥

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

अन्वय—ततः अभिज्ञापकं ज्ञानं, अदः नित्यं न जनयति । हि ज्ञापकाभावमात्रेण सत्यं न विलीयते ।

अर्थ—ज्ञान तो केवल अभिबोधक है ; वह नित्य ब्रह्मत्व को उत्पन्न नहीं करता : निश्चय ही, ज्ञापक के अभावमात्र से, सत्य वस्तु का विनाश नहीं हो सकता ॥११८॥

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।

पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥

अर्थ—(प्रश्न) उपासक की ब्रह्मता भी तो वास्तविक है ? (उत्तर) यदि उपासक की ब्रह्मता वास्तविक हो तो पामरपुरुषों और पशु-पक्षियों की भी ब्रह्मता वास्तविक क्यों न हो ? ॥११९॥

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥
पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥

अर्थ—(प्रश्न) परन्तु पामरोंका ब्रह्मतत्व तो, उनके अपने अज्ञान के कारण पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं है ? (उत्तर) मोक्षानुपयोगिता दोनों में समान है : उपासक के ब्रह्मत्व से भी मोक्ष नहीं मिलता । (प्रश्न) फिर उपासना से क्या लाभ है ? (उत्तर) जैसे उपवास से भिक्षा करना श्रेष्ठ है; वैसे अन्य साधनों से उपासना श्रेष्ठ है । पामरों के खेती आदि व्यवहार से कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है; कर्मानुष्ठान से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और सगुणोपासना से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है ॥१२०-१२१॥

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

अर्थ—ज्यों-ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है वैसे-वैसे श्रेष्ठता बढ़ती जाती है । निर्गुणोपासना, तो, धीरे-धीरे ब्रह्मज्ञान में

परिणत हो जाती है; इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है ॥१२२॥

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥

अर्थ—जैसे संवादिभ्रम फल मिलने के समय प्रमाज्ञान बन जाता है; वैसे ही, उपासना भी अतिपाक होने के कारण, मुक्तिकाल में 'ब्रह्मज्ञान' बन जाती है ॥१२३॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥

अन्वय–संवादिभ्रमतः प्रवृत्तस्य पुंसः अन्ययानतः प्रमा इति चेत् ? तथा उपास्तिः मान्तरे कारणायताम् ।

अर्थ–(प्रश्न) संवादीभ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को तो, उस भ्रम से प्रमाज्ञान नहीं होता अपितु किसी दूसरे प्रमाण से–इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से–प्रमाज्ञान होता है ? (उत्तर) यों तो उपासना भी स्वयं ब्रह्मज्ञान नहीं बन जाती : वह दूसरे ज्ञान का कारण बन जाती है । निर्गुणोपासना, निदिध्यासनरूप होकर वाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान का कारण बन जाती है ॥१२४॥

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥

अर्थ–(प्रश्न) यों तो मूर्तिध्यान और मन्त्रादि भी, चित्त की एकाग्रताके सम्पादक होनेसे, अपरोक्षज्ञानके साधन बनेंगे ? (उत्तर)

हों; हम इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस निर्गुणोपासना में विशेष प्रत्यासत्ति अर्थात् ज्ञान के प्रति समीपता, पाई जाती है।

प्रत्यासत्ति को ही दिखाते हैं :—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायसेन लभ्यते॥

अर्थ—जब, यह निर्गुणोपासना पक जाती है तब, सविकल्पसमाधि हो जाती है; फिर सविकल्पसमाधिसे निरोध नाम की समाधि बन जाती है। अर्थात् 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इस सूत्र में निर्दिष्ट निर्विकल्पसमाधि अनायास ही मिल जाती है।

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः॥

अन्वय—निरोधलाभे पुंसः अन्तः असंगं वस्तु शिष्यते; अस्मिन् पुनः पुनः वासिते वाक्यात् तत्त्वधीः जायते।

अर्थ—निरोध का लाभ हो जाने पर पुरुषके भीतर असंग वस्तु शेष रह जाती है। और इस असंग वस्तु को बार-बार भावना करने पर, 'तत्वमसि' आदि वाक्योंसे—'अहं ब्रह्मास्मि' रूप तत्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है॥१२७॥

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः॥

अन्वय—शास्त्रोक्ताः निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः

परिणत हो जाती है; इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है ॥१२२॥

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥

अर्थ—जैसे संवादिभ्रम फल मिलने के समय प्रमाज्ञान बन जाता है; वैसे ही, उपासना भी अतिपाक होने के कारण, मुक्तिकाल में 'ब्रह्मज्ञान' बन जाती है ॥१२३॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥

अन्वय–संवादिभ्रमतः प्रवृत्तस्य पुंसः अन्यमानतः प्रमा इति चेत् ? तथा उपास्तिः मान्तरे कारणायताम् ।

अर्थ–(प्रश्न) संवादीभ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को तो, उस भ्रम से प्रमाज्ञान नहीं होता अपितु किसी दूसरे प्रमाण से–इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से–प्रमाज्ञान होता है ? (उत्तर) यों तो उपासना भी स्वयं ब्रह्मज्ञान नहीं बन जाती : वह दूसरे ज्ञान का कारण बन जाती है । निर्गुणोपासना, निदिध्यासनरूप होकर वाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान का कारण बन जाती है ॥१२४॥

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥

अर्थ–(प्रश्न) यों तो मूर्तिध्यान और मन्त्रादि भी, चित्त की एकाग्रताके सम्पादक होनेसे, अपरोक्षज्ञानके साधन बनेंगे ? (उत्तर)

हों; हम इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस निर्गुणोपासना में विशेष प्रत्यासत्ति अर्थात् ज्ञान के प्रति समीपता, पाई जाती है।

प्रत्यासत्ति को ही दिखाते हैं :—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायसेन लभ्यते॥

अर्थ—जब, यह निर्गुणोपासना पक जाती है तब, सविकल्पसमाधि हो जाती है; फिर सविकल्पसमाधिसे निरोध नाम की समाधि बन जाती है। अर्थात 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इस सूत्र में निर्दिष्ट निर्विकल्पसमाधि अनायास ही मिल जाती है।

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः॥

अन्वय—निरोधलाभे पुंसः अन्तः असंगं वस्तु शिष्यते; अस्मिन् पुनः पुनः वासिते वाक्यात् तत्त्वधीः जायते।

अर्थ—निरोध का लाभ हो जाने पर पुरुषके भीतर असंग वस्तु शेष रह जाती है। और इस असंग वस्तु को बार-बार भावना करने पर, 'तत्वमसि' आदि वाक्योंसे—'अहं ब्रह्मास्मि' रूप तत्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है॥१२७॥

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः॥

अन्वय—शास्त्रोक्ताः निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः

अविवादतः झटिति बुद्धौ आरोहन्ति ।

अर्थ–असङ्गवस्तु की निरन्तर भावना करते रहनेसे, शास्त्रोक्त निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता-आत्मा के धर्म निर्विवाद रूप से, तत्काल बुद्धि में बैठ जाते हैं ।

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थो ऽमृतबिन्धद्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२६॥

अन्वय–एतदर्थः तु अमृतबिन्द्वादिषु योगाभ्यासः श्रुतः । एवं च दृष्टद्वारा अपि हेतुत्वात् अन्यतः वरम् ।

अर्थ–इसी निर्विकल्पसमाधि के सिद्धि के लिए, अमृतबिन्दु आदि उपनिषदों में योगाभ्यास बताया है । और निगुर्णोपासना के अपरोक्षज्ञान के समीपतम होने के कारण, निर्विकल्पसमाधि का भी लाभ हो जाता है : इस प्रकार दृष्ट (निर्विकल्पसमाधि लाभ) और अदृष्ट प्रयोजन द्वारा ज्ञान का साधन होने से, यह सगुणोपासना आदि से श्रेष्ठ है ॥१२६॥

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥

अन्वय–तत् उपेक्ष्य तीर्थयात्राजपादीन् एव कुर्वतां 'पिंडं समुत्सृज्य करं लेढि' इति न्यायः आपतेत् ।

अर्थ–निर्गुणोपासना की उपेक्षा करके तीर्थ यात्रा जप आदि में लगे लोगों की तो वही अवस्था है जो हाथ में आये ग्रास को छोड़कर हाथ चाटने वाले की होती है ॥१३०॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

अन्वय—उपासकानां अपि विचारत्यागतः यदि एवं ? बाढम् । तस्मात् विचारस्य असम्भवे योगः ईरितः ।

अर्थ—(प्रश्न) यों तो, आत्मतत्व का विचार छोड़कर निर्गुणोपासना करने वाले भी ऐसे ही अविचारशील हैं ? (उत्तर) ठीक है, इसीलिए तो विचार के असम्भव होने की दशा में योग (निर्गुणोपासना) का विधान है ॥१३१॥

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥

अर्थ—क्योंकि अत्यन्त व्याकुलचित्त वालों को विचार से तत्वज्ञान नहीं होता, इसलिए उनके लिए योग (उपासना) मुख्य उपाय बताया है : उपासना से धीदर्प नष्ट हो जाता है । इसीलिए योग मुख्य उपाय है ॥१३२॥

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥

अर्थ—अव्याकुल बुद्धिवाले उन लोगों के लिए, जिनका आत्मा केवल मोह के आवरणमें छिप रहा है, साँख्य नाम का तत्व-विचार ही मुख्य उपाय है : उनको वही झटपट ज्ञानरूप सिद्धि देता है ।

योग (उपासना) और सांख्य (तत्वविचार), दोनों ही, तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति

के साधन हैं :—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थ—गीताके पांचवें अध्याय श्लोक ५ में बताया है कि सांख्य-मार्गी जिस स्थान को पाते हैं योगीमार्गी भी उसे पा लेते हैं। जो ज्ञानी सांख्य और योग (पद्धतियों) को एक-सा समझता है, शास्त्र के तात्पर्य को वही ठीक जानता है ॥१३४॥

तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्न इति हि श्रुतिः ।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥

अर्थ—श्वेताश्वतरोपनिषद् (६--१३) में भी बताया है कि उनके कारणभूत देव को सांख्य और योग से युक्त हुआ पुरुष जानकर, अविद्यादि पाशों से मुक्त होता है। हां, उनमें जो जो अंश श्रुति से विरुद्ध हैं वह 'सांख्य' और 'योग' नहीं क्रमशः 'सांख्याभास' और 'योगाभास' हैं। केवल प्रकृति ही जगत् का कारण है; ईश्वर नहीं; तथा प्रकृति नित्य है, 'आत्मा नाना हैं' सांख्य का इतना अंश, श्रुति-विरुद्ध अतएव सांख्याभास है। 'ईश्वर तटस्थ (जगत् से भिन्न स्थित) है : तथा प्रधान नित्य एवं जीव वस्तुतः नाना है' इतना अंश योग में श्रुति विरुद्ध अतएव 'योगाभास' है,] ॥१३५॥

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

अन्वय—यस्य उपासनं इह अतिपक्वं न सः मरणे वा ब्रह्मलोके परत्र

तत्वं विज्ञाय मुच्यते ।

अर्थ—जिसको उपासना (योग) इस जन्म में परिपक्व नहीं हो पाती, वह मरते समय ब्रह्मलोक में पहुँचकर, तत्वज्ञान को जानकर, मुक्त हो जाता है ॥१३६॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥

अर्थ—गीता (८-६) में भी कहा है कि जिस-जिस भी देवता-रूप भाव का स्मरण करता हुआ, कोई, मृत्यु-समय शरीर को छोड़ता है, उस-उस भाव को वह प्राप्त कर लेता है। इसी बात को शास्त्र (प्रश्नोपनिषद् ३—१०) में इस प्रकार कहा है कि 'मृत्यु के समय यह जीव जिस लोक का संकल्प करता है, उस सहित ही प्राण को प्राप्त होता है अर्थात् क्षीणेन्द्रिय-वृत्ति वाला होकर मुख्य प्राणवृत्ति रूप हो स्थित रहता है। और वह प्राण तेज अर्थात् उदानवृत्ति से युक्त होकर, भोक्ता स्वामी के साथ रह, उस भोक्ता को संकल्पित लोक की ओर ले जाता है।' ॥१३७॥

(प्रश्न) तो क्या उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि अन्तकाल की वृत्ति के अनुसार भावी जन्म होता है; ज्ञान से मुक्ति नहीं होती ?

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ॥

अन्वय—अन्त्यप्रत्ययतः नूनं भावि जन्म; तथा सति यथा सगुणोपासने निर्गुणप्रत्ययः अपि स्यात् ।

अर्थ-(उत्तर) अन्तसमय के ज्ञान के अनुसार निश्चय ही भावी जन्म होता है : जीवन के सबसे पिछले ज्ञान से भावीजन्म के निश्चय होने का सिद्धान्त मान लेने पर, जैसे सगुणोपासना में होता है (अर्थात् सगुणोपासक को जैसे मरण के समय पूर्वाभ्यास-वश सगुण ब्रह्माकार ज्ञान हो जाता है) वैसे ही निर्गुणोपासक को भी निर्गुण ब्रह्माकार ज्ञान हो जायगा ।।१३८।।

निर्गुणप्रत्यय के अभ्यास से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म और मोक्ष में नाममात्र का ही भेद है, यह दर्शाते हैं :—

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९॥

अन्वय-तत् नित्यनिर्गुणरूपं नाममात्रेण गीयतां, अर्थतः एषः मोक्षः एव; संवादिभ्रमवत् मतः ।

अर्थ-उस ब्रह्म को नित्यनिर्गुणरूप नाम से भले ही कह लो; अर्थ से तो वह मोक्ष ही है : निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति और मोक्ष एक ही के दो नाम हैं मुक्ति का लक्षण ही 'स्वरूप से अवस्थिति' है । ऐसे ही, जैसे कि सम्वादी भ्रमको, नाममात्रसे ही भ्रम कहते हैं ।

मानसक्रिया, निर्गुणोपासना नहीं, उपासनाजन्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह दर्शाते हैं :—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

अन्वय-तत् सामर्थ्यात् मूलाविद्यानिवर्तिका धीः जायते; अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ।

अर्थ—निर्गुणोपासना के सामर्थ्य से मूलविद्या को निवृत्तकर देने वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाती है : जैसे; सगुणोपासनासे तारक-ब्रह्म (सगुणब्रह्म) विषयकज्ञान उत्पन्न होता है ॥१४०॥

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥

अर्थ—निर्गुणोपासना का फल मोक्ष है यह बात तापनीयोपनिषद् में कही है। वहां बताया है कि 'वह उपासक अकाम और निष्काम अर्थात् अन्तरीय एवं बाह्य कामनाओं से रहित 'आप्तकाम' एवं 'आत्मकाम' हो जाता है। उसके प्राण अन्य लोक अथवा देह में गमन (उत्क्रमण) नहीं करते। वे यहां, इस लोकसम्बन्धी देह में ही विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। 'वह अशरीर, अनिन्द्रिय, अप्राण, अमन, केवल, सच्चिदान्द और स्वप्रकाश हो जाता है। वह अभय अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।' इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तापनीय उपनषद में निर्गुणोपासना का फल मोक्ष बताया है ॥१४१॥

उपासना से मुक्ति मानो तो 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं' का क्या अर्थ होगा ?

उपासनास्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥

अर्थ—उपासना के सामर्थ्य से विद्या (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है : इसलिए 'मुक्ति का अन्य (ज्ञान से भिन्न) उपाय नहीं है' इस श्रुतिवाक्य का विरोध नहीं होता ॥१४२॥

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैव्यप्रश्ने समीरिता ॥

अर्थ–तापनीय उपनिषद् में निष्कामोपासना से मुक्ति बतलाई है और सकमोपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का विधान शैव्यप्रश्न में किया है। वहां बताया है कि :–

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

अर्थ–जो पुरुष त्रिमात्र ओंकार से इस परमपुरुष की उपासना करता है, वह क्रम से ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। वहां वह (उपासक) इस जीवघन अर्थात् जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ से भी उत्कृष्ट पुरुष, निरुपधिक चैतन्यको, साक्षात् कर लेता है। (यः पुनरेतत् त्रिमात्रेण ओमित्यनेन वाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मज्जीवघनात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।) ॥१४४॥

वेदान्तसूत्र के अनुसार सकामोपासक को भी ब्रह्मलोक मिलता है :–

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुर्न्याय ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥

अर्थ–वेदान्तसूत्र के अप्रतीकाधिकरण में "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च" (४-३-१५) इस सूत्र द्वारा

'तत्क्रतुन्याय' अर्थात् कमनीय संकल्पानुसारी फल मिलने का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इस प्रकार श्रीव्यासने सकामोपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति स्वाकर की है। [उपरोक्तसूत्र का अर्थ यह है कि वाणी आदि प्रतीक का अवलम्बन करने वाले उपासकों से भिन्न उपासकों को उनकी भावना के अनुसार कार्यब्रह्म के भोगसम्पन्न लोकों में और परब्रह्म के परमधाम में दोनों ही जगह अमानव पुरुष पहुंचा देता है। इसलिए दोनों प्रकार की मान्यताओं में कोई दोष नहीं है। यहां संकल्पानुसार परब्रह्म को और कार्य ब्रह्म को प्राप्त करना सिद्ध होता है।] ।।१४५।।

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ।।१४६।।

अर्थ—वह सकाम निर्गुणोपासना के सामर्थ्य से ब्रह्मलोक में ही तत्त्व का साक्षात्कार करता है; वह फिर लौट कर इस मर्त्य लोक में नहीं आता: किन्तु कल्प के अन्त में मुक्त हो जाता है। कहा भी है:—"इमं मानवमावर्त्तं नावर्तते; न स पुनरावर्तते। ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ।।"

प्रणव (ओंकार) उपासना की द्विविधता

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित्सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपानस्य हि ।।१४७।।

अर्थ—प्रणवोपासनाएं प्रायः निर्गुण ही वेद में मिलती हैं; कहीं-कहीं प्रणवोपासना की सगुणता भी वर्णित है ।।१४७।।

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

अन्वय–पिप्पलादेन मुनिना पृच्छते सत्यकामाय परापरब्रह्मरूपः ओंकारः उपवर्णितः।

अर्थ–पिप्पलाद मुनि ने प्रश्नकर्ता सत्यकाम को पर अर्थात् निर्गुण और अपर अर्थात् सगुण दोनों रूप ओंकार है–ऐसा समझाया। यह प्रश्नोपनिषद्के पांचवें प्रश्न का निर्देश है : वहां पिप्पलाद ने कहा है–'एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति' ओंकार की निर्गुण और सगुण उपासना का यह एक प्रमाण है ॥१४८॥

कठवल्ली में भी दो प्रकार की प्रणवोपासना

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

अर्थ–'इस परस्पर ब्रह्मरूप आलम्बन को जानकर जो पुरुष जो कुछ चाहता है उसे वह मिलता है' यह उत्तर यमने प्रश्नकर्ता निचिकेता को दिया है। यम के इस उत्तर से भी प्रणवोपासना दो प्रकार की प्रमाणित होती है ॥१४९॥

१३६ से १४९ तक के श्लोकों का तात्पर्य यह है कि :—

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेथवा भवेत्।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम्॥

अन्वय—अस्य सम्यक् निर्गुणं उपासीनस्य इह वा मरणे च अथवा ब्रह्मलोके ब्रह्मसाक्षात्कृतिः भवेत् ।

अर्थ—निर्गुण की जो (किसी प्रकार की भी) उपासना को भली भांति कर लेता है, उसको, इसी लोक में, या मरते समय अथवा ब्रह्मलोक में जाकर, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ॥१५०॥

अर्थोऽयमात्मगीतायमपि स्पष्टमुदीरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥

अन्वय—'विचाराक्षमः संततं आत्मनं उपासीत' इति अयं अर्थः आत्मगीतायां अपि स्पष्टं उदीरितः ।

अर्थ—'विचार (से तत्वज्ञान सम्पादन करने) में असमर्थ मनुष्य निरन्तर आत्मा अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना किया करें' यह बात आत्मगीता में भी स्पष्ट कही है ॥१५१॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवरूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥

अर्थ—आत्मगीतामें कहा है :—यदि साक्षात्कार करनेमें असमर्थ भी हो तो भी, शंकारहित हो, मुझ प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा का चिन्तन करे । समय आने पर अनुभव प्राप्त कर वह निश्चय ही पूर्ण फल को प्राप्त करेगा ॥१५२॥

ध्यान तत्वज्ञान का उपाय है : इसे दृष्टान्त से समझाते हैं :—

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥

अन्वय–यथा अगाधनिधेः लब्धौ खननं बिना उपायः न; तथा मल्लाभे अपि स्वार्थचिन्तां मुक्त्वा च अपरः न।

अर्थ–जैसे भूमिमें गड़े अगाध खजाने को प्राप्त करने के लिए खोदे बिना काम नहीं चलता; वैसे ही मुझे प्राप्त करने के लिए भी, स्वात्माके ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥१५३॥

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः।
खात्वां मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥

अर्थ–देह-रूप पत्थर को दूर करके, बुद्धिरूप कुदाली से मन-रूप भूमि को खोदकर, मनुष्य मुझ प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म-रूप निधि को प्राप्त करे अर्थात् जाने ॥१५४॥

ज्ञानमें असमर्थ को ध्यान का अधिकार है–इसमें अन्य शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं:–

अनुभूतेरभावेपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः॥

अर्थ–अनुभूति न होती हो तो भी 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसे ही विचार करे। उपासक में पहले अविद्यमान वस्तु (देवत्व आदि भी) ध्यान से प्राप्त हो जाती है; तब फिर नित्य प्राप्त ब्रह्म यदि ध्यान से प्राप्त हो जाय तो, इसमें आश्चर्य ही क्या है!! ॥१५५॥

और फिर ब्रह्मध्यान का फल तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है :—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने।

पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोस्मात्पशुर्वद ।।

अन्वय–ध्यतात् दिने दिने अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं पश्यन् अपि चेत् न ध्यायेत् अस्मात् अपरः कः पशु ? वद ।

अर्थ–ध्यान करने से, दिन पर दिन, अनात्म बुद्धि ढीली होती जाती है, यह फल देखकर भी जो ध्यान (उपासना) न करे तो उस से बढ़कर मूर्ख कौन होगा ? कहो ।।१५६।।

ध्यानदीप प्रकरण का साराँश बताते हैं :–

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

अर्थ–ध्यान से देहाभिमान को नष्ट करके अर्थात् मरणशील देह को 'मैं' समझना छोड़कर अपने आपको अद्वितीय जानकर, मरणधर्मा मनुष्य अमृत होकर इसी शरीर में अपने निजरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।।१५७।।

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्मसंततम् ।।१५८।।

अर्थ–जो मनुष्य इस 'ध्यानदीप' प्रकरण का सम्यक् विचार करता रहता है, वह सभी संशयों से रहित होकर, निरन्तर ब्रह्मका ध्यान रखने लगता है ।।१५८।।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके नवम प्रकरण-ध्यानदीप

की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका

व्याख्या समाप्त ।

—०—

नाटकदीप-प्रकरण-१०

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।

कुर्वे नाटकदीपस्य+ टीकां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥

इस प्रकरण में अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया से मन्दाधिकारियों को अनायास ही निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्व का बोध कराने के लिए प्रथम आत्मा में अध्यारोप का प्रकार बताते हैं :-

परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

अन्वय–पूर्वं अद्वयानन्दपूर्णः परमात्मा स्वमायया स्वयं एव जगत् भूत्वा जीवरूपतः प्राविशत् ।

अर्थ–सृष्टि से पहले जो श्रुतिप्रसिद्ध अद्वय अर्थात् स्वगतादि त्रिविध भेदरहित, परमानन्दरूप, परिपूर्ण परमात्मा था, वह, अपनी माया अर्थात् अपने में स्थित माया शक्ति से आप ही जगदाकार होकर उसमें जीवरूप से प्रविष्ट हुआ । [उपरोक्त में प्रमाण श्रुतियां निम्नलिखित हैं :–"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् ।" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। पूर्णमदः ।""मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" "तदात्मानं स्वयमकुरुत । सच्च त्यच्चाभवत् ।" तत्सृष्ट्वा

+चेतन में अध्यस्त अहंकारादि और उनके प्रकाशक साक्षी को नाटकरूप से प्रकाशित करने वाला प्रकरण 'नाटकदीप' प्रकरण है ।

तदेवानुप्राविशत्, अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य ।"] ॥१॥

यदि एक ही परमात्मा सब शरीरों में है तो उत्तमाधमभाव क्यों है ?

विष्णवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवताऽभवत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति देवताम् ॥२॥

अर्थ—वह परमात्मा जब विष्णु आदि उत्तम देहों में प्रविष्ट हुआ तब देवता बन गया और जब वही मर्त्य आदि अधम देहों में प्रविष्ट होता है तो, देवता की पूजा करता है। यह उत्तमाधमभाव शरीरोपाधिकृत है, स्वाभाविक नहीं है ॥२॥

अब उस जगत् के अपवाद (निषेध) का साधनसहित वर्णन करते हैं :—

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अर्थ—अनेक जन्मों में किए कर्मों को ब्रह्ममें समर्पणरूप भजन करने से, यह प्राणी, स्वविचार अर्थात् ब्रह्मरूप स्वात्मा के ज्ञान-साधन श्रवणादि को करना चाहता है। उस स्वविचार से जनित ज्ञान द्वारा, अपने अद्वयानन्दमयादिरूप की आच्छादिका माया के निवृत्त हो जाने पर, स्वयं, अद्वयानन्दपूर्णरूप परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥३॥

कहा तो यह है कि 'तद्ब्रह्माहमितिज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' अर्थात् ज्ञान का फल बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष है; फिर यहां ज्ञान का फल परमात्मा के शेष रहने को कैसे बताया ? कहते हैं :—

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।

बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४॥

अर्थ—अद्वितीय ब्रह्म का वस्तुतः बन्ध या मोक्ष तो होता नहीं। इसलिए अद्वय-आनन्दरूप आत्मा को द्वितीय के सहित या दुःखी आदि समझना (भ्रम हो जाना) ही बन्ध है और उसका स्वरूप में स्थित हो जाना, बन्ध की निवृत्ति हो जाना,+ ही मोक्ष है ॥४॥

"कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" यह स्मृति तो मोक्ष का साधन कर्म को बताती है, तो फिर विचारजन्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

अर्थ—अविचारसे किया गया बन्ध विचारसे ही हटता है अर्थात् विचार के प्रागभाव से उपलक्षित अज्ञान से कृत बन्ध विचारजन्य-ज्ञान से भिन्न साधन से नहीं हट सकता; इस कारण, तत्त्व साक्षात्कार होने तक सदा जीव और परमात्मा का विचार करता रहे। [प्रश्न में उद्धृत-स्मृति में "संसिद्ध" शब्द का अर्थ चित्तशुद्धि है; मोक्ष नहीं।]॥५॥

+यहाँ यह रहस्य है :-(१) महावाक्यके श्रवणसे 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी अन्तःकारणवृत्तिरूप ज्ञान होता है। इससे प्रपंचसहित अज्ञान की निवृत्ति होती है—वही मोक्ष है। कल्पित की निवृत्ति, क्योंकि, अधिष्ठानरूप होती है, इसलिए ब्रह्मरूप मोक्ष है। यह भाष्यकार का सिद्धान्त है। (२) कल्पित की निवृत्ति ज्ञान से जन्य है; अतएव सादि है और ब्रह्मरूप होने से अनन्त है। अतएव वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष सादि और अनन्त है। इस प्रकार स्वरूप से स्थित होना ही बन्ध की निवृत्ति है, वही मोक्ष कहलाता है।

उपकरण सहित जीव का स्वरूप

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६॥

अन्वय—यः 'अहं' इति अभिमन्ता, असौ कर्ता । तस्य साधनं मनः; तस्य क्रमोत्त्थिते अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रिये ।

अर्थ—जो चिदाभास विशिष्ट अहंकार, व्यवहारावस्था में, देह आदि में, 'मैं' का अभिमान रखता है वह कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट जीव है । उसका साधन, कामादिवृत्तिवाला अन्तःकरण का एक भाग, मन, है । उस मन की बारी-बारी से उठने वाली अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति नाम की दो क्रियायें हैं ॥६॥

मन की दोनों वृत्तियों का स्वरूप और विषय

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७॥

अर्थ—अन्तर्मुख वृत्ति जो 'मैं' रूप है, वह कर्त्ता का उल्लेख करती है । और बहिर्मुख रहने वाली 'यह' रूप वृत्ति देहसे बाहरके पदार्थों का, 'यह' से निर्दिष्ट वस्तु का, उल्लेख करती है ॥७॥

साथ-साथ चक्षु आदि भी व्यर्थ नहीं है; क्योंकि :—

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान्भिद्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम् ॥

अन्वय—इदमः विशेषाः ये गन्धरूपरसादयः स्युः तान् घ्राणादीन्द्रियपंचकं असांकर्येण भिद्यात् ।

अर्थ—मन तो सामान्यरूप से 'इदं' का ग्रहण करता है : परन्तु उस 'इदं' से निर्दिष्ट वस्तु जो विशेष गन्धरूपरसादि हैं, उनको प्रत्यक्ष घ्राणआदि पांच इन्द्रियां ही, पृथक्-पृथक् प्रकट करती हैं। गन्धादि का ग्रहण ही घ्राणादि का प्रयोजन है ॥८॥

अब परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं :—

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९॥

अन्वय—कर्तारं च क्रियां तद्वत् व्यावृत्त विषयान् अपि एकयत्नेन यः चिद्वपुः स्फोरयेत् असौ अत्र साक्षी ।

अर्थ—जो चिद्रूप, अहंकाररूप कर्ता को, 'अहं-इदं' इन दो वृत्तिरूपी क्रियाको और परस्परभिन्न, घ्राणादि से ग्राह्य, गन्ध आदि विषयों को, साथ-साथ, प्रकाशित कर देवे, वेदान्तशास्त्रमें उसी चिद् रूप को साक्षी कहते हैं ॥९॥

साक्षी एक साथ कैसे सब को प्रकाशित करता है; सो दिखाते हैं :—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥१०॥

अर्थ—मैं रूपको देखता हूं, शब्दको सुनता हूँ, गन्ध को सूंघता हूं, रस चखता हूँ, छूता हूँ, आदि प्रकार से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य-तीनों को एक साथ ऐसे प्रकाशित करता हूं जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक सबको एक साथ प्रकाशित करता है ॥१०॥

उपरोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं :—

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।

दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

अर्थ–नृत्यशाला में रखा दीपक, नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों अर्थात् दर्शकों तथा नर्तकी को भी बिना भेदभावके, प्रकाशित करता है और उन स्वामी आदिके न उपस्थित रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है ॥११॥

उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्ति में घटाते हैं :—

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१२॥

अन्वय–साक्षी अहंकारं, धियं, विषयान् अपि भासयेत् । अहंकाराद्यभावे अपि स्वयं पूर्ववत् भाति एव ।

अर्थ–ऐसे ही साक्षी; अहंकार, बुद्धि और विषयोंको भी प्रकाशित किया करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है ॥१२॥

जब प्रकाशरूपा बुद्धि ही अहंकारादि का प्रकाश कर सकती है; तब उस से भिन्न साक्षी की कल्पना क्यों की जाय ? उत्तर देते हैं :—

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३॥

अन्वय–कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः निरन्तरं भासमाने इयं बुद्धिः तद्भासा भासमाना अनेकधा नृत्यति ।

अर्थ–कूटस्थ अर्थात् निर्विकार साक्षीके ज्ञप्ति अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्यरूप से सदा भासते रहने पर, बुद्धि, उस साक्षी के

स्वरूपचैतन्य से प्रकाशित होकर ही, घट-पट आदि अनेकरूपों में विकृत हुआ करती है। अभिप्राय यह है कि विकारी होने से बुद्धि जड़ है : वह स्वयं स्फूर्तिरहित है; अतएव उससे भिन्न सर्वावभासक साक्षी मानना पड़ता है ॥१३॥

इस बात को नाटक के उपकरणों की कल्पना से स्पष्ट करते हैं :-

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥

अर्थ—यहां अहंकार स्वामी है; (क्योंकि नाटक के स्वामी की भांति विषयभोग की सफलता या विफलता से होने वाले हर्ष और विषाद इसी अहंकार को होते हैं); विषय ही इस नाटक के दर्शक हैं (नाटक की सुख-दुखमयी घटनाओं से जैसे दर्शक अप्रभावित रहते हैं, ऐसे ही विषयों को भी सुख-दुख कुछ नहीं होता); बुद्धि ही इस नाटककी नर्तकी है (नर्तकीके अंगभंगी आदि की भान्ति नाना-प्रकार के विकार इसी में होते हैं); ताल आदि के धारण करने-वाली इन्द्रियां हैं (क्योंकि इन्द्रियां बुद्धिके विकारों के अनुकूल व्यापार करने लगती हैं); और यह साक्षी ही इन सब का अवभासक दीपक है (क्योंकि यही इन सबको प्रकाशित किया करता है।+)

+इस रूपक का विस्तृतरूप निम्न प्रकार है :-(१) नाटक में नृत्य का अभिमानी राजा नृत्यकी सफलता या असफलता के अभिमान से प्रसन्न या विषण्ण होता है; वह धनाढ्यता के कारण नर्तकी आदि का आश्रय, नृत्यशाला का निर्वाहक, अनेक दारायुक्त, बड़े कार्य का कर्ता और बड़े भोग का भोक्ता होता है; यहां भोग की सफलता या असफलतासे हर्ष-विषाद अहंकारको होते हैं; उपाधि

परन्तु अहंकारादि का अवभासक होता हुआ भी साक्षी, उस-उससे संबंधके

रूपता से आत्मधनयुक्त होने के कारण वह बुद्धि आदि का आश्रय, समष्टिव्यष्टि देहरूप नृत्यशालाका अहंममभाव से निर्वाहक और शुभाशुभवृत्तिरूप अनेक दाराओं से युक्त, सब कर्मों का कर्ता और सब भोगों का भोक्ता है। इस प्रकार साभास अहंकार की नृत्य कराने वाले राजा से तुल्यता है।

(२) नृत्यसभा में विद्यमान सभ्य पुरुष जैसे राजा के धर्मों से रहित, राजा के अधीन चारों ओर घिरे रहते हैं; ऐसे ही शब्दादि विषय भी अहंकार के कर्तृ-त्व भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित, अहंकार के अधीन चारों ओर दीख पड़ते हैं : ये विषय ही यहां सभ्य है।

(३) जैसे नर्तकी अनेक चेष्टाएं (विकार) करती, सब की ओर हाथ आदि को मटकाती और नव रसरूप मनोभावों से राजा का मनोरञ्जन करती है वैसे ही बुद्धि भी कामादि रूप अनेक विकारों से युक्त, सर्वविषयाकार होने के कारण अपने अग्रभाग रूप हाथ को मटकाती और अन्तःकरणमें नौके नौ रसों को दिखाकर साभास अहंकार का रंजन करती है। अतएव बुद्धि नर्तकी है।

(४) जैसे तालमृदंग आदि बजाने वाले, नर्तकी की चेष्टाके अनुकूल व्यापार करते हैं, वैसे ही इन्द्रियां भी, बुद्धि जिस विषय का ग्रहण करनेके लिए जाती है उसके सन्मुख आने से बुद्धि में जो परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल व्यापार करती हैं : इसलिए इन्द्रियां उन ताल देने वालों के समान हैं।

(५) नृत्यशाला में रखा दीपक बाहर-भीतर सब ओर सभाके जुड़नेके समय भी राजा आदि को प्रकाशित करता—और सभा न जुड़ी हुई हो तब भी प्रकाशित करता रहता है और स्वयं इधर-उधर कहीं आता-जाता नहीं है : ऐसे ही साक्षी भी, जाग्रत स्वप्नकालमें विद्यमान अहंकार आदि सब को प्रकाशित करता है और सुषुप्ति, मूर्छा एवं समाधिकाल में इनके न होने पर इनके अभाव को प्रकाशित करता है और स्वयं गमनागमनादि विकार से रहित है : इसलिए साक्षी, इस नाटक का दीपक है।

जुड़ने या सम्बन्ध टूटने से विकारी नहीं होता, क्योंकि :—

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥

अर्थ—जैसे दीपक अपने स्थान पर रखा हुआ, गमनादि विकार रहित हुआ, अपने समीपस्थ चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है ऐसे ही स्थिरस्थायी अर्थात् तीनों कालों में अचल, साक्षी भी बाहर-भीतर प्रकाशित करता रहता है ॥१५॥

'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० ३–८–८) इस श्रुति में बताया है कि साक्षी के बाहर-भीतरी विभाग नहीं होते, तो फिर 'वह बाहर एवं भीतर प्रकाशित करता है;'—यह कैसे कहा ? उत्तर देते हैं :—

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहंकृतिः ॥१६॥

अन्वय—अयं बहिरन्तर्विभागः देहापेक्षः न साक्षिणि; विषयाः बाह्य-देशस्थाः, देहस्य अन्तः अहंकृतिः।

अर्थ—बाह्य और भीतरी विभाग, देह की दृष्टि से हैं, साक्षी के नहीं हैं। विषय तो शरीर से बाहर रहते हैं और अहंकार शरीर के भीतर होता है ॥१६॥

'मैं घट को देखता हूँ' वाक्यमें तो प्रथम 'मैं' इस रूपमें भीतरी अहंकार के साक्षी होकर भासित हुआ साक्षी, फिर 'घटको देखता हूं' इस प्रकार घटाकार वृत्ति के स्फुरण रूप में बहिर्गमन अनुभव में आता है : वस्तुतः अविकारी साक्षी बाहर-भीतर कैसे प्रकाश कर सकता है ? उत्तर देते हैं :—

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥

अर्थ–देह के भीतर स्थित बुद्धि, ('मैं' इस आकार के द्रष्टा साभास अहंकार को विषय करने वाली, देह के भीतर स्थित बुद्धि) 'वह यह घट है' इत्यादि आकार से रूप आदि के विषय करने के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा बार-बार बाहर आती है । इस प्रकार उस बुद्धि में जो चंचलता है वह उस बुद्धि के अवभासक साक्षी में वृथा ही आरोपित कर ली जाती है : साक्षी वस्तुतः चञ्चल अथवा बाहर-भीतर आने-जाने वाला नहीं है ॥१७॥

भासक में भास्य की चंचलता के आरोप को दृष्टान्त से समझाते हैं :–

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१८॥

अन्वय–गवाक्षात् गृहान्तरगतः स्वल्पः आतपः अचलः तत्र हस्ते नर्त्यमाने यथा आतपः नृत्यति इव ।

अर्थ–झरोखे से घर के भीतर गया हुआ थोड़ा सा सूर्य का प्रकाश, यद्यपि स्वतः अचल है, परन्तु उस प्रकाशमें हाथ के नचाने पर, वह प्रकाश नाचता प्रतीत होता है; वस्तुतः नाचता नहीं है ।

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चाल्यात्करोतीव तथा तथा ॥

अर्थ–इसी प्रकार, अपने स्थान अर्थात् अपने स्वरूप में

अवस्थित साक्षी, बाहर-भीतर गमनागमन न करता हुआ भी बुद्धि, की चंचलता से वैसे-वैसे करता प्रतीत होता है ॥१६॥

तो क्या साक्षी बाह्य आदि किसी देश में स्थित होता है ? बताते हैं :--

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥

अर्थ–साक्षी न बाह्य होता है न आन्तर, क्योंकि ये दोनों देश तो बुद्धि के हैं। हम तो इतना कहना चाहते हैं कि बुद्धि और इन्द्रिय आदि सबकी प्रतीति के शान्त होजाने पर वह साक्षी जहां स्व-स्वरूप में भासता है, वहां वह है ॥२०॥

प्रतीतिमात्र के निवृत्त हो जाने पर तो देश की भी प्रतीति नहीं होगी, फिर वह साक्षी तन्निष्ठ कैसे कहा जायगा ? उत्तर देते है :–

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेशप्रक्लृत्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२१॥

अन्वय–यदि कः अपि देशः न भासेत तर्हि अदेशभाक् अस्तु । सर्वदेशप्रक्लृप्त्या एव सर्वगत्वम् ॥

अर्थ—यदि कोई भी देश नहीं भासता तो उस साक्षी को तुम बिना ही देश का समझ लो । क्योंकि देश आदि की सत्य कल्पनाओं के अधिष्ठान आत्मा को अपने लिए किसी देश की अपेक्षा नहीं है । शास्त्रों में उसे जो सर्वगत कहा है वह सर्वदेश की कल्पना से ही कहा है । वस्तुतः तो वह आत्मा स्वभाव से सर्वगत भी नहीं है । स्वभाव से तो वह अद्वितीय और असंग ही है ॥२१॥

ब्रह्म का सर्वसाक्षित्व भी अवास्तविक है :-

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥

अर्थ-अन्तः या बहिर्देश को या जिस भी वस्तु की यह बुद्धि कल्पना कर लेती है, यह आत्मा उस देश (वस्तु) में स्थित साक्षी कहलाने लगता है : वस्तुतः तो उसका सर्वसाक्षिपन भी अवास्तविक है। इसी प्रकार अन्य सब वस्तुओं में भी साक्षी को समझ लेना चाहिए।

अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते हैं :—

यद्यद्रूपादिकल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः

अर्थ-जिस-जिस रूपादि की बुद्धि से कल्पना की जाती है, उस उसको प्रकाशित रखने वाला यह आत्मा उस-उस का 'साक्षी' कह-लाता है। यह स्वयं तो वाणी और बुद्धि का अविषय ही है : फिर इसे साक्षी भी कैसे कहें ? ॥२३॥

कथं तादृङ्मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२४॥

अर्थ-(प्रश्न) मुमुक्षु मैं, फिर, उस अवाङ्मनोगोचर को कैसे ग्रहण करूं ? (उत्तर) तुम उसको ग्रहण करो ही मत। आत्मा (तो अग्राह्य ही है); सर्वग्रह के शान्त हो जाने पर स्वयं आत्मा ही शेष रह जाता है : स्वात्मा से भिन्न द्वैत के मिथ्यापन का निश्चय हो जाने पर जब द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है ; तब स्वात्मा ही

ही सत्यरूप में शेष रह जाता है ।।२४।।

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।

तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥

अर्थ–स्वात्मा के प्रत्यक्ष करने के लिए किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वह स्वयं स्व-प्रकाशस्वरूप है । और "आत्मा स्व-प्रकाशरूप है इसलिए उसके प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं है" इस बोध की सिद्धिकी अपेक्षा है ? तो, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रुति का पठन कर ।।२६।।

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।

शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२६॥

अर्थ–(यदि ऐसे उत्तमाधिकारी नहीं हों और) सर्वप्रतीति का त्याग सम्भव नहीं है तो बुद्धि की शरण में जाओ अर्थात् बुद्धिको अपना लक्ष्य+ बनाओ । इसका फल यह होगा कि बुद्धि अन्दर या बाहर जिस-जिस पदार्थकी कल्पना करे उस-उस पदार्थके साक्षी के रूप में उस बुद्धि के धीन परमात्मा को अन्दर या बाहर, जैसा अवसर हो, अनुभव करे ।।२६।।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके दशम प्रकरण-नाटकदीप

की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका

व्याख्या समाप्त ।

—०—

+जैसे 'शाखा में चन्द्र है' वाक्य को सुनकर, स्थूलदृष्टि वाला पुरुष, पहले शाखा की ओर, पीछे शाखा के समीपस्थ, शाखा के आधीन चन्द्र को देखता है; ऐसे ही मन्दबुद्धि अधिकारी, गुरु के उपदेश से, पहले, बुद्धि की ओर देख-कर, पीछे अधिष्ठान साक्षीरूप में बुद्धि के समीपस्थ होने से, बुद्धि के आधीन-से हुए परमात्मा को अपने स्वरूप में अनुभव करता है ।

ब्रह्मानन्दग-योगानन्द-प्रकरण-११

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
+योगानन्दस्य व्याख्यानं ब्रह्मानन्दगस्य हि ।

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

अन्वय—ब्रह्मानन्दं प्रक्ष्यामि । तस्मिन् ज्ञाते ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं अशेषतः हित्वा सुखायते ।

अर्थ—ब्रह्मानन्द का कथन करता हूं । उस प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादकरूप ब्रह्मानन्द का ज्ञान हो जाने पर, इस लोक तथा परलोक के सब अनर्थों का त्याग करके सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है ।

"निरुपाधिक परब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ मन्दबुद्धि अधिकारियों के लिए सोपाधिक ब्रह्म का निरूपण किया जाता है' यह शास्त्र का वचन है । वैसे भी वृक्ष की जड़को छूनेसे ही उस की शाखा पत्ते आदि का स्पर्श माना जाता है । ऐसे ही विष्णु आदि के अधिष्ठान निर्विशेष (निरुपाधिक) ब्रह्म के कथनसे विष्णु आदि सब देवताओं का कथनरूप मंगलाचरण किया गया है । अतएव

+ब्रह्मानन्द का प्रतिपादक शेष पांच अध्याय का ग्रन्थ यहां से आरम्भ होता है । इसके अन्तर्गत यह योगानन्द-प्रकरण है : इस प्रकरण में चित्त की एकाग्रतारूप योग से अविर्भूत होने वाले आनन्द का प्रतिपादन किया गया है ।

यहां 'ब्रह्मानन्द' शब्द का उच्चारण ही ब्रह्मका स्मरणरूप मंगलाचरण है। साथ ही इससे यह भी ध्वनित हो गया कि इस प्रकरण का विषय भी 'ब्रह्मानन्द' का वर्णन करना है। श्लोक के उत्तरार्ध में अनिष्ट निवृत्ति एवं इष्ट प्राप्ति रूप, ग्रन्थके दो प्रयोजन कहे हैं। यहाँ 'ब्रह्मानन्द का अर्थ है–'ब्रह्म ही आनन्द'; वह इस ग्रन्थ का वाच्य है और उसका वाचक ग्रन्थ भी 'ब्रह्मानन्द' है। उस वाच्य (प्रतिपाद्य) ब्रह्मानन्द और उसके प्रतिपादक ब्रह्मानन्द ग्रन्थ को जान लेने पर, देह-पुत्र-कलत्रादि में अहंममाभिमान से होने वाले आध्यात्मिक आदि ऐहिक और पारलौकिक दुःखों को सर्वथा छोड़कर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञान होता है ॥१॥

"ब्रह्मज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति एवं इष्ट की प्राप्ति का हेतु है' इसमें अनेक प्रमाणों में से तीन प्रमाणों का भावार्थ यहां कहते हैं :—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दीभवति नान्यथा ॥२॥

अन्वय–ब्रह्मवित् परं आप्नोति च आत्मवित् शोकं तरति। रसः रसं ब्रह्म लब्ध्वा आनन्दी भवति; अन्यथा न।

अर्थ—तैत्तिरीय (२–१) में कहा है कि ब्रह्मवेत्ता पर अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दरूपब्रह्म को पा लेता है तथा छान्दोग्य उपनिषद् (७–१–३) में कहा है कि आत्मवेत्ता, (देशकालवस्तुके परिच्छेद से रहित आत्मा को जानने वाला), शोक (अज्ञानमूलक संसार समुद्र) को तर जाता है। पुनश्च तैत्तिरीय (२–७) में कहा है कि वह आत्मा रस है, इस संसार का साररूप आनन्द है। रसरूप ब्रह्म को पा

कर ही, मैं ब्रह्म हूं' यह ज्ञान हो जाने पर ही, आनन्दी (अपरिच्छिन्न निरतिशय सुखवाला) होता है। मनुष्य ब्रह्मात्मैकत्व को जाने बिना और किसी भी प्रकार से आनन्दी नहीं हो सकता ॥२॥

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

अन्वय–यदा स्वस्मिन् प्रतिष्ठां विन्दते अथ सः अभयः स्यात्। अस्मिन् अन्तरं कुरुते चेत् अथ तस्य भयं भवेत्।

अर्थ–तैत्तिरीय (२-७) में आये "यदा ह्येवैष" आदि वचनका अभिप्राय यह है कि जिस समय यह मुमुक्षु अपने आपे में प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्मरूपस्थितिको पालेता है उस समय यह भयरहित हो जाता है अर्थात् मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्म को पालेता है। फिर आगे वर्णित "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते" आदि वाक्य का अभिप्राय यह है कि जब, उसी प्रत्यगभिन्नब्रह्ममें थोड़ासा भी भेद करता या देखने लगता है तब तुरन्त ही उस भेददर्शी को भय अर्थात् संसारप्रयुक्त दुःख होने लगता है ॥३॥

भेददर्शी को भय होता है–इस बात को प्रमाण से पुष्ट करते हैं :—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेऽन्तरम्।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद्भीत्या चरन्ति हि ॥

अन्वय–वायुः, सूर्यः, वह्निः, मृत्युः जन्मान्तरे धर्मं विजानन्तः अपि अन्तरं कृत्वा अस्मात् भीत्या चरन्ति।

अर्थ–'भीतोस्माद्वातः पवते' (तै० २-८) में कहा है कि जग के नियामकरूप से प्रसिद्ध वायु आदि पांचों देवता अतीतजन्ममें इष्टा-

पूर्तादिधर्मों का ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करते हुए भी, प्रत्यगात्मा और ब्रह्म में अन्त कर लेने मात्र से, उसी ब्रह्म के भयसे वायु आदि का यह जन्मधारण करके, अपने-अपने व्यापारों में ही सदा लगे रहते हैं। कठोपनिषद् में कहा भी है–भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।" ॥४॥

"ब्रह्मानन्दज्ञान अनर्थ निवृत्ति का हेतु है-इसमें एक दूसरा स्पष्ट प्रमाण :—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ॥५॥

अन्वय–ब्रह्मणः आनन्दं विद्वान् कुतश्चन न बिभेति। कर्माग्नि-संभृता एषा चिन्ता एतं एव न तपेत्।

अर्थ–ब्रह्म के आनन्द (यहां 'राहु का सिर' वाक्य में राहु में और सिर के भेदकी भांति भेदकथन कथनमात्र के लिए है) अर्थात् ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द को जानता हुआ पुरुष किसी भी, ऐहिक व्याघ्रादि भयकारण से अथवा पारलौकिक भयहेतु पापादि से नहीं डरता। [यह तैत्तिरीय (२–८–९) के 'आनन्दं ब्रह्मणो' वाक्य का अभिप्राय है।] फिर "एतं ह वाव न तपति" इत्यादि का भावार्थ कहते हैं :—कर्मरूपी हृदयदाहक अग्नि की चिन्ता केवल इस ज्ञानी को ही नहीं तपाती। अर्थात् शेष प्राणी तो 'मैंने पुण्य नहीं किया, पाप क्यों कर लिया' आदि चिन्ताओं से झुलसते ही रहते हैं ॥५॥

ज्ञानी को पुण्य-पाप क्यों नहीं सताते ? इसका कारण जताने वाले प्रमाणों का अभिप्राय कहते हैं :—

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ।

कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥६॥

अन्वय–एव विद्वान् द्वे कर्मणो हित्वा आत्मानं सदा स्मरेत्। च एषः कृते कर्मणी स्वात्मरूपेण एव पश्यति।

अर्थ–जो कोई पुरुष, 'वही परमात्मा जो व्यष्टिसंघातमें है वही सूर्यमण्डल में है अर्थात् एक ही है' ऐसा जानकर और पाप-पुण्य दोनों को छोड़कर ब्रह्माभिन्न आत्माको प्रत्यक्ष अनुभव करता है; जब पाप-पुण्य छोड़ ही दिये तो उनकी चिन्ता भी नहीं रहती और उनके कारण होने वाला दुःख भी नहीं होता। तथा च ऐसा पुरुष, उन दोनों प्रकार के देहेन्द्रियादि की प्रवृत्ति से उत्पण्न होने वाले कर्मों को 'इदं सर्वं यदयमात्मा' वाक्य के अनुसार स्वात्मरूप से ही देखता है। वे कर्म स्वात्मासे भिन्न न होने के कारण भी दुःखदायी नहीं रहते।

वे असंख्यांत कर्म चिन्ताजनक क्यों नहीं है? इसका उत्तर सप्रमाण देते हैं:–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥७॥

अन्वय–परावरे तस्मिन् दृष्टे अस्य हृदयग्रन्थिः भिद्यते, सर्वसंशयाः छिद्यन्ते, च कर्माणि क्षीयन्ते।

अर्थ–उत्कृष्ट हिरण्यगर्भादि पद जिससे अवर अर्थात् निकृष्ट हैं ऐसे परावर, उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर, इस साक्षात्कार करने वाले का, बुद्धि और चिदात्मा का परस्पर, गांठके समान सुदृढ़ जो अन्योन्याध्यास है, वह, दूर हो जाता है और आत्मा, देहादि से भिन्न है या नहीं आदि सब संशय छिन्न हो जाते हैं: (जिस वस्तुका साक्षात्कार हो जाता है फिर उसके विषय

में संशय, विपर्यय आदि नहीं रह सकते। और कर्म, संचित पाप-पुण्य, अपने उपदानभूत अज्ञानके नष्ट हो जानेसे नष्ट होजाते हैं

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' 'विद्यां चाविद्यां' 'कर्मणैव संसिद्धिम्' 'एवं तपश्च विद्या च' इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है कि केवल कर्म अथवा ज्ञानसहित कर्म ही मुक्ति का हेतु है; तो फिर कर्म को मुक्ति का साधन मानने में क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हैं :–

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः ।

ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥

अन्वय–तं विद्वान् एव मृत्युं अत्येति, इतरः च पंथाः न । देवं ज्ञात्वा पाशहानिः, क्षीणैः क्लेशैः जन्मभाक् न ।

अर्थ–श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि 'उस परमात्मा को जानने वाला ही मृत्यु अर्थात् संसार को पार करता है; अन्य कोई मिला-जुला (ज्ञान एवं कर्मरूप) अथवा केवल कर्मरूप कोई मार्ग मुक्ति का नहीं है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से ऐहिक दुःखों की निवृत्ति का दिग्दर्शन करा कर अलौकिक अनिष्ट, भावी जन्म के अनुसार होता है और वह भावी जन्म होता ही नहीं–इसका प्रतिपादन करने वाले श्वेताश्वरोपनिषद् के "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' आदि वाक्य का अभिप्राय बताते हैं :–उस स्वप्रकाश देव को प्रत्यक्ष करने वाले पुरुष के काम-क्रोध आदि सब जाल कट जाते हैं : क्योंकि रागादि क्लेश तो नष्ट हो गये और भावीजन्म के हेतु कर्मों का अभी आरम्भ नहीं हुआ, इसलिए भावी जन्म होता ही नहीं ॥८॥

तत्त्वज्ञान का शोकतरणादि फल होता है, यह सुना ही है, अनुभवमें तो नहीं आता ? ज्ञानी भी तो इष्टानिष्ट की प्राप्ति और परिहार के लिए प्रयत्न करते देखे जाते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कठ श्रुति का अभिप्राय उद्धृतकर अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं :—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥६॥

अन्वय—धैर्यवान् देवं मत्वा अत्र एव हर्षशोकौ जहाति; एतं कृताकृते पुण्यपापे क्वचित् न तापयतः ।

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि साधन-सम्पन्न धीरपुरुष, चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म को समझ कर इसी जन्म में हर्ष-शोक दोनों को छोड़ देता है । याज्ञवल्क्य ब्राह्मण के 'नैनं कृताकृते तपतः' वाक्य का अभिप्राय भी बताते हैं:—कि पुण्यपाप किये हों या न किये हों, वे इसमें चित्तके विकार को उत्पन्न नहीं करते । [पहले बता आये हैं कि "नहीं किया हुआ पुण्य, और किया हुआ पाप तत्ववेत्ता को नहीं सताते" अब यह बताया कि किये हों या न किये हों, वे पाप-पुण्य, अज्ञान की भान्ति, दुःखदायी नहीं होते । अभिप्राय यह है कि ताप का अर्थ है चित्त-विकार; किया हुआ पुण्यकर्म अज्ञानी के चित्तमें सद्धर्मरूप और न किया हुआ पाप हर्ष रूप विकार को उत्पन्न करता है । तत्त्वज्ञानीकेलिए तो, निर्विकार ब्रह्मरूपताके ज्ञान के कारण, पापपुण्य किसी भी प्रकार, विकारके हेतु नहीं होते ॥६॥

इत्यादिश्रुतयो बह्वयः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।

ब्रह्मज्ञानेनर्थहानिमानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥

अन्वय–इत्यादिश्रुतयः बह्वचः पुराणैः स्मृतिभिः सह, ब्रह्मज्ञाने अनर्थहानिं च आनन्दं अपि अघोषयन् ।

अर्थ–पुराण और स्मृतियोंसहित ऐसी बहुत सी श्रुतियां ब्रह्मज्ञान होने पर अनिष्ट की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति की घोषणा करती हैं ॥१०॥

त्रिविध आनन्द में से ब्रह्मानन्द के विवेचन की प्रतिज्ञा :—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११॥

अर्थ–ब्रह्मानन्द, विद्यासुख (विद्यानन्द) और विषयानन्द–ये तीन प्रकार का आनन्द है : इनमें से प्रारम्भ में ब्रह्मानन्दका विवेचन करते हैं । यहां पहले तीन अध्यायों में ब्रह्मानन्द का विभागशः विवेचन है ॥११॥

तैत्तिरीयश्रुति की भृगुवल्ली में आनन्दरूप ब्रह्म का विवेचन

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥

अर्थ–पुत्र भृगु ने पिता वरुण से ब्रह्म के लक्षण ("यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि) को सुना और अन्न, प्राण, मन और बुद्धिमय कोशों में उस लक्षण को घटता न देखकर, इनके ब्रह्म न होने का निश्चय हो जाने से इनको छोड़कर, ब्रह्मलक्षण घट जाने

के कारण आनन्दमयकोश को ही ब्रह्मरूप से जाना ॥१२॥

आनन्दमयकोश में ब्रह्म के लक्षण को घटाने वाले 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय कहते हैं :—

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम्।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

अर्थ—पशुधर्मनिमित्तक आनन्द से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उस विषयभोगादिनिमित्तक आनन्द के कारण जीते हैं और उनका लय भी सुषुप्तिकालीन स्वरूपभूत आनन्द में ही होता है : सुषुप्तिमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी का अनुभव नहीं होता। इसलिए आनन्द ही ब्रह्म है : सब का ऐसा ही अनुभव है अतएव इसमें कोई संशय नहीं होना चाहिए ॥१३॥

"छान्दोग्योपनिषद् में भी ब्रह्म को ही आनन्द बताया है" यह सिद्ध करनेके लिए उसमें आये 'सनत्कुमारनारदसंवाद' (सप्तमाध्याय) के 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय उद्धृत करते हैं :—

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥१४॥

अन्वय—भूतोत्पत्तेः पुरा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् भूमा। ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो।

अर्थ—आकाशादि भूतों और उनके कार्य जरायुजांडजादियों की उत्पत्ति से पहले, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटीरूप द्वैत का अभाव होने के कारण, केवल एक, भूमा अर्थात् देश-काल और वस्तु से अपरि-

च्छिन्न परमात्मा ही था। क्योंकि वेदान्त का सिद्धान्त है कि प्रलयकाल में उक्त त्रिपुटी नहीं रहती। [छा० (७–२४–१) में यही कहा है :–'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा'।]

ज्ञान आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं :—

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः।
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५॥

अर्थ—(परमात्मासे) उत्पन्न हुआ (बुद्ध्युपाधि जीव) विज्ञानमयकोश ही ज्ञाता है; मनोमयकोश (मनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य) ज्ञान है; और शब्दादि विषय ज्ञेय हैं : कार्यरूप ये तीनों (यह त्रिपुटी) उत्पत्तिसे पूर्व विद्यमान कारणरूप परमात्मा से भिन्न नहीं होते ॥

सारांश यह है कि :–

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

अर्थ—समाधि, सुषुप्ति और मूर्छामें ज्ञाता आदि तीनों का जब अभाव होता है तब, द्वैतरहित पूर्ण परमात्मा ही अनुभव में आता है जैसे सुषुप्ति आदि में परिच्छेदक न रहने पर आत्मा में पूर्णता आजाती है, ऐसे ही सृष्टि से पहले भी भेदक तीनों के अभाव में, पूर्ण ही रहता है ॥१६॥

भूमा (पूर्ण) ही सुखरूप है :—

यो भूमा सः सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि।

सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

अन्वय–'यः भूमा सः सुखं। त्रेधा विभेदिनि अल्पे सुखं न।' एवं सनत्कुमारः अतिशोकिने नारदाय प्राह।

अर्थ–अधिकशोक-सन्तप्त नारद को सनत्कुमार ने बताया था कि जिसको पहले भूमा कहा है वही सुखरूप है : जो अद्वितीय होता है उस में दुःखका हेतु ही नहीं होता। परन्तु जो देश, काल और वस्तु इन तीन से परिच्छिन्न और अल्प है उसमें सुख नहीं होता।

नारद को शोक क्यों हुआ ? बताते हैं:—

सपुराणान्पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८॥

अर्थ–नारद १८पुराणसहित चारों वेदों (एसे पांचों वेदों)और विविध शास्त्रोंको पढ़कर भी चूंकि अनात्मवित् रहा, इस कारण उसे अतिशोक हुआ : यह छान्दोग्य के सातवें अध्याय में बताया है।

वेदशास्त्रों के ज्ञान से तो शोक दूर होता है; फिर अतिशोक कैसे हुआ ?

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९॥

अर्थ–वेदाभ्याससे पूर्व तो आध्यात्मिक आदि तापत्रयसे शोक हुआ; और पीछे वेदाभ्यास के कष्ट, भूलने के डर, अपने से अधिक विद्वान् से किये गए तिरस्कार की शंका और न्यूनविद्वान् को देख कर किये गये गर्व–इन कारणों से शोक हुआ ॥१९॥

सुखरूप ब्रह्म का ज्ञान ही शोकनिवृत्ति का उपाय

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥२०॥

अर्थ—नारद ने स्वयं कहा है—हे विद्वन् ! मैं शोक करता हूं—मुझे इस शोक से पार लगा दीजिए । इस प्रकार पूछे गए ऋषि सनत्कुमार ने बताया—"सुख ही इस शोक का पार है ।" [देखो छा० ७–२२–१ : "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्"] ॥२०॥

अल्प सांसारिक सुख तो दुःखरूप ही है; क्योंकि :—

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥

अर्थ—"विषयों द्वारा मिलने वाला सुख, सहस्रों शोकों से ढका रहने के कारण' दुःख ही होता है" यह समझकर ही सनत्कुमार ऋषि ने कहा था कि अल्प में सुख नहीं है ॥२१॥

अद्वैत में भी सुखाभाव की शंका

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥२२॥

अर्थ—मान लिया कि द्वैत में सुख नहीं है ; परन्तु अद्वैत में भी तो सुख नहीं है : क्योंकि होता तो विषयसुख की भान्ति उपलब्ध होता ! यदि कहो कि सुख उपलब्ध होता है, तब तो अनुभव के साथ-साथ अनुभाविता और अनुभाव्य भी मानने पड़ेंगे और

इस प्रकार त्रिपुटी बन जायगी अर्थात् अनुभाविता, अनुभव एवं अनुभाव्य की त्रिपुटी मानने से अद्वैत ही जाता रहेगा ?

(समाधान)–ठीक है, अद्वैत में सुख नहीं है है: परन्तु —

मास्त्वद्वैते सुखं किंतु सुखमद्वैतमेव हि ।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयंप्रभे ॥

अर्थ–अद्वैत में सुख न सही ; परन्तु अद्वैत ही सुख है : अद्वैत सुख का आश्रय नहीं है । यदि पूछो कि इसमें क्या प्रमाण है ? उत्तर यह है कि स्वयंप्रकाश अद्वैत में प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठता ॥२३॥

अद्वैत की स्वप्रकाशता में प्रमाण

स्वप्रभत्वे भवेद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ।२४।

अर्थ–अद्वैत की स्वप्रकाशकता में तो तुम्हारा वाक्य ही प्रमाण है ! क्योंकि तुम इस अद्वैत को (प्रमाणों के बिना ही) स्वीकार करके ही तो कहते हो कि इसमें सुख नहीं है । इस प्रकार अद्वैत को प्रमाण की अपेक्षा नहीं : वह तो स्वप्रकाश है ॥२४॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततःपुरा ।२५।
किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥

अर्थ–(प्रश्न) मैं स्वयं अद्वैत को स्वीकार नहीं करता; मैं तो तुम्हारे कथन को दुहराकर उस पर आक्षेप कर रहा हूँ। अर्थात् मेरे शब्दों से अद्वैत की सिद्धि मानना उचित नहीं है।(उत्तर) अच्छा तो फिर तुम्हीं बताओ कि द्वैत से पहले क्या था ? द्वैत से पहले अद्वैत था ? या द्वैत था ? या कोई अन्य कोटि थी ? अन्तिम (तीसरा पक्ष) तो कोई प्रसिद्ध है नहीं; द्वैत से पहले द्वैत था–यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्यों कि द्वैत तब उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अतएव प्रथम पक्ष ही शेष रह जाता है : द्वैत से पहले अद्वैत था यही सिद्ध होता है ॥२६॥

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तरमत्र नो ॥

अर्थ–यदि कहो कि अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही है; अनुभव से नहीं होती; तो बताओ कि जो युक्ति अद्वैत को सिद्ध करती है वह दृष्टान्त-रहित है या दृष्टान्त-सहित ? इसमें 'दृष्टान्तरहित भी और सहित भी' आदि कोई तीसरा पक्ष तो बनता ही नहीं।

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

अर्थ–(प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं) अद्वैतसिद्धि अनुभव से नहीं होती : युक्ति होती है पर उसमें कोई दृष्टान्त नहीं है—यह कहना, यह युक्ति देना तो तुझे ही शोभा दे सकता है ! भला दृष्टान्त के बिना भी किसी बात का युक्तिसे सिद्ध होना सम्भव है ?

दृष्टान्त-सहित युक्ति है—ऐसा मानते हो, तो, ऐसा दृष्टान्त देना चाहिए जो सुभ्क्ष विपक्षी को भी माननीय हो !

वादी दृष्टान्त से प्रलय को अद्वैत सिद्ध करना चाहता है :—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत्सुप्तिरद्वैते तत्र दृष्टान्तमीरय ॥२९॥

अन्वय—प्रलयः अद्वैतः, द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत्, इति चेत् ? अद्वैते सुप्तिः तत्र दृष्टान्तं ईरय ।

अर्थ—प्रलय द्वैतरहित है, क्योंकि उसमें द्वैत की प्रतीति नहीं होती; जिसमें द्वैत की प्रतीति नहीं होती वह अद्वैत ही है : जैसे सुषुप्ति ।

यदि यह बात है तो बताओ यहाँ अपनी सुषुप्ति दृष्टान्त है या पर-सुषुप्ति ? स्वसुषुप्ति तो दूसरे के प्रति असिद्ध है; अतएव उसकी सिद्धि के लिए दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता होगी । अर्थात् अद्वैत में अपनी सुषुप्तिको प्रमाण मानो तो उस अपनी सुषुप्ति की सिद्धि के लिए दृष्टान्त तो कहो ॥२९॥

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

अर्थ—यदि दूसरे की सुप्ति को दृष्टान्त मानो तो यह तुम्हारी बड़ी (भद्दी) चतुराई है ! (वह तो तुम्हारे प्रति असिद्ध है : उसका दृष्टान्त कैसे देते हो?) भला जो अपनी सुप्ति को नहीं जानता (क्यों-कि सुप्ति को अनुभवगम्य ही तुम नहीं मानते) वह दूसरे की सुप्ति

को जानेगा–इसकी तो बात ही क्या है ? ॥३०॥

अनुमान से भी पर-सुषुप्ति की सिद्धि नहीं होती :—

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥३१॥

अन्वय–परः सुप्तः, निश्चेष्टत्वात्, यथा अहं; इतिचेत् ? तदा उदाहर्तुः ते सुषुप्तेः बलात् स्वप्रभत्वं भवेत् ।

अर्थ—(प्रश्न) "पर (दूसरा) सोया हुआ है : क्योंकि प्राणादि के रहते भी निश्चेष्ट है–जैसे मैं" इस अनुमान से पर-सुप्ति सिद्ध हो जायगी ? (उत्तर) ऐसे तो मुझ को अपनी सुषुप्ति का उदाहरण देने वाले तेरी सुषुप्ति का स्वप्रकाशत्व तो, उदाहरण देनेसे ही, तेरे न चाहते हुए भी, सिद्ध हो गया; नहीं तो बताओ तुम अपनी सुषुप्ति को कैसे जानते हो ? क्योंकि :–

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥३२॥

अर्थ—सुप्ति के समय सुप्ति की ग्राहक इन्द्रियां नहीं होती : वे अपने कारण में विलीन हो जाती हैं । तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त भी नहीं हैं । तो भी तुम सुप्ति को स्वीकार करते हो । ज्ञान के साधनों के बिना भी प्रकाशित होना ही तो स्वयं प्रकाशता है । यहां सुषुप्ति भी ज्ञान के साधनों के बिना प्रकाशित हो रही है, अतएव वह स्वप्रकाश है । इसकी सिद्धिमें अनुमान इस प्रकार होगा–विवादास्पद सुषुप्ति, स्वप्रकाश है; ज्ञानसाधन के न होते हुए भी प्रकाशमान होने

सांख्याभिमत आत्मा की भाँति, प्रभाकर के अनुयायियों के अभिमत वृत्तिज्ञान की भाँति और बौद्धाभिमत स्वात्मा की भान्ति। जैसे सांख्य, प्राभाकर और बौद्धमत में क्रमशः आत्मा, वृत्तिज्ञान और स्वात्मा, अन्य किसी ज्ञानसाधन के बिना भी प्रकाशमान होने से स्वयंप्रकाशरूप हैं, वैसे हमारे मत में भी सुषुप्ति से उपलक्षित आत्मा स्वयंप्रकाश है ॥३२॥

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द की सिद्धि

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम्।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम्॥

अर्थ—मानलिया कि सुषुप्ति अद्वैत और स्वयंप्रभ है पर उसमें सुख को कैसे मानलें ? इसका उत्तर सुनो; क्योंकि उस समय सुख का विरोधी दुःख नहीं होता, अतएव सुख ही शेष रह जाता।

सुषुप्ति में दुःख नहीं होता—इसमें श्रुतिप्रमाण एवं अनुभव

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोथ रोग्यपि।
अरोगीति श्रुतः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः॥

अर्थ—तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धोभवति...' (छा०८-४-२)और तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति (छा०८-१०-६) यह श्रुति कहती है कि सुषुप्ति में अन्धा, अन्धा नहीं रहता; घायल, घायल नहीं रहता; रोगी, रोगी नहीं रहता; (अर्थात् देहाभिमान के कारण उत्पन्न हुए सब दोष दूर हो जाते हैं) : श्रुतिका

यह कथन भी है और सब लोग इसको जानते भी हैं : रोगादि से पीडित को भी सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं होता ।।३४।।

पूर्वपक्षी की शंका और उसका समाधान

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ।।३५।।

अर्थ–(शंका) केवल दुःख के न होने से सुख होने की कल्पना करना ठीक नहीं क्योंकि ढेले इत्यादि में न दुःख होता है न ही सुख ? (समाधान) यह तुम्हारा दृष्टान्त विषम अर्थात् दार्ष्टान्तिक का अनुसारी नहीं हैं ।।३५।।

दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक के अनुसारी न होने का स्पष्टीकरण

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ।

अर्थ–अन्यनिष्ठ दुःख और सुख की ऊहना तो क्रमशः मुख पर आई कुम्हलाहट और मुस्कराहट को देखकर होती है; ढेले इत्यादि में जब दीनता और विकास आदि ही नहीं पाये जाते तब दुःख-सुख की कल्पना भी क्यों कर सम्भव है ? अतएव दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के अनुसार नहीं है ।।३६।।

हां, अपने दुःख-सुख का अनुमान नहीं लगाना पड़ता :—

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योनुभूत्यैव तदभावोपि नान्यतः ।।३७।।

अर्थ-अपने सुखदुःख की तो कल्पना नहीं की जा सकती : वे तो अपने अनुभव से ही सिद्ध हैं। उनका होना जैसे अनुभव (प्रत्यक्ष) से ज्ञात होता है; वैसे ही उनके अभाव को जाननेके लिए भी प्रत्यक्षसे भिन्न किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती।

अभिप्राय यह है कि :-

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोनुभूतितः।
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥

अर्थ-ऐसा होने पर अर्थात् अपना सुखादि अनुभवगम्य मान लेने पर, यह भी मान लेना चाहिए कि अपनी सुषुप्ति में विद्यमान दुःखाभाव भी अनुभवगम्य ही है। पुनश्च, सुषुप्ति में सुखके विरोधी दुःखके न होनेके कारण सुखका निर्विघ्न होना मान लेना पड़ेगा।

सुषुप्तिसुख का होना युक्ति से भी सिद्ध है :-

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम्।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥
दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥४०॥

अन्वय-तत्र सुप्तौ सुखं नो भवेत् चेत् ? महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनं कुतः संपाद्यते ? ॥ एतत् दुःखनाशार्थं एव इति चेत् ? तथा रोगिणः भवतु; अरोगिणः तु, एतत् सुखाय एव, इति निश्चिनु ॥

अर्थ-यदि वहां सुषुप्ति में सुख न होता, तो बड़े-बड़े प्रयत्नोंसे कोमल शय्या आदि साधनों को क्यों जुटाया जाता ? यदि कहो

कि शय्या आदि का सब सम्पादन दुःखनाश के लिए ही तो है ? उत्तर देते हैं कि यह बात रोगादि दुःख से पीडित के लिए तो कह सकते हैं; परन्तु जो रोगी नहीं है, वहाँ दुःख तो है ही नहीं : अतएव वहाँ तो शय्या आदि साधन सुख के लिए ही होते हैं।

सौषुप्ति की सुख द्विविधता

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्येवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥
निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥४२॥

अर्थ–(प्रश्न) यदि सुषुप्तिकालीन सुख, इस प्रकार शय्यादि-साधनों से जन्य है, तो उसे वैषयिक सुख मानना पड़ेगा ? (उत्तर) यहाँः नींद आने से पहले वाला सुख तो शय्या-आसनादि से जन्य होनेसे वैषयिक सुख है ही; परन्तु निद्राकालीन जो सुख है वह भला किस हेतु से जन्य माना जा सकता है ? किसी से भी नहीं; क्योंकि उस समय शय्यादि आदि साधनोंकी ही प्रतीति नहीं हो रही होती। निद्रा से पहले तो जीव की बुद्धि शय्यादि से जन्य सुख के अभिमुख रहती है ; इसलिए वह विषयसुख तो उसे अनुभव होता है परन्तु पीछे नींद आ जाने पर, वह उत्कृष्ट सुख (स्वरूपसुख) में डूब जाता है-मग्न हो जाता है : अतएव अजन्य अर्थात् नित्यसुख की उसे अनुभूति नहीं होती ॥४१-४२॥

उपरोक्त कथन की तीन श्लोकों में व्याख्या करते हैं :-

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥४३॥
आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥
तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥

अन्वय—जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तः विश्रम्य अथ विरोधिनि अपनीते स्वस्थचित्तः विषये सुखं अनुभवेत् ॥ आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति । अत्र अपि एतं अनुभूय त्रिपुट्या श्रान्तिं आप्नुयात् ॥ तच्छ्रमस्य अपनुत्यर्थं जीवः परात्मनि धावेत् । तेन ऐक्यं प्राप्य स्वयं तत्रत्यः ब्रह्मानन्दः भवेत् ॥

अर्थ—यह जीव जाग्रत् समय के व्यापारों से थका हुआ, कोमल शय्या पर शयन आदि से विश्राम लेकर, पीछे व्यापार से उत्पन्न दुःख के हटा दिये जाने पर, स्वस्थचित्त होकर शय्यादि विषयों से मिलने वाले सुख को अनुभव किया करता है। विषयों के उपार्जन से दुःखी होकर जब वह दुःख को मिटाने के लिए कोमलशय्या आदि पर लेटता है तब उसकी बुद्धि अन्तर्मुखी हो जाती है; ('आत्माभिमुखधीवृत्ति' हो जाता है); उस अन्तर्मुख हुई बुद्धिवृत्ति में स्वरूपभूत आनन्द, सामने रखे दर्पण में मुखकी भान्ति, प्रतिबिम्बित होता है। [इसी को 'विषयानन्द' कहते हैं] परन्तु वह जीव इस समय विषयानन्द को अनुभव करता हुआ भी, अनुभविता, अनुभव और

अनुभाव्यरूपा त्रिपुटी से थका सा ही रहता है। इस श्रम को हटाने के लिए यह जीव परात्मा अर्थात् आनन्दरूपब्रह्म में दौड़ कर जाता है ! और वहां उस ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त कर स्वयं, सुषुप्ति-समय का (उसमें रहने वाला) ब्रह्मानन्द बन जाता है। देखो-छा० ६-८-१ 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति') ॥४३-४४-४५॥

सुषुप्ति के आनन्द के पांच दृष्टान्त

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६॥

अर्थ–पक्षी, बाज, बालक, महाराजा और महा ब्राह्मण ये पांच दृष्टान्त सुषुप्ति के आनन्द की सिद्धि के लिए श्रुति में कहे हैं। इस लिए यह करना ठीक नहीं है कि सुषुप्ति में आनन्द नहीं होता ॥

शकुनिदृष्टान्तपरक छान्दोग्य (६–८–२) वचन का अभिप्राय :–

शकुनिः सूत्रबद्धः सन्दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥
जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥

अर्थ–'स यथा शकुनिः सूत्रेण बद्धः' (छा० ६-८-२) आदि छान्दोग्य वचन का अभिप्राय यह है कि–'धागे से बंधा पक्षी, जैसे सब दिशाओं में घूम-फिरकर वहां ठहरने (बैठने) का आधार न पा कर फिर अपने बन्धनस्थान, हाथ-थम्भे आदि पर आ बैठता है;

वैसे ही जीव का उपाधि मन भी, धर्माधर्म के सुखदुःख रूप फलों का स्वाद चखने—अनुभव करने के लिए, स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जहां-तहां भ्रमण करके, भोगदायी कर्मों के क्षीण होने पर, अपने उपादान अज्ञान में लीन हो जाता है। और उस उपाधिभूत मन के लीन हो जाने पर उससे उपहित जीव परमात्मा ही होजाता है ॥४७-४८॥

श्येन के दृष्टान्त का वर्णन

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥

अन्वय—श्येनः शयितुं नीडैकलम्पटः वेगेन व्रजेत्; तथा जीवः ब्रह्मानन्दैलम्पटः सुप्त्यै धावेत् ।

अर्थ—जैसे आकाशविहारी बाज पक्षी, थकावट को हटाने के लिए, सोना चाहकर, एकमात्र घोंसले में ध्यान लगाये, जल्दी-जल्दी दौड़कर घोंसले की ओर जाता है; ऐसे ही यह जीव, मन उपाधिक चिदाभास, भी, एक मात्र ब्रह्मानन्द की चाह रखता हुआ, सुषुप्ति के लिए दौड़कर शीघ्र ही हृदयाकाश में पहुँचता है। (इसश्लोकमें बृहदारण्यक (४-३-२२)में आए सन्दर्व 'तद्यथास्मिन्नाकाश' आदि का अभिप्राय कहा गया है।) ॥४९॥

'बालाकि ब्राह्मण' (बृ० २-१-१९) में आये तीन दृष्टान्तों का वर्णन

अतिबालः स्तनं पीत्वा-मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०॥

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक् ॥५१॥
महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२॥

अर्थ—जैसे दूधपीता बालक दूध पीकर कोमलशय्या पर पड़ा-पड़ा हंसता है; वह राग-द्वेषादि के उत्पन्न न होने के कारण (क्योंकि स्वकीय-परकीय की पहचान ही नहीं है) एकमात्र सुखमूर्ति बना रहता है। और सार्वभौम राजा, (अशुद्धबुद्धि होने पर भी), सब भोगों से तृप्त हुआ, मानुषानन्द की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर आनन्दमूर्ति बना रहता है। और महाब्राह्मण, ब्रह्म का साक्षात्कार करके, 'मैं कृत्यकृत्य हो चुका' इस आकार की, विद्यानन्दकी अन्तिम सीमा पर पहुँचकर, अर्थात् जीवन्मुक्त होकर परमानन्द रूप ही हो जाता है ; ठीक इसी प्रकार सोया हुआ पुरुष भी आनन्दस्वरूप हो जाता है ॥५०-५१-५२॥

इन तीनों का ही दृष्टान्त क्यों दिया है ? बताते हैं :—

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥

अर्थ—मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध--ये तीन ही लोकमें सुखी प्रसिद्ध हैं (विवेक शून्यों में दूधपीता बच्चा, विवेकियों में सार्वभौम राजा और अतिज्ञानियों में आत्म-साक्षात्कार का कर्ता ही सुखी हैं)

शेष तो सदा रागादिमान् हुए रहते हैं; इसलिए सुखी नहीं रहते : इसीलिए उनका दृष्टान्त नहीं दिया।

दार्ष्टान्त में दृष्टान्त को घटाते हैं :—

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४॥

अर्थ—कुमार आदि की भान्ति यह सुषुप्त भी, एकमात्र ब्रह्मानन्द का भागी बना रहता है। जैसे लोक में प्रिय स्त्री से आलिंगित कामी बाह्याभ्यन्तर-विषय के ज्ञान से शून्य रहने के कारण, सुखमूर्ति बना रहता है; ऐसे ही सुषुप्ति में प्राज्ञ परमात्मा से एकता अनुभव करने वाला जीव न बाह्य को जानता है न आभ्यन्तर (विषय) को जानता है : अतएव आनन्दरूप बना रहता है। इस श्लोक द्वारा बृहदारण्यक (४-२-२१) के अन्तर्गत ज्योतिर्ब्राह्मण नामक प्रकरण में आये 'तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो' वाक्य का अभिप्राय बताया है ॥५४॥

बाह्याभ्यन्तर शब्दों का विवक्षित अर्थ बतलाते हैं :—

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकृत्यं यथान्तरम्।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥

अन्वय—यथा रथ्यादिकं बाह्यं वृत्तं, गृहकृत्यं आन्तरं; तथा जागरणं बाह्यं, नाडीस्थः स्वप्नः आन्तरः।

अर्थ—जैसे गली, कूचा आदि बाह्य तथा घर के कार्य आन्तर वृत्तान्त कहलाते हैं; ऐसे ही जागरण बाह्य है और जाग्रत् की

वासना से नाड़ीमें प्रतीयमान प्रपंच (स्वप्न) आन्तर कहलाता है ॥

'जीव सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द रूप ही होता है'–इसमें युक्ति दिखाने वाली श्रुति का भावार्थ कहते हैं :–

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥

अन्वय–सुप्तौ पिता अपिता इत्यादौ जीवत्ववारणात् संसारित्वासमीक्षणात् सुप्तौ ब्रह्म एव; जीवः न ।

अर्थ–'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४-३-२२) इत्यादि श्रुति में कहा है कि सुषुप्ति के समय, पिता पिता नहीं रहता' इस प्रकार जीवत्व का निषेध कर देने के कारण सुषुप्ति में ब्रह्म ही रह जाता है, जीव नहीं रहता; क्यों कि उस समय संसारिभाव का पता नहीं चलता ॥५६॥

यह संसार देहाभिमानमूलक ही है

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥

अर्थ–"तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति" (बृ०४-३-२२) में बताया है कि पितृत्व आदि का अभिमान ही सुखदुःख की खान है : उसके हटने पर यह जीव सब शोकों के पार पहुँच जाता है । [यह संसार देहाभिमानमूलक है : देहाभिमान के हटते ही सब शोक अर्थात् संसार ही समाप्त हो जाता है ।] ॥५७॥

सुषुप्ति में प्राणी के सुखरूप होने का प्रमाण

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः ।

सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

अर्थ—"सुषुप्तिकाल में इस सम्पूर्ण प्रपंच के अपनी उपादानभूत तमःप्रधान प्रकृति में विलीन हो जाने पर उस तमोरूप प्रकृति से आच्छादित जीव सुखरूप ब्रह्म हो जाता है" —यह अथर्ववेद की श्रुति का अर्थ है ॥५८॥

श्रुतिके प्रमाण से ही नहीं, अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है :—

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

अर्थ—सोकर उठा मनुष्य "यहां मैं सुख से सोया, इतने समय में मैंने कुछ नहीं जाना" इस प्रकार सोने के समय हुए सुख और अज्ञान दोनों का स्मरण किया करता है । अतएव सुप्ति में सुख का होना अनुभवसिद्ध है ॥५९॥

स्मरण, यद्यपि प्रमाण नहीं है तथापि :—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥

अन्वय—परामर्शः अनुभूते: अस्ति तदा अनुभवः आसीत् । चिदात्मत्वात् सुखं स्वतः भाति; ततः अज्ञानधीः ।

अर्थ—क्यों कि स्मरण अनुभूत विषय का ही होता है अतएव यह निश्चित है कि सुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव था ।

(प्रश्न) सुषुप्ति में तो ज्ञान के मन-सहित, सब साधन विलीन

हो जाते हैं, तब फिर अनुभव होना कैसे मान लिया जाय ? यहाँ प्रश्न यह है कि सुखानुभवसाधन नहीं है या अज्ञानानुभवसाधन नहीं है? सुख तो स्वप्रकाश-चिद्रूप है; उसे साधन की अपेक्षा नहीं है—अज्ञानानुभव-साधन का अभाव भी नहीं है क्योंकि, सुख के स्वप्रकाश-रूप होनेसे उस का आवरक अज्ञान भी प्रतीत होगा ही ! इसीलिए कहते हैं-'चिदात्मत्वात्-इत्यादि। अर्थात् सुख चेतनात्मक है, अतएव वह बिना साधनों के ही प्रकाशित या ज्ञात हो जाता है और उसी स्वयंप्रकाश सुख के सहारे से उसे ढकने वाले अज्ञान की प्रतीति हो जाती है ॥६०॥

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥६१॥

अर्थ—क्योंकि वाजसनेयी शाखा वाले 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' ब्रह्म, 'विज्ञान' और 'आनन्द' दो प्रकार का है ऐसा कहते हैं, इसलिए जो स्वयंप्रकाश सुख है, वह सब ब्रह्मतत्व है। वह और कुछ नहीं है। अतएव सुषुप्ति में होने वाला स्वयंप्रकाश सुख भी ब्रह्मरूप ही है ॥

जब अनुभव और स्मरण का अधिकरण एक ही हो जाता है तो फिर 'मैं सुख से सोया, जाना नहीं' वाक्य से प्रकट किए गए सुख और अज्ञान को विज्ञानमय जीव स्मरण करता है; अतएव सुखादिका अनुभव भी उसी को होना चाहिए ? ऐसा नहीं है, क्योंकि उपाधि तो अज्ञान में विलीन हो जाती है :—

यदज्ञानं तत्र लीनौ विज्ञानमनोमयौ ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥

अर्थ—'मैंने उस समय कुछ नहीं जाना' इस स्मरण की अन्यथा-

सिद्धि न होने के कारण, हम जिस सौषुप्त अज्ञान को पहचानते हैं, उसी में प्रमाता एवं प्रमाण रूप से प्रसिद्ध विज्ञानमय और मनोमय दोनों विलीन हो जाते हैं अर्थात् विज्ञानत्वादि आकार को छोड़कर कारण रूप से अवस्थित हो जाते हैं। क्यों कि उस समय उन दोनों की विलयावस्था का ही नाम 'निद्रा' है। उसी निद्रा को विद्वान् लोग 'अज्ञान' भी कहते हैं।

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद्विज्ञानमयो घनः।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥

अर्थ–जैसे पिघला हुआ घी, पीछे जम जाता है; उसकी भान्ति ही, कर्मों के क्षय के कारण निद्रारूप से विलीन हुआ अन्तःकरण (जाग्रदवस्था आने पर) विज्ञानरूप में घन (गाढ़ा) हो जाता है। उस अवस्था में घन विज्ञान ही आत्मा की उपाधि होती है; तब आत्मा भी विज्ञानमय हो जाता है।] और विलीनावस्था में विद्यमान वही 'आनन्दमय' शब्द से कहा जाता था। जब वह विलीनावस्था की उपाधि था तब उसी को 'आनन्दमय' कहते थे। अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति में, अपनी विलयावस्था में, विज्ञानमय का स्वरूप-नाश नहीं होता–वह विलयावस्था रूपी उपाधि वाले आनन्दमय रूप से तो अनुभविता रहता है और विज्ञान शब्द-वाच्य घनी भाव-रूपी उपाधि वाले रूप से स्मर्ता बना रहता है।

'विलीनावस्था वाला आनन्दमय कहलाता है' वाक्य की व्याख्या करते हैं:–

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता।

सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४॥

अन्वय–सुप्तिपूर्वक्षणे या बुद्धिवृत्तिः सुखबिम्बिता, ततः तद्बिम्बसहिता लीना आनन्दमयः।

अर्थ—सुषुप्ति से ठीक पहले क्षण में जो अन्तर्मुखी बुद्धिवृत्ति स्वरूपभूत सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त होती है, उस क्षण के पश्चात्, उस प्रतिबिम्ब के सहित वही बुद्धि-वृत्ति निद्रारूप हो विलीन हो जाती है, तब वह 'आनन्दमय' कहलाती है ॥६४॥

आनन्दमय को सुखानुभव

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ।६५।

अन्वय–अन्तर्मुखः यः आनन्दमयः तदा ब्रह्मसुखं चिद्बिम्बयुक्ताभिः अज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः भुङ्क्ते।

अर्थ–वह अन्तर्मुख 'आनन्दमय' जो सुखप्रतिबिम्बसहितान्तर्मुखधीवृत्तियों से उत्पन्न संस्कार-सहिताज्ञानोपाधिवाला है; वह, तब, सुषुप्ति कालमें ब्रह्मसुख अर्थात् स्वरूपभूत सुख को, चिदाभास से युक्त, अज्ञानसे उत्पन्न हुई, सुखादि को अनुभव करने वाली सत्वगुण की परिणाम विशेष, वृत्तियों द्वारा अनुभव करता है ॥६५॥

तो फिर सुषुप्ति में भी सुखानुभव स्पष्ट प्रतीति क्यों नहीं होता ? क्योंकि :–

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६॥

अर्थ—वे अज्ञानवृत्तियां बहुत सूक्ष्म होती हैं अर्थात् इतनी स्पष्ट नहीं होतीं; जब कि बुद्धिवृत्तियां बहुत स्पष्ट होती हैं—यह बात वेदान्तसिद्धान्त के पारङ्गतजन बताते हैं ॥६६॥

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७॥

अर्थ—माण्डूक्य और तापनीय आदि श्रुतियों में यह बात स्पष्ट प्रतिपादित कर दी है कि आनन्दमय भोक्ता है और ब्रह्मानन्द भोग्य है ॥६७॥

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

अन्वय—एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः आनन्दमयः चेतोमयवृत्तिभिः आनन्दभुक् ।

अर्थ—'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः' (माण्डूक्य ५) में कहा है कि एकीभाव को प्राप्त सुषुप्ति का अभिमानी प्रज्ञानघन बनकर, आनन्दप्रचुर बन जाता है। वही आनन्दमय चैतन्य की अधिकतावाली (चेतोमय) वृत्तियोंसे आनन्द को भोगा करता है ॥६८॥

'एकीभूत' पद का अर्थ कहते हैं :—

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥६९॥

अन्वय—यः पुरा विज्ञानमयमुख्यैः रूपैः युक्तः सः अधुना लयेन एकतां प्राप्तः । बहुतन्दुलपिष्टवत् ।

अर्थ—जो आत्मा पहले जागरणावस्था में विज्ञानमय आदि 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः……' इत्यादि श्रुत्युक्त) आकार विशेषों से युक्त हो रहा था वही अब विज्ञान-मन-प्राण-चक्षु आदि उपाधियों के विलय हो जाने के कारण, एकरूप हो जाता है (यही 'एकीभाव' हो जाना है); जैसे बहुत से चावलों को पीस कर एक पिट्ठी बना ली गई हो ॥६९॥

'प्रज्ञानघन' शब्द का अर्थ :—

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमबिन्दूनामुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

अन्वय—पुरा प्रज्ञानानि बुद्धिवृत्तयः, अथ घनः अभवत् । यथा उदग्देशे हिमबिन्दूनां घनत्वं, तथा ।

अर्थ—जाग्रत् अवस्था में प्रज्ञानशब्दवाच्य और घटादि को गोचर करने वाली जो बुद्धिवृत्तियां थीं, वे सब अब सुषुप्ति में घटादि विषयों के न रहने के कारण, चिद्घन अर्थात् एकचेतनरूप हो जाती हैं; (इसी को प्रज्ञानघन होना कहते हैं) ; जैसे कि जलप्रदेश में हिम की बहुत सी बून्दें मिल कर घनरूप-पिण्ड-बन गई हों ॥७०॥

'प्रज्ञानघन' के प्रसंग में ही कुछ और कहते हैं :—

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ।

लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥

अन्वय—तत् साक्षिभावं घनत्वं लौकिकाः तार्किकाः दुःखभावं प्रचक्षते, यावद्दुःखवृत्ति विलोपनात् ।

अर्थ—जो यह वेदान्तों में साक्षिता नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञानघनता है, उसी को शास्त्रसंस्काररहित लौकिक जन और वैशेषिक आदि तार्किक भी दुःखाभाव कहते हैं क्योंकि उस समय जितनी भी दुःख-वृत्तियाँ हैं, वे सब की सब, विलीन हो जाती हैं ॥७१॥

पूर्वोक्त श्रुत्यन्तर्गत 'चेतोमुख' शब्द का अर्थ कहते हैं :—

अज्ञानबिम्बिता चित्स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्त्वा ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥

अर्थ—सुषुप्तिगत ब्रह्मानन्द के भोगने अर्थात् उसके आस्वादन के लिए मुख अर्थात् साधन, अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही है : (यही 'चेतोमुख' का अर्थ है) वह चैतन्य जीव पीछे पुण्यपाप-रूप कर्मों के वश हुआ, उस भुज्यमान ब्रह्मसुख को छोड़कर बाहर आता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था में पहुँच जाता है ।+ ॥७२॥

+घर में बैठा बालक माता की गोद में से उठ कर बाहर जाकर बालकों से खेलता है : खेलता-खेलता थक कर फिर मां की गोद में पड़कर थकावट मिटाता है तथा साथियों के बुलाने पर फिर खेलने बाहर चला जाता है ऐसे ही सुषुप्तिरूप घर में बैठी अज्ञान (कारणशरीर) रूप माता के विक्षेपशक्ति अंश-रूप गोद में से उठा, चिदाभासयुक्त अन्तःकरणरूप बालक, जाग्रत व स्वप्नरूप वाह्य देश में जा कर क्रिया के निमित्तभूत प्रारब्धकर्मरूप बालकों के साथ व्यवहाररूप खेल खेलता है ! जब जाग्रत- स्वप्नावस्थाके कर्मों का विराम होता

जागरण के कर्मज होने में प्रमाण

अर्थ–'पुनश्च जन्मातरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः' इस कैवल्य शाखा का अभिप्राय यह है कि 'जो जन्मान्तर में कर्म था उसके योग से फिर प्रबुद्ध हो जाता है अर्थात् जागरणावस्था में पहुँच जाता है।' इस प्रकार कैवल्य शाखा में जागरण अवस्था को कर्मों से उत्पन्न बताया है ।।७३।।

'सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द अनुभव होता है' इसका हेतु

कञ्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ।७४।

अन्वय–प्रबुद्धस्य कंचित् कालं ब्रह्मानन्दस्य वासना अनुगच्छेत्, यतः निर्विषयः सुखी तूष्णीं आस्ते ।

अर्थ–जाग जाने पर, कुछ समय तक तो, सुषुप्ति में अनुभूत ब्रह्मानन्द के संस्कार, चालू रहते ही हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि प्राणी जागरण के आरम्भमें किसी विषय का अनुभव न करता हुआ भी, सुखी हुआ, चुपचाप बैठा रहता है [जागने वाले की इस चेष्टा से हम जानते हैं कि सुषुप्ति में इसने आनन्द भोगा था और अब भी उस आनन्द-भोग के संस्कारों के सहारे बिना किसी विषय के भी सुख अनुभव कर रहा है ।] ।।७४।।

है तब अज्ञानरूप माता की गोद में स्थित (विलीन) होकर, सुषुप्तिरूप घर के ब्रह्मानन्द को अनुभव करता हुआ, उन अवस्थाओं में किये व्यवहारों से जन्य विक्षेपरूप थकावटको दूर करता है। और भोगप्रद कर्मरूप बालक जब उसे फिर बुलाते हैं (प्रेरणा करते हैं) तो फिर जाग्रतस्वप्नावस्थारूप बाह्यप्रदेश में चला जाता है।

फिर चुप ही क्यों नहीं बैठा रहता ? क्यों कि :—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चाज्ज्ञानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥७५॥

अर्थ—(कुछ काल पीछे) कर्मों से प्रेरित हुए सब प्राणी संसार के नाना दुःखों को भावना करते-करते क्रमशः ब्रह्मानन्द को भूल जाते हैं ॥७५॥

ब्रह्मानन्द के विवादास्पद न होने का एक दूसरा हेतु कहते हैं :—

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ॥

अर्थ—सब मनुष्यों का, प्रतिदिन-निद्रा से पहले और पीछे-ब्रह्मानन्द की ओर झुकाव बना रहता है : [इसीलिए तो सोने के लिए कोमल शय्या जुटाता और सोने के पश्चात् उसके सुख को छोड़ना नहीं चाहता और चुपचाप बैठ उसका स्मरण करता है ।] जब यह बात है तब ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो ब्रह्मानन्द के विषय में विवाद करे : वह तो विवादास्पद है ही नहीं ॥७६॥

ननु तूष्णींस्थितौ ब्रह्मादन्दश्चेद्भाति लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ।

अर्थ—(शंका) यदि चुप बैठने से ही ब्रह्मानन्द मिल सकता है तो लौकिक साधारण जन और आलसी सब कृतकृत्य हो जायेंगे । तब शास्त्र श्रवणादि में परिश्रम अथवा गुरुसेवा आदि की क्यों

आवश्यकता होगी ? ॥७७॥

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ।
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥

अर्थ-(समाधान) ठीक है, यदि चुप बैठने वाले वे लोग ब्रह्म "यह है" यह जान जांय+ तब तो वे इतने मात्र से-चुप बैठने मात्र से-चरितार्थ हो जांय परन्तु अत्यन्त गम्भीर, वाङ्मन आदि के अगोचर, ब्रह्म को गुरु और शास्त्र के बिना अन्य किसी उपाय से कौन जान सकता है ? ॥७८॥

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृणवत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥
चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥८०॥
संख्यामेवैष जानाति न वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

+दूसरे पत्थरों की भान्ति पड़े चिन्तामणि को देख लेने या गड़े धन से जैसे कोई लाभ नहीं होता, जब तक कि 'चिन्तामणी' को वस्तुतः पहचान नहीं लेता : ऐसे ही सुषुप्ति में विषयसुख की भान्ति अनुभूत ब्रह्मानन्द से भी अनर्थ की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि अनर्थ का कारण अज्ञान विद्यमान रहता है। जब यह विशेषरूप से यह जान लेता है कि 'यह सुषुप्ति का आनन्द नित्य निरतिशय मेरा निजरूप ब्रह्म है' तब अज्ञान निवृत्त होता है और उससे कर्तव्यरूप अनर्थ की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

अर्थ—(प्रश्न) मैं तुम्हारे कहने से तो ब्रह्मानन्द को जानता हूं-फिर मैं क्यों नहीं कृतार्थ हुआ (उत्तर) इस प्रश्न के उत्तर में अपने सरीखे किसी प्राज्ञंमन्य की बात सुन लो "चारों वेदों के ज्ञाता को धन देना है" यह वाक्य सुन कर कोई तुम्हारे जैसा ही कह उठा—"वेद चार हैं" यह तो (तुम्हारे कथनको सुनकर ही) मैं भी जानता हूँ, 'मुझे धन दो।' बस ऐसा ही तुम्हारा भी कथन है। (प्रश्न) पर वह तो वेदों की चार संख्या को ही जानता है, सम्पूर्ण वेदों को नहीं जानता ? (उत्तर) उस भ्रान्ति अपने आपको चतुर्वेदज्ञ मानने वाले तुम भी सम्पूर्ण ब्रह्म को नहीं जानते ॥७९-८०-८१॥

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥८२॥

अन्वय—मायातत्कार्यवर्जिते अखण्डैकरसानन्दे अशेषत्वसशेषत्व-वार्तावसरः एव कः ?

अर्थ—(प्रश्न) माया और उसके कार्य से रहित अखण्डैकरसानन्द ब्रह्म में सम्पूर्ण और अधूरेपन की बात का अवसर ही कहाँ है ? ॥८२॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३॥
अर्थे व्याकरणाद्बुद्धेः साक्षात्कारोऽवशिष्यते।
स्यात्कृतार्थत्वधीर्योवत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

अर्थ—(उत्तर) 'अखण्डैकरस' 'मायावर्जित' आदि शब्दों को ही

पढते हो अथवा उनके स्वगतादिभेदशून्य आदि अर्थों को भी जानते हो ? (१) यदि केवल शब्दों का पाठ ही करते हो तब तो, अर्थबोध (साक्षात्कार) का सम्पादन करना अभी शेष है। (२) यदि व्याकरण और शास्त्र आदि से अर्थ जान भी लिया, परोक्षज्ञान का सम्पादन हो भी, गया हो तो भी, साक्षात्कार, अपरोक्ष ज्ञान, शेष है। ज्ञान को पूरा करने के लिए तो, जब तक कृतार्थ होने की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक गुरु की उपासना करते रहो। कृतार्थत्व बुद्धि के उत्पन्न होने पर ही ज्ञान की पूर्णता समझनी चाहिए ।।

अब फिर प्रसंग की बात पर आते हैं :—

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ।
तत्र सर्वत्र विद्धयेतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥

अर्थ–अथवा यह सब रहने दो। अब प्रसंग पर आते हैं। जब-जब (चुप बैठ रहने आदि के समय) विषयों के बिना ही सुख होता हो, तब-तब सर्वत्र इस ब्रह्मानन्द की वासना अथवा 'वासनानन्द' को समझलो। विषयानुभव के बिना मिलने वाला सुख विषयजन्य न होने तथा सामान्य अहंकार से आच्छादित होने के कारण 'वासनानन्द' कहलाता है ।। ८५।।

विषयानन्द का पुनः कथन

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥८६॥

अर्थ–विषयोंके प्राप्त हो जाने पर भी, उनकी इच्छाके शान्त होते

ही, अन्तर्मुख हुए मन में आनन्द प्रतिबिम्बित हुआ करता है। यही 'विषयानन्द' + या ससार का सुख है ॥८६॥

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्।
ह्यन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥

अर्थ—अतएव सुषुप्ति में स्वप्रकाशरूप से भासमान 'ब्रह्मानन्द', चुप बैठ रहने के समय विषयानुभव के बिना प्रतीयमान वासनानन्द और अभीष्ट विषय की प्राप्ति से अन्तर्मुख मन में प्रतिबिम्बित विषयानन्द इन तीन प्रकार के आनन्दों को छोड़कर, जगत् में कोई किसी प्रकार का आनन्द नहीं है।* ॥८७॥

+अभीष्ट विषय प्राप्त हो जाने पर चञ्चल राजसी वृत्ति निवृत्त हो जाती है और प्राप्त विषयकी ज्ञानरूप सात्विक वृत्ति से विषयोपहितचेतनस्वरूप आनन्द की प्रतीति होती है : यह वृत्ति विषयरूप निमित्त से हुई है—इसलिए विषयानन्द कहलाता है।

अथवा वांछित विषयके ज्ञानसे इच्छारूप वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है और उस निमित्तसे ही अन्य अन्तर्मुखवृत्ति उत्पन्न होती है, उससे अन्तःकरणोपहित आनन्द का भान होता है। यह अन्तर्मुखवृत्ति अथवा उस वृत्ति में जो स्वरूपआनन्दका प्रतिबिम्ब होता है वह विषयानन्द कहलाता है। उसी को प्रतिबिम्बानन्द अथवा लेशानन्द भी कहते हैं—इससे ही ब्रह्मा से लेकर चींटीं पर्यन्त सब जीव निर्वाह करते हैं।

*(प्रश्न) (१) इस प्रकरण के ११ वें श्लोक में ब्रह्मानन्द, विद्यासुख विषयानन्द नाम से तीन प्रकार का आनन्द बताया था; अब ब्रह्मानन्द वासना और प्रतिबिम्ब नाम से तीन प्रकार का आनन्द बताया; भला क्या यह पूर्वापर विरोध नहीं है ? (२) फिर ९८ वें तथा १२१ श्लोक में इनसे

शेष दो आनन्द ब्रह्मानन्द से ही उत्पन्न हुए हैं :—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥

अन्वय—तथा च स्वयंप्रभः ब्रह्मानन्दः, विषयानन्दः, वासनानन्दः

सर्वथाभिन्न निजानन्द और मुख्यानन्द (३) आत्मानन्द नामक द्वितीय अध्याय में (१२ वें प्रकरण के चौथे श्लोक में) 'आत्मानन्द' (४) त्रयोदश प्रकरण के प्रथम श्लोक में योगानन्द। (५) और उसी प्रकरण के १०५ वें श्लोक में 'अद्वैतानन्द' का उल्लेख है। फिर यह कहना कि ८९ वें श्लोकमें कहे आनन्दों के अतिरिक्त और कोई आनन्द नहीं है—क्या परस्पर विरुद्ध नहीं है ?

(उत्तर) यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि विद्यानन्द भी विषयानन्द की भान्ति अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष है अतएव विषयानन्द के अन्तर्गत है। १४ वें प्रकरण के दूसरे श्लोक में विद्यानन्द को बुद्धिवृत्ति वता कर उसे विषयानन्द के अन्तर्गत वताया ही है। अतएव विद्यानन्द विषयानन्द से पृथक् नहीं है। (२) निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द, ब्रह्मानन्द से पृथक् नहीं हैं इसका प्रतिपादन आगे यथास्थान किया गया है। अतएव वस्तुतः 'ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द—ये तीन ही—आनन्द है।

(प्रश्न) परन्तु १२ वें प्रकरण के प्रथम श्लोक में तो निजानन्द को स्पष्ट ब्रह्मानन्द और वासनानन्दसे पृथक् वताया है ? (उत्तर) वहां ब्रह्मानन्द तो एक ही है परन्तु जगत् के कारणपने की उपाधि से रहित या सहित होने मात्र से भेद कथन है। 'आनन्द से ही भूत उत्पन्न होते हैं' वाक्य में तो जगत् के कारण का निरूपण है अतएव यहां ब्रह्मानन्द को मायासहित वताया है। और निजानन्द निरूपण के समय "जितना जितना अहंकार विस्मरण होता है" इत्यादि वाक्यों से कारणसहित अहंकार का विलय प्रतिपदित होनेसे निजानन्द मायारहित है। इस प्रकार इनमें परस्पर विरोध नहीं है।

इति अमू आनन्दौ जनयन् आस्ते ।

अर्थ—इस प्रकार इन तीन प्रकार के आनन्दों में से जो स्वयं-प्रकाश ब्रह्मानन्द है, वह शेष दो आनन्दों को उत्पन्न किया करता है ॥८८॥

जागरण में ब्रह्मानन्द के ज्ञानके उपाय का कथन-आरम्भ

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥

अर्थ—श्रुति (सुषुप्तिकाले सकले विलीने आदि), युक्ति (सुखहम-स्वाप्सं आदि परामर्श की सिद्धि) और अर्थापत्ति से कल्पित सुषुप्ति के अनुभव से, सुषुप्तिकाल में स्वयंप्रकाश-चैतन्यरूप ब्रह्मानन्द के सिद्ध होने पर अब जागरणकाल में भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के उपाय सुनो ॥८९॥

उपाय का वर्णन करने से पहले भूमिका रूप में, जीव का दो अवस्थाओं में आना और उसके निमित्त का वर्णन करते हैं :—

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥

अन्वय—सुप्तौ यः आनन्दमयः सः विज्ञानमयात्मतां गत्वा स्थानभेदतः स्वप्नं वा प्रबोधं प्राप्नोति ।

अर्थ—सुषुप्तिकाल में, (६३वें श्लोक के अनुसार)जो 'आनन्दमय' है वह विज्ञानमय शब्दकी वाच्य बुद्धि उपाधिवाला है, अतएव विज्ञा-नमयता को प्राप्त होकर, स्थानभेद से, वक्ष्यमाण स्थानविशेष के

योगसे, कर्मानुसार स्वप्न अथवा जागरण अवस्थामें पहुंच जाता है।

जाग्रत् आदि अवस्थाओं के देह में स्थान

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥६१॥

अर्थ–नेत्र अर्थात् उपलक्षण से देहभर में जागरण अवस्था होती है; कंठस्थान में स्वप्न और हृदयकाल में सुषुप्ति मानी गई है। नेत्र से देहमात्र का ग्रहण है इसलिए चेतन जीव, पाँवों से लेकर मस्तकपर्यन्त समस्त देह को व्याप्तकर जाग्रत् अवस्था में पहुँचता है ॥६१॥

'देह को व्याप्त कर' इस वाक्यखण्ड का स्पष्टीकरण दृष्टान्त से करते हैं:—

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥६२॥

अर्थ–तपे हुए लौह पिण्ड की भान्ति (जैसे तपे हुए लौहपिण्ड के साथ अग्निका तादात्म्य हो जाता है इसीप्रकार) वह मनुष्यत्वादि जाति वाले, देह के साथ तादात्म्य को प्राप्तकर लेता है। इससे वह 'मैं मनुष्य हूं' यह निस्सन्दग्ध निश्चय करके ही बैठता है ॥६२॥

देह में तादात्म्याभिमान से होने वाली अन्य अवस्थाएं

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥

अर्थ–उदासीन सुखी और दुःखी इन तीन अवस्थाओं को, यह

देहतादात्म्याभिमानी जीव, प्राप्त होता है। इनमें से सुख और दुःख तो कर्मजन्य हैं (अर्थात् सुखीपन और दुःखीपन कर्मजन्य हैं) और उदासीनता स्वभाव से (कर्म बन्द हो जाने पर) आती है ॥९३॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥९४॥

अर्थ–'बाह्यभोग' तथा 'मनोराज्य' इन दो भिन्न-भिन्न निमित्तों से मिलने वाले दो प्रकार के सुख-दुःख होते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य जब कि न सुख होता है, न दुःख, तब चुप रहने की नाना अवस्थाएं होती हैं ये ही उदासीन अवस्था के समय हैं ॥९४॥

जिस प्रयोजन से जाग्रदादि अवस्थाओं का वर्णन किया, वह अब दिखाते हैं :–

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन्।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥

अन्वय–अखिलः जनः 'अद्य मे का अपि चिन्ता न अस्ति, सुखं आस' इति ब्रुवन् औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्ति।

अर्थ–सब लोग 'आज मुझे कोई चिन्ता नहीं; सुख से बैठा हूँ' कहते हुए उदासीनता में निजानन्द (स्वरूपानन्द) की स्फूर्ति को प्रकट करते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जागरण में भी निजानन्द की प्रतीति होती है ॥९५॥

और उदासीनतामें प्रकाशमान यह निजानन्द, ब्रह्मानन्द नहीं है, क्योंकि :–

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किंत्वसौ तस्य वासना ॥

अन्वय–'अहं अस्मि' इति अहकारसामान्याच्छादितत्वतः अयं निजानन्दः मुख्यः न। किन्तु असौ तस्य वासना।

अर्थ—'मैं हूं' इस प्रकार के एक सामान्य ('देवदत्त हूँ' इस प्रकार के विशेष अहंकार से भिन्न) अथवा सूक्ष्म अहंकार से आवृत रहने से यह 'निजानन्द' मुख्यानन्द नहीं है, किन्तु यह उसकी वासना है-इसीलिए इसे 'वासनानन्द' कहते हैं! 'मुख्यानन्द' में 'मैं हूँ' ऐसा अस्पष्ट अहंकार भी नहीं होना चाहिए ॥९६॥

मुख्यानन्द से भिन्न वासनानन्द की सत्ता को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम्।
किंतु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ॥९७॥

अर्थ–जल से भरे घड़े के बाहर प्रतीत होने वाली शीतलता को पानी नहीं कहते (क्यों कि उसमें द्रवत्व नहीं है); शीतलता तो पानी का एक गुण है : उससे पानी के होने का अनुमान हो जाता है। यहाँ अनुमान इस प्रकार होगा :–घट में प्रतीयमान, विवादास्पद शैत्य, जल-जन्य है; क्योंकि शीतलता है, जैसे कि जल में उपलभ्यमान शीतलता जलजन्य है ॥९७॥

इसी प्रकार वासनानन्द से मुख्यानन्द का अनुमान होता है :—

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ॥९८॥

अन्वय–अभ्यासयोगतः यावत् यावत् अहंकारः विस्मृतः तावत्

तावत् सूक्ष्मदृष्टेः निजानन्दः अनुमीयते ।

अर्थ—'ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इस श्रुति में कही गई निरोध-समाधि के अभ्यास से अहंकार का जितना जितना विस्मरण होता जायगा (अहम् आदि वृत्तियों के विलय से चित्त में जितनी सूक्ष्मता आती जायगी) निजानन्द भी उतना ही व्यक्त होता जायगा—यह अनुमान है ।

अभिप्राय यह है :—अहंकार का संकोच करने के लिए जिन क्षणों में हम बैठते हैं उनमें पिछले-पिछले क्षणों में, पहले-पहले क्षणों से अधिक निजानन्द आविर्भूत होता जाता है क्योंकि अहंकार का संकोच करने वाले क्षणों की लम्बाई उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है । अहंकार के विस्तार ने जिस निजानन्द को ढक रखा था वह, अब, अहंकार का संकोच होने से उघड़ने लगता है—जैसे जैसे अहंकार का संकोच बढने लगेगा, वैसे-वैसे निजानन्द भी बढता जायगा । अनुमान का रूप इस प्रकार होगा :—अहंकार के संकोच से युक्त द्वितीय आदि क्षण, पहले-पहले क्षणों से अधिक आनन्द (निजानन्द) वाले हैं, अहंकार के संकोचविशेष से युक्त कालरूप होने से, अहंकार के संकोच से युक्त प्रथम क्षण के समान । अभिप्राय यह है कि अभ्यास योग से जितना-जितना अहंकार विस्मृत होता जाता है उतना-उतना निजानन्द सूक्ष्मदृष्टि से अनुमित होता जाता है ।

साक्षात्कार होने तक बुद्धि सूक्ष्म होती जाती है :—

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥

अर्थ—अहंकार पूरी तरह विस्मृत होकर परम सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु (वृत्तियों के विलीन हो जाने पर भी) अन्तःकरण का स्वरूप से विलय नहीं होता; इसलिए इस अवस्था को निद्रा नहीं

कह सकते। आचार्यों ने कहा है कि 'बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः' अर्थात् निद्रा (सुषुप्ति) वह है जब बुद्धि कारण रूप में पहुँच जाय। अन्तःकरणके स्वरूपका विलय होने का चिह्न यह है कि इसी कारण (समाधिकाल में) योगी का देह निद्रा की भान्ति गिर नहीं पड़ता-जहाँ सुषुप्ति आदि में अहंकार का लय हो जाता है वहाँ देहपात होता पाया जाता है ॥९९॥

अभिप्राय यह है कि :—

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्।
ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

अर्थ—जिस समय न तो द्वैत की प्रतीति है, निद्रा भी नहीं आती, उस समय जो सुख प्रतीत होता है वह ब्रह्मानन्द है। यह बात भगवान् ने अर्जुन को (गीता के छठे अध्याय में) बताई है।

गीता के उपरिनिर्दिष्ट श्लोकों का अभिप्राय कहते हैं :—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

अन्वय—धृतिगृहीतया बुद्ध्या शनैः शनैः उपरमेत्; मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत्।

अर्थ—मनुष्य धीर बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे (सहसा नहीं) मन को शान्ति करे। जब मन को आत्मसंस्थ कर चुके (जब, मन को निश्चय हो जाय कि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है,) तब फिर कुछ न सोचे। यही योग की अन्तिम स्थिति है ॥१०१॥

इस अवस्था की सिद्धि के लिए पहले क्या करे ? :—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

अन्वय–चञ्चलं अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति, ततः ततः नियम्य एतत् आत्मनि एव वशं नयेत् ।

अर्थ–स्वभावदोष से चञ्चल एक विषय में बन्धकर न रहने से अस्थिर मन जिस जिस शब्दादि को संसारपरिभ्रमण का निमित्त बनाकर बाहर निकलता है उस-उस शब्दादि की ओर से उसको रोककर, (उन शब्दादि में मिथ्यात्व आदि दोष दिखाकर व वैराग्य की भावना दे देकर उन से हटाकर) इस मन को आत्मा के वश में करता जाय । इस प्रकार योगाभ्यास करने से मन आत्मा में शान्त हो जाता है ॥१०२॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

अन्वय–शान्तरजसं प्रशांतमनसं ब्रह्मभूतं अकल्मषं एन योगिनं उत्तमं सुखं उपैति हि ।

अर्थ–मोहादिक्लेश तथा रजोगुण के शान्त हो जाने से जिसका मन विक्षेप से सर्वथा (शून्य होने से) शान्त हो गया है–उस ब्रह्मभूत, 'यह सब ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान हो जाने के कारण जो जीवन्मुक्त है; पापरहित इस योगी को उत्तम सुख मिलता है–ऐसा सुख मिलता है जिसमें, क्षीण होने की अथवा उससे अधिक कहीं पाये जाने की आशंका नहीं है ॥१०३॥

उक्त संक्षिप्त अर्थ का गीता में निम्न प्रकार विस्तार है :—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।१०५।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।१०६।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।१०७।

अर्थ—चित्त जिस समय योगानुष्ठान से, सब विषयों से हटाया जाकर उपराम हो जाता है तथा जिस समय (आत्मा से अर्थात्) समाधि-शुद्ध अन्तःकरण से (आत्मा को) उत्कृष्ट ज्योति-स्वरूप चैतन्य को उपलब्ध करता हुआ अपने आप में ही (विषयों में नहीं) तुष्टि पाने लगता, और जिस समय आत्मा में स्थित यह योगी, अनन्त इन्द्रिय निरपेक्ष केवल बुद्धि से ग्राह्य, अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की पकड़ में न आने वाले एवं विषयों से उत्पन्न न होने वाले) सुख को अनुभव करता है और आत्मा में स्थित हुआ यह योगी तत्व से—आत्मस्वरूप—से च्युत नहीं होता, उसे कभी नहीं भूलता; और जिस आत्मा को प्राप्त करके, किसी दूसरे लाभ को उससे अधिक लाभ मानना छोड़ देता है, और जिस आत्मतत्व में स्थित

हुआ योगी बड़े से बड़े दुःख से भी (शस्त्राघात आदि भयङ्कर घटनाओंसे हुए दुःख से भी प्रह्लाद आदि की भान्ति) विचलित नहीं होता; उस, दुःखों के संयोगों का वियोग कर देने वाली अवस्था को 'योग' जानो। यह 'योग' निश्चय (अध्यवसाय) से और निर्वेद-रहित चित्त के साथ करना योग्य है ॥१०४–१०७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८॥

अर्थ—विगतपाप (योग में आये विघ्नों से अछूता रहने वाला) योगी, सदा ऊपर कही रीति से आत्मा का अनुसन्धान करता-करता, बिना प्रयास के ब्रह्म-स्वरूपभूत निरतिशय (अविनाशी) सुख को प्राप्त कर लेता है ॥१०८॥

धीरज से योगाभ्यास करते-करते ही फल मिलता है :—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

अन्वय—कुशाग्रेण एकबिन्दुना उदधेः उत्सेकः यद्वत् तद्वत् मनसः निग्रहः अपरिखेदतः भवेत् ।

अर्थ—कुशाग्र से उठाई हुई एक-एक छोटी-छोटी बून्द करके समुद्र को जैसे धीरज रखने से उलीचा जाना सम्भव है, वैसे मन का निग्रह भी अखण्ड धीरज से संभव है। [यह बात टटीहरी की लोक-प्रसिद्ध कथा को ध्यान में रखते हुए कही गई है] ॥१०९॥

यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा में भी ऐसा ही बताया है :—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।

प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥

अर्थ–मैत्रायणी नाम की शाखा में शाकायन्य नाम के ऋषि ने अपने शिष्य बृहद्रथ नाम राजर्षि को, समाधि वर्णन के साथ-साथ ही ब्रह्मसुख का कथन किया है ॥११०॥

वहां का है :—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

अर्थ–जैसे ईंधन से रहित हुआ अग्नि अपने कारण (अग्नि) महाभूत) में शान्त हो जाता है अर्थात् ज्वाला रूप का त्याग कर तेजोमात्र रूप में अवस्थित हो जाता है : उसी प्रकार अन्तःकरण भी वृत्तिक्षय हो जाने से (निरोध समाधि के अभ्यास से राजसादि सब वृत्तियों का नाश हो जाने पर) अपने कारण (सत्वमात्र) में शान्त हो जाता है। चित्त न रहकर केवलमात्र सत्य शेष रह जाता है ॥१११॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२॥

अन्वय–सत्यकामिनः स्वयोनौ उपशान्तस्य इन्द्रियार्थविमूढस्य मनसः कर्मवशानुगाः अनृताः ।

अर्थ—उस समय एकमात्र सत्य आत्मा के कामी, अपने कारण में शान्त तथा स्थित, विषयों से अपना मुंह मोड़े हुए, मन के लिए, कर्मवश से प्राप्त होने वाले, साधनों सहित सुखादि, मायिकता

की प्रतीति हो जाने के कारण, मिथ्या हो जाते हैं ॥११२॥

इस जगत् का उपादान जब चित्त नहीं है, तब, उसकी शान्ति से जगत् का मिथ्याज्ञान क्यों ?

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥११३॥

अर्थ—चित्त ही संसार है [यह संसार चित्त के कारण ही भोग्य बनता है। सुषुप्ति मूर्छा आदि में चित्त का विलय हो जाने से भोग भी नहीं रहता—इसको सब अनुभव से जानते ही हैं।] जब संसार चित्तात्मक है तो उस चित्त को ही अभ्यास आदि प्रयत्नों से शोधना चाहिए,—रज, तम आदि दोषों से मुक्त करना चाहिए। जिस देहीका चित्त जिस, पुत्रादि, में लगा रहता है, वह उसमें तन्मय हुआ रहता है; उन पुत्रादि की पूर्णता व अपूर्णता को अपने में ही भलीभान्ति आरोपित कर लेता है। यह एक सनातन, सदा से चला आया रहस्य है। अभिप्राय यह है कि स्वभाव से शुद्ध आत्मा में चित्त के सम्पर्क से ही संसारीपन आया है; [ध्यायतीव, लेलायतीव] अतएव चित्त के शोधन से ही आत्मा की संसार से निवृत्ति सम्भव है ॥११३॥

चित्त शुद्धि से क्या होगा ?

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

अर्थ—चित्त प्रसन्न हो जाने पर अर्थात् चित्त में ब्रह्मतत्व का

अनुसन्धान करने की योग्यता आ जाने पर मनुष्य शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर लेता है। और जिसका आत्मा अर्थात् चित्त प्रसन्न हो गया है, वह, ब्रह्म में स्थित होकर, अद्वितीय ब्रह्म को, 'मैं भी यही हूँ' ऐसा निश्चय हो जाने पर, सम्पूर्ण दृश्यों को छोड़ने से चिन्मात्र-रूप में स्थित रहकर, अविनाशी सुख को पा लेता है ।।

पूर्वोक्त श्लोक के अर्थ को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं :—

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ।।

अन्वय—जंतोः चित्तं विषयगोचरे यथा समासक्तं, तत् ब्रह्मणि यदि एवं स्यात् कः बन्धनात् न मुच्येत ?

अर्थ—प्राणी का चित्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति की भूमि, विषय, में जैसे भलीभान्ति स्वभाव से आसक्त रहता है, वह ब्रह्म में यदि उसी प्रकार रम जाय तो भला कौन इस संसारसे मुक्त न होगा ।।११५।।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ।।

अर्थ—मन दो प्रकारका है; शुद्ध और अशुद्ध । कामके सम्पर्क से मन अशुद्ध हो जाता है और काम (क्रोधादि) से रहित मन शुद्ध कहलाने लगता है ।।११६।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।

अर्थ–मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है; 'विषयासक्त' मन बन्धवाता है और 'निर्विषय' मन मुक्ति दिलाता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥११८॥

अर्थ–प्रत्यक्स्वरूप आत्मा में लगाए हुए, समाधिजल अर्थात् प्रत्यक् एवं ब्रह्म के एकत्व ज्ञान के अभ्यास से जिसका धूलिमल धो दिया गया है ऐसे चित्त को (समाधि में) जो आनन्द मिलता है : वह सुख अलौकिक होने के कारण वाणी से वर्णनीय नहीं है। वह तो आत्मस्वरूपभूत सुख है जो केवल अन्तःकरण से गृहीत हुआ करता है ॥११८॥

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम्।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥

अर्थ–यद्यपि चिरकाल तक स्थिर रहने वाली वह समाधि मनुष्यों को दुर्लभ है, तथापि क्षणिक भी वह (समाधि) ब्रह्मानन्दका निश्चय करा देती है ॥११९॥

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा।
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन्विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥

अर्थ–जो इस समाधिका श्रद्धालु और व्यसनी होता है अर्थात्

जिसको समाधिसिद्धि करने का आग्रह हो जाता है, वह इस क्षणिक समाधि में आनन्द मिलने का पूरा निश्चय करके ही मानता है। और एक बार भी इस ब्रह्मानन्द का निश्चय हो जाने पर, वह अन्य समय भी ब्रह्मानन्द के होने का अचल विश्वास रखता है ॥१२०॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१॥

अर्थ—श्रद्धा द्वारा एक बार निश्चय कर लेने वाला पुरुष उदासीनता की अवस्था में आने वाली पूर्वोक्त आनन्दवासना की उपेक्षा करके, मुख्यानन्द की लगनलगाये, मुख्यानन्द की ही भावना किया करता है ॥१२१॥

निजानन्द भावना का दृष्टान्त और उसका दार्ष्टान्तिक में समन्वय

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१२३॥

अर्थ—जैसे पर-पुरुष-संभोगके व्यसन वाली नारी, घरके कामों में व्यग्रसी दीखती भी, भीतर ही भीतर (मनमें) उसी परसङ्गरस का स्वाद लेती रहती है। इसी प्रकार 'पर' तथा 'शुद्ध' आत्मतत्व में (एकवार क्षण भर के लिए भी) विश्राम प्राप्त कर लेने वाला धीर-पुरुष, बाहरसे लौकिक व्यवहार करता हुआ भी मन में उसी आत्म-

तत्त्व का आस्वादन किया करता है ॥१२३॥

धीर शब्द का यहां क्या अर्थ है ?

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्त्तनम् ॥

अन्वय–अक्षप्राबल्ये अपि आनन्दास्वादवांछया अखिलाक्षाणि तिरस्कृत्य तच्चिन्तायां प्रवर्तनं धीरत्वम् ।

अर्थ–इन्द्रियां मनुष्य को विषय की ओर खींच ले जाने में समर्थ भी हों, तो भी, आत्मसुखका आस्वाद लेने की इच्छा से, सब इन्द्रियों का निरादर कर, आनन्दचिन्ता में ही लगे रहना 'धीरता' कहलाती है ॥१२४॥

विश्रान्ति शब्द के विवक्षित अर्थ को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं :—

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥

अर्थ–जैसे लोक में बोझ ढोने वाला, थकावट दिलाने वाले सिर के बोझ को छोड़कर, थकावट दूर करता है, ऐसे ही साँसारिक व्यापार को छोड़कर 'मैं अब श्रमरहित हो गया हूँ' इस प्रकार की उत्पन्न होने वाली बुद्धि को 'विश्रम' कहते हैं ॥१२६॥

विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

अर्थ–ऊपर बताई निरतिशय विश्रान्ति को पा लेने वाला पुरुष,

अपनी उदासीन दशा में जैसे परमानन्दास्वादन में लगा रहता है, वैसे ही सुख और दुःख की दशाओं में भी परमानन्दास्वादनमें तत्पर रहता है ।१२६।।

निजानन्द को छोड़कर विवेकी को दुःख तो क्या सुख की भी इच्छा नहीं होती:-

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥१२७॥

अर्थ—जब किसी के लिए (सती स्त्री के लिए) अग्नि प्रवेश का कोई कारण उपस्थित हो जाता है तब, शृंगार के विषय में जैसी (वैर) बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही वैराग्यादिसाधनसम्पन्न विवेकी धीर की ब्रह्मानुसन्धान के विरोधी विषयसुख में भी वैर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। अभिप्राय यह है कि विषयसुख से मनुष्य बहिर्मुख हो कर आत्मानुसन्धान के अयोग्य हो जाता है; अतएव विवेकी लोग विषयसुख की इच्छा नहीं करते ।।१२७।।

विवेकी की बुद्धि द्वारा दोनों आनन्दों का उपभोग

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥
एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥१२८॥

अन्वय—एषा बुद्धिः अविरोधिसुखे च स्वानन्दे काकाक्षिवत् क्रमात् इतः ततः गमागमौ कुर्वन्ती आस्ते ।। काकस्य दृष्टिः एका एव वामदक्षिणनेत्रयोः याति आयाति । एवं तत्त्वविदः मतिः आनन्दद्वये ।

अर्थ–यह बुद्धि अविरोधी विषयसुख में और स्वरूपानन्द में, कौवे की पुतली की भान्ति कभी उसमें कभी इसमें, गमना-गमन करती रहती है। कौवे की दर्शनशक्ति एक ही होती है; वह बायें-दायें गोलकों में क्रमशः गमनागमन करती है। इसी प्रकार विवेकी की बुद्धि भी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द–दोनों आनन्दों–में आती जाती रहती है ॥१२८॥

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानदं च तत्त्ववित्।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

अर्थ–तत्वज्ञानी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों को एक साथ भोगता हुआ, दुभाषिये के समान लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के आनन्दों को जाना करता है ॥१३०॥

उद्वेग में भी निजानन्द का अनुभव

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक्।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥

अन्वय–यतः द्विदृक्, दुःखप्राप्तौ यथापूर्वं च उद्वेगः न; यथा गंगामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीः

अर्थ–क्योंकि विवेकी लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारों पर दृष्टि रखता है, इसलिए दुःख में भी, अज्ञानावस्था की भान्ति उसे उद्वेग नहीं होता। अतएव दुःखानुभव के समय भी वह निजानन्द को नहीं भूलता। जैसे गङ्गाजल में आधे डूबे शरीर वाले पुरुष को शीत और उष्ण दोनों ज्ञान एक साथ हो जाते हैं ॥१३१॥

परिणाम यह है कि,

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा।

भाति तद्वासना जन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥

अन्वय—इत्थं तत्वविदः जागरणे सदा ब्रह्मसुखं भाति । तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तत् तथा भासते ।

अर्थ—इस प्रकार तत्वज्ञानी को जागरणकाल में सदा, (सुख-दुःख या मौन अवस्था में) ब्रह्मसुख की प्रतीति होती रहती है। और जागरण में ही नहीं, जाग्रत् की वासना से उत्पन्न होने के कारण, स्वप्न, में भी, ब्रह्मसुख वैसे ही प्रतीत होता है ॥१३२॥

परन्तु स्वप्न में आनन्द ही आनन्द की प्रतीति नहीं होती क्यों कि,

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।

स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३॥

अर्थ—अविद्यावासना भी है; स्वप्न केवल आनन्दवासना के बल से ही नहीं होते। अतएव अविद्यावासनाजन्य स्वप्न में यह विवेकी भी मूर्खों की भान्ति सुख और दुःख देखता है ॥१३३॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।

योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

अर्थ—इस ब्रह्मानन्द नाम के (पंचाध्याय) के ग्रन्थ के इस प्रथम अध्याय में, ब्रह्मानन्द के प्रकाशक, योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव, का वर्णन किया गया है। अर्थात् इस अध्याय में सुषुप्ति, उदासीन, समाधि तथा सुख-दुःख की दशाओं में स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्द के प्रकाशक, योगियोंके अनुभव, का वर्णन किया गया है ॥१३४॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके ग्यारहवें प्रकरण, ब्रह्मानंदगयोगानन्द, की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त।

—०—

ब्रह्मानन्द-आत्मानन्द-प्रकरण-१२

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्.

श्रीमत्सर्वंगुरून् नत्वा पंचदश्या नुभाषया ।
+आत्मानन्दाभिधग्रन्थव्याख्यानं क्रियते मया ॥

यहां मूढ जिज्ञासु के लिए आत्मानन्द कहाने वाले 'त्वं' पदार्थ के विवेचन द्वारा ब्रह्मानन्द के अनुभवका प्रकार दिखाया गया है। इसके लिए प्रथम शिष्य प्रश्न करता है :—

नन्वेवं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥

अन्वय—ननु एवं योगी वासनानंदात् अपि इतरं निजानन्दं वेत्तु; अत्र मूढस्य का गतिः अस्ति ?

अर्थ—(शिष्य का प्रश्न) योगानन्द प्रकरण में वर्णित प्रकार से योगी भले ही वासनानन्द और ब्रह्मानन्द से भिन्न निजानन्द को जान ले परन्तु मूढ विचारा क्या करे ?

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

अन्वय—एषः धर्माधर्मवशात् देहलक्षैः पुनः पुनः जायतां अपि म्रियतां; नः दाक्षिण्यतः किम् ? वद ।

+प्रत्यगात्मा के स्वरूपभूत आनन्द का नाम 'आत्मानन्द' है : इस प्रकरण में इसका ही प्रतिपादन किया गया है।

अर्थ—(गुरु का उत्तर) यह अतिमूढ पुरुष अनादि संसार में पूर्वजन्मों में किए पुण्यपाप के वश हुआ, लाखों देहों में बार-बार जन्मता और मरता रहे। हमारे समझानेसे क्या होना है ? कहो। [अतिमूढ को ज्ञानका अधिकार नहीं है : उसकी चिन्ता मत करो।]

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वादाक्षिण्येन प्रयोजनम्।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

अर्थ—(शिष्य) आप क्योंकि अनुग्रह करना चाहते हैं अतएव आपने समझाकर उसका उद्धार करना ही है।(गुरु)अच्छा तो बताओ कि वह मूढपुरुष क्या स्वरूप को जानने की इच्छा वाला विरक्त है या बहिर्मुख रागी है ? ॥३॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम्।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥४॥

अन्वय—विमुखाय यथोचितं उपास्तिं, कर्म वा ब्रूयात्, मन्दप्रज्ञं जिज्ञासुं तु आत्मानन्देन बोधयेत्।

अर्थ—यदि वह विमुख (बहिर्मुख रागी) है तो उसके अनुकूल उपासना अथवा कर्म का उपदेश कर देना चाहिए। यदि वह जिज्ञासु है और साथ में मन्दप्रज्ञ है तो उसको आत्मानन्दके विवेचन से समझाना चाहिए। [अति विवेकी जिज्ञासु को तो योगानन्द प्रकरण में वर्णित रीति से ब्रह्मसाक्षात्कार होगा ही।] ॥४॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम्।

न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य मुनिने अपनी पत्नी मैत्रेयी को "अरे ! पतिके लिए (पत्नी को) पति प्रिय नहीं होता" आदि कहते हुए आत्मबोध कराया था। [शुक्लयजुर्वेद की काण्वादि पन्द्रह शाखाओं का नाम वाजसनेयी शाखा है: उसके प्रवर्तक वाजसनेय याज्ञवल्यक्य ऋषि थे। बृहदारण्यक उपनिषद्के तीसरे और छठे अध्यायके अन्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मणप्रकरण में उक्त प्रसंग है।] ॥५॥

आगे ७२ वें श्लोक में "परमप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यताम्" कह कर बतायेंगे कि परमप्रेम का विषय होनेके कारण परमानन्दरूप आत्मा को स्वीकार करे। उस 'परमप्रेमास्पद' हेतु का समर्थन करने के लिए ५ वें श्लोक में उद्धृत वाक्य से उपलक्षित प्रकरण में आये सब पर्याय वाक्यों का तात्पर्य बताते हैं:—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

अर्थ—पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद, तथा पृथ्वी आदि भूत—ये सब भोग्य पदार्थ भोक्ता आत्मा के लिये होने से ही प्यारे होते है: ये स्वरूप से प्रिय नहीं हैं ॥६॥

पति-पत्नी की प्रीतिका विश्लेषण और उनकी आत्मार्थता:

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥
न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम्।

पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥
अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥६॥

अन्वय—यदा पत्न्याः पतौ इच्छा, तदा सा प्रीतिं करोति; तत्पतिः क्षुद्अनुष्ठानरोगाद्यैः तदा नेच्छति ॥ सा प्रीति पत्युः अर्थे न; तां स्वार्थे एव करोति ॥ पतिः च आत्मनः अर्थे एव, जायार्थे कदाचन न ॥ एवं अन्योन्यप्रेरणे अपि स्वेच्छया एव प्रवर्तनम् ॥

अर्थ—जब पत्नी को पति की इच्छा होती है तभी वह पति से प्रेम करती है। जब उसका पति इच्छाभाव के कारण—भूख, अनुष्ठान, यान, रोग आदि—से युक्त होता है तब वह उसे नहीं चाहती। इस प्रकार पत्नी की वह प्रीति, पति के लिए नहीं है; वह उस प्रीति को अपने लिए ही करती है। और उधर पति भी अपने लिए ही प्रीति करता है, पत्नी के लिए कभी नहीं। और जब वे परस्पर एक दूसरे की प्रेरणा से एक साथ प्रेम करने में प्रवृत्त होते हैं, तब भी वे अपनी-अपनी इच्छा से ही प्रवृत्त होते हैं। [पत्नी अपनी कामना को पूरी करने की इच्छा से और इसी प्रकार पति अपनी कामनाकी पूर्ति के लिए एक दूसरे को प्रेम करने में प्रवृत्त होते हैं।]

इसी प्रकार पुत्रादि के प्रति प्रेम भी आत्मार्थ ही है, यह क्रम से दिखाते हैं :—

श्मश्रुकण्टकवेधेन बालो रुदति तत्पिता।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥

अर्थ—[पिता द्वारा पुत्रमुखचुम्बन पुत्र की प्रसन्नता के लिए नहीं, उसकी अपनी प्रीतिके लिए है। क्योंकि] डाढी-मूँछों के कांटे

तुल्य बालों के चुभने से बालक तो रोता है फिर भी उसका पिता चुम्बन करता ही जाता है। पिता का वह प्रेम बालक के लिए नहीं, अपने लिए ही है ॥१०॥

चेतन पति-पत्नी बालक की स्वार्थता-परार्थता में सन्देह हो तो हो, परन्तु जड़ धनादि के प्रति प्रेम स्वार्थ ही है, उसमें कोई सन्देह नहीं : यहां धनादि की प्रीति की स्वार्थता का निर्देश करते हैं :—

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन्।
प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥

अर्थ—इच्छाशून्य रत्न आदि धन की यत्न से रक्षा करता हुआ उससे प्रीति करता है : यह प्रीति स्वार्थ के लिए है : उस प्रीति को वित्त के लिए होने की तो कोई शंका ही नहीं है ॥११॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात्।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

अर्थ—बैल के भार ढोना न चाहने पर भी, (व्यापारी) बलात् उससे भार उठवाना चाहता है। वह भार उठवाने की इच्छारूप प्रीति, स्पष्ट ही व्यापारी के स्वार्थ के लिए है : बैल के अर्थ कभी नहीं; वह तो भार उठाना ही नहीं चाहता ॥१२॥

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया।
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

अर्थ—"ब्राह्मणत्व जाति मुझ में है; मैं पूजा के योग्य हूं"

ब्राह्मण यह समझ कर पूजा से सन्तुष्ट (प्रसन्न) होता है : यहाँ ब्राह्मणत्वाभिमानी पुरुष ही सन्तुष्ट होता है। जड़ ब्राह्मण जाति नहीं। अचेतन जाति के सन्तोष का इसमें कोई प्रश्न ही नहीं है : वह सन्तोष तो पुरुष का ही है ॥१३॥

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।

न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

अर्थ–'मैं क्षत्रिय हूं–इस कारण राज्य करता हूँ।' यहाँ राजपन जाति का नहीं : राज्योपभोग से जन्य सुख क्षत्रिय जाति को नहीं होता, उस क्षत्रिय राजा को ही होता है। यह क्षत्रिय जाति का उदाहरण वैश्य जाति आदि में इसी प्रकार समझना चाहिए ।,१४॥

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।

लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

अर्थ—'स्वर्ग और ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हों' मनुष्य की ऐसी इच्छा उन लोकों के उपकारार्थ नहीं हैं, अपितु केवल अपने सुखानुभवरूप भोग के लिए ही तो है। कर्मोपासनारूप दो साधनों से सम्पाद्य सब लोकों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए।

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनुत्तये ।

न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

अर्थ–ईश, विष्णु आदि देवताओं की पूजा पाप काटने के लिए की जाती है : वह पूजन उन निष्पाप देवताओं के लिए नहीं

होता : उसको पूजक अपने स्वार्थ के लिए करता है ।।१६।।

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ।।१७।।

अर्थ–दुर्बाह्मण्यता (व्रात्यता) न प्राप्त हो इस प्रयोजनसे ऋग् आदि वेद पढ़े जाते हैं, वह अब्राह्मणता जातिरहित वेदों को तो लगती नहीं ; उसका मनुष्यों में प्रसक्त होना सम्भव है ।+ [मनुष्य-त्वरूप व्यापक जाति में व्याप्य जाति दुर्ब्राह्मणता है ।]

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ।
हेतुभिश्चावक शेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ।।१८।।

अन्वय–स्थानतृट्पाकशोषणैः च अवकाशेन हेतुभिः भूम्यादिपंच-भूतानि वाञ्च्छन्ति, एषां हेतवः न ।

अर्थ–सब मनुष्य, स्थान-प्रदान करने, प्यास बुझाने, अन्न को पकाने, गीले वस्त्रादि को सुखाने और रहने-चलने फिरने को अवकाश देने के लिए क्रमशः भूमि आदि पांच भूतों की अपेक्षा रखते हैं–इन भूतों के लिए स्थान की इच्छा आदि हेतु नहीं हैं : अर्थात् पृथिवी आदि भूत स्थान आदि की स्वयं आकांक्षा नहीं करते ।

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति ।

+प्राप्त दोष आदि वस्तुओं का निषेध उचित है. अप्राप्त का निषेध ही व्यर्थ होता है । ब्राह्मण होने योग्य व्यापक मनुष्य जाति में वेदाध्यन के अभाव के कारण व्रात्यत्व का आना सम्भव है, वेदाध्यन से उसका निवारण होता है; वेदों में जब मनुष्यत्वादि जाति ही नहीं है तब उनमें व्रात्यत्व कहां से आवेगा ?

तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

अर्थ—मालिक, नौकर आदि सब लोग अपने उपकार के लिए ही नौकर आदि को चाहते हैं : दूसरों का किया हुआ उपकार (साधा हुआ स्वार्थ) दूसरों को नहीं मिलता। भृत्य आदि, स्वामी आदि की इच्छा अपने लिए करता है और इस इच्छा से किया हुआ उसका उपकार कार, उसी को फल देता है, स्वामी आदि को नहीं।

संसार के परोपकारी कहलाने वाले लोग भी स्वार्थी हैं : दूसरे के दुःख को देखकर उनके हृदय में जो एक कांटा-सा चुभताहै, उसे निकालने के लिए ही वे परोपकार में प्रवृत्त होते हैं परोपकार किये बिना उन के जी की जलन नहीं मिटती ॥१९॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

अर्थ—यों इच्छापूर्वक जितने भोजनादि व्यवहार होते हैं उनमें इसी प्रकार, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इस बताये गये प्रकार से, आत्मप्रीति को समझाने के लिए (मैत्रेयी ब्राह्मण में) ऐसे पति-पत्नी आदि में प्रीति दिखाने वाले बहुत से उदाहरण दिये हैं। इस कारण विचारशील मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि को इसी प्रकार वासित करले कि आत्मा की प्रीति के लिए सब प्रिय होते हैं, अन्य के लिये नहीं ॥२०॥

प्रीति के स्वरूप के विषय में शंका व समाधान

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।

रागो बध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥
तद्यं स्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी।

अर्थ- (शंका] निजात्मा में जो प्रीति सुनी जाती है उसका रूप क्या है ? क्या वह [१] राग है ? [२] श्रद्धा है ? [३] भक्ति है ? या [४] इच्छा है ? यदि राग को प्रीति मानें तो वह तो वधू आदि में ही होगा ! श्रद्धा यज्ञादि में ही होगी; भक्ति गुरुदेव आदि में होगी और इच्छा अप्राप्तवस्तु में ही सम्भव है। इसलिए प्रीतिके ये रूप तो पृथक्-पृथक् ऐसे नहीं हैं जो सर्वविषयक हों। प्रेम का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सब पदार्थों पर लागू हो सकता हो।

[समाधान] उस प्रीति को रागादिरूप मानना उचित नहीं है तो उसे केवल सुख को विषय करने वाली एक सात्विक [सत्वगुण-परिणामरूपा] वृत्ति मान लो। प्रीति को सत्वगुण से बनी अन्तः-करण की एक वृत्ति समझो ॥२१-२२॥

अन्तःकरण की वृत्ति होते हुए भी, वह केवलमात्र इच्छा ही नहीं है; क्योंकि :—

प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥

अर्थ—क्योंकि यह केवल सुखको विषय करने वाली सात्विक वृत्ति-रूपा प्रीति, वस्तुके मिल जाने और उसके नष्ट हो जाने पर [अप्राप्त रहने पर भी] भी सुखादि-विषयमें बनी रहती है, इस कारण इच्छा से भिन्न है। [इच्छा केवल अप्राप्त सुखादि के विषयमें होती

है, यह वृत्ति प्राप्त, नष्ट, अप्राप्त सब प्रकार के सुखादि के विषय में बनी रहती है।] ॥२२॥

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥२३॥
आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥

अन्वय–अन्नपानादयः सुखसाधनतः उपाधेः प्रियाः, आत्मा आनुकूल्यात् अन्नादिसमः चेत् ? अत्र अमुना अनुकूलयितव्यः कः स्यात् ?

अर्थ–(शंका) अन्नपान आदि सुखके हेतुभूत उपाधिके कारण प्यारे हैं, ऐसे क्या आत्मा भी अनुकूल एवं प्रिय होने से अन्नपानादि के समान सुख का साधन है ? (समाधान) यह तो बताओ कि आत्मा को सुख का साधन मानोगे तो इस सुख-साधन रूप से अनुकूल करने योग्य (भोक्ता) जगत् में और कौन होगा ? आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता संसार में है ही नहीं। अन्न-पान आदि में भोग की साधनता उपाधि है, इसीलिए उनमें सुख की साधनता है : आत्मा में भोग्यता है नहीं अतएव सुख की साधनता भी नहीं।

यदि कहो कि स्वयं अपने आपके अनुकूल हो जायगा ? इस का उत्तर यह है कि एक ही (आत्मा) में एक ही समय कर्मत्व (उपकार की विषयता) और कर्तृत्व (उपकार का कर्तृत्व) नहीं रह सकते। ये दोनों विरुद्ध धर्म एक आत्मा में एक साथ कैसे रह सकते हैं ? भावार्थ यह है कि अन्न आदि के समान आत्मा को अनुकूलता से युक्त मानोगे तो उस सुख के हेतु से अनुकूल करने

योग्य कौन होगा ? ।।२४।।

अन्नादि की भान्ति आत्मा, सुखाधन न भी हो तो भी भोक्ता का उपकारक तो मानना होगा ही ?

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ।।२५।।

अर्थ—विषय-जन्य सुखमें तो केवल प्रीति होती है; परन्तु आत्मा तो अतिप्रिय—निरतिशय प्रीति का विषय—है । अतएव विषयजन्य सुख में तो यह प्रीति व्यभिचार कर जाती है—एक सुख में बैठकर बन्धती नहीं है परन्तु आत्मा में रहने वाली प्रीति कभी व्यभिचार नहीं करती—विषयान्तर में नहीं जाती । अतएव आत्मा, विषय-सुख की भान्ति भोक्ता के काम में आने वाली वस्तु (उपकारक) नहीं है ।।२५।।

वैषयिकसुखगोचर प्रीति का व्यभिचार :--

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ।।

अर्थ—विषयाभिलाषी मनुष्य एक वैषयिक सुख को छोड़कर, सदा दूसरे को अपनाता रहता है : परन्तु आत्मा तो त्याज्य या आदेय ही नहीं है; अतएव प्रीति उसमें कैसे व्यभिचार करे ?

आत्मा उपेक्ष्य भी नहीं है :—

हानादानविहीऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।

उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ।२७।

अर्थ–[प्रश्न] त्याग और स्वीकार से हीन इस आत्मा की तृण आदि की भान्ति क्या उपेक्षा भी सम्भव नहीं है ? [उत्तर] उपेक्षा करने वाले चिदात्मा के निजात्मा का–स्व-स्वरूप ही होने के कारण अपने से भिन्न तृणादि के समान, इस आत्मा की उपेक्षा भी नहीं हो सकती ॥२७॥

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥

अर्थ–(शंका) रोग या क्रोध से अभिभूत लोगों में कहीं-कहीं मर जाने की इच्छा पायी जाती है : इस कारण द्वेष की सम्भावना से वृश्चिक आदि की भान्ति आत्मा भी तो त्याज्य है ? (समाधान) यह बात ठीक नहीं है; क्यों कि,

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥

अर्थ–त्याज्य तो देह है और वह आत्मा नहीं है; त्याग करने वाला जीव ही (जो देह से भिन्न है) आत्मा है। वह द्वेष, त्याग करने वाले आत्मा के प्रति नहीं है, अपितु त्याज्य देह के प्रति ही है। और त्याज्य देह के प्रति द्वेष हो तो भी आत्मा का त्याग न मानने वाले तेरी क्या हानि है ? ॥२९॥

इस प्रकार 'न वा अरे अस्य पत्युः कामाय' से लेकर 'आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति' पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुतिके तात्पर्य की आलोचनासे आत्मामें अत्यन्त प्रीति

होती है' यह प्रमाणित कर अब युक्तिसे भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं–

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

अन्वय–सर्वस्य आत्मार्थत्वेन प्रीतेः च आत्मा हि अतिप्रियः सिद्धः। यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः प्रियतरः तथा।

अर्थ–क्योंकि, सुख और सुख के साधन, पति जाया, आदि, सब की प्रीति आत्मा के लिए ही है–आत्मा की ही उपकारक है, इसलिए, आत्मा ही अतिप्रिय सिद्ध होता है। जैसे लोक में, पिता को पुत्र के मित्र से (पुत्र द्वारा प्रिय होने के कारण), (सीधा) पुत्र अधिक प्यारा लगता है ॥३०॥

प्रसंगागत अर्थ की अनुभव से पुष्टि करते हैं:—

मा न भूवमहं किंतु भूयासं सर्वदेत्यसौ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥

अर्थ–'मेरी असत्ता कभी न हो, मैं सदा बना रहूं' सब प्राणी ऐसी प्रार्थना करते पाये जाते हैं। इससे आत्मा में निरतिशय प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध ही है ॥३१॥

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

अर्थ–इस प्रकार इन (अनुभव, युक्ति और श्रुति) तीनों से ही आत्मा के प्रति निरतिशय प्रीति को सिद्ध हुआ जानकर भी कुछ

लोगों ने (जो श्रुति आदि के तात्पर्य को नहीं जानते उन्होंने) आत्मा को पुत्र-पत्नी आदि का शेष (उपारक) बताया है ॥३२॥

यह तुमने किस आधार पर कहा ? कहते हैं :—

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥

अर्थ—उनका कहना है कि यही बात (जो श्लोक ३२ में कही है) कहने की इच्छा से 'आत्मा वै पुत्र नामासि' आदि वाक्यों द्वारा पुत्र को मुख्य आत्मा श्रुति ने कहा है और ऐतरेय आदि उपनिषदों में पुत्र के मुख्य होने की बात स्पष्ट है। ऐतरेय उपनिषद् का यह वाक्य निम्न अभिप्राय का है:–

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीते ।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४॥

अर्थ–इस पिता का यह पुत्ररूप आत्मा पुण्यकर्मों के लिए अपना प्रतिनिधि (स्थानापन्न) बना कर छोड़ा जाता है; पश्चात् इस पिता का यह पिता रूप इतर आत्मा (वृद्ध हुआ) कृतकृत्य हुआ मरता है।

इसी बात को दूसरे वाक्य के अर्थ से पुष्ट करते हैं :—

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥३५॥

अर्थ–इसीलिए अपने आपके होने पर भी पुत्रहीन पिता को परलोक नहीं मिलता ('नापुत्रस्य लोकोस्ति') यह बात पुराण आदि

में कही है। इसीलिए (पुत्र को मुख्यात्मा मानने से ही) बुद्धिमान् लोग शिक्षित पुत्र को ही लोक (परलोक) का साधन बताते हैं (अनुशिष्टं पुत्र लोक्यमाहुः) ॥३५॥

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

अर्थ—फिर यह कहा है कि 'सोऽयंमनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा" (बृ० १-५-१६) इसका अभिप्राय है कि मर्त्यलोक का सुख केवल पुत्रसे सम्पादित होना सम्भव है अन्य किसी (कर्म) साधन से नहीं। पुत्रहीन लोग सुख के साधनों—धन-सम्पत्ति आदि को देखकर भी दुःखी होते हैं। इसीलिए यह विधान है कि मुमुर्षु पिता (मरते समय) "त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः" (बृ० १-५-१७) इत्यादि तीन मन्त्रों की शिक्षा पुत्र को दे ॥३६॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम्।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्यते ॥३७॥

अर्थ—इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियों ने आत्मा को पुत्र, भार्या आदि का शेष (उपकारक अतएव, अप्रधान) बताया है। लौकिक भी पुत्र की प्रधानता मानते हैं। [पुत्र की प्रधानता की सिद्धि श्रौत होने के साथ-साथ लोकसिद्ध भी है।] ॥३७॥

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

अर्थ–क्योंकि देखते हैं कि यह प्राणी ऐसा यत्न करता है कि अपने आपके मर जाने पर भी पुत्र पत्नी आदि, वित्त, क्षेत्र आदि संपत्ति द्वारा जीते रहें। अतएव सिद्ध हुआ कि पुत्र आदि मुख्य हैं।

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित्।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा।३९।

गौणात्मा का उदाहरण

अर्थ—(समाधान) ठीक है, पुत्रादि मुख्य तो प्रतीत होते हैं; परन्तु इतने मात्र से आत्मा किसी का शेष नहीं बन जाता; क्योंकि गौण, मिथ्या तथा मुख्य भेद से आत्मा तीन प्रकार का है। [जिस व्यवहार में जिस प्रकार के आत्मा की विवक्षा होती है उसमें उस प्रकार के आत्मा की प्रधानता होती है]।

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥

अर्थ–'यह देवदत्त सिंह है' इस वाक्य में देवदत्त और सिंह की एकता गौण है; क्योंकि उनका भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसे ही भेद के प्रत्यक्ष प्रतीत होने के कारण ही, पुत्रादि को आत्मा मानना भी गौण है ॥४०॥

मिथ्या आत्मा

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ।

मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा॥

अन्वय-पंचकोशेषु साक्षिणः भेदः अस्ति, असौ न तु भाति, अतः कोशानां मिथ्यात्मता।

अर्थ-यद्यपि आनन्दमयादि पांचों कोशों में साक्षी से भेद है, परन्तु वह भेद [विद्यमान होने पर भी] किसी को भासता नहीं है। अतएव कोशों की आत्मता, मिथ्यात्मता है; जैसे चोर से भिन्न स्थाणु की चोररूपता मिथ्या होती है॥४१॥

मुख्य आत्मा

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते॥४२॥

अन्वय-अप्रतियोगिनः भेदः न भाति, न अस्ति अपि, सर्वान्तरत्वात् तस्य एव आत्मत्वं मुख्यं इष्यते।

अर्थ-अपनी आत्मा का कोई प्रतियोगी न होने के कारण इस अप्रतियोगी साक्षीरूप आत्मा का, गौणात्मा पुत्रादि की भान्ति न तो किसी से भेद प्रतीत होता है, न वास्तव में कोई भेद है ही; सर्वान्तर प्रतीयमान होने से उस उस साक्षी को ही मुख्यात्मा माना जाता है॥४२॥

आत्मा को त्रिविध मानने का पुत्रादि की मुख्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है?

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्वान्यस्य शेषता॥४३॥

अन्वय-एवं सति येषु व्यवहारेषु यस्य अत्मता उचिता, तेषु तस्य

एव शेषित्वम् । अन्यस्य सर्वस्य शेषता ।

अर्थ–आत्मा के त्रिविध होने पर भी, जिन (लौकिक-पालन-पोषणादि और वैदिक ब्रह्मात्मत्वानुसन्धान आदि) व्यवहारों में जिस (पुत्रादि, देहादि या साक्षी) को आत्मा मानना उचित हो, उनमें वही (पुत्रादि, देहादि या साक्षी) आत्मा शेषी (प्रधान) रहें और उससे भिन्न दोनों प्रकार के आत्मा शेष अथवा गौण रहें।

उक्त कथन का विस्तार करते हैं :—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥

अर्थ–मरने वाले के घर की रक्षा आदि कार्यों में पुत्र, भार्या आदि गौणात्माओं का ही उपयोग सम्भव है; क्योंकि वे ही उसके पश्चात् जीवित रहना चाहते हैं। अविकारी होने से मुख्यात्मा-साक्षी का और मरण के लिए सन्नद्ध बैठे होने से मिथ्यात्मा, देह, का गृहरक्षा आदि में कोई उपयोग नहीं हो सकता; अतएव यहाँ पुत्र ही शेषी, मुख्यात्मा है ॥४४॥

अपने आप होते भी गृहरक्षादि में पुत्रादि का ग्रहण क्यों? इस को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्वटुरेवात्र गृह्यते ॥४५॥

अर्थ–'यह पढ़ने वाला अग्नि है' इस वाक्यमें विद्यमान होने पर भी 'आग' अर्थ नहीं लिया जाता–(क्योंकि यह भौतिक अग्नि पढने

योग्य नहीं है) अतएव योग्य होने के कारण यहाँ अग्निशब्द से, 'पढ़ने में तीव्र बालक' अर्थ लिया जाता है। ऐसे ही, मरने के पश्चात् गृहस्थ आदि व्यवहार के लिए, अपने आप को त्याग कर 'पुत्र' आदि का ही ग्रहण होता है ॥४५॥

मिथ्यात्मा की प्रधानता का उदाहरण

कृशोहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६॥

अर्थ—'मैं निर्बल हूं अब मैं (अन्नादि खाकर) पुष्ट हो जाऊँगा' इत्यादि व्यवहार में देह (देह ही पुष्टिकारक अन्न खा सकता है इसलिए) को ही 'आत्मा' मानना उचित है। कोई भी पुष्टि हेतु अन्नादि के भक्षण में पुत्र को नहीं लगाता ॥४६॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

अर्थ–तथाच "मैं तप से स्वर्ग को प्राप्त करूंगा" इत्यादि स्थलोंमें कर्ता को अर्थात् विज्ञानमयकोश को "आत्मा" मानना उचित है; क्योंकि यहाँ देहादिको आत्मा नहीं मानते यही कारण है कि देह के भोग की इच्छा न करके "कृच्छ्र" "चान्द्रायण" आदि व्रत किये जाते हैं। इनसे विज्ञानमय को स्वर्गप्राप्ति में सहायता मिलती है।

मुख्यात्मा का उदाहरण

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान्।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिदीर्षति ॥

अन्वय–पुमान् 'अहं मोक्ष्ये' इति तदा गुरुशास्त्राभ्यां तत् वेत्ति किंचित् न तु चिकीर्षति'–अत्र चिदात्मत्वं युक्तम् ॥४८॥

अर्थ–जब पुरुष निश्चय करता है कि मैं मोक्ष प्राप्त करूंगा, तब गुरु और शास्त्र द्वारा इस ब्रह्मचेतन का ज्ञान प्राप्त करता है। अन्य कर्म आदि को करने की इच्छा नहीं करता-अतएव इस व्यवहार में शुद्धचेतन को आत्मा मानना उचित है ॥४८॥

व्यवहार विशेष में व्यवस्था से प्रधानता को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥

अर्थ–जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि, बृहस्पति-याग आदिमें पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हैं–[बृहस्पति-याग में ब्राह्मण का ही अधिकार है, क्षत्रिय या वैश्य का नहीं; राजसूय क्षत्रिय ही कर सकता है; वैश्य-स्तोम वैश्यको ही करना चाहिए आदि] इसी प्रकार 'गौण' 'मिथ्या' और "मुख्य" आत्मा यथोचित अपने-अपने व्यवहार में व्यवस्थित हैं ॥४६॥

अभिप्राय यह है कि :—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

अर्थ–जिस व्यवहार में जो आत्मा उचित (योग्य) है उस व्यवहार में उपयोगी होने के कारण प्रधानभूत आत्मा में ही अतिशय प्रीति होती है, शेष भोग्य अनात्मा में केवल प्रीति होती है। और

जो आत्मा और उसके शेष (उपकारक)—इन दोनों से भिन्न है उस में दोनों में से किसी भी प्रकार का प्रेम नहीं होता।+ ॥५०॥

ऊपर के श्लोक में आये 'अन्यत्' के भेद दिखाते हैं :—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्द्वेधा मार्गतृणादिकम्।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥
आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि।
न व्यक्तिनियमः किं तु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥

अन्वय—अन्यत् उपेक्ष्यं द्वेष्यं इति द्वेधा; मार्गतृणादिकं उपेक्ष्यं, व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यम्; एवं चतुर्विधम् (वस्तु इति शेषः) आत्मा, शेषः, उपेक्ष्यं च द्वेष्यं च इति। चतुर्षु अपि व्यक्तिनियमः न; किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा।

+बात यह है कि इच्छा की विषय बनी हुई वस्तु को अनुकूल कहते हैं; सुख, दुःखाभाव, और उनके साधन—इन चारों की इच्छा होती है अतएव ये चारों अनुकूल हैं। परन्तु इनमें इतना भेद है :—(१) आत्मा, चूंकि नित्य, निरतिशयसुख और दुःखाभाव रूप है अतएव वह अतिशयसे भी अतिशय अनुकूल है और इसीलिए परमप्रेम का विषय होने से प्रियतम है। (२) इस लोक और परलोक के विषयों से जन्य सुख, क्योंकि अनित्य और सातिशय आदि अनन्त दुःखोंसे ग्रस्त हैं' इसलिए अतिशय अनुकूल है और साधन की अपेक्षा अधिक प्रीति का विषय होने से प्रियतर है। (३) सुख और दुःखाभाव के साधन, क्योंकि, स्वरूप से सुख या दुःखाभाव रूप नहीं हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति या अविर्भाव में उपयोगी हैं अतएव अनुकूल हैं, अतएव प्रिय है। (४) और इन से भिन्न वस्तुएं इच्छा के विषय ही नहीं अतएव अनुकूल भी नहीं हैं। अपितु वे अनुकूल प्रतिकूलसे भिन्न और प्रतिकूल हैं अतएव प्रीति के अविषय होने के कारण प्रिय नहीं हैं! अपितु उपेक्षा और द्वेष के विषय अतएव उपेक्ष्य एवं द्वेष्य हैं।

अर्थ–आत्मा और उससे शेष से भिन्न, 'अन्यत्', दो प्रकार का है; (१) उपेक्ष्य और (२) द्वेष्य। मार्गमें आये तृण, खड्ड आदि उपेक्ष्य तथा व्याघ्र आदि द्वेष्य हैं। इस प्रकार वस्तुएँ चार प्रकारकी हुईं:– (१)प्रियतम (आत्मा) (२) प्रिय (शेष पुत्र आदि) (३) उपेक्ष्य और (४) द्वेष्य। इन चारों में भी किसी वस्तु विशेष के नियम से प्रियतम आदि होने का नियम नहीं है अपितु उपकार आदि कार्य विशेष के हेतु उनकी वैसी वैसी प्रियता आदि होती है ।।५१–५२।।

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ।।५३।।

अर्थ–जैसे व्याघ्र यदि सामने आता हो तो द्वेष्य होता है–वही लौटकर परे मुँह फेरकर चला जाता हो तो उपेक्षणीय होता है और वही यदि लाड़प्यार से अपने अनुकूल हो जाय तो विनोदसाधन बन कर अपना उपकारक (शेष) हो कर प्रिय हो जाता है ।।५३।।

एक ही वस्तु को 'प्रिय' 'अप्रिय' और "उपेक्ष्य" मानेगें तो फिर व्यवस्था कैसे होगी ?

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ।।

अर्थ–'प्रिय'आदि होने में किसी एक नियत वस्तुके प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य होने का निग्रम भले ही न हो, लक्षण से व्यवस्था हो जायगी। इन तीनों के लक्षण क्रमशः, अनुकूलता अर्थात् सुख साधनता (प्रिय का)' प्रतिकूलता दुःखसाधनता (अप्रिय का) और दोनों

से रहित होना (उपेक्ष्य का) लक्षण हैं ॥५४॥

आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥

अन्वय—आत्मा प्रेयान्, शेषः प्रियः, तदन्ययोः द्वेषापेक्षे । इति लोकः व्ववस्थितः : च तत् याज्ञवल्क्यमतम् ।

अर्थ—संक्षेप यह है कि आत्मा अर्थात् प्रत्यगानन्द अतिशय प्रिय है, शेष अर्थात् आत्मा के भोग के साधन बने हुए पदार्थ, प्रिय हैं : इन से भिन्न, व्याघ्र-तृण आदि पदार्थ क्रमशः द्वेष्य और उपेक्ष्य हैं । लोक में यही व्यवस्था है और याज्ञवल्क्य का भी यही मत है ।

केवल मैत्रेयी ब्राह्मण में ही नहीं, पुरुषविध ब्राह्मण में भी आत्मा को प्रियतम कहा है । ("तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात सर्वस्मादान्तरतरं यदयमात्मा") यही दिखाते हैं :—

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथाऽन्यतः ।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥५६॥

अर्थ— अर्थात् अन्यत्र (पुरुषविधब्राह्मणमें) भी श्रुति ने कहा है कि यह आत्मा पुत्र से, धनसे और अन्य सब कुछ से आन्तर तत्व है : इस कारण इसे अतिशय प्रिय मान लेना चाहिए ॥५६॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥५७॥

अर्थ—यदि श्रुत्यर्थ के आलोचनारूप विचार से देखें तो यह साक्षी ही मुख्य आत्मा है : अन्य पुत्र आदि नहीं । यहाँ 'विचार'

का क्या रूप है ? वह यही कि अन्नमय आदि पांचकोशों को तैत्तिरीय श्रुति में बताई गई रीति से आत्मासे पृथक् करके अन्तर्दृष्टि कर लेना, भीतर छिपे आत्मतत्व से विचार-विमर्श करना 'विचारणा' कहलाती है ॥५७॥

अन्तःस्थित आत्मवस्तु के दर्शन (आत्मविचार) का प्रकार :—

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

अन्वय–जागरस्वप्नसुप्तीनां आगमापायभासनं यतः भवति असौ स्वप्रकाशचिदात्मकः आत्मा ।

अर्थ—जिस नित्य चैतन्यरूप साक्षी से जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं के आने-जाने (पिछली के आने तथा पहली के चले जाने) की प्रतीति होती है, वह स्वप्रकाशचिद्रूप आत्मा है ।

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

अन्वय–शेषाः प्राणादि वित्तान्ताः तारतम्यतः आसन्नाः । तथा तेषु सर्वेषु तारतम्यतः प्रीतिः वीक्ष्यते ।

अर्थ–शेष (उस साक्षी से बचे हुए), प्राणसे लेकर वित्त पर्यन्त सभी पदार्थ (तारतम्यतः) न्यूनाधिकभाव से, आत्मा के आसन्न अर्थात् समीपवर्ती हैं। न्यूनाधिक भाव से जितनी-जितनी उनकी आत्मा से समीपता है, उतनी-उतनी उनमें प्रीति होती है ।

प्रेम के तारतम्य का अनुभव

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।

इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥

अर्थ--धन से पुत्र अधिक, पुत्र से अधिक यह पिंड (अन्नमय देह), देह से अधिक इन्द्रियां, इन्द्रियों से अधिक प्राण+और प्राण से भी अधिक आत्मा प्यारा होता है ॥६०॥

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयाचित्येव निर्णयः ।६१।

अर्थ--इस प्रकार आत्मा की प्रियतमता स्थित अर्थात् प्रमाण-सिद्ध होने पर भी, इस विषय में ज्ञानी-अज्ञानी का विवाद श्रुतिने दिखाया है और वहां 'आत्मा प्रियतम है' यही निर्णय किया है ।

ज्ञानी-अज्ञानी का उपरोक्त विवाद दिखाते हैं :-

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ।
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ।६२।

अन्वय--साक्षी एव अन्यस्मात् दृश्यात् प्रेयान्' इति तत्त्ववित् आह । 'प्रेयान् पुत्रादिः एव साक्षी इमं भोक्तुम्' इति मूढधीः ।

अर्थ--"साक्षी ही अन्य सब दृश्य पदार्थों से अधिक प्रिय है" यह तो तत्त्वज्ञानी ने कहा और प्रियतम तो पुत्रादि ही हैं तथा साक्षी

+ यहां प्राण शब्द से प्राणोपलक्षित मन का ग्रहण है । क्योंकि (१) मन स्वरूपानन्द के प्रतिबिम्ब का ग्राहक और इन्द्रियों का प्रेरक होने से उनका स्वामी है और (२) नेत्रादि इन्द्रियों में से किसी की पीड़ा से जब मन विक्षिप्त होता है तब (मन विशिष्ट) पुरुष कह उठता है—"यह इन्द्रिय भले ही चली जावे, पर मैं बचआऊं" प्राण के बिना मन का संचरण या देह से निर्गमन नहीं होता–इसलिए यहाँ 'प्राण' शब्द ही ग्रहण किया है ।

आत्मा तो इस (प्रीतिमय पुत्रादि) को भोगने के लिए इस संसार में उतरा है'—यह अविवेकी का कहना है ॥६२॥

आत्मा से भिन्न को प्रिय बताने वाले दो हैं; शिष्य और प्रतिवादी :—

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥

अर्थ—आत्मा से भिन्न को प्रियतम, या तो (१) शिष्य कहता है या 'प्रतिवादी' । उस शिष्य या प्रतिवादी के प्रत्युत्तररूप वाक्य को ज्ञानी पुरुष क्रम से 'बोध' या 'शाप' कहता है अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर शिष्य के लिये तो यह कि उसे आत्मबोध कराया जाय और प्रतिवादी के लिये उत्तर यह है कि उसे शाप दिया जाय अर्थात् उसके इस मन्तव्य से होने वाली हानि स्पष्ट की जाय ॥६३॥

पूछने वाले शिष्य और प्रतिवादी को दिया गया उत्तर :—

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।

अन्वय—तत्ववित् 'प्रियं त्वां रोत्स्यति' इति एवं उत्तरं वक्ति ।

अर्थ—तत्ज्ञानी दोनों को एक ही उत्तर देता है; वह यह कि "तू जिस पुत्र आदि को 'प्यारा' मानता है वह अपने को नष्ट करने पर, तुझको रुलायेगा ।" ॥६४॥

शिष्य के प्रति कहे गये उक्त प्रत्युत्तर का स्पष्टीकरण

स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ।६४।
अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।

लब्धोऽपि गर्भपाते प्रसवेन च बाधते ॥६५॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥

अन्वय–शिष्यः स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं विवेकतः वेत्ति । तनयः अलभ्यमानः पितरौ चिरं क्लेशयेत् । लब्धः अपि गर्भपातेन च प्रसवेन बाधते । जातस्य ग्रहरोगादिः । च कुमारस्य मूर्खता उपनीते अपि अविद्यत्वं च पंडिते अनुद्वाहः । यूनः च परदारादि च कुटम्बिनः दारिद्र्यम् । धनी चेत् तदा म्रियते । पित्रोः दुःखस्य अन्तः न अस्ति ॥

अर्थ–शिष्य इस उत्तर को सुनकर अपने, प्रेमपात्र पुत्रादि की दुष्टता–दोषरूपता–को, विवेक द्वारा आगे कहे गये प्रकार से समझ जाता है । यह दोषविचार पद्धति इस प्रकार है :—जब तक पुत्र प्राप्त – नहीं होता तब तक, देर तक माता-पिता को कष्ट होता ही है । पुत्र-प्राप्ति की आशा बन्धने पर भी गर्भपात और प्रसव के कष्टादि द्वारा दुःख का कारण होता है । उत्पन्न हुए को, ग्रहपीडा, रोग आदि लग जाते हैं; कुमारावस्था में पुत्र का मूर्ख रह जाना, या यज्ञोपवीत हो जाने पर भी अनपढ़ रह जाना, या पण्डित हो जाने पर विवाह का न होना; जवान होकर परस्त्रीगमनादि दुराचार करने लगना, सन्तति वाले पुत्र का दरिद्र हो जाना, और धनी की मृत्यु हो जाना– इसप्रकार पुत्र के सम्बन्धमें माँ-बापके दुःखोंका कोई अन्त नहीं है ।

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८॥

अन्वय— एवं पुत्रादौ विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि परमां प्रीतिं निश्चित्य तं अहर्निशं वीक्षते ॥

अर्थ—इस प्रकार पुत्रादि विषयों में विद्यमान दोषों को विश्लेषण से जान कर, उनमें प्रीति को छोड़कर अपने प्रत्यक्रूप साक्षी आत्मा में निरतिशय प्रीति का निश्चय कर रात-दिन उसी प्रत्यगात्मा का अनुसन्धान किया करता है ॥६८॥

प्रतिवादी को दिये प्रत्युत्तररूप उसी वाक्य का स्पष्टीकरण

आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥५६॥

अन्वय—आग्रहात् ब्रह्मविद्वेषात् अपि पक्षं अमुञ्चतः वादिनः नरकः च बहुयोनिषु दोषः प्रोक्तः ।

अर्थ—आग्रह (हठ) और ब्रह्मविद्वेष के कारण अपने पक्ष (पुत्रादि को ही प्रियतम मानने रूप विचार) को न छोड़ने वाले प्रतिवादी को तो नरक ही मिलता है और उसे अनेक योनियों में जाने से होने वाले कष्ट (दोष) होते हैं। ज्ञानी लोगों का अपने प्रतिवादियों को यही 'शाप' होता है ॥६६॥

ज्ञानी के कहे गये एक वाक्य के दो अर्थ कैसे हो जाते हैं ? :—

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।
यद्यत्तत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

अन्वय–ब्रह्मवित् ब्रह्मरूपत्वात् ईश्वरः । तेन यत् यत् वर्णितं तत् तत् तच्छिष्यप्रतिवादिनोः तथा एव स्यात् ।

अर्थ–('ईश्वरोऽहं तथैव स्यात्' बृ० १–४–८ में कहा गया है कि) अपने ब्रह्मत्व को अनुभव करने वाला ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मरूप हो जाने के कारण 'ईश्वर'+हो चुका होता है । इसलिये उसने जिसको जो इष्ट अथवा अनिष्ट कह दिया वह, उस शिष्य और विरोधी को वैसा ही (इष्ट या अनिष्ट) हो जाता है ॥७०॥

'आत्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते' (बृ० १–४–७) इत्यादि वाक्य का भावार्थ कहते हैं :–

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

अर्थ–जो (शिष्य) आत्मा को ही सबसे अधिक प्रिय मानकर उसकी सदा सेवा करेगा–उसका स्मरण करेगा, उसका प्रिय माना हुआ वह आत्मा, प्रतिवादी के प्रिय माने हुए पुत्रादि आत्मा की भान्ति कभी नष्ट नहीं होता, परन्तु सदा आनन्दरूप हुआ प्रतीत होता है । [वादी जिन पुत्रादिको प्रियतम माने बैठा है उसकी प्रियतमता

+क्योंकि श्रुति में भी कहा है कि ब्रह्मवित् ब्रह्म हो जाता है' तथा अपने अनुभव से भी विद्वान् ब्रह्म ही हो जाता है और ईश्वर ब्रह्म से भिन्न है नहीं-अतएव विद्वान् 'ईश्वर' हो जाता है । (२) फिर मायाविशिष्टचेतन को जैसे सबके आत्मा के साथ अपना अभेद ज्ञान होने के कारण समष्टिपना और नित्य-मुक्तपना है वैसे ही विद्वान् को भी सब के आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का ज्ञान होने से समष्टिपन और नित्यमुक्तपन है । (३) माया विशिष्ट चेतन को जैसे निजस्वरूप ब्रह्म का भान होता है वैसे विद्वान् को भी होता है । इस प्रकार गुण के सादृश्य से भी ब्रह्मवित् ईश्वर है ।

व्यभिचारी प्रीति का विषय होने के कारण, भ्रान्तिसिद्ध है : अतएव वह प्रियतमता नष्ट हो सकती है। परन्तु शिष्य ने जिस साक्षीरूप आत्मा को प्रियतम समझलिया है उस की प्रियतमता वास्तविक है; इसलिए वह कभी भी किसी भी निमित्त से नष्ट नहीं होती : सर्वदा प्रतीत होती रहती है। क्योंकि गुरूपदेश से जन्य तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्तिज्ञान नष्ट हो चुकता है।]

आत्मा के परमप्रेमास्पद सिद्ध हो जाने से क्या परिणाम निकलता है ? :—

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यताम् ।

सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ।७२।

अन्वय–परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दः इष्यताम् । सार्वभौमादिषु प्रीतिवृद्धौ सुखवृद्धिः श्रुता ।

अर्थ–क्योंकि यह आत्मा निरतिशय प्रेम का विषय है अतएव यह परमानन्दरूप है। जो घटादि परमानन्दरूप नहीं होता वह निरतिशय प्रेम का विषय भी नहीं होता। तैत्तिरीय और बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में बताया है कि सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्ती-राजा के पद से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त पदों में जितनी-जितनी प्रीति बढ़ती जाती है उतना-उतना सुख बढ़ता जाता है। अतएव जिसमें अधिकतम प्रीति होगी उसमें अधिकतम आनन्द भी होगा ॥७२॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।

धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

अन्वय–चैतन्यवत् सुखं च अस्य चिदात्मनः स्वभावः चेत् ? सर्वासु अपि धीवृत्तिषु यथाचितिः अनुवर्त्तेत ।

अर्थ–शंका होती है कि यदि चैतन्य की भांति सुख या आनन्द भी चिदात्मा का स्वभाव होता तो, उस आनन्द की भी, चैतन्य की

भान्ति सब बुद्धि वृत्तियों में अनुवृत्ति होनी चाहिये थी ? ॥७३॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

अर्थ—दृष्टान्त देकर उक्त शंका का परिहार करते हैं—यह शंका मत करो-दीपक के दो स्वरूप हैं; (१) उष्ण और(२) प्रकाश । उसका प्रकाश तो घर भर में व्याप्त हो जाता है परन्तु उष्णता व्याप्त नहीं होती; इसी प्रकार धी वृत्तियों में चैतन्य की ही अनुवृत्ति होती है, आनन्द की अनुवृत्ति नहीं होती ॥७४॥

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

अर्थ—जैसे किसी पदार्थ में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सब रहते हैं—परन्तु एक इन्द्रिय से, इन में से एक का (घ्राणेन्द्रिय से गन्धका, चक्षु से इन्द्रिय का इत्यादि) ही ग्रहण होता है, दूसरे का नहीं । ऐसे ही चैतन्य का ही भास होता है, आनन्द का नहीं होता ॥७५॥

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

अर्थ—(शंका) यदि कहो कि चैतन्य और आनन्द तो कभी पृथक् नहीं होते गन्ध-रूप आदि तो परस्पर भिन्न हैं ? (अतएव दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता नहीं है) ? (समाधान) अच्छा यह बताओ कि चित् और आनन्द का जो अभेद तुमने कहा है

वह साक्षी आत्मा में है या अन्यत्र उसकी उपाधिभूत वृत्तियों में ?

यदि साक्षी आत्मा में अभेद मानते हो तब तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता है ही :–

आद्ये गन्धादयोऽप्येयमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥७७॥

अर्थ–प्रथम पक्ष मानो तो फूल में रहने वाले गन्ध आदि भी इसी प्रकार भेदरहित हैं, क्योंकि इनमें से किसी एक को छोड़ कर दूसरे का ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि दूसरा पक्ष मानें अर्थात् गन्धादि की ग्राहक इन्द्रियों के भेद से गन्धादि को पृथक्-पृथक् मानें (औपाधिकभेद मानें) तो वृत्तिभेदके कारण (चित् और आनन्द को अभिव्यक्त करने वाली राजस और सात्विक वृत्तियों के भिन्न-भिन्न होने से) उन चिदानन्दों का भी औपाधिक भेद हो ही जायगा ॥७७॥

चैतन्य और आनन्दकी एकताप्रतीतिका स्थल और अन्यवृत्तियोंमें भेदका कारण

सत्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥

अर्थ–सत्ववृत्ति अर्थात् शुभ कर्मोंसे उदित सत्वगुण की परिणाम-रूप बुद्धिवृत्ति में चैतन्य और आनन्द की एकता भासित होती है; क्योंकि वह सत्ववृत्ति निर्मल होती है। और रजोगुणवृत्तिके मलिन होने के कारण, इसमें विद्यमान भी सुखांश छिप जाता है ॥७८॥

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।

तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

अन्वय-यथा अत्यम्लं तिंतणीफलं यदा लवणेन युतं तदा अम्लस्य तिरस्कारात् ईषत् अम्लं, तथा।

अर्थ-यह ऐसे ही होता है जैसे कि बहुत खट्टा भी इमली का फल, नमक मिला देने पर खटाई के छिप जाने से, कम खट्टा रह जाता है ऐसे ही रजोगुण की चंचल वृत्ति में आनन्द छिप जाता है। [जैसे मन व्याकुल हो तो पास में पड़ी वस्तु भी दिखाई नहीं देती ऐसे ही चंचल रजोवृत्ति के कारण विद्यमान भी आनन्दांश का भान नहीं होता। किंवा, परमप्रेम का होने के कारण आत्मा के आनन्द की सामान्य प्रतीति तो सदा होती है परन्तु वृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही उसकी विशेष प्रतीति होती है। चंचलदर्पण में व्यक्तिमात्रांश का प्रतिबिम्ब तो दीखता है, शोभांश का प्रतिबिम्ब नहीं दीख पाता; ऐसे हो रजोतमोगुणवृत्तियां चेतनांश प्रतिविम्ब की तो ग्राहक हैं, पर आनन्दांश प्रतिबिम्ब की ग्राहक नहीं होती: इसलिए रजोतमोवृत्तियों द्वारा आनन्दांश की विशेष प्रतीति नहीं हो पाती। अपि तु लवणरूप प्रतिवन्ध से जैसे आंवले की खटाई का भान रुक जाता है वैसे ही यहा विद्यमान भी आनन्दांश छिपा रहता है।] ॥७९॥

विवेक और योग दोनों से अपरोक्षज्ञान

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि।
विवेक्तुं शक्यतामेवं, विना योगेन किं भवेत्॥

अन्वय-ननु एवं प्रियतमत्वेन आत्मनि परमानन्दता विवेक्तुं शक्यतां; योगेन विना किं भवेत्?

अर्थ-(प्रश्न) ऊपर समझाई गई रीति से परमप्रेम का स्थान होने के कारण आत्मा की परमानन्दता का गौण और मिथ्यात्माओं

से विवेक भले ही किया जा सके तो भी योग के बिना इस विवेक से क्या बनेगा ? मुक्ति का हेतु तो योग है जिससे अपरोक्ष ज्ञान होकर मुक्ति होती है ।।८०।।

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ।
योगः प्रोक्तो विवेकेन, ज्ञानं किं नोपजायते ।।

अर्थ—(उत्तर) जो कुछ योग से मिलेगा, वही इस विवेक से भी मिलेगा—यह हमारा कहना है । (योगानन्द अध्याय में) अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिए योग बता आये हैं, क्या इसी प्रकार, गौण आदि आत्माओं के विवेक द्वारा पंचकोषों के विवेक से, अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता ?

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गन्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकनाम् ।।

अर्थ–'सांख्य अर्थात् आत्मानात्मा के विवेकी जिस मोक्ष-स्थान को पाते हैं वही स्थान योगियों को भी मिलता है'–यह कहकर योगियों और विवेकियों को समान फल (ज्ञान द्वारा मोक्ष) मिलने की बात गीता आदि स्मृति में कही है ।।८२।।

अधिकारि-भेद से ही मार्गभेद का प्रतिपादन है :—

असाध्यः कस्यचिद्योगः, कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ।।८३।।

अर्थ–किसी अधिकारी के लिए योग असाध्य है और किसी के

लिए ज्ञान का निश्चय करना असाध्य होता है। इसलिए परमेश्वर ने 'ज्ञान' और 'योग' दो मार्ग बताये हैं ॥८३॥

योग श्रमसाध्य है और विवेक अनायास ही प्राप्त हो सकता है; तो क्या इनमें भेद नहीं है ? :—योग की विशेषतायें कल्पित कर, उत्तर देते हैं :—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४॥

अर्थ—तुम्हारे योग में क्या विशेषता है ? दोनों का ज्ञानरूपी समान फल ही तो कहा है ! राग-द्वेषादि का अभाव भी योगी और विवेकी में तुल्य बताया है ॥८४॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ।८५।

अर्थ—आत्मा प्रियतम है, यह जानने वाले विवेकी को विषयों में प्रीति नहीं रहती। जब उसे प्रतिकूलता ही नहीं दीखती तो कहीं राग और कहीं द्वेष क्यों होने लगा ?

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

अर्थ—देहादि के प्रतिकूल दुःखदायी वृश्चिक आदि के प्रति द्वेष, विवेकी और योगियों का एक समान है। यदि कहो कि प्रतिकूल बिच्छू आदि से द्वेष करने वाले को हम योगी नहीं मानते तो यों तो ऐसे द्वेषी को हम विवेकी भी नहीं कहते ॥८६॥

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोःसमम् ।
समाधौ नेति चेत्ताद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

अर्थ—व्यवहारकाल में द्वैत का प्रतिभान होना दोनों में तुल्य है । यदि कहो कि योगी को समाधि में द्वैत की प्रतीति नहीं होती ? तो हम कहेंगे कि वैसे ही श्रुति-युक्ति से अद्वैत तत्त्वका विवेक करते समय विवेकी को भी द्वैत की प्रतीति नहीं होती ॥८७॥

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

अर्थ—विवेकी को द्वैत का भान नहीं होता-यह बात "अद्वैतानन्द" नामक ब्रह्मानन्दके तीसरे अध्याय में बतायेंगे । अतएव हमारा कहा अर्थ भी सब निर्दोष ही है ॥८८॥

सदा पश्यन्निजानन्दमपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

अर्थ—यदि कहो सदा निजानन्द को देखता हुआ तथा इस सम्पूर्ण जगत् को न देखता हुआ तो एक प्रकार से योगी ही हो गया ? तो, अच्छा तुम ऐसे ही सन्तुष्ट हो जाओ और वृद्धि पाओ ।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥

अर्थ—ब्रह्मानन्द नाम के पञ्चायाध्यी प्रकरण के इस दूसरे अध्याय में मन्दाधिकारी पर अनुग्रह करने के लिये 'आत्मानन्द' का विवेचन किया गया ॥६७॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके बारहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दगआत्मानन्द, प्रकरण की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।

ब्रह्मानन्द-अद्वैतानन्द-प्रकरण-१३

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
अद्वैतानन्दसंज्ञस्य व्याख्यानं क्रियते मया॥

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम्।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु॥१॥

अर्थ–जिसको पहले ११वें प्रकरण में 'योगानन्द' कहा है वह 'आत्मानन्द' है–ऐसा समझलो। क्योंकि ब्रह्मानन्द को ही, योग से जन्य साक्षात्कार का विषय होने के कारण 'योगानन्द'; निरुपाधिक होने के कारण 'निजानन्द'; और गौण, मिथ्या एवं मुख्य आत्मा के विवेचन से अवगम्य होने के कारण 'आत्मानन्द' कहा है।

(शंका) परन्तु सजातीय स्त्री पुत्रादि गौण आत्मा, देहादि मिथ्या आत्मा और विजातीय आकाशादि विभिन्न पदार्थों भिन्नके रूप में विद्यमान आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द कैसे मान लें? (उत्तर) सुनोः–

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम्।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः॥२॥

अन्वय–तैत्तिरीयश्रुतीरितं आकाशादिस्वदेहान्तं जगत् आनन्दात् अन्यत् न अस्ति, ततः अद्वैतब्रह्मता।

अर्थ–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै० २–१) इस तैत्तिरीय श्रुति में जिस आकाशादिस्वदेह पर्यन्त जगत् का वर्णन आया है (और जिसके कारण द्वैत की शंका होती है) वह सब (जगत् के कारण) आनन्द से भिन्न कुछ नहीं है; इसीलिये (उस सबके रहने पर भी) वह आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है ॥२॥

जगत् की आनन्द से उत्पत्ति होने के कारण वह आनन्द से पृथक् नहीं :

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथं पृथक् ? ॥३॥

अर्थ–'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३–६में) कहा है कि—वह आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है और आनन्द में ही वह निवास करता है। अन्त में आनन्द में ही लीन होता है। फिर यह जगत् अपने कारणभूत आनन्द से पृथक् कैसे है ? जो जिस का कार्य होता है वह उससे भिन्न नहीं होता, जैसे मृत्तिका का कार्य घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं होता ॥३॥

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम् ।
मृद्वदेष उपादानं, निमित्तं न, कुलालवत् ॥४॥

अर्थ–(शंका) कुलाल से घट उत्पन्न होकर भी उससे भिन्न ही है ? (उत्तर) यह शंका उचित नहीं है, क्यों कि यह आत्मानन्द, घट का मिट्टी की भांति इस जगत् का उपादान कारण है; घट का कुम्हार की भांति, जगत् का निमित्त कारण नहीं है ॥४॥

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ।
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुते ॥५॥

अन्वय—हि कुम्भस्य स्थितिः, लयः च कुलाले क्वचित् न स्तः। तौ मृदि दृष्टौ।

अर्थ—घट की स्थिति और लय, कुम्हार के आश्रित नहीं हैं इसलिये कुम्हार घट का उपादान कारण नहीं है। हां, मिट्टी घड़े की स्थिति और नाश का आधार है : मिट्टी घट का उपादान है। इसी प्रकार जगत् की स्थिति और लय का उपादान आनन्द है : 'आनन्दाद्धयेव' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

उपादानं त्रिधा भिन्नं, विवर्ति परिणामि च।
आरम्भकं च, तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥

अर्थ—उपादान तीन प्रकार का होता है; विवर्ति, परिणामी और आरम्भक। इनमें से अन्तिम दो निरवयव वस्तु में नहीं घटते : वे सावयवके ही उपादान हो सकते हैं। *

आरम्भकवादी का मत दर्शाते हैं:—

आरम्भवादिनोऽन्यस्मदन्यस्योत्पत्तिमूचिरे।

---

*जिस उपादान के अवयवों के सम्बन्ध आदि द्वारा उससे भिन्न कार्य की उत्पत्ति हो वह आरम्भक उपादान है—जैसे परमाणु और कपाल के संयोगादि से घट की उत्पत्ति। (२) उपादान के अवयवों के अन्यथाभाव रूप कार्य की उत्पत्ति हो वह परिणामी उपादान है जैसे प्रवाह का तड़ाग जल; या दही का दुग्ध है। निरवयव उपादान में आरम्भ या परिणाम रूप कार्य सम्भव नहीं हैं, वहां सम्बन्धादि एवं अन्यथाभाव में आपेक्षित अवयव हैं ही नहीं। अतएव निरवयव आनन्द का विवर्त्त रूप जगत् उत्पन्न होना ही सम्भव है। रज्जु का विवर्त्त सर्प और आकाश का विवर्त्त नीलपन आदि है : अर्थात् अधिष्ठान से विषय सत्ता वाला, अधिष्ठान का अन्यथाभाव विवर्त्त कहलाता है।

तन्तोः पटस्य निष्पत्तो, भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

अर्थ—आरम्भवादी वैशेषिक आदि, कार्य से सर्वथा भिन्न रहने वाले कारण से, कारण से भिन्न कार्य की उत्पत्ति मानते हैं क्यों कि तन्तु से वस्त्र की उत्पत्ति होती है—यहां तन्तु और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं। पट का प्रयोजन तन्तुओं से नहीं सधता विरुद्ध परिणाम एव विरुद्ध अर्थ क्रियाकारी होने से वे परस्पर भिन्न हैं ॥७॥

परिणामवादी का मत दर्शाते है :—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि, मृत् कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं यथा ।

अन्वय—एकस्य अवस्थान्तरतापत्तिः परिणामिता । यथा क्षीरं दधि, मृत्कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं स्यात् ।

अर्थ—एक ही वस्तु का दूसरी अवस्था में पहुँच जाना ही 'परिणाम' कहलाता है । जैसे दूध दही होजाता है मिट्टी घड़ा बन जाती है और सोना कुण्डल रूप हो जाता है ।

विवर्त्त का लक्षण

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो, रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्ययस्त्यसौ, व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ।

अर्थ—पूर्वावस्था को छोड़े बिना ही, दूसरी अवस्था का भान होने लगना विवर्त्त कहलाता है । जैसे रज्जु का सर्प प्रतीत होने लगना : इसमें रज्जुत्व भी विद्यमान रहता है । पर क्या यह विवर्त्तवाद सावयव रज्जु आदि में ही है ? नहीं; निरवयव में भी होता है क्यों कि आकाश में तल और मलिनता की कल्पना पायी जाती है आकाश के स्वरूप को न जानने वाले लोग आकाश को अधोमुख

नीलवर्ण कटाह की भान्ति एवं काला कल्पित करते हैं ।।९।।

तो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥

अन्वय–ततः निरंशे आनन्दे विवर्त्तः इष्यताम् । मायाशक्तिः कल्पिका स्यात् । ऐन्द्रजालिकशक्तिवत् ।

अर्थ–इसी दृष्टान्त के अनुसार, संसार को निरवयव आनन्द में विवर्त्त (कल्पित) मान लेना चाहिए । मायाशक्ति इस कल्पना को करने वाली है जैसे ऐन्द्रजालिक की शक्ति, मणिमन्त्रादिरूपा माया शक्ति, से गन्धर्व नगरादि की कल्पना की जाती है, ऐसे ही ब्रह्म में रहने वाली मायाशक्ति जगत् की कल्पना कर लेती है ।।१०।।

यों तो फिर, आनन्दात्मा से पृथक् मायाशक्ति मानी जायगी तो, द्वैत मानना पड़ेगा ?

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११॥

अन्वय–शक्तिः शक्तात् पृथक् न अस्ति, तद्वत् दृष्टेः । च अभिदा न प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वात् । शक्त्यभावे तु सः कस्य ?

अर्थ–अग्नि आदि में रहने वाली शक्ति आदि शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् एक ही दीखते हैं । फिर शक्ति और शक्तिमान् एक भी नहीं हैं, क्यों कि मणिमंत्रादि द्वारा, शक्तिकार्य स्फोट आदि का प्रतिबन्ध दिखाई देता है, यदि शक्तिमान् से पृथक् शक्ति है ही नहीं तो यह प्रतिबन्ध किस वस्तु का हुआ ? [अर्थात् लौकिक अग्नि आदि की शक्ति को अग्नि से पृथक् या अपृथक् कहना अशक्य है–और जैसे यह अनिर्वचनीय है वैसे ही माया भी अनिर्वचनीय है । इसीलिए आनन्दात्मा से माया को भिन्न

मानते हुए भी द्वैत इसलिये नहीं बनता कि अनिर्वचनीय होने से अनृत है।] ॥११॥

अतीन्द्रिय शक्ति का प्रतिबन्ध कैसे जाना जा सकता है? बताते हैं:—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम्।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता॥

अर्थ—क्यों कि शक्ति (यद्यपि अतीन्द्रिय है) कार्य से अनुमेय है। अतएव कारण के होते हुए भी कार्य न होने से प्रतिबन्ध का अनुमान से ज्ञान होता है। देखते हैं कि जब अग्नि धधकती हुई भी, जलाती न हो, तो मंत्रादि द्वारा शक्ति (दाह शक्ति) का प्रतिबंध मानना पड़ता है ॥१२॥

इस प्रकार लौकिक शक्ति के स्वरूप व उसको प्रमाण से सिद्ध करने के पश्चात् उसके सद्भाव में श्वेताश्वर उपनिषद् के वाक्य को उपस्थित करते हैं:-

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन्।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका॥

अर्थ—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे. १–३) में बताया है कि काल स्वभाव आदि कारणवादों+में न्यूनता देखने वाले मुनियों ने जब ध्यान योग से जगत् का कारण ढूंढना चाहा तो उन्होंने अपने गुण अर्थात् अपने कार्यभूत स्थूल सूक्ष्मादि शरीरों से आवृत रहने कारण निगूढ अर्थात् अदृश्य, देव अर्थात् स्वप्रकाश चिदात्मा प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की शक्ति को जगत् का कारण

+जगत् के कारण बताने के अनेक वाद हैं। (१) कुछ लोग तो जगत्का

जाना। फिर आगे कहा है—'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। अर्थात् इस ब्रह्म की उत्कृष्ट जगत्कारण-रूपा शक्ति विविध है। वह क्रिया, ज्ञान और बल (इच्छा शक्ति) रूपा है। अर्थात् कहीं क्रियारूप, कहीं ज्ञानरूप और कहीं इच्छा-रूप है॥१३॥

योगवाशिष्ठ के अनुसार मायाशक्ति का वर्णन :--

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत्।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

अर्थ—यह बात वेदने तो कही ही है, वशिष्ठने (योगवाशिष्ठ) में भी यही बात कही है। वशिष्ठ ने कहा है कि—परं ब्रह्म नित्यं आपूर्णं अद्वयं सर्वशक्ति'। अर्थात् वह पर ब्रह्म नित्यपूर्ण, अद्वितीय भी है (निरुपाधिक ब्रह्मका वर्णन) और सर्वशक्तियुक्त भी (सोपाधिक ब्रह्म का वर्णन) है॥ आगे २८वें श्लोक तक योगवाशिष्ठ के श्लोकों को ही यहां उद्धृत किया गया है :—

कारण मानते ही नहीं; वे असत्‌वादी हैं। अभाव, शून्य, परमाणुआदि (नैयायिक), काल (ज्योतिषी), स्वभाव (चार्वाक), अदृष्ट (मीमांसक) यदृच्छा (प्रत्यक्षवादी), पंचभूत (प्रत्यक्ष प्रमाणवादी), प्रकृति (सांख्य, असंगपुरुष (योगी), कालादि का संयोग प्रतिबिम्बरूप परिणामी पुरुष और ब्रह्म को जगत् का कारण मानने वाले (वेदान्ती)—इस प्रकार अनेक प्रकार के कारणवाद है। इनमें क्रमशः, दृष्टविरोध, दृष्टविरोध, असम्भव, असम्भव, अकारणता की प्राप्ति, व्यभिचार, व्यभिचार, असम्भव, असम्भव, अयोग्यता, और विशेषण भंग दोष है। मायाविशिष्टब्रह्म ही जगत् का कारण है, यहपक्ष निर्दोष है।

यथोल्लसति शक्त्या ऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाम्भस्सु दाहशक्तिस्तथाऽनले ॥१६॥
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।
यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥१७॥
फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ।१८।
क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥
स आत्मा सर्वगो राम! नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ।२०।
आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग ! बालजनोदितेव ॥२१॥
बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।

क्वचित्सन्ति महाबाहो ! राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भे एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥
धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स यया बालो निर्विचारणया धिया ॥
इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥
इत्यादिभिरुपख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८॥

अर्थ-योगवशिष्ठमें कहा है कि-वह पर ब्रह्म, जब-जब, जिस जिस माया-शक्ति के कारण उल्लास (विकास अथवा विवर्त्त) को प्राप्त होता है, तब-तब वह शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। [अर्थात् जब वह शक्ति अभिव्यक्त नहीं होती, दृश्यमान जगत् नहीं बनती, तब भी अप्रकट दशा में यह जगत् ब्रह्म में रहता है।] हे राम !

देवादि शरीरों में ब्रह्म की वह चिच्छक्ति दीख पड़ती है ।। यही नहीं वायु में स्पन्दशक्ति (चलने की कारणभूत) तथा पत्थर में दृढता की की हेतुभूता शक्ति, जल में द्रवशक्ति, अग्नि में दाहशक्ति, आकाश में शून्य शक्ति और विनाशी पदार्थों में नाशशक्ति दीख पड़ती है, जैसे अण्डे के भीतर (अनभिव्यक्त दशा में) महासर्प रहता है ऐसे ही यह जगत् आत्मा में अनभिव्यक्त दशा में भी बना रहता है। जैसे फल, पत्ते, लता, फूल, शाखा और विस्तृतशाखा व जड़ों वाला पेड़, बीज में छिपा रहता है—इसी प्रकार यह विचित्र जगत् ब्रह्ममूल में (अनभिव्यक्तअवस्था में भी बना) रहता है।

(प्रश्न) सब शक्तियाँ एक साथ अभिव्यक्त क्यों नहीं होती ? (उत्तर) देश और काल की विचित्रता के कारण किसी देश-विशेश में, और किसी विशेष समय कुछ शक्तिएं ऐसे ही अभिव्यक्त हो जाया करती हैं जैसे भूमिगत बीजों में से कुछ, कहीं, किसी समय चावल-रूप में उग आया करते हैं ।।

अब जगत्‌के कल्पक मन का रूप दिखाते हैं:—हे राम! सर्वत्र विद्य-मान, सदा प्रकाशमान,देश कालदित्परिछेद-रहित होनेसे महान् स्वरूप वाला, वह आत्मा जिस समय मनन शक्ति (जो परावबोधनरूपा माया परिणामरूपा है) को धारण करता है, तब वह मन कहलाता है। आरम्भ में, मनन शक्ति का उल्लास होने पर, मन(उत्पन्न) होता है : उसके पश्चात् बन्ध और मोक्ष की कल्पनाएं जागती हैं। पश्चात् बन्धन के अन्तर्गत ही, भुवननाम की, पहाड़—नदी—नद आदिजगत् की रचना की कल्पना होती है। इस प्रकार की यह

जगत् की स्थिति प्रतिष्ठित हो गई है अर्थात् वास्तविक प्रतीत होने लगती है। यह सब ऐसे ही है जैसे कि सुन्दर बालकों को समझाने के लिए कही गई कहानी उन्हें सच्ची प्रतीत होने लगती है।[इसी प्रसंग में वाशिष्ठ में वर्णित एक कथा को उद्धृत करते हैं :-] हे महाबाहु राम ? बालकों को बहलाने के लिए धाय एक मनोहर कहानी कहा करती है। कहीं तीन राजपुत्र रहते हैं। उनमें से दो तो पैदा नहीं हुए और एक गर्भ में ही नहीं आया। वे तीनों धर्मपूर्वक एक अत्यन्त असत् नगर में रहते हैं। वे भ्रान्तचित्त, एक बार अपने शून्य नगर से निकल कर जा रहे थे कि आकाश में उन्होंने फलों से लदे पेड़ देखे। वे तीनों राजपुत्र आजकल भविष्यत् नगर में शिकार खेलते सुख से रह रहे हैं। हे राम ! धाय ने जब सुन्दर बालकों की यह कथा सुनाई तो वह सुनने वाला बालक भोली बुद्धि से इसे ठीक मान बैठा।

इसी प्रकार यह संसाररचना भी, विचाररहित चित्त वाले पुरुषों के चित्त में बालकों की कहानी के समान, दृढ़ता से जम गई है। वशिष्ठ ने इस प्रकार के उपाख्यानों द्वारा माया शक्ति का विस्तार से निरूपण किया है। यहाँ उसी मायाशक्तिका निरूपण किया जाता है ॥१५-२८॥

यह मायाशक्ति जगत् और ब्रह्म, दोनों से भिन्न है :-

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥

अन्वय-एषा शक्तिः कार्यात् च आश्रयतः विलक्षणा भवेत् । तत्र स्फोटांगारौ दृश्येते; शक्तिः अनुमीयते ।

अर्थ—यह मायाशक्ति, अपने कार्य (जगत्) और अपने आश्रय (ब्रह्म) दोनों से विलक्षण स्वभाव की है। जैसे लौकिक अग्नि के उदाहरण में वह्निस्थ शक्तिका कार्य (स्फोट) और आश्रयरूप (अंगारे) तो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं—परन्तु उनमें विद्यमान शक्ति का अनुमान से ही ज्ञान होता है ॥२९॥

यही बात, मृत्तिका की शक्ति के विषय में भी ठीक है :—

पृथुबुध्नोदराकारोघटः कर्योऽत्र मृत्तिका।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा॥

अन्वय—पृथुबुध्नोदराकारः घटः कार्यः। शब्दादिभिः पञ्चगुणैः युक्ता मृत्तिका। अत्र शक्तिः तु अतद्विधा॥

अर्थ—मोटे, गोल पेटवाला घड़ा कार्य है तो उस (कार्यरूप घट) का आश्रय मिट्टी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्धवाली है। परन्तु शक्ति इन दोनों में से किसी भी प्रकार की नहीं है : उसका न कोई आकार है न उसमें कोई गुण है ॥३०॥

न पृथ्वादिर्नशब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥३१॥

अर्थ—शक्ति में न स्थूलता आदि कार्य के गुण हैं और न शब्दादि आश्रय के ही धर्म हैं, इस कारण वह विलक्षण है। और इसीलिये यह अचैतन्य है इसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता।

फिर वह कारण की भान्ति प्रतीति क्यों नहीं होती ? :—

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥३२॥

अर्थ—मिट्टी आदि की शक्ति घटादि कार्य की उत्पत्ति से पहले मिट्टी में ही छिपी रही : फिर कुलाल-दण्ड-चक्र आदि की सहायता से विकार अर्थात् कार्य के आकार की होकर अभिव्यक्त हो गई ॥

यदि उपादान से भिन्न शक्ति के कार्य को मानो तो कार्य-कारण में भेद क्यों प्रतीति नहीं होता ?

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥३३॥

अन्वय—विचारविकलाः जनाः पृथुत्वादिविकारान्तं च स्पर्शादिं मृत्तिकां अपि एकीकृत्य "घटं" आहुः ।

अर्थ—अविवेकी जन स्थूलत्वादिरूप कार्य को और स्पर्शादि गुणवाली कारणभूत मिट्टी को, एक वस्तु समझ कर, "घट" कहने लगते हैं ॥३३॥

पर ऐसा समझने में 'अविचार' की क्या बात है ? बताते हैं :—

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥

अन्वय—कुलालव्यापृतेः पूर्वः यावानंशः सः घटः नो । पश्चात् पृथुबुध्नादिमत्त्वे तु कुम्भता युक्ता हि ।

अर्थ—कुलाल के व्यापार से पहले जितना भाग (मिट्टी का) है, वह घट नहीं है; फिर भी उसे घट कहना अविचारकी बात है । हां, कुलाल के व्यापार के पश्चात्, स्थूलगोल पेट के आकार वाली, वस्तुको 'घट' कहना तो जंचता है ॥३४॥

घड़ा पारमार्थिक पदार्थ नहीं है :—

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥
अतोऽनिर्वचनीयोयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥

अन्वय—स घटः मृदः भिन्नः न । वियोगे सति अनीक्षणात् । अभिन्नः अपि न ! पुरा पिण्डदशायां अनवेक्षणात् ॥ अतः शक्तिवत् अयं अनिर्वचनीयः; तेन शक्तिज्ञः ।

अर्थ—घट, मृत्तिका से अलग नहीं है; क्योंकि उसे मिट्टी से पृथक् करके कभी नहीं देखा गया । वह (घट) मिट्टी से अभिन्न भी नहीं है; क्योंकि पहले पिण्ड दशा में वह दीखता नहीं है ॥ इसलिए 'घट, शक्ति की भान्ति अनिर्वचनीय है । अतएव घट शक्ति से उत्पन्न माना जाता है । [फिर उसे कभी 'शक्ति' और कभी 'घट' क्यों कहते हैं ?]—इसलिये कि जब तक अव्यक्त अवस्था में रहता है तब तक उसे 'शक्ति कहते हैं, और व्यक्तावस्था आजाने पर उस का नाम 'घट' हो जाता है ॥३५-३६॥

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ।
पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ।३७।

अर्थ—ऐन्द्रजालिक में रहने वाली माया भी मणि मंत्रादि का प्रयोग करने से पहले व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से गन्धर्व सेना आदि के रूप में प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार माया पहिले अप्रकट रहती है, पीछे प्रकट होती है ॥३८॥

छान्दोग्य श्रुति आदि में भी ऐसा ही कहा है—

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥३८॥

अर्थ—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दोग्य ६-४-१) इस श्रुति में इसी विचार को लेकर मायामय अर्थात् माया का कार्य होने से, विकार को अनृत और विकारों के आधार मिट्टी को सत्य कहा है ॥३८॥

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९॥

अन्वय—वाङ्निष्पाद्यं विकारः नाममात्रम् । अस्य सत्यता न । स्पर्शादि गुण युक्ता तु केवलमृत्तिका सत्या ॥

अर्थ—वहाँ यह कहा है कि वाणी से बोले जाने वाले विकार नाम ही नाम हैं अर्थात् ये घटादि कार्य सत्य नहीं हैं। परन्तु इन कार्यों का आधार बनी हुई स्पर्श आदि गुण वाली केवल मिट्टी ही सत्य पदार्थ है ॥३९॥

क्योंकि

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

अर्थ—व्यक्त, अव्यक्त और इन दोनों का आधार; इन तीनों में से पहिले दोनों का अर्थात् कार्य और शक्ति का कालभेद से पर्याय अर्थात् क्रम रहता है; इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति और कार्य ये दोनों कादाचित्क हैं। कभी कार्य होता है, कभी शक्ति होती है. इसी से ये मिथ्या हैं। परन्तु इन दोनों का आधार एक तीसरा पदार्थ मिट्टी आदि है, वह दोनों में अन्वित रहता है। इस

प्रकार त्रिकाल-स्थायी होने से वह एक सत्य तत्व है ॥४०॥

विकारों के असत्य होने के तीन कारण :—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥

अन्वय– व्यक्तं निस्तत्वं भासमानं च उत्पत्तिनाशभाक् तदुत्पत्तौ नृभिः तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते ॥

अर्थ–(१) व्यक्त पदार्थ निस्तत्व (स्वरूप से असत्) होते हुए भी भासते हैं। (२) वे उत्पत्ति तथा विनाश वाले होते हैं। और (६) उत्पन्न हो जाने पर उनका नाम लोग शब्दोंमें रख लेते है। इन्हीं कारणों से विकारों को असत्य कहा जाता है।

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥

अर्थ—व्यक्त पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उनका यह कार्य से अभिन्न नाम, व्यवहर्त्ता मनुष्योंकी वाणियों पर चढ़ा रहता है। अब यह व्यक्त पदार्थ उस नाम से निरूपणीय रह जाने के कारण नाम के ही रूप वाला अथवा नामात्मक कहलाने लगता है ॥

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारम्भणनामतः ।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥

यहाँ इस प्रकार अनुमान करना चाहिए। विवादास्पद घट, 'घट' शब्दरूप है। क्योंकि जिस प्रकार 'घट' इस शब्द का व्यवहार 'घट' शब्द से होता है, उसी प्रकार घट पदार्थ का व्यवहार भी ठीक इसी प्रकार 'घट' शब्द से होता है ॥४२॥

अन्वय—व्यक्तस्य रूपं तत् किंचित् सत्यं न तु, निस्तत्त्वत्वात्, विनाशित्वात् वाचारंभणनामतः मृदादिवत् ।

अर्थ—व्यक्त अर्थात् घटादिरूप कार्य का जो स्थूल, गोल आदि आकार का रूप है वह, सत्य मिट्टी आदि के समान सत्य नहीं है ; क्यों कि (१) वह रूप वास्तव में कुछ नहीं है ; [२] वह विनाशी है, मिट्टी के रहते-रहते ही नष्ट हो जाता है :—तथा [३] वाणी से कहा गया एक शब्दमात्र है : यदि यह रूप असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व नहीं है, विनाशी नहीं है और केवल नाम मात्र नहीं है ; ऐसे ही यह भी होता । यहां अनुमान निम्न रूप से होंगे—(१) घटादि रूप कार्य असत्य होने योग्य है, निस्तत्व होने से; जो असत्य नहीं होता वह निस्तत्व भी नहीं होता जैसे घटादि की उपादान मिट्टी । यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है ! (२) घटादिरूप कार्य असत्य होने योग्य हैं; विनाशी होने से; जो असत्य नहीं होता, वह विनाशी भी नहीं होता, जैसे मिट्टी । (३) घटादि कार्य असत्य हैं, वागिन्द्रयजन्यशब्दमात्रस्वरूप वाला होने से, जो असत्य नहीं होता वह वागिन्द्रिय-जन्य शब्दमात्र स्वरूप वाला भी नहीं होता; जैसे आत्मा ।।४३।।

इस प्रकार विकार की असत्यता का प्रतिपादन करके अब, अधिष्ठानभूत मृत्तिका की सत्यता का उपपादन करते हैं :—

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक्
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ।।४४।।

अन्वय—व्यक्तकाले ततः पूर्वं ऊर्ध्वं अपि एकरूपभाक् सतत्वं च अविनाशं मृद्वस्तु सत्यं कथ्यते ।

अर्थ—व्यंक्त अर्थात् स्थिति के समय, उससे पूर्व और उसके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी, तीनों कालों में, एकसा रहने वाला

वास्तविकरूप वाला तथा विकार के साथ नष्ट न होने वाला जो मिट्टी नामका पदार्थ है वह 'सत्य' पदार्थ कहलाता है। यहां अनुमान इस प्रकार है:–(१) विवादास्पद मिट्टी सत्य है, सतत्व होने से; (२) तीनों कालों में एक-सी होने से (३) वास्तविक स्वरूप वाली होने से; आत्मा की न्याईं ॥४४॥

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ? ॥४५॥

अर्थ–वादी शंका करता है–(प्रश्न) यदि व्यक्त, घट और विकार इन तीनों शब्दों से कहा गया कार्यरूप अर्थ यदि अनृत है अर्थात् वह अपने कारण से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है तो मिट्टी रूपी कारण का ज्ञान हो जाने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ?

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ॥४६॥

अन्वय–निवृत्त एव; यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिः गता। अत्र ईदृक् निवृत्तिः एव बोधजा; न तु अभासनम्।

अर्थ–(उत्तर) यह तो हमें अभीष्ट ही है। अर्थात् उसकी निवृत्ति तो हो ही गई; क्योंकि अब तुम्हारी घटादि के सत्य होने की बुद्धि जाती रही। (शंका) आरोपित रजतादि की ही अप्रतीति होती है, सत्यत्व बुद्धि का विनाश तो नहीं होता ? (उत्तर) रजतादिक स्वरूप तो निरुपाधिक भ्रम है–निरुपाधिक, रज्जु सर्प, शुक्ति रजतादि स्थलों में सर्पादि-रूप का भान होना बन्द हो जाता है

---

*निरुपाधिक और सोपाधिक भेद से भ्रम दो प्रकार का हैं। (१) केवल

परन्तु सोपाधिक भ्रमस्थलों में तो ऐसी निवृत्ति ही बोध से उत्पन्न होती है; वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर भी स्वरूप की प्रतीति बन्द नहीं हुआ करती ॥४६॥

सोपाधिक भ्रम को दृष्टान्त से समझाते हैं :–

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ॥

अज्ञान-जन्य भ्रम निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे रज्जुमें सर्प और शुक्ति में रजत का भ्रम। कार्यकालवृत्ति निमित्त (जैसे दीवार पर पड़े सूर्य के प्रतिविम्ब का, समीपस्थ जलपात्र) ही यहां उपाधि शब्द से लिया जाता है–ऐसा कोई निमित्त, रज्जुसर्पादि क्योंकि, भ्रम के समय नहीं होता, अतएव यह भ्रम निरुपाधिक भ्रम कहलाता है (२) कार्यकालसे पूर्व-वृत्ति (जैसे घटके दण्डचक्रआदि) निमित्त रूप उपाधि-सहित अज्ञानसे जन्य भ्रम सोपाधिक भ्रम है। जैसे दर्पणमें प्रतिविम्ब का भ्रम, दर्पण की सन्निधि रूप उपाधि सहित अधिष्ठान के अज्ञान से जन्य है। इत्यादि।

निरुपाधिक भ्रम के स्थल में अधिष्ठान के ज्ञान से कार्य-सहित आवरण-विक्षेपहेतुशक्तियुक्त अज्ञान का नाश और बाध हो जाता है; इसलिए वहां अधिष्ठान शेष अथवा कल्पित के स्वरूप का अभाव ही बाध का लक्षण है। और सोपाधिक भ्रम स्थल में तो आवरण-सहित अज्ञान की आवरणहेतु शक्ति का तो नाश और बाध दोनों हो जाते हैं, परन्तु अज्ञान की उपाधिरूप प्रतिबन्ध के वश, विक्षेपरूपकार्य सहित विक्षेपहेतुशक्ति का नाश, अर्थात स्वरूपसे अभाव (नाश) नहीं होता अपितु केवल बाध होता है—उसके स्वरूप की प्रतीति तो दग्ध पट अथवा दग्धधान्य कण की भान्ति कुछ काल तक ही रहती है। अतएव सोपाधिक भ्रम के स्थल में अधिष्ठान का शेष अथवा आरोपित के स्वरूप का अभाव, बाध का लक्षण नहीं है। अपितु मिथ्यात्व का निश्चय या त्रिकालाभावनिश्चयरूप बाध (निवृत्ति) ही उसका लक्षण है।

अन्वय–नीरे अधोमुखः भातः अपि पुमान् वस्तुतः न अस्ति। कस्यचित् तस्मिन् तटस्थमर्त्यवत् आस्था क्वचित् न एव।

अर्थ–जल में अधोमुख दीखने वाला भी मनुष्य, वस्तुतः होता नहीं है। क्योंकि (ज्ञानी, अज्ञानी) किसी को भी, उस छायापुरुष में किनारे पर खड़े मनुष्य की-सी सत्य होने की आस्था कभी नहीं होती। [प्रत्येक यही समझता है कि जलरूप उपाधि के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार सर्वकारण आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर विवेकी पुरुष इस जगत् को मिथ्या मान लेता है, और फिर भी उसे जब यह जगत् भासता है तो वह इसे इन्द्रियोपाधिक भ्रम समझकर टाल देता है। वह इस जगद्भास को सत्य मान कर कोई व्यवहार नहीं करता।] ॥४७॥

अद्वैतवादी ऐसे बोध को पुरुषार्थ मानता है :—

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम्।
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥

अन्वय–ईदृक् बोधे अद्वैतवादिनां पुमर्थत्वं मतम्। मृद्रूपस्य अपरित्यागात् घटे विवर्तत्वं स्थितम् ॥

अर्थ—ऐसे, अर्थात् आरोपित की असत्यता को जतलाने वाले, बोध के होने में ही, अद्वैतवादी, पुरुषार्थ मानते हैं। [वे कहते हैं कि आत्मा से भिन्न सब को मिथ्या समझ लेने पर अद्वितीय आनन्द की अभिव्यक्ति होना ही पुरुषार्थ है] घट बन जाने पर भी, मिट्टी अपने मृद्रूप का त्याग नहीं करती। इससे यह सिद्ध होता है कि घट मिट्टी का विवर्त है–इसीलिए मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट को सत्य मानने वाली बुद्धि निवृत्त हो जाती है–यह, सत्य बुद्धि का हटा देना ही पुरुषार्थ, है, अप्रतीति नहीं। जब तक सांसारिक

पदार्थों के सत्य होने का संस्कार नहीं मिटता तब तक अद्वितीय आनन्द प्रकट नहीं होता ।।४८।।

पर, घट की मिट्टी को परिणाम तो नहीं कह सकते ?

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्न हि ।।४९।।

अर्थ—क्योंकि जिन दही आदि को दूधका परिणाम माना जाता है, उनमें पूर्व दुग्धादिरूप का त्याग पाया जाता है; घट और कुण्डल के पूर्वरूप मिट्टी और सुवर्ण रूप निवृत्त नहीं हो जाते अर्थात् जैसा कि प्रसिद्ध है, घट और कुण्डल क्रमशः मिट्टी और सुवर्ण के विवर्त हैं, परिणाम नहीं ।।४९।।

घटे भग्ने नमृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ।।

अन्वय–(प्रश्न) घटे भग्ने मृद्भावः न, कपालानां अवेक्षणात् ? मा एवम् । चूर्णे मृद्रूपं अस्ति । स्वर्णरूपं तु अतिस्फुटम् ।

अर्थ—यदि कहो कि–घट के टूट जाने पर वह मिट्टी नहीं हो जाता क्योंकि घटनाश हो जाने पर भी कपाल तो दीखते हैं ! यह कथन उचित नहीं है; क्योंकि कपाल के टूट जाने पर जब चूरा हो जाता है–तब तो वह मिट्टी रूप में देखा हो जा सकता है । कुण्डल के उदाहरण में कुण्डल के टूट जाने पर भी उसका स्वर्णरूप अति-स्पष्ट दीखता ही है । इस कारण घट आदि मिट्टी के विवर्त ही हैं ।।

पर यों तो मिट्टी और सुवर्ण की भान्ति दुग्ध में भी 'परिणाम' ही मानना पड़ेगा—विवर्त्त नहीं; यह दर्शाते हैं :—

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुंसस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१॥

अर्थ–दूध आदि से दही आदि बनने में दूध का 'परिणाम' होना ही मानो, क्योंकि दही में किसी की भी फिर दूध की भावना नहीं बनती। परन्तु इतने मात्र से (क्षीरादि के परिणाम भी होने मात्र से) मिट्टी आदिको विवर्त्त का दृष्टान्त मानने में कोई हानि नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दूध तो, पूर्वरूप को त्यागने के साथ-साथ बदलता है अतएव वह तो, केवल परिणाम है; और मिट्टी तथा सोने में यद्यपि परिवर्तन होता है तथापि, वे पूर्वरूप को भी नहीं छोड़ते अतएव ये 'परिणामी' भी हैं और 'विवर्त्त' भी हैं ॥५१॥

मिट्टी और सुवर्ण आदि को 'आरम्भक' कारण भी क्यों नहीं मान लेते :–

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥

अन्वय–आरम्भवादिनः कार्ये मृदः द्वैगुण्यं आपतेत् । रूपस्पर्शादयः कार्यकारणयोः पृथक् प्रोक्ताः ।

अर्थ–आरम्भवादी (नैयायिक) के मत में कार्य, घटादि, में मिट्टी आदि उपादान द्रव्य, कार्य एवं कारण दोनों आकारोंके कारण दुहरे होने चाहिए, फिर आरम्भवादी कार्य और कारण के रूप-स्पर्श आदि को पृथक्-पृथक् मानते हैं: इसलिए दोनों प्रकार की मिट्टियों में रूपादि भी दुहरे-दुहरे होने चाहिए ।+॥५२॥

+ आरम्भवादी के मतमें कारणत्व (तन्तुत्व) और कार्यत्व (पटत्व) रूपमें भिन्न-भिन्न व्यवहार होनेसे कार्य-कारणका भेद प्रतीत होता है; इसलिये,

विवर्त्त के दो ही दृष्टान्त नहीं हैं; अतएव सभी कार्य अनृत हैं :—

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

अन्वय—आरुणिः मृत्, सुवर्णं, च अयः—इति दृष्टान्तत्रयं प्राह । अतः सर्ववस्तुषु कार्यानृतत्वं वासयेत् ।

अर्थ—छान्दोग्योपनिषद् में यथा 'सोम्यैकेन मृतपिण्डेन' से लेकर 'कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्' तक उद्दालक आरुणिने 'मिट्टी' 'सुवर्ण' और 'लोहा' ये तीन दृष्टान्त दिये हैं; अतएव मिट्टी आदि सब भूत एवं भौतिक पदार्थों में कार्यों के अनृतत्व (मिथ्यात्व) की वासना किया करे, अर्थात् कार्य के अनृतत्व को बारबार अनुभव कर, अनुभवजन्य संस्कार को ग्रहण करे ॥५३॥

यह अनृतत्वानुसंधान इसलिए है, कि, कारणज्ञान से कार्यज्ञान की सिद्धि हो !

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।

अर्थ—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" (छा० ६—१—४) इत्यादि वाक्यों में आरुणि ने बतलाया है कि

कारणरूप एवं कार्यरूप में एक ही कारण के होने से, कार्य के स्वरूप में कारण की द्विगुणता तो होगी हां; जब कारण की द्विगुणता हुई तो तद्गत स्पर्श-रूपादि और कार्यगत धर्म भी दुगने होने चाहिएं। परन्तु व्यवहार में तो इनका दुहरा प्रयोग नहीं करते—ये रूपादि तन्तुओं के हैं—ये वस्त्र के हैं—ऐसा व्यवहार नहीं होता। फिर कार्यत्व एवं कारणत्वरूप भेद व्यवहार होनेके कारण न तो हम इन्हें अभिन्न कह सकते हैं और न भिन्न-भिन्न, क्योंकि व्यवहार में तन्तु-मिट्टी से पृथक् घटपट का व्यवहार नहीं होता। अपितु कार्यकारण का कल्पित भेद और वास्तविक अभेद रूप अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है : अतएव आरम्भवाद असंगत है।

कारण (मिट्टी आदि) के ज्ञान से कार्य का ज्ञान हो जाता है ।

सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ? ॥५४॥

(शंका) परन्तु मिट्टी सुवर्ण आदि पारमार्थिक कारण का ज्ञान हो जाने से, उससे भिन्नस्वभाव अनृत घटादि रूप कार्यादि का ज्ञान कैसे सम्भव है ? ॥५४॥

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥
अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ॥५६॥

अन्वय–लोकदृष्टितः समृत्कस्य विकारस्य कार्यता । अत्र वास्तवः मृदंशः; अस्य बोधः कारणबोधतः । अनृतांशः बोधव्यः न; तद्बोधानुपयोगतः । तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यात् अनृतांशावबोधनं न ॥

अर्थ—(समाधान) लोक दृष्टि में मिट्टी सहित (अधिष्ठानभूत मिट्टी सहित) घटादि विकार (आरोपित पदार्थ) को कार्य कहते हैं । इस में जो वास्तविक 'मिट्टी का भाग' है उसका ज्ञान तो कारण के ज्ञान से ही हो जाता हैं । शेष जो अनृत भाग है, वह ज्ञातव्य नहीं है; क्योंकि उसके ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है : तत्वज्ञान को तो पुरुषार्थ माना गया है (अतएव वह उपयोगी है) परन्तु अनृतभाग अथवा विकार को जानने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ?

अर्थ–(प्रश्न) 'कारण के ज्ञान से कार्य [के मिट्टी आदि सत्य-भाग] का ज्ञान हो जाता है' कह कहकर तुमने दूसरे शब्दों में

यह बात कही कि 'मिट्टी के बोध से मिट्टी का बोध होता है'-इसमें नई बात क्या कही ? यह तो कोरी शब्द रचना ही रही ? ।।५७।।

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो माऽस्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ?

अन्वय—सत्यम् । 'कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मा' इति जानतः विस्मयः मा अस्तु । इह अज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ?

अर्थ—(उत्तर) यह ठीक है : इस कथन में कोई नई बात नहीं है : 'घटादि कार्यों में वास्तव अंश कारणरूप से विद्यमान हैं' ऐसा जानने वाले को भले ही कोई नई बात न लगे ; पर अन्य तत्त्वज्ञान से शून्यों को तो विस्मय होगा ही; उसे कौन रोक सकता है ?

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥

अन्वय—आरम्भी च परिणामी च लौकिकः 'एककारणे ज्ञाते सर्वमतिं' श्रुत्वा विस्मयं प्राप्नोति एव ।।

अर्थ—आरम्भी अर्थात् समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों से भिन्न कार्य की उत्पत्ति मानने वाले, परिणामी अर्थात् पूर्व रूप त्यागकर रूपान्तर प्राप्तिरूपी परिणाम को मानने वाले तथा लौकिक (केवलमात्र लोक व्यवहार में मस्त) जनों को 'एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान होता है' यह वाक्य सुनकर भारी विस्मय होता ही है तो होवे; क्या हानि है ? ।।५९।।

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ।।६०।।

अन्वय—अद्वैते अभिमुखीकर्तुं एव अत्र श्रुतौ एकस्य बोधतः सर्वबोधः । नानात्वस्य विवक्षया न एव ।

अर्थ—अद्वैतज्ञान की ओर अधिकारी जनों को अभिमुख करने के लिए ही, छान्दोग्य श्रुतिमें, 'एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान होता है'–यह कहा है; वहाँ कार्यों की अनेकता को विज्ञान से सिद्ध करना अभिप्रेत नहीं है। [ब्रह्मरूप कारण के ज्ञान की ओर प्रवृत्तिके अर्थ ही, ब्रह्म-ज्ञान की यह स्तुति अर्थवाद-रूप मानी गई है।]

एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१॥

अन्वय–यथा एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीः; तथा एकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिः विभाव्यताम्।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि–जैसे घटादि के उपादानभूत एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से मिट्टी बने सब पदार्थों का बोध हो जाता है: वैसे ही, सबके उपादान एक ब्रह्म को जान लेने से उससे बने सकल जगत् का बोध हो जाता है। यही बात 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' 'उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं' आदि श्रुतियों में प्रतिपादित है॥

ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत्।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२॥

अर्थ–सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप तो ब्रह्म है; और नाम रूपात्मक, जगत् है। तापनीय उपनिषद् में ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द बताया है। (ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्) ॥६२॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६३॥

अन्वय–आरुणिः सद्रूपम्, बह्वृचः प्रज्ञानं ब्रह्म, सनत्कुमारः आनन्दं प्राह। एवं अन्यत्र गम्यताम्।

अर्थ–आरुणि उद्दालक ने (सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छान्दोग्य) कहकर] ब्रह्म को 'सद्रूप'; बह्वृच शाखा वालों ने ऐतरेय उपनिषद् में ['प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म' (ऐ ५-१) कहकर] उसको 'ज्ञानरूप'; सनत्कुमार ने (छान्दोग्य श्रुति में 'यो वै भूमा तत्सुखम्' कहकर) उस को 'आनन्दरूप'; बताया है। ऐसे अन्यत्र तैत्तीरिय आदि उपनिषदों में भी उसको आनन्दरूपता आदि कही है ।।६३।।

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

अन्वय–'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य नामानि कृत्वा तिष्ठति' अहं इमे नामरूपे व्याकरवाणि इति श्रुतेः।

अर्थ–'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' तथा "अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६–३–२) इन दो वाक्यों से जगत् के स्रष्टव्य नामरूपों को भी दिखाया गया है। अर्थात् जैसे सच्चिदानन्दतत्व के सद्भाव में श्रुति प्रमाण है वैसे ही नाम और रूप को बताने वाली भी श्रुतियां हैं।

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥

अन्वय–सृष्टेः पुरा अव्याकृतं, ऊर्ध्वं द्विधा व्याक्रियते। ब्रह्मणि अचिन्त्यशक्तिः माया एषा अव्याकृताभिधा।

अर्थ–'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदं रूपः' (बृ० १-४-७) इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि सृष्टि से पहले यह सब जगत् अव्याकृत था (इसके नाम और रूप अप्रकट दशा में थे।) पीछे, रचना के समय, यह जगत् दो रूप से, वाच्य-वाचकरूपसे, व्यक्त होगया। ऊपर उद्धृत वाक्य में आये'अव्याकृत' पदसे ब्रह्म में रहने वाली अचिन्त्य शक्ति, माया, ली गई है ॥६५॥

'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' का भाव दर्शाते हैं :—

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥

अन्वय–अविक्रियब्रह्मनिष्ठा अनेकधा विकारं याति। मायां तु प्रकृतिं विद्यात्; मायिनं तु महेश्वरम्।

अर्थ–अविकारी ब्रह्ममें रहनेवाली, अव्याकृत नामवाली वही अचिन्त्यशक्ति माया, अनेकरूपसे परिणाम को प्राप्त हो जाती है। यह सब जगत् उसी माया का विकार अथवा परिणाम है। "मायां तु" इत्यादि श्रुति में कहा है कि पूर्वोक्त 'माया' को प्रकृति अथवा उपादान कारण जाने और माया का आश्रय होनेके कारण 'मायी' कहाने वाले को महेश्वर अर्थात् माया का नियामक समझो। ('तु' शब्द से यह संकेत है कि 'माया' और 'मायी' सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।) ॥६६॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥

अन्वय–आद्यः विकारः आकाशः। सः अस्ति, भाति, अपि च प्रियः, तस्य रूपं अवकाशः। तत् मिथ्या। तत् त्रयं तु न (मिथ्या)।

अर्थ–मायोपहित ब्रह्म का पहला कार्य (विकार) आकाश है; वह "अस्ति", "भाति" और 'प्रिय' रूप अर्थात् (कारण की भान्ति सच्चिदानन्द स्वरूप) है। उसका अपना रूप 'अवकाश' है' परन्तु उसका यह रूप मिथ्या है : पहले कहे (सच्चिदानन्द) तीनों रूप मिथ्या नहीं हैं ॥६७॥

चतुर्थ अवकाश रूप क्यों मिथ्या है ? बताते हैं :–

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥

अर्थ–आकाश का अवकाश नाम का रूप आकाश के व्यक्त होने से पहले भी नहीं था और नाश हो जाने के कारण पीछे भी नहीं रहेगा। और जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं रहती वह वर्तमान अर्थात् मध्य में भी नहीं रहती : अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाश के मध्य में प्रतीत होने वाला यह अवकाश असत् पदार्थ है ॥६८॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥

अर्थ–श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति यही कहा है—कि आकाशादि एवं अण्डजादि पदार्थ पहले अव्यक्त थे, मध्य में व्यक्त हो गये अन्त में फिर अव्यक्त में लीन हो जाते हैं ॥६९॥

मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥७०॥

अन्वय–मृद्वत् ते सच्चिदानन्दाः सर्वदा अनुगच्छन्ति; निराकाशे निजात्मनि सदादीनां अनुभूतिः ।

अर्थ–जैसे मिट्टी; घटादि कार्यों में तीनों कालोंमें अनुगत रहती, है, वैसे ही वे सत्-चित्–आनन्द नाम के तीनों रूप सदा सब पदार्थों में अनुगत रहते हैं । जब आकाश नहीं रहता तब भी इन सत् आदि धर्मों का अनुभव अपने आत्मा में होता रहता है ॥७०॥

उपरोक्त का स्पष्टीकरण

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥७१॥

अन्वय–अवकाशे विस्मृते अथ तत्र ते किं भाति ? वद । शून्यं एव, इतिचेत् ? अस्तु नाम; तादृक् हि ।

अर्थ–बताओ जब तुम अवकाश को भूल जाते हो तब तुम्हें क्या भान होता है ? यदि कहो शून्य का भान होता है तो अच्छा ! यही सही ! उसका नाम चाहे तुम शून्य ही रखलो परन्तु अवकाशाभावरूप से प्रतीयमान कोई वस्तु प्रतीत होती ही है ॥७१॥

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥

अर्थ–तादृक्पने के कारण अर्थात् उपर्युक्तरूप से प्रतीयमान होने के कारण ही सबकी सत्ता सिद्ध होती है । उस समय उदासीनावस्था होने के कारण वह सत्व सुखरूप है । क्योंकि जो अनु-

कूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो वही तो निजसुख अर्थात् सुखस्वरूप होता है ।।७२।।

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ।।

अर्थ-अनुकूलता हो तो हर्ष और प्रतिकूलता जान पड़ने पर दुःख होता है । जब ये दोनों ही न हों, तब 'निजानन्द' भासने लगता है । निजानन्द की भान्ति, निजदुःख भी होता होगा, यह शंका मत करो; क्योंकि निजदुःख तो कहीं भी नहीं होता ।

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ।।७४।।

अर्थ-(शंका) यदि कहो कि निजानन्द तो स्थिर है-इसलिए मनुष्य को सदा हर्ष होना चाहिए ? (समाधान) निजानन्दके नित्य होने पर भी, इसमें जो प्रतिक्षण शोक और हर्ष का व्यत्यय होता रहता है, वह उस निजानन्द को ग्रहण करने वाले मन के क्षणिक होने से होता रहता है । और क्योंकि मन क्षणिक है अतएव हर्ष-शोक मन से जन्य अर्थात् मानस हैं ।

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ।।७५।।

अन्वय-एवं आकाशे अपि आनन्दः । सत्ताभाने तु संमते । एवं वायु-आदि-देहपर्यन्तं वस्तुषु विभाव्यताम् ।

अर्थ-जैसे आत्मा में आनन्द रहता है, ऐसे ही, आकाश में भी आनन्द रहता है । आकाश में 'सत्ता' तथा 'भान' को तो तुम

भी मानते हो (देखो इसी प्रकरण के श्लोक ७१ व ७२)। और जिस प्रकार आकाश में 'सच्चिदानन्द' धर्म रहते हैं वैसे ही वायु से लेकर शरीर पर्यन्त सब पदार्थों में उनके होने की विभावना कर लेनी चाहिए ॥७५॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः॥
असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुष्यपि।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम्॥

अर्थ—सच्चिदानन्द धर्म तो सब में है—परन्तु गति और स्पर्श वायु का निजरूप है, अग्नि के दाह और प्रकाश; जल का द्रवत्व, भूमि का कठिनता, निजरूप है यह सबका निर्णय है। औषधि, अन्न तथा शरीर में भी उनका असाधारण आकार होता है। इस प्रकार उनके उचित रूपों की भी अपने मनसे विभावना कर लेनी चाहिए।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित्॥

अर्थ—अनेक प्रकार से विभिन्न नामरूपों में सत्, चित् और आनन्द नाम के धर्म एकरूप से रहते हैं। इस बात में किसी का मतभेद नहीं है ॥७८॥

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्॥

अर्थ—ये दोनों, नाम और रूप, कल्पित हैं; क्योंकि वे जन्म और नाश वाले हैं-इनके जन्म और नाश बार-बार होते रहते हैं। जैसे समुद्र में बुल-बुले, फेन, तरङ्ग आदि को देखते हो, इसी प्रकार इन नाम रूपों को बुद्धिके सहारे ब्रह्मतत्त्वमें मिथ्या जानो। नामरूप के अनिर्वचनीय एवं उत्पत्ति-विनाशशाली होने से ब्रह्म में कल्पित हैं ॥७९॥

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०॥

अर्थ—जब कोई अधिकारी इस पूर्ण सच्चिदानन्द को बुद्धि से देख लेता है, तब फिर वह नामरूप को धीरे-धीरे स्वयं ही अवज्ञा करने लगता है ॥८०॥

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम्।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१॥

अर्थ—नामरूपों की जितनी-जितनी अवज्ञा होती जाती है, उतना ही उतना ब्रह्म का दर्शन होता जाता है। और जितना-जितना ब्रह्म-तत्त्व दीखने लगता है उतना-उतना वह उन नामरूपों को छोड़ता जाता है ॥८१॥

द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन का फल

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान्।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२॥

अर्थ—द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन के अभ्यास से अधिकारी की विद्या के स्थिर हो जाने पर यह पुरुष जीते जी ही, मुक्त हो जाता है : हां, शरीर जैसे-तैसे जीवित रहता है ॥८२॥

ब्रह्माभ्यास का स्वरूप

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

अर्थ—ब्रह्म का चिन्तन, उसका ही कथन, एक दूसरे को उसी को समझाना, उसमें एकनिष्ठ होकर रहना-इसी को ज्ञानी लोग ब्रह्माभ्यास कहते हैं ॥८३॥

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

अर्थ—अनादिकाल की वासनाएं, दीर्घकाल तक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक ज्ञानभ्यास करने पर पूर्णरूप से विनष्ट हो जाती हैं ।

एक ब्रह्म अनेकाकार जगत् का हेतु कैसे है ? बताते हैं :—

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

अन्वय–यद्वा अत्र, जीवगता निद्रा, च स्वप्नः निदर्शनम् ।

अर्थ—जैसे मिट्टी की शक्ति, घट-शराव आदि अनेक पदार्थों को बना डालती है, ऐसे ही, ब्रह्मकी सर्जनशक्ति अनेक अनृत पदार्थों (कार्यों) को बना डालती है । अथवा जीव की निद्रा और स्वप्न, जगत्सर्जनकारिणी माया शक्ति के निस्सन्दग्ध उदाहरण हैं ।

[पिछले उदाहरण इसलिए दिये हैं कि मृत्तिका की शक्ति सत्य होती हुई अनेक कार्यों को उत्पादिका है, परन्तु ब्रह्म-शक्ति मिथ्या है—अतएव दृष्टान्त नहीं घटता] ॥८५॥

अन्तिम दृष्टान्त की व्याख्या करते हैं :-

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥

अन्वय—यथा जीवे निन्द्राशक्तिः दुर्घटस्वप्नकारिणी; ब्रह्मणि स्थिता एषा मायासृष्टि स्थित्यन्तकारिणी ।

अर्थ—जैसे (जीव की) निद्राशक्ति दुर्घट-स्वप्नों को बना देती है : ऐसे ही ब्रह्म में विद्यमान ब्रह्म की यह माया-शक्ति, सृष्टि, स्थिति और 'प्रलय' कर डालती है ॥८६॥

स्वप्ने वियुद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौधं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७॥

अर्थ—(यह निद्रा की दुर्घट स्वप्न-कारिता ही है कि) स्वप्न में पुरुष अपनी आकाश-यात्रा देखता है, अपने मस्तक छेदन को स्वय देखता है, एक क्षण में वर्षों के भारी समूह को (बीतता) अनुभव करता है और मृतपुत्र आदि को भी देखता है ॥८७॥

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥८८॥

अन्वय—यत् यत् यथा यथा ईक्ष्यते, तत् तत् तथा तथा युक्तम् ।

अर्थ—दुर्घट स्वप्न क्यों दीखते हैं ? क्योंकि उस समय 'यह ठीक है' 'यह ठीक नहीं है' ऐसी व्यवस्था का होना सम्भव नहीं है ।

वहाँ तो जो वस्तु जैसी-जैसी दीखती है, वह वस्तु वैसी ही ठीक है।

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८९॥

अन्वय–यदा निद्राशक्तेः ईदृशः महिमा दृष्टः, तदा मायाशक्तेः अयं अचिन्त्यः महिमा, इति किं अद्भुतम् ?।

अर्थ–जब जीव की निद्रा-शक्ति की इतनी महिमा है तो फिर ब्रह्म की माया-शक्तिमहिमा अचिन्त्य हो तो इसमें क्या आश्चर्य है?

ब्रह्मस्थित अक्रिय माया के जगत् की हेतु होने में दृष्टान्त कहते हैं :–

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥९०॥

अर्थ–पुरुष के सोते हुए, वह कोई प्रयत्न न कर रहा हो तो भी, निद्रा बहुत प्रकार के स्वप्नों को रचती रहती है। इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में रहने वाली माया, बहुत से विकारों अर्थात् कार्यों को रचती रहती है ॥९०॥

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः।
विकाराः, प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिबिम्बिता ॥

अन्वय–प्राणिधीषु अन्तः चिच्छाया प्रतिबिम्बता।

अर्थ—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ब्रह्माण्ड, (चौदह) लोक, जंगम एवं प्राणी और शिला आदि स्थावर जीव–ये सब सब माया के विकाररूप कार्य हैं। फिर कोई जड़ कोई चेतन क्यों? क्योंकि प्राणियों की बुद्धियों में तो चैतन्य की छाया प्रतिबिम्बित

है तथा जिनमें चैतन्य प्रतिबिम्बित नहीं है वे जड़ हैं ॥९१॥

परन्तु यह जड़-चेतन-विभाग ब्रह्मकृत नहीं है :-

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक्-पृथक् ॥

अन्वय-एषु चेतनाचेतनेषु सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म समानम् । नामरूपे पृथक्-पृथक् भिद्येते ।

अर्थ-इन चेतन एवं अचेतन, सब पदार्थों में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म समान है-वह सभी जड़-चेतन पदार्थों का उपादान है । इसलिए जड़-चेतन-विभाग ब्रह्मकृत नहीं है । जड़-चेतन पदार्थों के केवल 'नाम' और 'रूप' भिन्न-भिन्न हैं ॥९२॥

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥९३॥

अन्वय-घटे चित्रं इव ब्रह्मणि एते नामरूपे स्थिते । नामरूपे द्वे उपेक्ष्य सच्चिदानन्दधीः भवेत् ॥

अर्थ-वस्त्र (रूप आधार) पर बने (कल्पित) चित्र के समान ब्रह्मतत्व में ये दोनों नाम और रूप कल्पित हैं । समग्रकल्पना (रचना) का आधार होने से ब्रह्म सर्वगत है । नाम और रूप दोनों की उपेक्षा करने पर सच्चिदानन्द बुद्धि उत्पन्न होती है । [सर्वगत सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्व को जानने के लिए कल्पित नाम रूपों की उपेक्षा करनी चाहिए] ॥९३॥

पूर्वोक्त श्लोक के अभिप्राय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥

अन्वय–यथा स्वस्य जलस्थे अधोमुखे देहे दृष्टे अपि तं उपेक्ष्य स्वे तीरस्थे एव देहे तात्पर्यं स्यात्; तथा ।

अर्थ—जल में अपना देह अधोमुख रूप से प्रतिबिम्बित दीखने पर भी, उस जलगत अधोमुख प्रतिबिम्बित देहको छोड़कर तीर पर स्थित, उससे विपरीत स्थित ऊर्ध्व-मुख देह में पुरुष को ममत्व बुद्धि होती है : ऐसे ही दृश्यमान नाम-रूपों को उपेक्षा करके, इनसे अपनी आस्था हटा लेने पर ही सच्चिदानन्द ब्रह्म में अहंबुद्धि होती है

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत्
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥९५॥

अर्थ–एक दूसरे लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसी को स्पष्ट करते हैं– जैसे सहस्रों मनोराज्यों–मन कल्पित वस्तुओं–के होते हुए भी, उनकी सब लोग उपेक्षा करते हैं, इसी प्रकार विवेकी लोग सहस्रों प्रकार से दीखने वाले इन नाम-रूपों की उपेक्षा करते हैं ॥९५॥

क्षणे क्षणे मनराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥९६॥

अन्वय–क्षणे क्षणे मनोराज्यं अन्यथा अन्यथा भवति एव । गतं गतं पुनः न अस्ति । तथा बहिः व्यवहारः ।

अर्थ–क्षण-क्षण में मनोराज्य और का और (परिवर्तित) होता रहता है । जो मनोराज्य बीत जाता है, वह, फिर, लौटाकर, नहीं

आता । इसी प्रकार यह बाह्य व्यवहार भी क्षण-क्षण में बदलता रहता है ।

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥

अर्थ–यौवन में बचपन नहीं मिलता, और बुढ़ापे में यौवन भी ढूंढा नहीं पाता । मरने के बाद पिता लौटकर नहीं आता; बीता दिन भी नहीं लौटता ॥९७॥

इस प्रकार द्वैत क्षणिक ही है :—

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके
अतोऽस्मिन्भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥

अन्वय–क्षणध्वंसिनि लौकिके मनोराज्यात् कः विशेषः ? अतः अस्मिन् भासमाने अपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ।

अर्थ–भला क्षणध्वंसी लौकिक पदार्थों और मनोराज्य में क्या भेद है ? कुछ भी नहीं । क्षणिक होने के कारण, इन लौकिक पदार्थों के भासमान होने पर भी इनको सत्य मानना छोड़ दो ॥

लौकिक पदार्थों की उपेक्षा का लाभ

उपेक्षिते लौकिके धीनिर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने ।
नटवत्कृत्रिमास्थाय निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९॥

अन्वय–लौकिके उपेक्षिते धीः ब्रह्मचिन्तने निर्विघ्ना । नटवत् कृत्रि आस्थाय लौकिकं निर्वहति एव ॥

अर्थ–लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर देने पर, बुद्धि ब्रह्मज्ञान में निर्विघ्न हो लग जाती है । (प्रश्न) फिर ज्ञानी लोगों का व्यवहार कैसे चलता है? (उत्तर)जैसे नट बनावटी आस्थासे लौकिक व्यवहार को निभाता रहता है ॥९९॥

बुद्धि के व्यवहार में लगे रहने पर भी साक्षी आत्मा निर्विकार रहता है :-

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ।

अन्वय-नीरे प्रवहति अपि अधः प्रौढशिला यथा स्थिरा, नामरूपान्यथात्वे अपि कूटस्थं ब्रह्म अन्यथा न ।

अर्थ—ऊपर पानी के बहते रहने पर भी, जैसे उसके नीचे पड़ी भारी शिला स्थिर रहती है, ऐसे ही नामरूप में परिवर्तन होते रहने पर भी (बुद्धि द्वारा व्यवहार करते रहने पर भी) कूटस्थ-ब्रह्म (उस बुद्धि का साक्षी निर्विकार ज्ञानी आत्मा) कभी अन्यथा अर्थात् विकारी नहीं होता ॥१००॥

अखण्ड ब्रह्म में उससे विपरीत जगत् की प्रतीति कैसे होती है ? बताते हैं :—

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥

अन्वय-निश्छिद्रे दर्पणे वस्तुगर्भं बृहत् वियत् भाति । तथा सच्चिद्घने नाना जगद्गर्भं इदं वियत् ।

अर्थ-दर्पण में कोई छिद्र (खाली स्थान) नहीं होता, फिर भी उसके भीतर नानावस्तुओंसे भरा विशाल आकाश घुसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार सच्चिद्घन अखण्ड ब्रह्म में पृथ्वी सूर्य आदि विविध जगत् से भरा यह आकाश समाया प्रतीत हो रहा है ॥१०१

अदृश्य ब्रह्म में जगत् की प्रतीति क्योंकर होती है ?

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ? ॥

अन्वय—दर्पणं अदृष्ट्वा तदन्तस्थेक्षणं न एव । तथा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ।

अर्थ—जैसे, दर्पण को देखे बिना उसके भीतर की वस्तु नहीं दीखती, इसी प्रकार, पहले सच्चिदानन्द तत्व का मनन (दर्शन) हुए बिना नाम रूपात्मक जगत् का ज्ञान कैसे सम्भव है ? नामरूप (जगत्) का परिज्ञान होने से पहले सच्चिदानन्द तत्व की प्रतीति हो लेना अनिवार्य है ॥१०२॥

नामरूप की प्रतीत होते हुए भी, निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति कैसे सम्भव है ?

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३॥

अन्वय—प्रथमं नियम्य ऊर्ध्वं नामरूपयोः नैव धारयेत् ॥

अर्थ—नामरूपात्मक बुद्धि से पहले सच्चिदानन्द तत्व का अर्थात् अपने स्वरूप का भास प्रत्येक को हुआ करता है; उसके पश्चात् इस स्वरूपप्रतीति में ही बुद्धि को रोक कर (सच्चिदानन्द तत्वके ग्रहण में लगा रह कर) फिर नाम और रूप (तदात्मक जगत्) में बुद्धि को न लगने दे ।

जैसे दीवार में लगे दर्पण में गृहद्वार के सामने बने सभामण्डप के प्रतिबिम्ब को देखकर पुरुष उसे सत्य समझता है; परन्तु 'यह दर्पण है'—इस भ्रान्ति के अनुष्ठान का ज्ञान हो जाने पर, दर्पणनिष्ठ अविद्या की आवरण हेतु शक्ति के नाश से, प्रतिबिम्बकी सत्यता की बुद्धि नष्ट हो जाती है; फिर भी दर्पण और बिम्ब की सन्निधिरूप प्रतिबन्ध से बाधित हुई विक्षेपहेतु शक्ति के होने से प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है । यहां मनुष्य, प्रतीयमान प्रतिबिम्ब का अनादर करके, दर्पण को समझता है; ऐसे ही प्रतीयमान नामरूप का अनादर करके सच्चिदानन्दमात्र में ही बुद्धि को स्थिर करना चाहिए ।

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥

अन्वय- एवं च निर्जगत् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् । एतस्मिन् अद्वैतानन्दे जनाः चिरं विश्राम्यन्तु ॥

अर्थ-ऐसा करने पर, निर्जगत् किया हुआ ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप हो जायगा-वही "अद्वैतानन्द" है । अर्थात् निष्प्रपञ्च ब्रह्म सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाता है । इस अद्वैतानन्द में मुमुक्षु जन चिर-काल तक विश्राम करें ॥१०४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥

अन्वय-ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयः अध्यायः ईरितः । जगन्मिथ्यात्वचिन्तया अद्वैतानन्द एव स्यात् ॥

अर्थ-ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थमें तृतीयाध्याय कहा जा चुका । जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता से मन की जो स्थिति हो जाती है, वही अद्वैतानन्द कहलाता है ॥१०५॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके तेरहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दगअद्वैतानन्द
प्रकरण की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।

—०—

ब्रह्मानन्द-विद्यानन्द-प्रकरण-१४

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
+विद्यानन्दस्य संकुर्वे व्याख्यां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥

विद्यानन्द का स्वरूप और उसके आवान्तरभेद

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

अन्वय—योगेन, आत्मविवेकेन, द्वैतमिथ्यात्वचिन्त्तया ब्रह्मानन्दं पश्यतः अथ विद्यानन्दः निरूप्यते ।

अर्थ—योग, आत्मविवेक और द्वैत को मिथ्यापन के चिन्तन से (क्रमशः प्रकरण ११-१२-२३ में) ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार कर चुके ज्ञानयोगी को मिलने वाले 'ज्ञानानन्द' का निरूपण करते हैं ।

विद्यानन्द के स्वरूप का वर्णन करते हैं :—

विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ॥
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

अन्वय—विषयानन्दवत् विद्यानन्दः धीवृत्तिरूपकः । दुःखाभावादि-रूपेण एष चतुर्विधः प्रोक्तः ।

अर्थ—विषयानन्द की भान्ति विद्यानन्द भी एक बुद्धिवृत्ति ही

+विद्या (अर्थात् तत्वज्ञान) से आविर्भूत होनेवाले चतुर्विध आनन्द का प्रतिपादक प्रकरण ।

है। दुःखाभाव आदि रूपों से यह चार प्रकार का है ॥२॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

अन्वय—दुःखाभावः, च कामाप्तिः, 'अहंकृतकृत्यः इति, असौ 'अहं प्राप्तप्राप्यः' इति एव चातुर्विध्यम् उदाहृतम्।

अर्थ—(१) दुःख का अभाव, (२) सबभोगों की प्राप्तिरूप पूर्ण-'कामना, (३) मैं कृतकृत्य हूँ' इस प्रकार की 'कृतकृत्यता' और (४) 'मुझे तो पाना था—पालिया' इस प्रकार का भाव—ये चार प्रकार का 'विद्यानन्द' कहा है+ ॥३॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम्।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

अन्वय—ऐहिकं च आमुष्मिकं च इति दुःखं द्विधा ईरितम्, बृहदारण्यकं वचः ऐहिकस्य निवृत्तिं आह।

अर्थ—निवर्त्तनीय दुःख दो प्रकार का होता है—एक इस लोक से सम्बद्ध, दूसरा, परलोकसे सम्बद्ध। बृहदारण्यक में (आगे उद्धृत) इस लोक के दुःख की निवृत्ति का वर्णन है।

+योगानन्द प्रकरणके ८७ वेंश्लोक में आनन्द को तीन प्रकारका कह कर विद्यानन्द के बुद्धिवृत्तिरूप होने से, उसको विषयानन्द के अन्तर्गत माना है, तथापि विद्यानन्द को चतुर्थ विलक्षणआनन्द मानना ही उचित है। क्यों कि अनेक जन्मों में विषयानन्द का सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का तथा मौन में वासनानन्द का अनुभव होता ही है। परन्तु विद्यानन्द का अनुभव तो पहले कभी नहीं किया। वह तो इनसे भिन्न ही है। निरावरण, परिपूर्ण, सवृत्तिक आनन्द को विलक्षणानन्द कहते हैं, वही विद्यानन्द है, विलक्षणानन्द के लक्षण की परीक्षा श्री सुन्दरविलास की रहस्यदीपिका में लिखी है—वहां देखें।

तृप्तिदीप में विस्तार से वर्णित वह बृहदारण्यक-वाक्य कहता है कि,

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५॥

अर्थ—यदि कोई पुरुष आत्मा को जान जाय कि "यह मैं हूँ" तो किस भोग्य वस्तु को चाहना से और किस भोक्ता के भोग केलिए, शरीर के पीछे (इसके दुःख से) दुःखी होता फिरे ? ॥५॥

आत्मा में शोक-सम्बन्ध दिखाने के लिए आत्मा के भेद व उसकी जीवा-पन्नता का निमित्त बताते हैं :–

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः।

चित्तादात्म्यान्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत् ॥

अन्वय–जीवात्मा च परमात्मा इति आत्मा द्विविधः ईरित,; त्रिभिः देहैः चित्+तादात्म्यात् जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत्।

अर्थ–जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का कहा जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों के साथ आत्मा का चेतनता के साथ तादात्म्य होने से ही, अर्थात् शरीर में चेतनता का तादात्म्यभ्रम हो जाने पर ही, जीव बन कर वह आत्मा भोक्ता कहलाने लगता है ॥६॥

परमात्मा का लक्षण

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः।

गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७॥

अन्वय–परात्मा सच्चिदानन्दः, नामरूपयोः तादात्म्यं गत्वा भोग्यत्वं आपन्नः; तद्विवेके तु उभयं न।

अर्थ–परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है; वह (नामरूप की कल्पना का अधिष्ठान होने से) नामरूप के साथ तादात्म्य को पाकर भोग्य बनता है : नामरूप की कल्पना का आधार होने से, भ्रान्तिसे, नाम-रूपमय ही प्रतीत होता है और इस प्रकार भोग्य बन गया है। परन्तु वह वस्तुतः भोक्ता भी नहीं है; कारण कि, तीन प्रकार के शरीरों से आत्मा का भेदज्ञान हो जाने पर तो भोक्तारूप जीव और भोग्यरूप संसार दोनों–ही नहीं रहते ॥७॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत्।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः॥

अन्वय–भोक्तुः अर्थे भोग्यं इच्छन् शरीर अनुसंज्वरेत्। ज्वराः त्रिषु शरीरेषु स्थिताः, आत्मनः तु ज्वराः न।

अर्थ—मनुष्य, भोक्ता के लिए भोग सामग्री (भोग्य पदार्थों) को चाहकर ही शरीर के साथ (ज्वर) दुःख उठाता फिरता है। वे दुःख तीनों शरीरों में हैं–आत्मा को ज्वर नहीं व्यापते ॥८॥

तीनों शरीरों के तीन ज्वर

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥९॥

अन्वय–धातुवैषम्ये व्याधयः स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः, कामक्रोधादयः

सूक्ष्मे; द्वयोः बीजं तु कारणे ।

अर्थ– वात-पित्त-कफ धातुओं की विषमता होने पर जो रोग होते हैं वे स्थूल देहगत ज्वर कहलाते हैं। काम, क्रोध आदि सूक्ष्म देहगत ज्वर हैं। स्थूल एवं सूक्ष्म-दोनों-प्रकार के ज्वरों का बीज (संस्कार) ही, कारण-देह-गत ज्वर, कहलाता है ॥९॥

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥

अन्वय–अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते भोग्यं वास्तवं अपश्यन् परमात्मवित् किं नाम इच्छेत् ।

अर्थ–'अद्वैतानन्द' (प्रकरण १३) में वर्णित रीति से, (माया के कार्यभूत नामरूप से सच्चिदानन्दस्वरूप) परमात्मतत्व को जगत् से पृथक् पहचान लेने पर; किसी वास्तविक भोग्य को न देखता हुआ, प्रपञ्चमात्र को मिथ्या जानता हुआ, परमात्मा का ज्ञाता, भला किस भोग्य की कामना करे? ॥१०॥

जीव में भी ज्वर सम्बन्ध अवास्तविक है :–

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ?

अन्वय–आत्मानन्दोक्तरीत्या अस्मिन् जीवात्मनि अवधरिते अत्र शरीरे कः अपि भोक्ता न एव अस्ति; तु ज्वरः कुतः ?

अर्थ—'आत्मानन्द' (प्रकरण १२) में वर्णित रीति से जीवात्मा को असंग-कूटस्थ चैतन्य निश्चय कर लेते पर, शरीर में कोई भी

भोक्ता नहीं है : जब भोक्तृभाव हो नहीं है तो ज्वर (दुःख) ही क्योंकर हो ? ॥११॥

आत्मा में आमुष्मिक ज्वरों का भान नहीं होता ?

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥

अन्वय–पुण्यपापद्वये चिन्ता आमुष्मिकं दुःखं भवेत् । प्रथमाध्याये एव 'एनं चिन्ता न तपेत्' इति उक्तम् ॥

अर्थ–पुण्य और पाप के सम्बन्ध में की गई चिन्ता को परलोक सम्बन्धी दुःख कहते हैं; 'ब्रह्मानन्द प्रकरण के प्रथम अध्याय अथवा ११ वें प्रकरण में ही बताया जा चुका है कि ज्ञानी को पाप-पुण्य को चिन्ता नहीं सताती ॥१२॥

ज्ञानी को आरब्धकर्म की चिन्ता न हो, पर, आगमी कर्म की चिन्ता तो होगी ही ? कहते हैं :–

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥१३॥

अन्वय–यथा अस्मिन् पुस्कर पर्णे अपां अश्लेषणम् । तथा वेदनात् ऊर्ध्वं बुधे आगामिकर्मणः अश्लेषणम् ।

अर्थ—जैसे इस कमल के पत्ते पर पानी जमता नहीं है; इसी प्रकार आत्मज्ञान के पश्चात् ज्ञानी में आगामी कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता : उसे आगामी कर्मों की चिन्ता नहीं होती । (देखो छा० ४–१४–३ 'तद्यथा पुष्करपर्णे'……इत्यादि) ॥१३॥

उसको संचित कर्मों की चिन्ता भी नहीं होती :–

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ।

तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

अन्वय—यथा इषीकातृणतूलस्य क्षणात् वह्निदाहः तथा अस्य संचितकर्म वेदनात् दग्धं भवति ।

अर्थ—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं' प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे-पाप्मानः प्रदूयन्ते । छा०५-२४-३) इत्यादि श्रुति में कहा है कि जैसे कांस की रूई आग से एक क्षण में जल कर भस्म हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञानी के सचितकर्म, ज्ञान से तत्क्षण दग्ध हो जाते हैं।

भगवद्वाक्य से पूर्वोक्त का समर्थन करते हैं :—

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

अन्वय—अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मात् कुरुते । तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ।

अर्थ—गीता में कहा है:-हे अर्जुन ! जैसे भलीभान्ति प्रदीप्त अग्नि ईंधन को राख बना देती है; इसी प्रकार (सुलगीहुई) ज्ञानाग्नि (क्रियामाण, आगामी एवं संचित) तीनों प्रकार के कर्मों +को भस्मीभूत कर देती है ॥१५॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

+ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् ज्ञानी को जो देहादिजगत की प्रतीति होती है, वह अवतार शरीर के समान, अपने प्रारब्ध से नहीं, सज्जन एवं दुर्जनों के शुभाशुभ कर्मों से होती है। अतएव उनके कर्मों के निवृत्त होने पर ज्ञानी को देहादि की प्रतीति नहीं होगी। तब ज्ञानी दूसरों की दृष्टि से विदेहमुक्त हो जाता है अपनी दृष्टि से तो वह ज्ञानके साथ ही साथ जीवन्मुक्त हो जाता है : इस पक्ष में विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त में कोई भेद नहीं है।

हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थ—गीता में आगे कहा है कि, जिस ज्ञानी की अहंकारयुक्त भावना नहीं रहती, जिस ज्ञानी की बुद्धि संसारमें लिप्त नहीं रहती, वह यदि इन सब लोकोंको मार भी दे तो भी वह मारने वाला नहीं होता;* नां ही वह कर्म से बन्धन में ही आता है ॥१६॥

कौषीति की श्रुति के 'न मातृवधेन न पितृवधेन' आदि वाक्य

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

अन्वय—बधः, स्तेयं, भ्रूणहत्या-अन्यत् ईद्शं पापं मुक्तिं न नाशयेत्; मुखकान्तिः न नश्यति ।

अर्थ—कौषीतिकी उपनिषद् में उक्त अर्थ का समर्थन करते हुए कहा है कि, माता-पिता का बध, चोरी, गर्भपात या अन्य ऐसा कोई पापकर्म ज्ञानी की मुक्ति का नाश नहीं कर सकता। ऐसे भयंकर महापापों से भी ज्ञानी के मुख की कान्ति नष्ट नहीं होती ॥१७॥

कामाप्तिरूप विद्यानन्द का वर्णन करते हैं :—

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान्कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

अन्वय—अस्य दुःखभाववत् एव सर्वकामाप्तिः ईरिता। 'असौ सर्वान् कामान् आप्त्वा हि अमृतः अभवत्' इति अतः ।

अर्थ—जैसे श्रुति ने ज्ञानी के दुःखाभाव का वर्णन किया है,

---

*पारमार्थिक दृष्टि से अकर्त्ता आत्मदर्शी हनन नहीं करता, अतएव इस क्रिया से वह बन्धन में भी नहीं आता ।

वैसे ही, ज्ञानी को सब कामनाओं की भी प्राप्ति भी बताई है। यही दूसरी प्रकार का कामाप्तिरूप विद्यानन्द है क्योंकि ऐतरेयश्रुति ने बताया है कि यह ज्ञानी सब कामनाओंको पाकर अमर होजाता है।

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१९॥

अर्थ—'जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञानिभिर्वाज्ञानिभिः आदि छान्दोग्य (८-१२-३) में भी कहा है कि ज्ञानी मनुष्य खाता, खेलता, स्त्रियोंसे रमण करता, सवारियों पर बैठता व अन्य भोगों को भोगता हुआ भी शरीर को भूला रहता है। उस समय उसका प्राण ही प्रारब्धकर्म के सहारे उसे जीवित रखता है ॥१९॥

ज्ञानी को एक साथ भोगों की प्राप्ति : अतएव जन्मकी आवश्यकता नहीं :—

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥२०॥

अन्वय—'सर्वान् कामान् सह आप्नोति'; श्रोत्रिये अन्यवत् जन्मकर्मभिः भोगाः न वर्त्तन्ते; युगपत् क्रमवर्जिताः।

अर्थ—तैत्तिरी श्रुति में भी कहा है कि ज्ञानी संसार की समग्र कामनाओं को एक साथ प्राप्त कर लेता है। उसमें, अन्य अज्ञानियों की भान्ति, जन्म और कर्मों के सहारे भोग नहीं होते. उसे तो सब भोग, बिना ही क्रम, एक साथ प्राप्त हो जाते हैं ॥२०

यहां तौत्तरीय और बृहदारण्यक के वाक्य का भावार्थ कहते हैं :—

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान्।

सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥२१॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।

यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२१॥

अर्थ—युवा, सुन्दर, विद्वान्, नीरोग, स्थिरचित्त, सेना वाले, धन धान्य से पूर्ण, पृथ्वी के पालक—किं बहुना—मनुष्यों को प्राप्त हो सकने वाले सब भोगों से तृप्त, सार्वभौम राजा को जो आनन्द प्राप्त हो सकता है उस आनन्द को भी ब्रह्मज्ञानी पा लेता है। क्योंकि सब आनन्द, ज्ञानी को उपलब्ध ब्रह्मानन्द के अंश ही हैं ॥२१-२२॥

परन्तु श्रोत्रिय को तो, सार्वभौमराजा की भान्ति विषयों की प्राप्ति नहीं है, फिर दोनों का आनन्द एक समान कैसे है ?

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।

भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

अन्वय—द्वयोः मर्त्यभोगे कामः न अस्ति; अतः तृप्तिः समा । एकस्य भोगात् निष्कामता, परस्य अपि विवेकतः ॥

अर्थ—मर्त्यभोग की इच्छा दोनों को ही नहीं रहती है। अतएव तृप्ति अर्थात् आनन्द की प्राप्ति दोनों में समान है। राजा को तो भोग से निष्कामता प्राप्त हुई है और श्रोत्रिय विवेक के प्रताप से निष्काम हुआ है ॥२३॥

'विवेक से' इस पद को स्पष्ट करते हैं :—

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।

राजा बृहद्रथो दोषांस्तान्गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

अन्वय–श्रोत्रियत्वात् वेदशास्त्रैः भोगदोषान् अवेक्षते । बृहद्रथः राजा तान् दोषान् गाथाभिः उदाहरत् ॥ देहदोषान्, चित्तदोषान् अनेकशः भोग्यदोषान्; शुनां वान्ते पायसे कामः नो, तद्वत् विवेकिनः ।

अर्थ–श्रोत्रिय, श्रोत्रिय होने के कारण, वेदशास्त्रों के द्वारा भोगों में विद्यमान दोषों को देखता है । बृहद्रथराजा ने मैत्रायणीय शाखा में गाथाओं द्वारा विषयगत दोष कहे हैं । उसने वहाँ देह, चित्त और भोग के अनेक दोषों का वर्णन किया है । कुत्ते से वमन किये दूध के खाने का जैसे कोई विचार तक नहीं करता, ऐसे ही, विवेकी पुरुष को दोषयुक्त भोगों की कामना नहीं होती ।

निस्पृह विवेकी सब से ऊंचा है :—

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ।
दुःखमासीद्भाविनाशादितिभीरनुवर्तते ॥२६॥
नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।
गन्धर्वानन्द आशास्ति रागो नास्ति विवेकिनः ॥

अन्वय–निष्कामत्वे समे अपि अत्र राज्ञः साधनसञ्चये दुःखं आसीत् इति भाविनाशात् भीः अनुवर्तते । श्रोत्रियस्य उभयं न; अतः तदानन्दः अन्यतः अधिकः । राज्ञा गन्धर्वानन्दे आशा अस्ति । विवेकिनः न अस्ति ॥

अर्थ–श्रोत्रिव और राजा में निष्कामता समान प्रतीत होती है, परन्तु राजाको साधनोंको इकट्ठा करनेमें दुःख हो चुका होता है, और भविष्यमें नाशकी आशंका बनी रहती है । श्रोत्रियको ये दोनोंही नहीं

हैं : न तो उसे साधनसञ्चय करने का दुःख उठाना पड़ता है, न भविष्य में साधनों के नष्ट होने की आशंका होती है। इसलिए श्रोत्रिय का आनन्द सार्वभौम राजा के आनन्द से अधिक है। पुनश्च राजा तो अपने आनन्द से अधिक गन्धर्वानन्द को पा लेने की आशा लगाये रहता है : श्रोत्रियको ऐसी कोई आशा नहीं रखनी पड़ती : इसलिए भी वह सार्वभौम राजा से बढ़कर है ॥२६–२७॥

मर्त्यगन्धर्व

अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ।

अर्थ–जो इस कल्प में मनुष्य हो और फिर जिसे किसी पुण्य के फल से गन्धर्वता मिल जाय; उसे 'मर्त्यगन्धर्व' कहते हैं।

देवगन्धर्व

पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेत् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्रदेवगन्धर्व उच्यते ॥२८॥

अर्थ–पूर्वकल्प में किये पुण्य के भाव से जो कल्प के आरम्भ में ही गन्धर्व बन जाय, उसे 'देवगन्धर्व' कहते हैं ॥२८॥

चिरलोक वासी पितर और देवों का भेद

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०॥

अन्वय–लोके चिरवासिनः अग्निष्वात्तादयः । कल्पदौ एव देवत्वं

गताः आजानदेवताः ।

अर्थ—अपने लोक में देर तक रहने वाले 'अग्निष्वात्त' आदि 'पितर' हैं, जो कल्पके आरम्भमें ही देव बन गये वे 'आजानदेवता' कहे जाते हैं ॥३०॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ।

अन्वय—अस्मिन् कल्पे अश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदं अवाप्य याः आजानदेवैः पूज्याः ताः कर्मदेवताः ।

अर्थ—इसी कल्प में अश्वभेध आदि कर्मको करके जो महापद (ऐश्वर्युक्त स्थान) को पा जाते हैं और आजानदेवताओं के भी पूज्य बन जाते हैं, वे, कर्मदेवता कहाते हैं ॥३१॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ।

अन्वय—यमाग्निमुख्याः देवाः स्युः, इन्द्रबृहस्पती ज्ञातौ । प्रजापतिः विराट् प्रोक्तः ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ।

अर्थ—यम, अग्नि (वायु, सूर्य, चन्द्र और रुद्र) आदि प्रधानदेव मुख्यदेव हैं। [अथवा यम और अग्नि से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त देव मुख्यदेव कहलाते हैं। अथवा आठवसु, बारह आदित्य ग्यारह रुद्र ये ३१ मुख्यदेव हैं इनमें से ११ रुद्र और १२ आदित्य तो प्रसिद्ध ही हैं—अष्टवसुओं में या तो धर, ध्रुव सोम, आप (विष्णु),वायु, अग्नि, प्रत्यूष और विभावसु की गणना है अथवा द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु—ये आठ गिने जाते हैं।] इन्द्र-बृहस्पति

तो प्रसिद्ध ही हैं। प्रजापति को विराट् कहते हैं और ब्रह्मा सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) माना गया है।

सार्वभौमादि सूत्रात्मा तक गिनाये गये सब ही, श्रोत्रिय से, न्यून हैं :—

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः॥

अन्वय—सार्वभौमादि सूत्रान्ताः उत्तरोत्तरकाम्रिनः। अवाङ्मनसगम्यः अयं आत्मानन्दः ततः परम्।

अर्थ—ऊपर गिनाये गये सार्वभौम राजा से लेकर सूत्रात्मा तक सब क्रमशः अपने से बढे चढे उत्तरागामी आनन्द को चाहते हैं: परन्तु मन और वाणी से अगम्य यह आत्मानन्द उन सबसे बढ़ा चढ़ा है॥३३॥

श्रोत्रिय में सब के आनन्द विद्यमान हैं, क्योंकि :—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते॥

अन्वय—तैः तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियः यतः निस्पृहः तेन सर्वेषां ते आनन्दाः तस्य सन्ति।

अर्थ—उन-उन सार्वभौम राजा आदि से कमनीय सभी सुखों में, श्रोत्रिय की, कारण कि, कोई स्पृहा नहीं होती; इसलिये उन सब के वे आनन्द ज्ञानी के अनुभव गोचर हैं। सबको मिलकर जितना आनन्द मिलता है, अकेले श्रोत्रिय को, निष्पृह होने मात्र से, उतना आनन्द मिल जाता है॥३४॥

सर्वकामाप्ति का दूसरा प्रकार

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५॥

अन्वय–एषा सर्वकामाप्तिः उक्ता । यद्वा स्वदेहवत् साक्षि-चिदात्मना सर्वदेहेषु अपि भोगान् अवेक्षते ।

अर्थ –(१८वें श्लोक से लेकर यहां तक) सर्वकामप्राप्ति का वर्णन किया । अब सर्वकामप्राप्ति को दूसरे रूप में कहते हैं :— अथवा मनुष्य जैसे अपने देह में आनन्दाकार बुद्धि का साक्षी होकर राजा आदि सभी देहों में भी भोगों को भोगता है । इस रीति से भी ज्ञानी को 'सर्वकामाप्ति' हो जाती है ॥३५॥

अज्ञानी को परमानन्द क्यों उपलब्ध नहीं ? बताते हैं :—

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥

अन्वय–अज्ञस्य अपि एतत् अस्ति एव, अबोधतः तृप्तिः तु न । 'यो वेद सः सर्वान् कामान् अश्नुते' इति श्रुतिः अब्रवीत् ।

अर्थ–अज्ञानी को भी, सब का साक्षी होने से, 'सर्वकामाप्ति' निस्सन्देह होती है, परन्तु ज्ञान के न होने के कारण, उसकी तृप्ति नहीं होती ।[मैं सब बुद्धियों का साक्षी हूँ ऐसा ज्ञान न होने के कारण बेचारा तृप्ति से वंचित रह जाता है ।]"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोश्नुते सर्वान् कामान्"(तै० ब्र० १)इस तैत्तिरीय श्रुति-वाक्य में भी यही बताया है कि जो पञ्चकोशरूपी गुहामें स्थित इस

तत्त्व को जानता है, उसी की सब कामनाएं पूरी होती हैं ॥३६॥

सर्वकामप्राप्ति का तीसरा प्रकार

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।
अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥

अन्वय–यद्वा स्वस्य सर्वात्मतां साम्ना सर्वदा गयति । 'अहं अन्नं तथा च अन्नादः' इति साम हि अधीयते ।

अर्थ–अथवा 'सर्वकामावाप्ति' का तीसरा प्रकार यह है कि ज्ञानी अपनी सर्वात्मकता (सर्वरूपता) को सामवेद के मन्त्रों द्वारा इस प्रकार गाया करता है–"मैं ही अन्न (सर्वभोग्य) भी हूँ, अन्न को भोगने वाला (सर्वभोक्ता) भी हूँ। ["इमांल्लोकान्कामान्निष्कामरूप्यनुचरन्' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यहां वर्णित है।] ॥३७॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८॥

अन्वय–एवं दुःखाभावः च कामाप्तिः उभे हि निरूपिते । च अन्यत् कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वं ईक्षताम् ।

अर्थ–इस प्रकार 'दुःखाभाव' और 'कामाप्ति' दोनों कार ही निरूपण हो चुका। अब 'कृतकृत्यत्व' और 'प्राप्तप्राप्यत्व' को देखो कि इनका क्या अर्थ है ॥३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
तएवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

अन्वय–हि उभयं तृप्तिदीपे अस्माभिः सम्यक् ईरितम् । ते एव

श्लोकाः बुद्धिविशुद्धये अत्र अनुसन्धेयाः ।

अर्थ—इस प्रकरण के दूसरे श्लोकमें वर्णित विद्यानन्दके चार भेदों में से दो का तो यहीं वर्णन हो चुका। शेष दो, कृतकृत्यत्व और प्राप्तप्राप्यत्व का निरूपण 'तृप्तिदीप' प्रकरण में हमने भली भान्ति कर दिया है। बुद्धि की शुद्धि के लिये उन्हीं श्लोकों का ध्यान यहां भी कर लेना चाहिये ॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यौ मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत् तत्सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥
तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

अन्वय—अस्य पुरा ऐहिकामुष्किव्रातसिद्ध्यौ च मुक्तेः सिद्धये बहु कृत्यं अभूत् । तत्सर्वं अधुना कृतम् । अय तत् एतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरं अनुसन्दधत् एव, एवं नित्यशः तृप्यति ॥

अर्थ—इसको पहले, जब वह अज्ञानी था तब, इस लोक और परलोकों के कामों को सिद्ध करने के लिए तथा मुक्ति की प्राप्ति के लिए बहुत कुछ करना होता था। परन्तु अब (आत्मज्ञान हो जाने पर सांसारिक फल की इच्छा न रहने से), वह सब किया हुआ सा ही हो गया ॥ ज्ञानी इस अपनी कृतकृत्यता (कर्त्तव्यभाव) को, उसका विरोध करने वाली बातों (मुझे ऐसा कर्त्तव्य था) के साथ-साथ स्मृति में ला-ला कर नीचे लिखे प्रकारसे नित्य तृप्ति अनुभव किया करता है—॥४०–४१॥

दुःखिनोऽज्ञा संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥

अन्वय—दुःखिनः अज्ञाः कामं पुत्राद्यपेक्षया संसरन्तु । परमानन्द-पूर्णः अहं किमिच्छया संसरामि ?

अर्थ—दुःखी अज्ञानी, पुत्र-स्त्री आदि की इच्छा से, सांसारिक व्यवहारमें भले ही लगे रहें, परमानन्द रूपी मैं किस वस्तुकी चाहना से व्यवहारों में फंसूं ? ॥४२॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥

अन्वय—परलोकयियासवः कर्माणि अनुतिष्ठन्तु, सर्वलोकात्मकः कस्मात् किं कथं अनुतिष्ठामि ।

अर्थ—परलोक की कामना से, लोग, भले ही कर्मों का अनुष्ठान करते रहें परन्तु सर्वलोक स्वरूप मैं, अब क्यों, क्या, कैसे (कर्मानुष्ठान) करूं ? ॥४६॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।

अन्वय—ये अत्र अधिकारिणः ते शास्त्राणि व्याचक्षचतां वा वेदान् अध्यापयन्तु । मे तु अक्रियत्वतः अधिकारः न ।

अर्थ—(आचार्य) इस काम के अधिकारी हैं वे चाहें तो शास्त्रों की व्याख्या करें या वेदों को पढ़ावें । मैं तो अक्रिय हो चुका हूँ

अर्थात् अपने अक्रिय स्वरूपको पहचान चुका हूं। अतएव मेरा कोई अधिकार नहीं है ॥४४॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥

अन्वय—निद्राभिक्षे स्नानशौचे न इच्छामि च न करोमि। द्रष्टारः चेत् कल्पयन्ति ? अन्यकल्पनात् मे किं स्यात् ?

अर्थ—नींद, भिक्षा, स्नान तथा शौच इत्यादि क्रियाओंको मैं चिदात्मा न तो चाहता ही हूं, न करता ही हूं (यह सब तो शरीर ही किया करता है); यदि दूसरे देखने वाले लोग इन सब क्रियाओं की मुझ में कल्पना करते हैं तो करें, दूसरों की मान्यता से मेरा क्या बने या बिगड़ेगा ? [देखो तृप्तिदीप श्लोक २५८] ॥-४५॥

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४५॥

अन्वय—गुंजापुंजादि अन्यारोपित वह्निना न दह्येत। एवं अन्यारोपितसंसारधर्मान् अहं न भजे।

अर्थ—जैसे गुंजाएं आदि लाल वस्तुओं में, वानरादि अग्नितत्व की कल्पना कर लेते हैं तो भी इस कल्पित अग्नितत्व से दाह उत्पन्न नहीं होता, सचमुच ही अग्नि उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार अन्य अज्ञ पुरुषों द्वारा आरोपित संसार धर्म मुझ में नहीं लगते। [मनुष्य स्वयं माने हुए संसार-बन्धन से ही बन्धता है।] ॥४६॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्।

मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥४७॥

अन्वय–अज्ञाततत्त्वाः ते शृण्वन्तु–अहं जानन् कस्मात् शृणोमि ? संशयापन्नाः मन्यन्तां, अहं असंशयः न मन्ये ।

अर्थ–जिन्हें तत्व का परिज्ञान नहीं है, वे भले ही तत्व को श्रवण करें, वरना जब मैं तत्व को भली भान्ति जानता हूँ तो फिर इसे क्यों श्रवण करूँ ? जिनको अभी तक तत्वके विषयमें सन्देह है, वे भले ही तत्व का मनन करें, परन्तु संशय से रहित मैं, अब, इसका मनन क्यों करूँ ? ॥४७॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥

अन्वय–विपर्यस्तः निदिध्यासेत् । अहं देहात्मत्वविपर्यासं कदाचित् न भजामि । अविपर्ययात् किं ध्यानम् ?

अर्थ–विपरीत ज्ञानी भले ही निदिध्यासन करे, जब विपरीत ज्ञान ही नहीं है तो ध्यान की आवश्यकता ही क्यों ? मुझे तो देह को आत्मा मानने का विपरीत ज्ञान नहीं होता ॥४८॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

अन्वय–अहं मनुष्यः इत्यादि व्यवहारः अमुं विपर्यासं विना अपि चिराभ्यस्तवासनातः अवकल्पते ।

अर्थ–यदि मैं अपने आप को मनुष्य मान कर व्यवहार करता हूं तो, यह व्यवहार तो, उपरोक्त विपरीत ज्ञान के बिना भी अना-

दि काल से मन में बसी वासनाके प्रभाव से होता रहता है। [इस व्यवहार का यह अर्थ नहीं है कि मैं अपने आप को मनुष्य मान रहा हूं।]॥४६॥

आरब्धकर्माणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।

कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः॥५०॥

अन्वय–प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारः निवर्तते। कर्मक्षये तु असौ ध्यानसहस्रतः न एव शाम्येत्।

अर्थ—प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर व्यवहार स्वयं बन्द हो जावेंगे। कर्मों के क्षीण हुए बिना तो, हजारों ध्यानोंके करने पर भी व्यवहार शान्त नहीं होता। [देखो तृप्तिदीप श्लोक २६३]।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते।

अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः॥

अन्वय–व्यवहृतेः विरलत्वं इष्टं चेत् ते ध्यानं अस्तु। अहं व्यवहृतिं अबाधिकां पश्यन् कुतः ध्यायामि ?

अर्थ–यदि तुम व्यवहार को कम करना चाहो तो ध्यान लगा लो; परन्तु जब व्यवहार को मैं अबाधक देखता हूँ तो मुझे ध्यान करने की क्या आवश्यकता है ? ॥५१॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।

विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः॥

अन्वय–यस्मात् मे विक्षेपः न अस्ति, तत समाधिः न। विक्षेपः वा समाधिः वा विकारिणः मनसः स्यात्।

अर्थ–क्योंकि मुझे कोई विक्षेप नहीं होता इसीलिये मुझे समाधि भी नहीं होती। विक्षेप अथवा समाधि दोनों विकारी मन को होते हैं ॥५२॥

नित्यानुभवरूपस्य मे को वाऽनुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३॥

अन्वय–नित्यानुभवरूपस्य मे कः वा अनुभवः पृथक्। "कृत्यं कृतं प्रापणीयं प्राप्तम्" इति एव निश्चयः।

अर्थ–मैं नित्यानुभवरूप हूँ जब, तब मुझसे पृथक् मेरा अनुभव क्या होगा ? मुझे अब निश्चय हो गया कि जो कुछ करना था सो कर डाला और जो प्राप्त करना था सो पा लिया ॥५३॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥५४॥

अन्वय–अकर्तुः अलेपस्य मम लौकिकः वा अन्यथा अपि वा व्यवहारः यथारब्धं प्रवर्तताम्।

अर्थ–मुझ अकर्ता तथा अलेप का लौकिक, शास्त्रीय अथवा और जिस किसी प्रकार का भी व्यवहार है वह, मेरे प्रारब्ध के अनुसार चलता रहे ॥५४॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ?

अन्वय–अथवा अहं कृतकृत्यः अपि लोकानुग्रहकाम्यया शास्त्रीयेण मार्गेण एव वर्ते, मम का क्षतिः ?।

अर्थ—अथवा मैं कृतकृत्य हुआ भी, लोक पर अनुग्रह करने की इच्छा से (उनके सन्मुख आदर्श रखने के लिए) शास्त्रीय मार्ग से ही आचरण करता रहूं—इसमें भी मेरी क्या हानि है ? ॥५५॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायपुस्तकम् ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७॥

अन्वय—देवार्चन-स्नान-शौच-भिक्षादौ वपुः वर्तताम् । वाक् तारं जपतु, तद्वत् आम्नाय-पुस्तकं पठतु । धीः विष्णुं ध्यायतु । यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयतां साक्षी अहं किंचित् अपि न कुर्वे न अपि कारये ।

अर्थ—देवपूजा, भिक्षा आदि में शरीर लगा रहे । वाणी उच्च-स्वर से ओंकार का जाप करे या वेदान्तों का पाठ करती रहे । यह बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय । परन्तु मैं स्वयं कुछ करता या करवाता नहीं; केवल साक्षी हूं ॥५६-५७॥

कृतकृत्यता की अवस्था में ज्ञानी की विचार धारा का संक्षिप्त सिंहावलोकन

श्लोक ४० से ५७ तक ज्ञानी की कृतकृत्यता का वर्णन किया गया है । अर्थात् ज्ञानी को अज्ञानदशा में जो कुछ कर्त्तव्य था, ज्ञान की दशा में कर्त्तव्य नहीं है । और इस विचार से वह तृप्त रहता है । ज्ञानी को यह लोक, परलोक अथवा लोकानुग्रह के लिए भी कुछ कर्त्तव्य नहीं हैं । भले ही दूसरे लोग ज्ञानी में निद्रा-भिक्षा आदिकी कल्पना करलें; वह उन्हें नहीं करता । बन्दर गुंजाको आग समझे तो, समझे, वह जलन थोड़े ही उत्पन्न कर सकती है? श्रवण

मनन, निदिध्यासन भी करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि विपरीत ज्ञान ही नहीं है। वासनावश भले ही मैं अपने को मनुष्य मान कर व्यवहार करता रहूँ। जब तक प्रारब्ध है तब तक व्यवहार चलेगा ही, ध्यान करने से भी वह हट नहीं सकता। व्यवहार मेरे लिये बाधक ही नहीं है तो उसे हटाने के लिए मुझे ध्यान की क्या आवश्यकता है ? विक्षेप और समाधि तो विकारी मन के लिए ही विहित हैं। परन्तु कृतकृत्य हो कर भी लोकानुग्रह की इच्छा से मैं शास्त्रीय व्यवहार करता रहूँ तो इसमें मेरी कोई हानि नहीं है। मेरे शरीर–वाणी–बुद्धि कहीं भी लगे रहें–मैं तो केवल साक्षी हूं–कुछ करता-कराता नहीं हूँ।

प्राप्त प्राप्यता की अवस्था में ज्ञानी की विचार धारा

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

अन्वय–असौ कृतकृत्यतया तृप्तः पुनः प्राप्तप्राप्यतया तृप्यन् स्वमनसा निरन्तरं एवं मन्यते।

अर्थ–यह साधक पहले कृतकृत्यता से तृप्त और फिर प्राप्त प्राप्यता से और अधिक तृप्त हुआ मन ही मन निम्नलिखितविचार किया करता है ॥५८॥

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥

अर्थ–मैं धन्य हूं। क्योंकि मैं अपने नित्य आत्मा को साक्षात्

जानता हूं। मैं धन्य हूँ क्योंकि मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट दीखने लगा। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान और उसके आनन्द की प्राप्ति से तृप्त हो कहता है ॥५६॥

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥

अर्थ—अनर्थ की निवृत्ति से तृप्त हो ज्ञानी कहता है कि मैं धन्य हूँ—आज मुझे कोई सांसारिक दुःख नहीं है। मैं कृतार्थ हूँ क्योंकि मेरा अज्ञान न जाने कहाँ भाग गया है ॥६०॥

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१॥

कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता से सन्तुष्ट होकर ज्ञानी कहता है कि मुझे अब कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अतएव मैं धन्य हूं। मुझे प्राप्त होने योग्य सब प्राप्त हो गया अतएव मैं धन्य हूं ॥६१॥

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥

अर्थ—तृप्ति को स्मरण कर ज्ञानी कह उठता है—"मैं धन्य हूँ" लोक में मेरी तृप्ति के समान कौन सी तृप्ति होगी। मैं धन्य हूं—बार-बार धन्य हूं ॥६२॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।

अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥६३॥

अर्थ–फलप्रद पुण्य और उसके सम्पादक आत्मा के स्मरण से तृप्त हो ज्ञानी कहता है–आज मेरे कोटि-कोटि जन्मों के पुण्यों के ढेर ने फलरूप धारण किया है। इस पुण्य सम्पत्ति के कारण कृत-कृत्य हुआ मैं धन्य हूं ॥६३॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः।

अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४॥

अर्थ–शास्त्र, गुरु, ज्ञान और सुख का स्मरण करता हुआ ज्ञानी हर्ष प्रकट करता है–वेदान्तशास्त्र, ब्रह्मनिष्ठ गुरु, ब्रह्मविद्यानन्द सुख इन सबका धन्यवाद है जिनके कारण आज मुझे यह अवस्था प्राप्त हुई ॥६४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः।

विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोभ्यास इष्यताम् ।६५।

अर्थ–ब्रह्मानन्दनामक ग्रन्थ में विद्यानन्द नाम का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ। जब तक इस प्रकार का विद्यानन्द उत्पन्न नहीं हो जाता तब तक ब्रह्मवादियोंको श्रवणादि का अभ्यास करना इष्ट है। विद्यानन्द का उद्‌भव ही ब्रह्माभ्यास की पूर्णता का चिह्न है ॥६५॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके चौदहवें ब्रह्मानन्दगविद्यानन्द प्रकरण
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त।

—०—

ब्रह्मानन्द-विषयानन्द-प्रकरण-१५

भाषाकारकृत मंगलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
+विद्यानन्दस्य संकुर्वे व्याख्यां तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥

प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अन्वय—अथ अत्र ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् विषयानन्दः निरूप्यते । द्वारभूतः, तदंशत्वं श्रुतिः जगौ ।

अर्थ—अब इस प्रकरण में ब्रह्मानन्द के अंशभूत विषयानन्द का निरूपण करते हैं । वह यद्यपि लौकिक प्रसिद्ध है तथापि ब्रह्मानन्द का एक देश होने से, ब्रह्मानन्द के ज्ञान का द्वार अर्थात् साधन है । [जैसे दर्पण में प्रतीयमान मुख का प्रतिबिम्ब, विद्यमान मुखबिम्ब को यथायोग्य जानने का साधन होता है, वैसे ही वृत्तियों में प्रतीयमान ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्बभूत विषयानन्द, विद्यमान ब्रह्मानन्द को यथायोग्य सच्चिदानन्द रूप में जानने का

+विषयलाभादि से अन्तर्मुख हुई वृत्तियों में पड़ा हुआ बिम्बरूप ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब विषयानन्द कहलाता है । इसी को लेशानन्द और ब्रह्मानन्द का अंश भी कहते हैं । इस विषयानन्द का ही इस प्रकरण में प्रधानतया प्रतिपादन किया गया है ।

साधन है। इसीलिये इसका यहां निरूपण किया गया है।] विष-यानन्द को ब्रह्मानन्द का अंश श्रुति ने बताया है ॥१॥

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२॥

अन्वय–यः अखण्डैकरसात्मकः एषः अस्य परमानंदः, अन्यानि भूतानि एतस्य मात्रां एव उपभुंजते।

अर्थ—श्रुति ने कहा है जो अखण्ड एकरस आनन्द है वही उस ब्रह्म का स्वरूपभूत परमानन्द है। ये सम्पूर्ण भूत इसी परमा-नन्द की छोटी सी मात्रा को भोगते हैं ॥२॥

'विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश है' यह समझाने के लिये विषयानन्द की उपाधिभूत अन्तःकरण की वृत्तियों का विभागशः वर्णन करते हैं :–

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तय स्त्रिधा।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥३॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

अर्थ–शान्त, घोर तथा मूढ–मन की ये तीन प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इनमें वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां हैं। तृष्णा, स्नेह, राग तथा लोभ आदि, 'घोर' वृत्तियां हैं। और संमोह भय आदि 'मूढ' वृत्तियां हैं ॥३-४॥

सभी वृत्तियों में ब्रह्म की चिद्रूपता का, तथा शान्तवृत्तियों में आनन्द का भी भान होता है :-

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥५॥

अन्वय-एतासु सर्वासु वृत्तिषु ब्रह्मणः चित्स्वभावता प्रतिबिम्बति । शांतासु सुखं च प्रतिबिम्बति ।

अर्थ-ऊपर कही हुईं इन सब वृत्तियों में ब्रह्म का चित्स्वभाव तो सब में प्रतिबिम्बित हो रहा है । हां, शान्त वृत्तियों में चेतनता के साथ-साथ सुख (आनन्द) भी प्रतिबिम्बित होता है ।

उपरोक्त में श्रुति एवं सूत्र का प्रमाण :-

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६॥

अन्वय-'असौ रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव' इति श्रुतिः । 'उपमासूर्यक' इत्यादि सूत्रकृत् सूत्रयामास ।

अर्थ—श्रुति में कहा है कि 'यह आत्मा सृष्टि के प्रत्येक रूप (देह-देह) के लिये प्रतिबिम्ब रूप हो गया है ।' तथा 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३-२-१८) इस सूत्र को इसी अभिप्राय से व्यास ने बनाया है—इसमें कहा है कि जैसे यह सूर्य स्वयं एक है परन्तु जलपात्रों के भेद से, भेदयुक्त जलों के अनुसार अनेक हो जाता है; इसी प्रकार स्वयंप्रकाश आत्मा एक ही है परन्तु मायारूपी उपाधिसे शरीरोंके अनुसार भिन्न सा हो जाता है ।

उपाधि के सम्पर्क से एक ही ब्रह्म के नाना होने में श्रुति का प्रमाण

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥

अर्थ–श्रुति कहती है कि एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें व्यवस्थित है । वह तालाब और घटोंके जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की भांति ईश्वर रूप से तो एक और जीव रूप से अनेक दीखता है ॥७॥

निरवयव ब्रह्म कहीं चिन्मात्र रूप में और कहीं चैतन्य एवं आनन्द दोनों रूपों में प्रतीत हो, यह कैसे सम्भव है ? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :–

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

अन्वय–जले प्रविष्टः अयं चन्द्रः कलुषे जले अस्पष्टः, निर्मले विस्पष्टः तद्वत् ब्रह्म अपि वृत्तिषु द्वेधा ।

अर्थ—मैले जल में तो चन्द्रमा अस्पष्ट दीखता है और निर्मल जल में स्पष्ट दीखता है । ठीक इसी प्रकार ब्रह्म भी शुद्ध एवं अशुद्ध वृत्तियों में दो प्रकार का हो जाता है ॥८॥

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

अर्थ—घोर और मूढ वृत्तियों मे मलिनता के कारण ब्रह्म का सुखभाग छिपा रहता है और क्योंकि इनमें थोड़ी सी निर्मलता होती है इसलिये केवल चिदंश प्रतिबिम्बित हुआ रहता है ॥९॥

पर चन्द्रोपाधि जल तो है ही दो प्रकार का, और यहां अन्तःकरणोपाधि तो एक ही है, फिर दो प्रकार का प्रतिविम्ब क्यों? इसके उत्तर में दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हैं :-

यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्यसंक्रमः।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च॥

अन्वय—यद्वा निर्मले नीरे अपि वह्नेः ओष्ण्यस्य संक्रमः, प्रकाशस्य न। तद्वत् चिन्मात्रोद्भूतिः एव च स्यात्।

अर्थ—अथवा निर्मल जलमें भी अग्नि की गर्मी की पहुंच तो हो जाती है परन्तु प्रकाश नहीं पहुंच पाता, ऐसे ही घोर और मूढ वृत्तियों में केवल चिदंश का संक्रमण होता है, सुखांश का नहीं॥

शान्त वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द की प्रतीति कैसे होती है?

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवाद्भूतिमाप्नुतः॥

अन्वय—यथा काष्ठे तु औष्ण्यप्रकाशौ द्वौ उद्भवं गच्छतः। तथा एव शान्तासु सुखचैतन्ये उद्भूतिं आप्नुतः॥

अर्थ—जैसे लकड़ी में उष्णता और प्रकाश दोनों उद्भूत हो जाते हैं, इसी प्रकार शान्तवृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों उद्भूत हो जाते हैं॥११॥

पर यह व्यवस्था क्यों की गई है?

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्थातूभयोः समा।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्॥

अन्वय–वस्तुस्वभावं आश्रित्य तु उभयोः व्यवस्था समा। अनुभूत्यनुसारेण नियामकं कल्प्यते हि।

अर्थ–वस्तु के स्वभाव के अनुसार व्यवस्था मानना दोनों–दृष्टान्त और दार्ष्टान्त–में समान है। क्योंकि अनुभव के अनुसार ही नियामक की कल्पना की जाती है ॥१२॥

वृत्तिविषयक सार्वजनिक अनुभव का वर्णन करते हैं :–

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥

अर्थ–घोर और मूढ वृत्तियों में तो सुखानुभव होता ही नहीं। शान्त वृत्तियों में जो सुखानुभव है वह कहीं अतिशय (अधिक) होता है ॥१३॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥
सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते।
प्रतिबन्धे भवेत्क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५॥

अन्वय–गृह-क्षेत्रादि विषये यदा कामः भवेत् तदा राजसस्य अस्य कामस्य घोरत्वात् तत्र सुखं नो ॥१४॥ सिद्ध्येत वा न इति दुःखं अस्ति। असिद्धौ तत् विवर्धते। प्रतिबन्धे क्रोधः भवेत्।

अर्थ–घर या खेत आदि की कामना जब किसी को होती है तब उस राजस कामना के घोर होने के कारण; उसे सुख नहीं हो सकता। जब उसे यह विचार होता है कि काम सिद्ध होगा या

नहीं, तब उसे दुःख होता है। सुख के सिद्ध न होने पर वह दुःख बढता है, सुखमें रुकावट पड़ने पर क्रोध होता है और प्रतिकूल दुःख होने से द्वेष होता है ॥१४-१५॥

सुखप्रतिबन्धक के निवारणाशक्य होने से तामस विषाद की उत्पत्ति और इसी कारण सुखाभाव होता है :–

अशक्यचेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६॥

अन्वय–प्रतीकारः चेत् अशक्यः विषादः स्यात् । सः तामसः । क्रोधादिषु महत् दुःखं सुखशंका अपि दूरतः ।

अर्थ – यदि उसका प्रतीकार करना अशक्य हो तो विषाद होता है; वह तामस है : अतएव उसमें सुख नहीं होता। क्रोधादियोंमें तो स्पष्ट ही महान् दुःख है–वहां सुख को सम्भावना तक नहीं होती।

शान्तवृत्तियों में सुख की तारम्यता

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत्सुखम् ।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥१८॥

अर्थ -जब किसीको उसका चाहा पदार्थ मिलजाता है तबजो शांत हर्षवृत्ति उत्पन्न होती है उसमें बड़ा सुख मिलता है। काम्य पदार्थ के भोग में उससे अधिक सुख होता है लाभ की आशा में थोड़ा सुख

होता है। इच्छा के अभाव रूप वैराग्यमें अधिक से अधिक अर्थात् निरतिशय सुख होता है; यह बात विद्यानन्द प्रकरण में कह आये हैं। इसी प्रकार क्षमा तथा उदारता में क्रमशः क्रोध और लोभ के निवारण से भारी सुख होता है ॥१७-१८॥

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव निर्विघ्नं प्रतिम्बनात्।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥

अन्वय—यत् यत् सुखं तत् तत् ब्रह्म एव प्रतिबिम्बनात् भवेत्। अन्तर्मुखासु वृत्तिषु अस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम्।

अर्थ—जहां कहीं जो सुख होता है, वह सब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होनेके कारण ब्रह्म तत्व ही है अर्थात् ब्रह्मानन्द का एक अंश ही है। जब वृत्तियां अर्न्मुख हो जाती हैं तब उनमें यह ब्रह्म निर्विघ्न प्रतिबिम्बित हो जाता है ॥१९॥

सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूति कराने के लिए ब्रह्मस्वरूप को दुहराते हैं :—

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्द्वयम् ॥२०॥

अर्थ—सत्ता, चैतन्य और आनन्द—ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं। मिट्टी और पत्थर आदि में तो ब्रह्म की सत्ता ही व्यक्त होती है; शेष दो स्वभाव व्यक्त नहीं होते ॥२०॥

मिश्र (सप्रपंच) ब्रह्म का निरूपण

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः।

शान्तवृत्तौ त्रयं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१॥

अर्थ–घोर और मूढवृत्तियों में ब्रह्मके दो ही स्वभाव, सत्ता और चैतन्य, व्यक्त होते हैं। शान्त वृत्तियों में तीनों स्वभाव व्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह मिश्र अर्थात् वृत्ति आदि प्रपंच सहित, ब्रह्म का कथन किया गया है ॥२१॥

अमिश्र ब्रह्म के ज्ञान के हेतुभूत, ज्ञान एवं योग का वर्णन

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः॥

अर्थ–अमिश्र ब्रह्म ज्ञान और योग से जाना जाता है और उनका वर्णन पहले कर आये हैं। ब्रह्मानन्द प्रकरण के प्रथम अध्याय योगानन्द (अर्थात् पंचदशी के ११वें प्रकरण) में योग का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् दो अध्यायों में ज्ञान का वर्णन किया गया है ॥२२॥

माया का स्वरूप तथा वृत्तियों में ब्रह्मके माया होने का कारण

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३॥
घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम्॥

अन्वय–असत्ता जाड्यदुःखे द्वे इदं त्रयं तु मायारूपम्। नरशृङ्गादौ असत्ता, काष्ठशिलादिषु जाड्यम् ॥२३॥ घोरमूढधियोः

दुःखम्; एवं माया विजृंभिता। शान्तादिबुद्धिवृत्तैक्यात् 'मिश्रं ब्रह्म' इति कीर्तितम्।

अर्थ–असत्ता, जडता और दुःख ये तीन माया के रूप हैं। नरशृङ्ग आदि असत् पदार्थों में तो असत्ता है, काष्ठ शिला आदि में जड़ता है घोर और मूढ़ वृत्तियों में दुःख। इस प्रकार संसार में सर्वत्र माया प्रतिभासित हो रही है। शान्तादि वृत्तियों में ब्रह्म के प्रपंच सहित होने का कारण उसका शान्त आदि बुद्धि वृत्तियों के साथ अभेद है। इसीलिये उसे मिश्रब्रह्म कहा है ॥२३-२३॥

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥२५॥

अर्थ–जब यह स्थिति है तो जो पुरुष ब्रह्मतत्व का ध्यान करना चाहता है, वह पहले तो नृशृङ्ग आदि मिथ्या पदार्थों की उपेक्षा करे, फिर शेष रहे अमिश्र ब्रह्मतत्व का यथोचित रीति से ध्यान करे ॥२५॥

कहां और कैसे ध्यान करें ?

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिंतनम्।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥
शान्तासु सच्चिदानन्दास्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत्।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥

अर्थ–शिला आदि में, नाम और रूप, दोनों, को छोड़कर सन्मात्र का चिन्तन करे। घोर और मूढ वृत्तियों में दुःखभाग को छोड़कर ब्रह्म के सत्-चित् रूपों का चिन्तन करे। इसी प्रकार

शान्त वृत्तियों में ब्रह्म के सत्-चित् और आनन्द, इन तीनों रूपों का ध्यान करे। यह तीनों चिन्तायें क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट चिन्तायें कहलाती हैं अर्थात् ये तीनों चिन्तायें एक समान नहीं हैं ॥२६-२७॥

जो निर्गुण ब्रह्म के ध्यान का अधिकारी नहीं है, यह मिश्र ब्रह्म के ध्यान का वर्णन उसी के लिये है :-

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम्।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

अन्वय-मंदस्य व्यवहारे अपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनं उत्कृष्टं वक्तुम् एव अत्र विषयानन्दः ईरितः।

अर्थ—मन्दमति पुरुषके लिये व्यवहार काल में भी, मिश्र ब्रह्म के चिन्तन को श्रेष्ठ बताने के लिये इस ग्रंथ में विषयानन्द का वर्णन किया गया है। [जो मन्दमति, वृत्ति आदि जगत् को छोड़ कर शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ध्यान नहीं कर सकता वह वृत्ति आदि प्रपंचरूप व्यवहार में सच्चिदानन्द का धीरे-धीरे ध्यान करता-करता अभ्यास द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म को जान सकता है। इसलिये यहां विषयानन्द का वर्णन किया गया है।]॥२८॥

अवृत्तिक ध्यान का वर्णन

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम्।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

अर्थ—उदासीन अवस्था में, धीवृत्ति के शिथिल हो जाने के कारण, वासनानन्द में जो ध्यान (विना वृत्ति का) है वह तीनों

ध्यानों में सर्वोत्तम है। इस प्रकार का ध्यान चार प्रकार का है।

यह अवृत्तिक ध्यान, ध्यान का अवान्तरभेद नहीं है, क्योंकि :—

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत्॥

अन्वय—ज्ञानयोगाभ्यां ध्यानं न; सा खलु ब्रह्मविद्या एव। ध्यानेन ऐकाग्र्यं आपन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत्।

अर्थ—ज्ञान और योग के द्वारा जो ध्यान बताया है, वह ध्यान नहीं; वह तो ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान करते-करते चित्त के एकाग्र हो जाने पर यह ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है॥३०॥

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम्।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात्॥

अर्थ—ज्ञानमें ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्दरूप तीनों स्वभाव अखण्ड एकरसरूप ही दीखने लगते हैं; तीनों पृथक्-पृथक् नहीं दीखते, क्योंकि भेदक उपाधियां हट चुकी होती हैं। इसलिये यह ध्यान ब्रह्मविद्या ही है॥३१॥

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपधयो मताः।
योगाद् विवेकतो वैषामुपाधीनापाकृतिः॥३२॥

अर्थ—शान्त और घोर वृत्तियां और शिला आदि पदार्थभेदक उपाधियां हैं। इन उपाधियों का अपाकरण (परिहार) या तो 'योग' से हो सकता है या विवेक (ज्ञान) से सम्भव है॥३२॥

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयं प्रभे ।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥

अन्वय–स्वयंप्रभे अद्वैते निरूपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने त्रिपुटी न अस्ति । अतः भूमानन्दः उच्यते ।

अर्थ—सारांश यह है कि स्वयंप्रकाश, अद्वैत और उपाधिरहित ब्रह्मतत्त्व के भासने लगने पर यह त्रिपुटी नहीं रहती । त्रिपुटी के भान न होने पर उसे "भूमानन्द" कहा जाता है ॥३३॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पंचमोध्याय ईरितः ।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तःप्रविश्यताम् ॥३४॥

अर्थ—पंचदशी के इस 'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रन्थके पांचवें अध्याय का वर्णन हो चुका । इसी का नाम विषयानन्द है । मन्दाधिकारी लोग इस विषयानन्द के द्वारा ही ब्रह्मानन्द के भीतर प्रवेश करें ।

प्रीयाद्धरिहरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥

अर्थ—इस ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ से हरिहर (विष्णुसे अभिन्न शिव) सदा प्रसन्न हों और यह अपने आश्रित शुद्ध मन वाले प्राणियों को जन्ममरणादि रूप दुःख से बचाये रखे ॥३५॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के पन्द्रहवें ब्रह्मानन्दग विषयानन्द प्रकरण की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।

॥ इति श्री पञ्चदशी ॥

क्रम-सूची